आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः ५३

# सत्याषाढविरचितं श्रौतसूत्रम् ।

प्रश्नद्वयसमाप्तिपर्यन्तं मातृदत्ताचार्यविरचितवृत्तिसमेतं तदग्रे च महादेवशास्त्रिसंकलितप्रयोगचन्द्रिकाव्याख्यासमेतम् ।

एकोनविंशविंशैकविंशप्रश्नात्मकोऽष्टमो भागः ।

( सत्याषाढगृह्यशेषसूत्रहौत्रोपोद्घातादिसहितः । )

एतत्पुस्तकं

वे० शा० सं० रा० शंकरशास्त्रीमारूलकर

इत्येतैः संशोधितम् ।

तच्च

बी. ए. इत्युपपदधारिभिः

विनायक गणेश आपटे

इत्येतैः

पुण्याख्यपत्तने

आनन्दाश्रममुद्रणालये

आयसाक्षरैर्मुद्रयित्वा

प्रकाशितम् ।

शालिवाहनशकाब्दाः १८५०

खिस्ताब्दाः १९२९

( अस्य सर्वेऽधिकारा राजशासनानुसारेण स्वायत्तीकृताः ।

## अथ सत्याषाढहिरण्यकेशिश्रौतसूत्रे गृह्यकर्मप्रतिपादकैकोनविंशविंशप्रश्नगतविषयाणामनुक्रमणिका ।


| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|
| उपनयनम् | ५११ |
| ...ावर्तनम् | ५४६ |
| ...मधुपर्कः | ५५५ |
| ...वृत्तस्य काम्यविधयः | ५६२ |
| ...ग्गुप्तिः | ५६३ |
| ...ग्यसिद्धिः | ५६४ |
| क्रोधविनयनम् | ,, |
| संवादाभिजयनम् | ,, |
| ...मित्तिककर्माणि | ५६६ |
| अशुभशकुनप्रायश्चित्तम् | ,, |
| अशुभस्वप्नदर्शननिमित्तको होमः | ५६८ |
| अद्भुतप्रायश्चित्तानि | ५७० |
| विवाहः | ५७२ |
| विवाहहोमः | ५७४ |
| वधूप्रवेशः | ५७९ |
| गृहप्रवेशस्थालीपाकः | ५८३ |
| ...चतुर्थीकर्म | ५८५ |
| ...गर्भाधानम् | ५८७ |
| औपासनहोमः | ५८९ |
| ...पुनःसंधानम् | ५९४ |
| प्रसङ्गात्प्रवासविधिः | ५९७ |
| गृहस्थस्य गृहकरणम् | ६०० |
| ...वास्तुशमनम् | ६०२ |
| गृहप्रवेशनम् | ६०३ |
| सीमन्तोन्नयनम् | ६०४ |
| पुंसवनम् | ६०५ |
| गर्भस्रावहरोपायः | ६०६ |
| सुखप्रसवोपायः | ६०७ |
| जातकर्म | ,, |
| नामकरणम् | ६११ |
| प्रवासादागतस्य विधिः | ६१५ |
| अन्नप्राशनम् | ६१६ |
| चूडाकर्म | ,, |
| गोदानकर्म | ६१९ |
| श्वग्रहप्रायश्चित्तम् | ६२० |
| शूलगवं कर्म | ६२२ |
| बौढ्यविहारः | ६२५ |
| क्षैत्रपत्यः स्थालीपाकः | ६२६ |
| मासिकश्राद्धम् | ६२८ |
| माध्यावर्षं श्राद्धम् | ६३६ |
| अष्टका | ,, |
| पूर्वेद्युःश्राद्धम् | ,, |
| अष्टकाश्राद्धम् | ६४० |
| आन्वष्टक्यम् | ६४३ |
| श्रवणाकर्म | ,, |
| आग्रहायणी | ६४६ |
| उपाकरणम् | ६४९ |
| उत्सर्जनम् | ६५० |

अथ सत्याषाढविरचितहिरण्यकेशिगृह्यशेषसूत्रस्थविषयाणामनुक्रमणिका।


| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|
| आचारप्रशंसा | १ |
| प्राणापानयोः समीकरणेन हृत्पद्मे हंसध्यानम् | ,, |
| मलमूत्रोत्सर्गविचारः | ,, |
| तत्र शौचविचारः | ,, |
| आचमनविधिः | २ |
| दन्तधावनविचारः | ,, |
| दन्तधावने निषिद्धकाष्ठादि | ,, |
| वारुणादिदशविधस्नानम् | ३ |
| यज्ञोपवीतनिर्माणधारणविचारः | ४ |
| भस्मत्रिपुण्ड्रधारणम् | ,, |
| संध्योपासनविचारः | ५ |
| नित्यहोमो ब्रह्मयज्ञे तर्पणविचारश्च | ,, |
| देवार्चनविचारः | ६ |
| षोडशोपचारपूजनफलम् | ,, |
| माध्यान्हिककर्मविचारः | ७ |
| भोजनविषये विचारः | ८ |
| आचमनविधिः | ९ |
| संध्योपासनविधिः | ,, |
| गृहस्थस्यौपासनम् | ,, |
| पञ्च महायज्ञाः | १२ |
| मृत्तिकास्नानविधिः | ,, |
| महापुरुषपरिचर्याविधिः | १३ |
| पञ्चाङ्गरुद्राणां जपहोमार्चनविधिः | १४ |
| रुद्रस्नानार्चनाभिषेकविधिः | १६ |
| शालीनयायावराणां प्राणाहुतयः | १७ |
| अतिपवित्रस्याघमर्षणस्य कल्पः | १९ |
| प्रज्ञाकामस्योपदेशः | ,, |
| गणपतिपूजनविधिः | २० |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|
| कुम्भस्थापनविधिः | ,, |
| पुण्याहदेवताविचारः | २१ |
| पुण्याहवाचनविधिः | ,, |
| मातृकापूजनविधिः | २४ |
| नान्दीमुखविधिः | ,, |
| अङ्कुरारोपणविधिः | २५ |
| उदकशान्तिविधिः | २६ |
| प्रतिसरबन्धः | २७ |
| ग्रहातिथ्यबल्युपहाराः | २८ |
| ऋतुशान्तिव्याख्यानम् | ३१ |
| नारायणबलिः | ३३ |
| प्रजार्थिनो होमः | ,, |
| विष्णुबलिव्याख्यानम् | ३४ |
| पुत्रप्रतिग्रहकल्पः | ३५ |
| यज्ञोपवीतविधिः | ,, |
| पुनःसंस्कारविचारः | ३६ |
| जडबधिरमूकानां संस्कारः | ३७ |
| द्विभार्यस्याग्निपरिचर्या | ,, |
| अर्कोद्वाहविधिः | ,, |
| गृह्यशेषव्याख्यानम् | ३९ |
| औपासने कर्तव्येषु कर्मसु विशेषः | ४० |
| आपूर्विकहोमविधिः | ,, |
| स्थण्डिलविधिव्याख्यानम् | ४१ |
| सिकतादोषाः | ,, |
| दर्विहोमेषु दर्भसंख्याकथनम् | ,, |
| शम्यापरिधिस्थाल्यादीनां प्रमाणम् | ,, |
| कामनावशात्स्थण्डिलस्य प्रागुदक्प्रवणताकथनम् | ४२ |
| उपलेपप्रोक्षणावोक्षणादेर्देवताकथनम् | ,, |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः। |
| --- | --- |
| अधिब्रह्मचर्ये दिनसंख्या | ४३ |
| यज्ञव्याख्यानम् | ,, |
| आघारवत्सु दर्विहोमेषु याज्यापुरोनुवाक्याविचारः | ४६ |
| राजन्यवैश्ययोरुपनयने विशेषः | ४८ |
| पञ्चमहायज्ञानां स्वरूपं क्रमश्च | ,, |
| गोप्रसवशान्तिः | ४९ |
| मूलनक्षत्रजननशान्तिः | ५० |
| आश्लेषाजननशान्तिः | ५२ |
| नक्षत्रगण्डान्तजन्मशान्तिः | ५३ |
| एकनक्षत्रजननशान्तिः | ,, |
| त्रिकप्रसवशान्तिः | ५४ |
| नक्षत्रगण्डान्तलक्षणम् | ५५ |
| तिथिलग्नगण्डान्तशान्तिः | ,, |
| कृष्णचतुर्दशीजननशान्तिः | ५६ |
| ग्रहणजननशान्तिः | ५८ |
| सिनीवालीकुहूजननशान्तिः | ६० |
| दर्शजननशान्तिः | ६१ |
| संक्रान्तिव्यतीपातवैधृतियोगजन्मशान्तिः | ६३ |
| प्रसववैकृतजननशान्तिः | ६६ |
| सदन्तजननशान्तिः | ,, |
| पञ्चमारिष्टजननशान्तिः | ६७ |
| यमलोत्पत्तिविधानम् | ६८ |
| तत्र वाजिदानमन्त्रः | ६९ |
| मूर्तिप्रातिपादनमन्त्रः | ,, |
| यमलकल्पः | ,, |
| नवग्रहपूजाविधिः | ७० |
| गृहशान्तिकर्म | ७६ |
| गजशान्तिः | ७७ |
| यमयज्ञव्याख्यानम् | ,, |
| तृणगर्भकल्पः | ७९ |
| ओंकारकल्पः | ८० |
| व्याहृतिकल्पः | ,, |
| दुर्गाकल्पः | ,, |
| उपश्रुतिकल्पः | ८१ |
| श्रीकल्पः | ,, |
| सरस्वतीकल्पः | ८२ |
| विष्णुकल्पः | ८३ |
| रविकल्पः | ,, |
| ज्येष्ठाकल्पः | ८४ |
| विनायककल्पः | ८५ |
| मृत्युंजयकल्पः | ८६ |
| शिथिलीकल्पः | ८७ |
| सिंहस्थे सूर्ये गवादिप्रसवे शान्तिः | ८८ |
| ईशानकल्पः | ,, |
| ग्रामस्योत्पातशान्तिः | ८९ |
| अशनिपाते शान्तिः | ९० |
| वनस्पतिशान्तिः | ,, |
| उग्ररथशान्तिविधिः | ,, |
| विवाहे कन्याया रजोदर्शने प्रायश्चित्तम् | ९१ |
| अनावृष्टिशान्तिविधिः | ९२ |
| अनश्नत्पारायणविधिः | ,, |
| तडागादिजलाशयोत्सर्गविधानम् | ९३ |
| जलाशयानां लक्षणानि | ,, |
| अश्वत्थसंस्कारविधानम् | ९६ |
| वृक्षारोपणाविधिः | ,, |
| वृक्षोद्यापनविधानम् | ९८ |
| वटोद्यापनविधिः | १०० |
| प्रासादोद्यापनविधिः | १०१ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः। |
|---|---|
| प्रासादकलशन्यासविधिः | १०३ |
| स्थानुपूजाविधिः | ,, |
| प्रासादवास्तुपूजनविधानम् | ,, |
| गृहवास्तुपूजनविधानम् | १०५ |
| वास्तुमण्डलदेवताः | ,, |
| विष्णुप्रतिष्ठाकल्पः | १०७ |
| पञ्चगव्यम् | ,, |
| रुद्रप्रतिष्ठाकल्पः | १०९ |
| पुनःप्रतिष्ठाकल्पः | ११२ |
| तत्र देवस्य स्नपने विधिः | ११४ |
| विष्णोः स्नपने विशेषः | ११६ |
| काम्यवृषोत्सर्गविधानम् | ११७ |
| सहस्रभोजनविधिः | ११८ |
| जीवच्छ्राद्धविधिः | ११९ |
| कूश्माण्डहोमविधानम् | १२१ |
| संन्यासविधिः | ,, |
| कपिलसंन्यासविधिः | १२५ |
| अयाज्ययाजनादौ प्रायश्चित्तकथनम् | १२६ |


इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यशेषसूत्रस्थविषयाणामनुक्रमणिका।

## अथ प्रकीर्णकविषयाणामनुक्रमणिका।


| विषयाः | पृष्ठाङ्काः। |
|---|---|
| उपनयनादिचौलान्तगृह्यकारिकाः | १–१८ |
| वैजयन्तीव्याख्यासमेतं सत्याषाढयाजुषहौत्रसूत्रमाज्यभागान्तम् | १८–२४ |
| याजुषहौत्रोपोद्धातः | ६५९–६६२ |
| याजुषहौत्रविचारः | ६६२–६६६ |
| गु० भास्करशास्त्रिप्रणीतो याजुषहौत्रविचारः | ६६६–६६८ |
| गु० वासुदेवशास्त्रिविरचितो याजुषहौत्रविचारः | ६६८–६७२ |


## अथ सत्याषाढहिरण्यकेशिश्रौतसूत्र एकविंशप्रश्नगतविषयाणामनुक्रमणिका।


| विषयाः | पृष्ठाङ्काः। |
|---|---|
| दर्शपूर्णमासहौत्रसूत्रार्थस्य संक्षेपेण कथनम् | ६७३ |
| हौत्रव्याख्यानम् | ६७४ |
| परिभाषाकथनम् | ६७५ |
| सामिधेनीसंख्याविधिः | ६७७ |
| सामिधेनीषूच्चैःस्वरकथनम् | ६७८ |
| सामिधेनीष्वाद्यन्तयोरावृत्तिः | |
| सामिधेनीमन्त्रेषु संतानविचारः | ६७९ |
| ऋगन्तेषु प्रणवसंधानम् | ६८१ |
| तं त्वेति सामिधेन्यास्त्रिर्ग्रहः | ,, |
| स्रुगादापनादिनिगदेषु शाखान्तरस्थपाठदूषणम् | ६८२ |
| परिधानीयाकथनम् | ६८३ |
| सामिधेनीसंख्याविकल्पः | ६८५ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|
| सामिधेनीषु काम्यसंख्याविधिः | ६८८ |
| सोमयाजिनो विशेषः | ६८९ |
| प्रवरवरणम् | ६९१ |
| चतुष्पञ्चप्रवरवरणनिषेधः | ,, |
| निविन्मन्त्राणां संतानविषेधः | ६९२ |
| देवतावाहनम् | ६९३ |
| उपांशुयाजप्रतिषेधः | ६९४ |
| आग्नेयादूर्ध्वं देवतावाहने विशेषः | ,, |
| होतृवरणे केचिद्धर्माः | ६९६ |
| प्रयाजानां नवैकादशसंख्यायाः प्रयाजाभ्यासेन पूरणम् | ६९८ |
| आज्यभागयोर्यजनम् | ६९९ |
| पुरोनुवाक्यासु प्रणवसंधानम् | ,, |
| याज्यासु वषट्कारविधानम् | ,, |
| याज्यावषट्कारयोर्नैरन्तर्यम् | ७०१ |
| कामनावशेन याज्यावषट्कारयोः शनैरुच्चैरुच्चारणम् | ७०२ |
| आज्यभागयोर्याज्यापुरोनुवाक्यानां कथनम् | ७०३ |
| आग्नेयस्य हविषो याज्यानुवाक्यानां कथनम् | ७०४ |
| स्विष्टकृति याज्यापुरोनुवाक्याकथनम् | ७०५ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|
| स्विष्टकृति गुणान्तराविधानम् | ७०६ |
| होतुरिडावदानम् | ,, |
| प्रत्यङ्मुखत्वेनेडोपाह्वानम् | ७०७ |
| पराङ्मुखत्वेनेडोपाह्वाननिषेधः | ,, |
| इडाभागप्राशनमन्त्रकथनम् | ७०८ |
| ये यजामहकरणम् | ,, |
| संप्रेषिते विशेषकथनम् | ,, |
| यजमाननाम्नो निर्देशः | ७०९ |
| पत्नीसंयाजेषुयाज्यानुवाक्याप्रदर्शनम् | ७१० |
| प्रवरव्याख्यानम् | ७१४ |
| भृगुगोत्रप्रवरकाण्डम् | ७१६ |
| गौतमगोत्रप्रवरकाण्डम् | ७१८ |
| भारद्वाजगोत्रप्रवरकाण्डम् | ७१९ |
| अत्रिगोत्रप्रवरकाण्डम् | ७२० |
| विश्वामित्रगोत्रप्रवरकाण्डम् | ,, |
| कश्यपगोत्रप्रवरकाण्डम् | ७२१ |
| वसिष्ठगोत्रप्रवरकाण्डम् | ,, |
| अगस्त्यगोत्रप्रवरकाण्डम् | ७२२ |
| क्षत्रियप्रवरकाण्डम् | ,, |
| अनाज्ञातबन्धूनां गोत्रप्रवरकाण्डम् | ७२३ |
| सार्ववर्णिकार्षेयप्रदर्शनम् | ७२४ |


इति सत्याषाढहिरण्यकेशिश्रौतसूत्र एकविंशप्रश्नगतविषयाणामनुक्रमणिका ।

## अथ सत्याषाढहिरण्यकेशिश्रौतसूत्र एकोनविंशविंशैकविंशप्रश्नगतसूत्राणां पाठक्रमेण प्रतीकानि ।



| सू० ० | पृष्ठाङ्काः । | सू० म० | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|---|---|
| उपनयन पास्या० | १११ | उत्तरेणाग्निं | ,, |
| सप्तवर्षं ब्र ह्मण० | ११२ | अपरेणाग्निं | ,, |
| एकादशाब राजन्य | ,, | दक्षिणतो यज्ञोप० | ,, |
| वसन्ते ब्रा ह्मणं | ,, | अथ परिषिञ्चति | ११९ |
| आपूर्यमाण पक्षे | ,, | अदितेऽनुमन्यस्वेति | ,, |
| पुम्मान्ब्राह गान् | ,, | अनुमतेऽनुमन्यस्वेति | ,, |
| अशितस्य कुमारस्य | ११३ | सरस्वतेऽनुमन्यस्व | ,, |
| प्रागग्रैर्दर्भैः ग्निं | ,, | देव सवित | ,, |
| अपिवोदग ा | ,, | परिषिच्येध्म० | ,, |
| दक्षिणानुत्त रान् | ,, | अथ दर्व्या | ,, |
| दक्षिणेनाग्नि | ,, | उत्तर परिधि० | १२० |
| मयि गृह्णामि | ११४ | दक्षिणं परिधि० | ,, |
| उत्तरेणाग्निं | ११५ | आज्यभागौ | ,, |
| अश्मानमत्र न | ,, | अग्नये स्वाहे० | ,, |
| एकविंशत तिदारु० | ,, | तावन्तरेणेतरा | ,, |
| तस्मिञ्छम्या | ,, | युक्तो वह जातवेदः | ,, |
| दर्वी कूर्च म ाज्य० | ,, | सर्वदर्विहोमाणा० | १२१ |
| सकृतेव सर्वाणि | ११६ | मन्त्रान्ते नित्य | १२२ |
| एतस्मिन्का ले ब्रह्मा | ,, | अमन्त्रास्वमुष्मै | ,, |
| समा प्रच्छिन्नाग्रौ | ,, | भूर्भुवः सुवरिति | ,, |
| तिर पवित्र | ११७ | आयुर्दा अग्न | ,, |
| दर्वी निधाय | ,, | आयुर्दादेव | ,, |
| ामार्गानमपक्ष्य | ,, | यदस्य कर्मणो | १२३ |
| ाज्य विमभ्य | ,, | अत्रैके जयाभ्या | ,, |
| शम्यामि. परिधा | ११८ | चित्त च स्वाहा | १२४ |
| दक्षिणेनाग्नि | ,, | अग्निर्भूतानां० | ,, |

| सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । | सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|---|---|
| अस्मिन्ब्रह्मन् | १२४ | दक्षिणे कर्णे | ,, |
| पितरः पितामहा | ,, | अग्नौ पृथिव्यां | ,, |
| ऋताषाडृतधामेति | ,, | मेधां त इन्द्रो | ,, |
| अग्रेणोत्तरं | १२५ | अथैनं पारिददा० | ,, |
| कुमारमास्थाप० | ,, | अथ सावित्रीं | १३३ |
| अथैनमहतं | १२६ | यद्यनुपेतस्त्यहे | ,, |
| परिधाप्याभि० | ,, | सद्यः पौष्कर० | ,, |
| अथैनं मेखलया | १२७ | अपरेणाग्नि० | ,, |
| उत्तरतो नाभे० | ,, | आदित्यायाञ्जलिं | ,, |
| अथास्मा अजिन० | ,, | गणानां त्वा | १३४ |
| कृष्णाजिनं ब्राह्मणस्य | ,, | अथ सप्त पालाशीः | १३५ |
| अथैनं पारिददाति | १२८ | अग्नये समिध० | ,, |
| तमपरेणाग्नि० | ,, | अग्नये समिधा० | ,, |
| पृषदाज्यमेके | ,, | अग्नये समिध | ,, |
| योगे योगे | ,, | अथ परिषिञ्चति | ,, |
| प्राशयन्त्येके | ,, | अन्वमंस्थाः | ,, |
| आचान्तमुप० | ,, | अथ देवता | १३६ |
| आगन्ता समगन् | १२९ | अग्ने व्रतपते | ,, |
| अथैनमभि० | ,, | उदायुषेत्यु० | ,, |
| को नामासि | ,, | अग्निष्ट आयु | १३७ |
| स्वस्ति देव | ,, | अथाऽऽह भिक्षाचर्यं | ,, |
| शं नो देवी० | १३० | स मातरमेवाग्रे | ,, |
| अथास्य दक्षिणेन | ,, | अतोऽन्येषु | ,, |
| अथास्य दक्षिणेन | ,, | आहृत्य भैक्षमिति | ,, |
| सविता त्वाऽभि० | १३१ | यस्य ते प्रथम० | १३८ |
| अथास्य दक्षिणेन | ,, | उपस्थितेऽन्न | ,, |
| प्राणानां ग्रन्थिरसि | ,, | सर्वत्रैवमना० | १३९ |
| भूर्भुवः सुवः | ,, | अमुष्मै स्वाहेति | ,, |
| अथास्य दक्षिणेन | १३२ | एतेषामेवान्नानां | ,, |
| आयुष्टे विश्वतो | ,, | त्रिवृताऽन्नेन | १४० |

| सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । | सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|---|---|
| त्र्यहव्रतं | १४० | गोष्ठे वाऽच्छाद्य | ” |
| अक्षारमलवण० | ” | आहरन्त्यस्मै | ” |
| पुरस्तात्परिषेच० | ” | आहरन्त्यस्मा | ” |
| यत्ते अग्ने | १४१ | अन्तरीयं वासः | ” |
| त्र्यहे पर्यवेते | ” | विराजं च स्वराजं | १५१ |
| एतद्व्रतत एवा | १४३ | ऋतुमिष्ट्वाऽऽर्तवे० | १५२ |
| आचार्यकुलवासी | ” | इयमोषधे त्राय० | १५३ |
| अश्नाति क्षारं | ” | शुभिके शुभ० | ” |
| दण्डी जटी | ” | यदाञ्जनं त्रैककुदं | ” |
| काषायमजिनं | ” | यन्मे मनः | ” |
| अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि | १४४ | दैवस्य त्वेति | ” |
| न त्वेवाव्रतः | ” | वेगवेजयास्मद् | १५४ |
| काण्डोपाकरणे | १४५ | प्रतिष्ठे स्थो | ” |
| अधीत्य वेदं९ | १४६ | प्रजापतेः शरण० | ” |
| उदगयन आपूर्य० | ” | यो मे दण्डः | ” |
| यत्राऽऽपस्तद्गत्वा | ” | आनयन्त्यस्मै | १५५ |
| अथ व्याहृतिभिः | १४७ | रथतरमसि | ” |
| त्र्यायुषं जमदग्नेः | ” | अश्वोऽसि हयोऽसि | ” |
| इमं मे तत्त्वा | ” | इन्द्रस्य त्वा वज्रे० | ” |
| ब्राह्मणानन्नेन | ” | संस्रवन्तु | ” |
| व्रतं विसृज्योदु | ” | यशोऽसि यशो० | १५६ |
| उदुत्तमं वरुण० | १४८ | अथास्मा आवस० | ” |
| अवाधमित्यन्त० | ” | कुर्वन्त्यस्मै | ” |
| वपन्त्रे प्रदाय | ” | हसीयस्यानीय | १५७ |
| अथोष्णशीता | ” | अन्वङ्ङनुसं० | ” |
| यत्क्षुरेण | १४९ | तस्मिन्प्राङ्मुख | ” |
| श्मश्रूण्यग्रे | ” | अथास्मै पाद्य० | १५८ |
| आनडुहे शकृत्पिण्डे | ” | तेनास्य शूद्रः | ” |
| कार्तीयेनोत्साद्यौ० | ” | विरोजो दोहोऽसि | ” |
| अन्नाद्याय | १५० | आत्मानं प्रत्यमि० | ” |

| सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । | सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|---|---|
| अथास्मा अर्घ्यं० | ५५८ | हिरण्यबाहुः | ,, |
| तत्प्रतिगृह्णात्या | ,, | मम परे ममा० | ,, |
| समुद्र वः | ,, | दर्शो चन्द्रमसं | ५६६ |
| अथास्मा आचम० | ५५९ | मयि दक्षक्रतू | ,, |
| अमृतोपस्तरण० | ,, | सिगासिनसि | ,, |
| अथास्मै मधुपर्क० | ,, | तस्य तन्तुमा० | ,, |
| तꣳसावित्रेणो० | ,, | ये पक्षिणः पत० | ,, |
| सर्वं वा प्राश्या० | ,, | तदन्येन हस्तात् | ,, |
| अथास्मै गौ० | ५६० | यद्वृक्षाग्राद० | ५६७ |
| तस्याः कर्णोत्स० | ,, | नमः पथिषदे | ,, |
| गौर्धेनुर्भव्या | ,, | नमः पशुपदे | ,, |
| गौरस्यपहत० | ,, | नमः सर्पसृते | ,, |
| उत्सर्गेऽन्येन | ५६१ | नमोऽन्तरिक्षसदे | ,, |
| तेष्वस्मै भुक्त० | ,, | यद्येनꣳ संवर्त० | ,, |
| तत्प्रतिगृह्णाति | ,, | नदीमुद्वती० | ,, |
| इन्द्राग्नी मे | ,, | चित्रं देशं देव० | ,, |
| यं कामयेत | ५६२ | सूर्याभ्युदितोऽ० | ,, |
| भुक्तवतो दक्षि० | ,, | सूर्याभिनिम्रुक्तो | ५६८ |
| यममात्यमन्ते० | ,, | न यूपमुप० | ,, |
| अनिगुप्ते जीव० | ५६३ | अनिहूतं परि० | ,, |
| यस्मा अमात्या | ,, | उद्गातेव शकुने | ,, |
| योऽथ स्वागारं | ,, | यदेतद्भूतान्यन्वा० | ,, |
| अथातो दारगुप्तिꣳ | ,, | अथास्मा उभय० | ५६९ |
| अथात पण्य० | ५६४ | अथैनमुपतिष्ठते | ,, |
| पण्यस्यापादाय | ,, | यदीषितो यदि | ,, |
| अथातः क्रोध० | ,, | प्रसार्य सक्थ्यौ | ,, |
| या त एषा | ,, | हिरण्यपक्षः | ,, |
| अथात संवादा० | ,, | पुनर्मामैत्विन्द्रियं | ,, |
| निशायामन्तरा० | ,, | वैश्वानरो रश्मि० | ५७० |
| अथैनꣳ संनिधा० | ५६५ | अथैतान्यद्भुतप्रा० | ,, |

| सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । | सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|---|---|
| स पूर्वाह्ने स्नातः | १७० | अगारं प्राप्या० | ,, |
| इन्द्राग्नी वः प्रस्था० | ,, | पूर्वार्धे शालायां | ,, |
| इमा या गाव | १७१ | तस्मिन्प्राङ्मुखा० | १८१ |
| सꣳस्थाः स्थ | ,, | वाचंयमावासाते | ,, |
| ऊर्जा वः पश्या० | ,, | उदितेषु नक्षत्रेषु | ,, |
| अतो गवां मध्ये | ,, | मा हास्महि | ,, |
| समावृत्त आचार्य० | १७२ | मारधाम द्विषते | ,, |
| व्याहृतिपर्यन्तं | १७४ | सप्तर्षयः प्रथमां | ,, |
| इमं मे वरुण | ,, | अत्र मनोज्ञेन | १८३ |
| अश्मानमास्थाप० | १७५ | पत्न्यवहन्ति | ,, |
| प्राङ्मुखः प्रत्यङ्मुख्या | ,, | श्रपयित्वाऽभिघा | ,, |
| यदि कामयेत | ,, | तेन ब्रह्माणं | १८४ |
| यदि कामयेत स्त्री० | ,, | योऽस्यापचितो | ,, |
| यदि कामयेतो० | ,, | नित्यमत ऊर्ध्वं | ,, |
| तामग्रेण दक्षिण० | १७६ | नित्यं सायंप्रात० | ,, |
| तां यथायतन० | १७७ | सौरीं पूर्वां | १८५ |
| उदायुषेत्युत्थाप्य | ,, | त्रिरात्रमक्षारा० | ,, |
| तथैव लाजानाव० | ,, | चतुर्थ्यामपररात्रे | ,, |
| तथैव लाजाना० | ,, | अथास्यै मूर्ध्नि | ,, |
| अत्रैके जयाभ्या० | १७८ | अत्रैवोदपात्रं | १८६ |
| तामपरेणाग्निं | ,, | अथैनामुपयच्छते | ,, |
| अथैनाꣳ संशास्ति | ,, | अथैनां परिष्वजते | १८७ |
| एकमिषे विष्णु० | ,, | अथास्यै मुखेन | ,, |
| सखायौ सप्तपदा | ,, | त्रिरात्रं मलवद्वासा | ,, |
| तामपरेणाग्निं | १७९ | चतुर्थ्याꣳ स्नातां | ,, |
| अत्र बीजान्यधि० | ,, | विष्णुर्योनिं कल्प० | ,, |
| ततः प्रवाहयन्ति | ,, | भूः प्रजापतिनाऽस्य० | १८८ |
| समोप्यैतमाग्नि० | १८० | सर्वाण्युपमनानि | १८९ |
| अनुगतो मन्थ्यः | ,, | यच्चादौ यच्चर्ता० | ,, |
| उपवासश्चानुगते | ,, | पाणिग्रहणादिरग्नि० | ,, |

| सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|
| शालां कारयिष्यन् | १०० |
| उदगयन आपूर्य० | ,, |
| अहतं वासः | ,, |
| देवस्य त्वेत्यभ्रि० | ,, |
| इहैव ध्रुवां | ,, |
| इहैव ध्रुवा प्रति० | ,, |
| आ त्वा कुमार० | १०१ |
| एवमेव स्थूणा० | ,, |
| एवमभिमृश० | ,, |
| ऋतेन स्थूणा० | ,, |
| मा नः सपत्नः | ,, |
| वास्तोस्पते वास्तोष्पत | १०२ |
| एवं विहितं | ,, |
| ऋतावृतावि० | ,, |
| गृहा मा बिभीत | १०३ |
| क्षेमाय वः | ,, |
| गृहानहं सुम० | ,, |
| अथातः सीमन्तो० | १०४ |
| प्रथमगर्भाया० | ,, |
| इमं मे वरुण | ,, |
| अथातः पुंसव० | १०५ |
| तृतीये मास्या० | ,, |
| आण्डौ स्थ | १०६ |
| श्वावृत्तदिति | ,, |
| अचान्ताया | ,, |
| न्यग्रोधशृङ्गं | ,, |
| यदि गर्भः स्रवे० | ,, |
| विजननकाले | १०७ |
| जातेऽश्मनि | ,, |
| यद्यपरा न | ,, |

| सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|
| उपनिर्हरन्त्यौ० | १०८ |
| स एष उत्तप० | ,, |
| नास्मिन्किंचन | ,, |
| अथैनं कर्णे: | ,, |
| ततः पाणी प्र० | १०९ |
| अथातो मेधा० | ११० |
| अथोष्णशीताभि० | ,, |
| अथैनं मातु० | ,, |
| आधायाभिमन्त्र० | १११ |
| प्रक्षाल्य दक्षिणं | ,, |
| एवमुत्तरम् | ,, |
| नामयति न | ,, |
| द्वादश्यां माता० | ,, |
| उपनिर्हरन्ति | ११२ |
| तमुपसमाधाय | ,, |
| इमं मे वरुण | ,, |
| द्वे नामनी कु० | ११३ |
| नक्षत्रनाम द्वि० | ,, |
| सोमयाजीति | ११४ |
| प्रवासादेत्याऽऽ० | ११५ |
| पशूनां त्वा | ,, |
| अथास्य दक्षि० | ,, |
| अथ षष्ठे मास्य० | ११६ |
| आपूर्यमाणपक्षे | ,, |
| अथैनं दधि | ,, |
| अथैनमन्नं | ,, |
| तृतीये वर्षे | ,, |
| आपूर्यमाणपक्षे | ११७ |
| उत्तरतो माता | ,, |
| अथोष्णशीता | ,, |

| सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । | सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|---|---|
| शीतासूष्णा | ११७ | दशैवाथापरा० | ,, |
| ओषधे त्रायस्वै० | ,, | अथ पर्णपुटं | ,, |
| एवमितरान् | ११८ | अथोपतिष्ठते | १२६ |
| उप्त्वा यथोदितं | ,, | अथ चान्दनसुरो० | ,, |
| संयम्य केशान् | ,, | अथ हैनं क्षैत्र० | ,, |
| यथाश्रद्धं ब्राह्म० | ,, | चतुर्षु सप्तसु | १२७ |
| सर्पिष्मन्तमोद० | ११९ | अमावास्यायामप० | १२८ |
| एवं विहितꣳ | ,, | पितृभ्योऽन्नꣳ | ,, |
| सशिखं वाप० | ,, | नार्थापेक्षो भोज० | ,, |
| गुरवे गां | ,, | अग्निमुपसमा० | १२९ |
| अथातः श्वग्रह० | १२० | आज्यभागान्तं | १३० |
| समुपसृजते यज्ञो० | ,, | एतामेव दिशा० | ,, |
| अथ वरं वृणी० | १२१ | यज्ञोपवीती व्याहृ० | ,, |
| कुमारमेवाहं | ,, | अथ नामधेयै० | ,, |
| एवꣳ समुपसृज० | ,, | एवमन्नस्य जु० | १३१ |
| अथातः शूल० | १२२ | अथ सौविष्टकृतीं | ,, |
| आपूर्यमाणपक्षे | ,, | अथान्नमभिमृ० | १३२ |
| उत्तरस्यां मीढु० | ,, | भुञ्जानान्समी० | ,, |
| मध्ये जयन्तम् | ,, | भुक्तवतोऽनुप्र० | ,, |
| यथोढमुदका० | १२३ | तेष्ववाचीनपाणि० | १३३ |
| यथोढमेवो० | ,, | एतत्ते ततासा० | ,, |
| व्याहृतिपर्यन्तं | ,, | अथ यदि नाम० | १३४ |
| अथ पत्न्योदनं | ,, | अत्राऽऽभ्यञ्जनाभ्य० | ,, |
| अथ मध्यमौद० | १२४ | आङ्क्ष्वासावा० | ,, |
| अथ सर्वेभ्य | ,, | अभ्यङ्क्ष्वासा० | ,, |
| अभिल एतमग्नि | ,, | एतानि वः पितरो | ,, |
| अथातो बौडच० | ,, | स्वं लोम च्छित्त्वो० | ,, |
| गृहोपस्पृश | १२५ | अथ पात्रꣳ संक्षा० | १३५ |
| घोषिण उप० | ,, | तत उदकान्तं | ,, |
| दशाथापराणि | ,, | | |

| सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । |
| --- | --- |
| एतेन माघ्यावर्षं | ६३६ |
| तत्र माꣳसं निय० | ,, |
| माꣳसाभावे | ,, |
| माघ्याः पौर्णमास्या | ६३७ |
| ततः पूर्वेद्युर० | ,, |
| अथान्नस्य जु० | ६३९ |
| अपूपस्यान्नस्ये० | ,, |
| तं घृतवन्तं | ,, |
| तेन ब्राह्मणं | ,, |
| तेभ्यो यथाश्र० | ६४० |
| प्रसिद्धमोदका० | ,, |
| श्वोभूते पितृ० | ,, |
| अग्निमुपसमा० | ,, |
| संज्ञप्तायै तूष्णीं० | ६४१ |
| औदुम्बर्या वपा० | ,, |
| श्रपयित्वाऽभि० | ,, |
| सर्वहुतां वपां | ,, |
| उपस्थितेऽन्न | ६४२ |
| हुत्वाऽन्नस्य | ,, |
| प्रसिद्धमोदका० | ,, |
| अन्नधनदाने | ,, |
| श्वोभूते माꣳस० | ६४३ |
| अथातः श्रवणा० | ,, |
| तद्या पौर्णमासी० | ,, |
| अथोपकल्पय० | ६४४ |
| दर्व्यामुपस्तीर्य० | ,, |

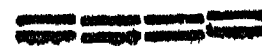
| सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । |
| --- | --- |
| उदकुम्भं दर्भ० | ६४५ |
| उदकुम्भमादाय | ,, |
| अथोपतिष्ठते | ,, |
| नित्यमत ऊर्ध्वं | ,, |
| नात्र किंशुक | ६४६ |
| न परिषेचनं | ,, |
| निरवदास्यन्नि० | ,, |
| आग्रहायणीं | ,, |
| मार्गशीर्ष्यां पौर्ण० | ,, |
| अथ सौविष्टकृतीं | ६४७ |
| ततः पाणी प्र० | ,, |
| तेषां दक्षिणा | ६४८ |
| स्योना पृथिवि | ,, |
| उदायुषेत्यु० | ,, |
| उदस्थाममृ० | ,, |
| एवꣳ रात्रेस्त्रिः | ,, |
| ब्राह्मणानन्नेन | ६४९ |
| अथात उपाकरणो० | ,, |
| श्रवणापक्ष ओष० | ,, |
| अग्निमुपसमा० | ६५ |
| काण्डादीन्वा | ,, |
| तैषीपक्षस्य | ,, |
| सगणः प्राची० | ६५१ |
| ततः शुचौ देशे | ,, |
| ब्रह्मणे प्रजाप० | ,, |

| सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । | सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---|---|---|
| विश्वामित्रो जम० | ६९१ | जगत्या वैश्यस्य | ,, |
| विश्वामित्राय | ६९२ | यदि कामयेत | ,, |
| तत एकवेद्यां | ,, | त्रीँस्तृचाननु० | ६८९ |
| दक्षिणतः प्राची० | ,, | पाञ्चदश्येन वि० | ,, |
| यथास्वं पितृ० | ६९३ | वैश्यस्य साप्त० | ,, |
| अमुं तर्पयाम्य० | ,, | एकविंशतिमनु० | ६८८ |
| अमुष्मै नमोऽ० | ,, | बहुयाजिन इति | ६८९ |
| अपरेण वेदि० | ,, | अपरिमितमनुब्रूया | ६९० |
| काण्डात्काण्डाद्या | ६९४ | अथ प्रवरं | ६९१ |
| प्रत्येत्यापूपैः | ,, | एकं वृणीते | ,, |
| एवं पारायण० | ,, | अथ निविदो | ६९२ |
| देवा यो अप्सु | ६७३ | अथ चत्वार्य० | ६९३ |
| चतुर्होता पञ्चहोता | ,, | देवता आवाह० | ,, |
| दर्शपूर्णमासयोर्हौत्रं | ६७४ | नामावास्याया० | ६९४ |
| क्लप्ते होतृषदने | ,, | ऊर्ध्वमाग्नेयस्या० | ,, |
| यज्ञोपवीत्याचा० | ६७९ | वरणं प्रत्यूर्ध्वं० | ६९६ |
| दक्षिणेन पादेनो० | ,, | ऊर्ध्वज्ञुरासीनो | ,, |
| अत्र तिष्ठन्सामि० | ,, | यत्राभिजाना० | ,, |
| सामिधेनीसंप्रेषा० | ६७६ | चतुर्होतारं | ,, |
| अथाध्वर्युः संप्रे० | ,, | सव्येन तूष्णी० | ,, |
| प्र वो वाजा अभि० | ६७७ | षष्टिश्चाध्वर्यो | ,, |
| यत्क्रौञ्चमन्वाहा० | ६७८ | षण्मोर्वीरंहस० | ६९७ |
| त्रिः प्रथमाम० | ,, | निहोता होतृ | ,, |
| अपिवाऽनुवचने | ६७९ | लोककृतौ लोकं | ,, |
| सर्वेष्वृगन्तेषु | ६८० | प्र मे ब्रूत | ,, |
| ओंकारमुदात्त० | ६८१ | ततः स्रुचावादा० | ,, |
| तं त्वा समिद्भि० | ,, | मन्द्रेण स्थानेन | ,, |
| सोवध्याधिकं | ६८२ | समिधो यजेति | ६९८ |
| आजुहोत दुव० | ६८३ | अथाऽऽज्यभागा० | ६९९ |
| त्वं वरुण इति | ,, | तयोर्याज्या० | ,, |

| सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः। | सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः। |
|---|---|---|---|
| याज्यैव प्रया० | ६९९ | अन्वाहार्यं प्रति० | ७०८ |
| तेषां प्रचर्य | ,, | नानूयाजेषु ये | ,, |
| अथ याज्याया | ,, | व्याहृतिभिरेव | ,, |
| तत्रैतदेकारै० | ,, | देवान्यजेति | ,, |
| अथ यत्रावर्णो | ७०० | सूक्ता ब्रूहीति | ७०९ |
| चेकितानो यथा० | ,, | आशास्तेऽयं | ,, |
| ये यजामहे | ,, | शंयोर्ब्रूहीति | ७१० |
| वषाडित्येके | ,, | उक्त्वा शंयुवा० | ,, |
| संततमृचा | ७०१ | पत्नीसंयाजेषु | ,, |
| बलीय ऋचा | ,, | अक्ते अङ्गुलिप० | ७११ |
| यं कामयेत | ,, | आज्येडामुप० | ,, |
| यं कामयेत | ,, | ऊर्ध्वं पिष्टलेप० | ,, |
| यं कामयेत | ,, | वेदोऽसि वेद० | ,, |
| अपगूर्य वषट् | ,, | घृतवन्तं कुला० | ,, |
| यं कामयेत | ७०२ | यथेतं प्रति० | ,, |
| अग्निर्वृत्राणि | ७०३ | संतिष्ठते दर्श० | ७१२ |
| अथ प्रधानानां | ७०४ | प्रवरान्व्याख्या० | ७१४ |
| अग्नीषोमा युव० | ७०५ | आर्षेयं वृणी० | ,, |
| पिप्रीहि देवाꣳ | ,, | न देवैर्मनुष्यै० | ,, |
| गायत्र्यौ वा | ७०६ | आर्षेयमन्वा० | ,, |
| अङ्गुलिपर्वणी | ,, | यो वा अन्यः | ७१५ |
| अथास्याध्वर्यु० | ,, | एकं वृणीते | ,, |
| विज्ञायते च | ७०७ | भृगूनेवाग्रे | ७१६ |
| मुखेन संमितो० | ,, | इतीमे भृगवो | ७१७ |
| यं कामयेता० | ,, | अथातोऽङ्गिर० | ७१८ |
| अवान्तरेडां | ७०८ | अथ भरद्वाजानां | ७१९ |
| चतुर्धा कार्णे० | ,, | अथात्रीणां | ७२० |

| सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः । | सू० प्र० | पृष्ठाङ्काः |
|---|---|---|---|
| अथ विश्वामित्राणां | ७२० | अथागस्तीना० | ७२२ |
| अथ श्रौमतका० | ७२१ | अथ क्षत्रियाणां | ,, |
| अथ कश्यपानां | ,, | अथानाज्ञातबन्धोः | ७२३ |
| एकार्षेया वासिष्ठा | ,, | अथ ह ताण्डिन | ७२४ |


इति सत्याषाढहिरण्यकेशिश्रौतसूत्र एकोनविंशविंशैकविंशप्रश्नगतसूत्राणां पाठक्रमेण प्रतीकानि ।



# सत्याषाढविरचितं श्रौतसूत्रम् ।

## मातृदत्ताचार्यविरचितवृत्तिसमेतम् ।

### अथैकोनविंशप्रश्ने प्रथमः पटलः ।

यज्ञं व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञाय दर्शपूर्णमासादयः सहस्रसंवत्सरान्ता ये श्रौता यज्ञा वैतानिकास्ते व्याख्याताः । स्मार्ता इदानीमष्टकादय एकाग्नौ कर्तव्या वक्तव्यास्तेषामुपनयनं प्रधानम् । श्रौतत्वाद्वेदाध्ययनार्थत्वात् । तत आरभ्य शास्त्रैराधिकारात्स्वार्थं प्रागग्न्युत्पत्तेश्च तत्प्रथमं व्याख्यातुकाम इति प्रतिजानीते—

**उपनयनं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥**

ननु कार्त्स्न्येन परिसमाप्तेषु श्रौतेष्वेतेषां वचनं न्याय्यम् । न च ते कार्त्स्न्येन परिसमाप्ताः । दार्शपौर्णमासिकस्य हौत्रस्य काम्येष्टिपशुबन्धानां कौकिल्याः सवानां काठकाग्नीनां प्रवर्ग्यस्य विहारयोगानां चोत्तरत्र वक्ष्यमाणानामवशेषात् । नैष दोषः । उपनयनं तावच्छ्रौतम् । उपनयनस्य विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कार इति धर्मेषु वचनात् । वाजसनेयिके शाठ्यायनिके च प्रत्यक्षं तदितिकर्तव्यताया उपदेशात् । उपवसंस्तिसृभिर्जुहुयादित्यादीनि श्रुत्यन्तराणि सन्तीति च । तस्य श्रौतमध्ये विधानं श्रौतत्वख्यापनार्थम् । कार्यभ्रेषे श्रौतं प्रायश्चित्तं यथा स्यादिति । तत्संबन्धादितिकर्तव्यताकत्वर्थाद्व्रतोपाकरणविसर्गस्नानविवाहादीनां तदनन्तरं विधानम् । अत एव लौकिकाग्न्याधारत्वमुपनयनस्य । इदं च स्मार्तानां प्रायः श्रौतमध्ये विधानस्य प्रयोजनं श्रौतवदादर एषां स्यादिति । येन कर्मणा यस्मिन्वा कर्मणि आचार्यसमीपं नीयते कुमारस्तदुपनयनम् । किं तदग्न्यायतनोद्धननादि सावित्रव्रतविसर्गान्तम् । तद्विस्तरेण सकलं वक्ष्यामः । सोऽयं दृष्टार्थः संस्कार उपनयनं नाम । विद्यार्थिन आचार्यसमीपमुपगमनमुपनयनम् । विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कार इति वचनात्त्रैवर्णिकानामेव स्यात् । ननु शूद्राणामुपनयनं वेदाध्ययनमिति शूद्रादीनां प्रतिषेधात् । तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यमित्यादिना तत्समीपेऽध्ययनप्रतिषेधाच्च । पुंसामेव क्रियते न स्त्रियाः । स्त्रिया नाध्येयं न स्त्रीशूद्रसमीपे ब्रह्म श्रावयेदिति स्त्रीणामध्ययनप्रतिषेधात् । पाणिग्रहो विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः पर इत्युपनयनभक्तित्वाच्च विवाहस्य ॥ १ ॥

कस्मिन्वयसि क उपनेय इत्युच्यते —

**सप्तवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत् ॥ २ ॥**

सप्त वर्षाणि यस्य जन्मतः परिमाणं स सप्तवर्षो ब्राह्मणस्तमुपनयेत् । उपनयीतेत्यपपाठः ॥ जन्मन आरभ्य सप्तमे वर्ष उपनयेतेत्यर्थः । धर्मेषु चैतदेव वक्ष्यति । गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमिति । तस्मादिह वचनं गर्भाष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेदिति शास्त्रान्तरे दर्शनात् ॥ २ ॥

**एकादशवर्षꣳ राजन्यं द्वादशवर्षं वैश्यम् ॥ ३ ॥**

एकादशे राजन्यं द्वादशे वैश्यम् । एतयोरपि पूर्ववदर्थः । जन्मतः संख्या गर्भादारभ्य तदुभयं धर्मेषु विकल्प्यते ॥ ३ ॥

**वसन्ते ब्राह्मणं ग्रीष्मे राजन्यꣳ शरदि वैश्यम् ॥ ४ ॥**

सर्वत्रोपनयेदिति शेषः । कालस्यापि धर्मे सिद्धस्य पुनर्विधानं कालान्तरदर्शनात् । एकेषाम्—उदगयन आपूर्यमाणपक्षे कल्याणे नक्षत्रे चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहा इति । सप्तवर्षं ब्राह्मणं वसन्त उपनयेदित्येव सिद्धे कालवयसोः किमर्थं पृथग्ग्रहणम् । अशक्तौ कामसंयोगे वाऽन्यस्मिन्नपि वयसि सर्वस्मिन्नप्युदगयने भवेदिति कालवयसोरनित्यत्वख्यापनार्थम् । तथा धर्मेषु सप्तम आयुःकाममित्यादि काम्यवयोनुक्रमणमा षोडशाद्ब्राह्मणस्यानात्यय(नतीतः काल) इति यथा व्रतेषु समर्थः स्यादित्येतदन्तमसंभवे कालविधिपरिग्रहणेनानियतवयस्त्वं च दृष्टम् । अथवैतानि धर्मत एव सिद्धानि पृथग्वचनं गुणद्वयस्यैकस्मिन्वाक्ये विधातुमशक्यत्वाद्यथा धर्मेषु पृथग्वचनं तथेहापि स्यादिति द्रष्टव्यम् । कालस्यानियतत्वं पूर्वत्रैव ख्यापितम् ॥ ४ ॥

**आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे विशेषेण पुंनामधेये ॥ ५ ॥**

क्रमेण ज्योत्स्नायाः पूर्तये यः पक्षः स आपूर्यमाणपक्ष इत्यर्थः । तस्मिन् पुण्ये शुभे नक्षत्रे विशेषेण पुंनामधेये पुंशब्देनाभिधेय उपनयेद् ब्राह्मणादीन् । ऋतुभिरस्य विधेः समुच्चयसंभवाद्विशेषेणेति वचनात्पुंनामधेये विशिष्टमुपनयनम् । अन्यस्मिन्नपि पुण्ये न गर्हिते । अश्वयुक्पुनर्वसू तिष्यो हस्तः शतभिषक्प्रोष्ठपदा इति पुंनामधेयानि ॥ ५ ॥

**युग्मान्ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहꣳ स्वस्त्ययनमिति वाचयित्वा ॥ ६ ॥**

युग्मान्युग्मप्रभृतीन्समसंख्याकान्ब्राह्मणान्वृद्धौ फलभूयस्त्वादन्नेन परिविष्य तर्पयित्वा पुण्याहं सुदिनत्वं सर्वकालमहनि स्वस्त्ययनं रक्षापुष्टिपुत्रधनधान्याद्यभिवृद्धिः । पुण्याहं भवन्तो ब्रुवन्तु । स्वस्ति भ० ऋद्धिं भ० इत्येवं पुण्याहवाचनविधिना वाचयित्वेत्यर्थः । इतिशब्दो न्याय्याभिवचनानां परिग्रहार्थः ॥ ६ ॥

**अशितस्य कुमारस्य केशान्वापयित्वा स्नातमलंकृतमहतं वासः परिधाप्य प्राचीनप्रवण उदीचीनप्रवणे प्रागुदक्प्रवणे समे वा देश उद्धत्यावोक्ष्याग्निं मथित्वा लौकिकं वाऽऽहृत्य न्युप्योपसमादधाति ॥ ७ ॥**

अशितस्येत्यादि । अलंकृतं माल्यादिना मण्डितम् । अहतमनुपयुक्तं वासः परिधाप्य । प्राचीनोदीचीनप्रागुदगवनतानामन्यस्मिन्समे वा देशे शास्त्रान्तरे दर्शनादिषुमात्रावरेऽग्न्यायतन उद्धत्याभ्याऽन्येन वा । पुनर्धर्मशास्त्रे दर्शनादुपसमाधानदेशे तिस्रो रेखाः प्राचीरुदगपवर्गास्तिस्र उदीचीः प्रागपवर्गा लिखित्वा कृत्स्नमग्न्यायतनमद्भिरवोक्ष्योत्सिच्यावोक्षणोदकशेषमुत्तरेण पूर्वेण वाऽन्यदुपनिदध्यात् । याज्ञिकात्काष्ठादग्निं मथित्वा लौकिकं वाऽऽहृत्य श्रोत्रियागारादग्न्यायतनमध्य उपसमादधाति काष्ठान्यभ्याधाय प्रज्वलयतीत्यर्थः । इहोपनयनादिषु कर्मसु पूर्वेद्युस्तदहरेव वा प्राक्कर्मारम्भान्नान्दीमुखश्राद्धं शास्त्रान्तरे दृष्टं सर्वे कुर्वन्ति तदप्यविरोधात्तत एवागमय्य कार्यम् ॥ ७ ॥

**प्रागग्रैर्दर्भैरग्निं परिस्तृणाति ॥ ८ ॥**

तमग्निं प्रागग्रैर्दर्भैः पुरस्ताद्दक्षिणतः पश्चादुत्तरत इति परिस्तृणाति । ह्रस्वा उदगपवर्गाः पश्चात्पुरस्ताच्च भवन्ति ॥ ८ ॥

**अपिवोदगग्राः पश्चात्पुरस्ताच्च भवन्ति ॥ ९ ॥**

अपिवा पश्चात्पुरस्ताच्च ये दर्भास्त उदगग्रा भवन्ति । प्रागग्रा एव दक्षिणा उत्तराश्च ॥ ९ ॥

**दक्षिणानुत्तरान्करोत्युत्तरानधरान्यादि प्रागुदगग्राः ॥ १० ॥**

प्रागग्राश्चोदगग्राः प्रत्येकमग्रशब्दः परिसमाप्यते । यदि परिस्तरणदर्भाः प्रागुदगग्रा भवन्त्येतस्मिन्पक्ष इत्यर्थः । तत्र दक्षिणान्दर्भान्पूर्वापरेभ्यो दर्भेभ्य उत्तरानुपरिशयान्करोति । यदि प्रागुदगग्रा इति वचनमुत्तर एव पक्षेऽयं विधिः स्यान्न प्रागग्रपक्ष इत्येतदर्थम् । नैतदस्त्यानन्तर्यादसंभवादेतात्सिद्धं हि । एवं तर्हि श्रौतेष्वपि स्तरणमधरोत्तरभाव एव भवेदितीदं दक्षिणप्रागग्रतायामपि उदग्रताया अपवादं वा दक्षिणाग्रताया एवं भवत्येव ॥ १० ॥

**दक्षिणेनाग्निं ब्रह्मायतने दर्भान्संस्तीर्य ॥ ११ ॥**

दक्षिणेन परिस्तीर्णमग्निं ब्रह्मण आयतने प्रवेशनदेशे दर्भान्सम्यक्बहुलान् संस्तीर्य ॥ ११ ॥

मयि गृह्णामि यो नो अग्निरिति द्वाभ्यामात्मन्नग्निं गृहीत्वा ॥ १२ ॥

मयि यो न इति द्वाभ्यामात्मीयमग्निमात्मनि गृहीत्वा तथा संकल्पयित्वेत्यर्थः ॥१२॥

उत्तरेणाग्निं दर्भान्सꣳस्तीर्य यथार्थं द्रव्याणि प्रयुनक्ति ॥ १३ ॥

अग्नेरुत्तरतो दर्भान्परिस्तीर्य यथार्थं यथाप्रयोजनं द्रव्याणि प्रयुनक्ति । कानि तानि यानि अश्मादीनि दश येनान्येन प्रयोजनं तच्च । अग्निग्रहणमनर्थकमग्निं मथित्वेत्यधिकारात् । यथा परिस्तरणे नानर्थकम् । अस्यैवाग्नेः संप्रत्ययार्थम् । परिस्तरणं त्रेताग्नेरपि स्यात् । परिस्तरणदर्भा होमेषु भवेयुरिति । तत्राग्निहोत्रराजाभिषेकयोः पूर्ववचनं श्रौतप्रायश्चित्तार्थं क्रमार्थं प्रागुदगग्रतानियमार्थं च । स्थानादौ क्षेत्रपत्ये चाग्निकार्ये प्रवृत्तेरग्नेरपि स्यात्परिस्तरणम् । केचिदिहैव परिस्तरणस्यानित्यत्वख्यापनार्थमग्निग्रहणं मन्यन्ते । तथोक्तं बह्वृचानां कृताकृतमाज्यहोमेषु परिस्तरणमिति । तत्राऽऽचाराद्वैदिकेषु परिस्तरणम् । उत्तरेणाग्निमित्यत्राप्यग्निग्रहणमात्मीयमग्निमित्यात्मीयस्याग्नेर्ग्रहणार्थम् । यथार्थमिति वचनमुच्यमानानामपि प्रयोजनाभावे निवृत्त्यर्थम् ॥ १३ ॥

अश्मानमहतं वासोऽजिनं मौञ्जीं मेखलां त्रिवृतां ब्राह्मणस्य ज्याꣳ राजन्यस्याबीसूत्रं वैश्यस्य बैल्वं पालाशं वा दण्डं ब्राह्मणस्य नैयग्रोधꣳ राजन्यस्यौदुम्बरं वैश्यस्य ॥ १४ ॥

अश्माऽऽक्रमणाय । वासः परिधानार्थम् । अजिनमुत्तरीयार्थम् । मौञ्जी मुञ्जानां विकारो मेखला । शक्तिविषये दक्षिणावृत्तानामिति धर्मेषु विशेषः । त्रिवृता त्रिगुणा । ( त्रिवृत्तामिति पाठः । ) अजादिपाठो विभाषाऽनुमेयः । सर्वेषां व्यञ्जनानामाकारं वष्टिभागुरिरित्यभीष्टिरस्तीत्येके । ज्या धनुषो रज्जुः । मौञ्जी चायोमिश्रेति धर्मेषूक्तम् । अविरेवावी । सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येक इतीकारः । अव्याः सूत्रमवीसूत्रम् । अविलोममयी रज्जुरित्यर्थः । सैरी तामलीत्येक इति धर्मेषु वचानात् । बैल्वो बिल्वमयः । पालाशः । पलाशमयः । दण्डो ब्राह्मणस्य । नैयग्रोधो वटमयः । स्कन्धजो बादरो वाऽवाङ्ग्रदण्ड इति धर्मेषु विशेषः । औदुम्बरेण बादरस्य धर्मेषु विकल्पः । वार्क्षो दण्ड इत्यवर्णसंयोगेनैक उपदिशन्तीति सर्वेषामनियतवृक्षत्वं दण्डानाम् । चतुष्प्रादेशं मस्तकललाटनासिकाग्रप्रमाणैः स्युरिति सिद्धमात्मीयेषु दण्डेषु मेखलानां धर्मत एव सिद्धेर्वृक्षादिगुणवचनं धर्मगृह्यान्तरविहितविशेषविधिपरिग्रहार्थम् ॥ १४ ॥

**एकविंशतिदारुमिध्मꣳ संनह्यत्याहुतिपरिमाणं वा ॥ १५ ॥**

एकविंशतिकाष्ठमिध्मं संनह्यति प्रयुनक्तीत्यर्थः । आहुतीनां परिमाणं संख्या । आहुतिपरिमाणमिव परिमाणं यस्य स आहुतिपरिमाणः । उष्ट्रमुखवदुत्तरपदलोपः । यावत्य आहुतयस्तावद्दारुको भवेदित्यर्थः । उपहोमवर्जिता अङ्गप्रधानाहुतयो गणयितव्याः । जयादीनामुपहोमानां न गणनेत्येके । तैरपि सहेत्यपरे । जयाद्यभाव आहुतिपरिमाणत्वे प्रायश्चित्तानामुत्पन्नानां प्रत्याहुतीध्माधानं कार्यमितरत्र न । सर्वार्थत्वादिध्मस्य दर्शपूर्णमासवद्वृक्षनियमः । तस्य दर्शपूर्णमासाभ्यामुपवास इध्माबर्हिषोश्च संनहनमिति बह्वृचानां वचनाद्यः कश्चिद्याज्ञियो वृक्ष इति वचनादित्यपरे ॥ १९ ॥

**तस्मिञ्छम्याः परिधीनिध्म उपसंनह्यति ॥ १६ ॥**

तस्मिन्निध्मे शम्याकृतिकांस्त्रीन्परिधीनुपसंनह्यति । शम्याशब्द इहाऽऽकृतिवचनः । यथा यज्ञायुधेषु तस्मात्ते याज्ञिकस्य वृक्षस्य । केचिद्भूतोपदेशं मन्यमानाः शम्या एवोपाददते तेषां यज्ञायुधेऽपि प्रसङ्गः स्यात् । एके परिधीनधिकानिच्छन्ति । चतुर्विंशतिदारुत्वं हीध्मानां दृष्टमिति । अपरे संख्यायां परिधीनन्तर्भावयन्ति । तथा दर्शपूर्णमासयोर्दृष्टत्वात् । बह्वृचानां चेध्माबर्हिषोश्च संनहनमिति दर्शपूर्णमासाभ्यामतिदेशात् । आहुतिपरिमाणत्वे प्रत्याहुति समिधां दर्शनादभ्यधिकत्वमेव न्याय्यम् । ग्रन्थस्य त्वयमर्थः—शम्याः परिधीनुपसंनह्यति इत्युच्यमाने पृथगप्यधिकानामुपसंनहनं प्राप्नोति तन्मा भूदिति तस्मिन्निध्म इत्युच्यते । तस्मिन्नित्येव सिद्ध इध्मग्रहणमिध्मसंख्यायां परिधीनामन्तर्भावार्थम् । इध्म इत्येव सिद्धे तस्मिन्निति वचनमाहुतिपरिमाणत्वेऽभ्यधिका एव( र्थम् ) ॥ १६ ॥

**दर्वीं कूर्चमाज्यस्थालीं प्रणीताप्रणयनं प्रोक्षणीपात्रं येन चार्थः ॥ १७ ॥**

दर्वीं कृदिकारादक्तिन इतीकारः । पालाशी होमार्थत्वात्खादिर्यपि दृष्टा शाखान्तरे । तस्या आकृतिर्लोकप्रसिद्धा । कूर्चः सावित्रीवाचनार्थमासनम् । पुनरुपनयने पौष्करसादिपक्षे च प्रयोक्तव्यो नेतरत्र । आज्यस्थाली मृन्मयी प्रसिद्धा । प्रणीताः प्रणीयन्ते येन तत्प्रणीताप्रणयनम् । तदपीह मृन्मयमेवान्यस्यावचनात् । येन चार्थ इत्यनुक्तानामपि प्रयोजनवतामुपसंग्रहार्थम् । यथा प्रोक्षणार्थं पात्रं बहिरङ्गारनिरूहणार्थं काष्ठमिति ॥ १७ ॥

**सकृदेव सर्वाणि यथोपपादं वा ॥ १८ ॥**

सकृदेव युगपदेव सर्वाणि प्रयुनक्ति । यथोपपादं वा यथासंभवं वेत्यर्थः । ( यथोपपदमित्यपपाठः । ) एवकारकरणमेवमेव सर्वत्र नान्यथेत्येतदर्थम् । केचिद्देवेषु द्वंद्वं पित्र्य एकैकं मानुषे सह सर्वाणीति विदधिरे हि । अथवा सकृदेव सर्वाणि । यत्सह सर्वाणि मानुषाणीति दर्शनात् । द्वंद्वस्तुत्यर्थत्वेऽप्यस्य नित्यानुवादत्वादाचारबोधकत्वमस्त्यत एव नान्यथेत्यवधारणार्थमेवकारः । यथोपपादं यथैवोपपद्यन्ते तथैव प्रयुनक्ति । तान्यत्र पित्र्येष्वेकैकमष्टकादिषु यदेकमेकः संभरेत्पितृदेवत्यानि स्युरिति दर्शनात् । दैवेषु स्थालीपाकेषु द्वंद्वं यद्द्वे द्वे दैवानीति दर्शनान्मानुषेषु स्नानादिषु सकृदेव सर्वाणि । उक्तो हेतुरिति ॥ १८ ॥

**एतस्मिन्काले ब्रह्मा यज्ञोपवीतं कृत्वाऽप आचम्यापरेणाग्निं दक्षिणाऽतिक्रम्य ब्रह्मसदनात्तृणं निरस्याप उपस्पृश्याग्निमभिमुख उपविशति ॥ १९ ॥**

एतस्मिन्काले ब्रह्मर्षिर्यज्ञोपवीतं कृत्वोत्तरेणापरेण वा कर्तारं गत्वाऽपरेणाग्निं दक्षिणाऽतिक्रम्य ब्रह्मसदनात्तूष्णीं तृणं निरस्याप उपस्पृश्याग्निमभिमुख उपविशति । एतस्मिन्काल इति वैदिकेऽपि पात्रासादनानन्तरमेव ब्रह्मणः प्रवेशो नार्वागित्येतदर्थम् । अप आचम्येति शुद्धस्यापि कर्माङ्गं पुनराचमनम् । यज्ञोपवीतग्रहणं कर्माङ्गस्याऽऽविकाजिनस्य वाससो वोपादानार्थम् । पित्र्ये वा तस्य प्राचीनावीतित्वनिराकरणार्थम् । अथवा यज्ञोपवीतं कृत्वेति यज्ञोपवीतस्य प्राधान्यख्यापनार्थम् । तेन ब्रह्मालाभे तत्स्थाने यज्ञोपवीतं वा स्यात् । तथैकेषामुक्तम्——छत्रं यज्ञोपवीतं कमण्डलुं वेति । अथवा पूर्वोक्तमेव प्रयोजनम् । एतस्मिन्काल इति वचनमनित्यः पुरुषो नित्यः काल इत्येतदर्थम् । तेन च्छत्रादीनामेको वा ब्राह्मणः स्थाने स्यात् । अप उपस्पृश्येत्यत्र सूत्र एवोक्तं प्रयोजनम् । श्रौतप्रायश्चित्तार्थत्वमिहैव स्यान्नान्यत्र । इहापि वैशेषिकेष्वेव धर्मेषु श्रौतमित्येकेषां मतेऽन्यत्प्रयोजनम् ॥ १९ ॥

**समावप्रच्छिन्नाग्रौ दर्भौ प्रादेशमात्रौ पवित्रे कृत्वाऽन्येन नखाच्छित्त्वाऽद्भिरनुमृज्य पवित्रान्तर्हिते पात्रेऽप आनीयोपबिलं पूरयित्वोदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां त्रिरुत्पूयोत्तरेणाग्निं दर्भेषु सादयित्वा दर्भैरपिदधाति ॥ २० ॥**

समादधातीत्येवमादि सूत्र एवोक्तम् । द्वे पवित्रे कृत्वा । कथं करोति । अन्येन नखात्तृणेन काष्ठेन वा छित्त्वा करोति । कृत्वाऽद्भिरनुमृज्य पवित्राभ्यामन्तर्हिते पात्रे प्रणीताप्रणयनेऽप आनीयोपबिलं पूरयित्वा यथा न स्कन्दत्युत्पवनेनोदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां त्रिरुत्पूयोत्तरेणाग्निं दर्भेषु सादयित्वा दर्भैरपिदधाति ॥ २० ॥

**तिरः पवित्रं प्रोक्षणीः सꣳस्कृत्य यथा पुरस्ताद्बिलवन्त्युत्तानानि कृत्वा विषायेध्मं त्रिः सर्वाभिः प्रोक्षति ॥ २१ ॥**

पवित्रे अन्तर्धाय प्रोक्षणीः संस्कृत्य यथा पुरस्तात्प्रणीतावद्बिलवन्ति पात्राण्युत्तानानि कृत्वा विमुच्येध्मं सर्वाभिस्त्रिः प्रोक्षति पात्राणि । प्रोक्षणीः संस्कृत्येत्येव सिद्धे तिरः पवित्रमिति वचनं प्रागप्यस्माद्धर्मोऽस्तीति ज्ञापयति । तेन तूष्णीं पात्रस्य त्रिः प्रक्षालनं द्विस्त्वासिच्य पूरणं प्रणीतास्विव न भवतीति गम्यते । यथोपपादमित्यभि- ( अथोपवदन्ति ) प्रायेण सर्वाभिरित्यवशेषप्रतिषेधार्थम् ॥ २१ ॥

**दर्वीं निष्टप्य संमृज्य पुनर्निष्टप्य निदधाति ॥ २२ ॥**

दर्वीमग्नौ निष्टप्य संमृज्य पुनर्निष्टप्य निदधाति । जुहूवत्संभार्ग इत्युपदिशन्ति । निधानं दर्भेष्विति निशब्दादध एव नोपरि वा काष्ठादौ ॥ २२ ॥

**संमार्गानभ्युक्ष्याग्नावादधाति ॥ २३ ॥**

संमार्गानद्भिरभ्युक्ष्याग्नावादधाति ॥ २३ ॥

**आज्यं विलाप्य पवित्रान्तर्हितायामाज्यस्थाल्यामाज्यं निरुप्योदीचोऽङ्गारान्निरुह्य तेष्वधिश्रित्यावद्योत्य दर्भतरुणाभ्यां प्रत्यस्य त्रिः पर्यग्नि कृत्वोदगुद्वास्याङ्गारान्प्रत्युह्योदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां पुनराहारमाज्यं त्रिरुत्पूय पवित्रे प्रोक्ष्याग्नावाधाय ॥ ( ख० १ ) ॥ २४ ॥**

आज्यं बहिरेव विलाप्य द्रवीकृत्य पवित्रान्तर्हिताया०रुप्य । पुनराज्यग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थं तेन गव्यमाज्यं स्यात् । द्रव्यान्तरसंसर्गप्रतिषेधार्थं वा तेन शोधयित्वोपरिपवनेन ग्राह्यम् । उदीच उदङ्मुखानङ्गारान् केनचित्काष्ठेन निरुह्य तेषु आज्यमधिश्रित्यावद्योत्य दर्भैरवाचीनज्वालैरुपरि ज्वलयित्वा दर्भतरुणाभ्यां दर्भाग्राभ्यां प्रत्यस्य तस्मिंस्ते प्रास्येत्यर्थः । उल्मुकेन त्रिः पर्यग्नि कृत्वोदगपवर्गं तदुद्वास्य तानङ्गारांस्तेनैव काष्ठेन प्रत्युह्याग्नौ पुनः प्रक्षिप्य निरस्य काष्ठमुदगग्राभ्यां पुनराहृत्य त्रिरुत्पूय पश्चादारभ्य प्रागपवर्गमुत्पूय पुनराहृत्यैवं त्रिः करणं दर्शपूर्णमासयोरेवोक्तम् । पुनराज्यग्रहणं नवनी-

तस्यापि पितृयज्ञ उत्पवनेन पुनराहारार्थम् । अपरे पूर्वमाज्यग्रहणमिदं च तूष्णीमेवाऽऽज्येनान्य(केनाऽऽज्येनेत्य)त्रायमेव संस्कारविनिर्नि दर्शपूर्णमासादिक एव मन्त्रवर्जमित्येतदर्थमित्याहुः । तथैव तत्रैवोक्तम् । पवित्रे अग्नावाधाय । पुनः पवित्रग्रहणं विस्रस्य पृथग्भूतयोः सहाभ्याधानार्थम् । तस्मादादित एव । ते च द्वे स्याताम् । कारणं दर्शपूर्णमासयोरेवोक्तम् । व्यक्तं च बौधायने पवित्रे विस्रस्याद्भिः संस्पृश्येत्याह ॥ २४ ॥

**शम्याभिः परिदधात्यपरेणाग्निमुदीचीनकुम्बां मध्यमां निदधाति ॥ २५ ॥**

शम्याभिः परिधिभिरग्निं परिदधाति । कुम्बां कुम्बं स्थूलप्रदेशमाहुः । अपरेण मध्यमां निदधाति ॥ २५ ॥

**दक्षिणेनाग्निꣳ सꣳस्पृष्टां मध्यमया प्राचीनकुम्बाम् ॥ २६ ॥**

दक्षिणेनाग्निं मध्यमया संस्पृष्टां प्राचीनकुम्बां दक्षिणां शम्यां निदधाति ॥ २६ ॥

**उत्तरेणाग्निꣳ सꣳस्पृष्टां मध्यमया प्राचीनकुम्बाम् ॥ २७ ॥**

उत्तरेणाग्निं मध्यमयैव संस्पृष्टां प्राचीनकुम्बामुत्तरां शम्यां निदधाति । अधरोत्तरभावः परिस्तरणवदत्र द्रष्टव्यः । इहाधिकारादेव सिद्धे त्रीण्यग्निग्रहणानि क्रियन्ते तानि केवलस्याग्नेः संप्रत्ययार्थं परिस्तरणस्य मा भूदिति । तेनोपर्येव परिस्तरणानामग्नेः परिधानं कार्यं न बाह्यत इति । इतरथा पात्रासादनवद्ब्रह्मसदनवच्च बाह्यतश्च प्राप्नोति हि । दक्षिणोत्तरयोः पुनर्ग्रहणं संस्पृष्टामिति संशब्दश्चाग्नेर्दक्षिणतश्चोत्तरतश्च तयोर्निधानं सम्यक्स्पर्शनेनाधरोत्तरभावश्च यथा स्यादिति । इतरथा मध्यमस्यैव दक्षिणतश्चोत्तरतश्च निधानं स्पर्शमात्रं च प्राप्नोतीति । उक्तं बौधायनीये—अधरोत्तरभावश्च परिस्तरणवत् ॥ २७ ॥

**अपरेणाग्निं प्राङ्मुख उपविशति ॥ २८ ॥**

अपरेणाग्निं प्राङ्मुखः कर्ताऽऽचार्य उपविशति । सिद्धस्यैवोत्तरविधिकालार्थमनुकीर्तनम् । अथ वा प्राग्दिशमुखयोः कर्मवशेन नियतत्वख्यापनार्थम् । अग्निग्रहणं त्विह परिस्तीर्णस्य संप्रत्ययार्थम् ॥ २८ ॥

**दक्षिणतो यज्ञोपवीत्याचान्तः कुमार उपविश्यान्वारभते ॥ २९ ॥**

अथ कुमारो यज्ञोपवीती भूत्वा शास्त्रोक्तेन विधिनाऽऽचान्त उत्तरेणाग्निं गत्वोत्तरेणाऽऽचार्यमनूचानमनुज्ञाप्य दक्षिणाऽतिक्रम्य दक्षिणत आचार्यस्य प्राङ्मुख उपविश्यान्वारभते । संस्पृशत्याचार्यम् । आचमनयज्ञोपवीते कुमारस्यातः प्रभृति स्यातां नार्वागितः सिद्धयोरपीह वचनम् । केषांचिदिह मन्त्रेण यज्ञोपवीतस्य क्रियोक्ता । यज्ञोपवीतेनोपव्ययामि दीर्घायुत्वाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय सर्वेषां वेदानामाधिपत्याय

यशसे ब्रह्मवर्चसाय त्वामिति । कौषीतकिनामयं मन्त्रः । बौधायनीयानां त्वेके यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् । आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेज इति त्वेष मन्त्रः ॥ २९ ॥

अथ परिषिञ्चति ॥ ३० ॥

अथानन्तरमाचार्यः परिषिञ्चति सर्वतः सिञ्चतीत्यर्थः । अथशब्दः कुमारस्याधिकारनिवृत्त्यर्थः । सर्वमाचार्यकर्तृकम् । यावदुक्तमेव कुमारस्याऽऽवेद्यत्वात् ॥ ३० ॥

कथं परिषिञ्चति—

अदितेऽनुमन्यस्वेति दक्षिणतः प्राचीनम् ॥ ३१ ॥

दक्षिणतोऽग्नेः प्राचीनमुदकं सिञ्चति ॥ ३१ ॥

अनुमतेऽनुमन्यस्वेति पश्चादुदीचीनम् ॥ ३२ ॥

पश्चादग्नेरुदीचीनमुदकं सिञ्चति ॥ ३२ ॥

सरस्वतेऽनुमन्यस्वेत्युत्तरतः प्राचीनम् ॥ ३३ ॥

उत्तरतोऽग्नेः प्राचीनमुदकं सिञ्चति । सरस्वत इत्येतास्मिन्मन्त्रे पत्नीगर्भिणी (पत्नयो गर्भिणय ) इतिवत्स्त्रियां छान्दसे ह्रस्वत्वे संबुद्धिलोपो गुणश्च स्यात् ॥ ३३ ॥

देव सवितः प्रसुव इति सर्वतः प्रदक्षिणम् ॥ ३४ ॥

सर्वतः प्रदक्षिणमग्निं सिञ्चति । सावित्रहोममन्त्रस्याऽऽदिग्रहणमेतादित्येके । छन्दोगानां तथा दर्शनात् । तन्नेत्युत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामः । प्रदक्षिणवचनं प्रत्येकं सर्वत्र मा भूदिति । सकृदेव परिषेकः स्यादित्येतदर्थम् ॥ ३४ ॥

परिषिच्येध्ममभ्यादधात्ययं त इध्म
आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चे-
न्धि वर्धय चास्मान्प्रजया पशुभिर्ब्रह्मव-
र्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहेति ॥ ३५ ॥

परिषिच्यैवमिध्ममाज्येन दर्व्याऽक्त्वा प्रक्षालयित्वाऽग्नौ हस्तेनाभ्यादधाति अयं त इध्म इत्यनेन । परिषिच्यैतदन्तं परिषेचनख्यापनार्थम् । परिषेकविसर्गयोर्मध्ये कर्मान्तरप्रतिषेधार्थमित्येके । अथ वा प्रतिषेधविषयेऽपि नित्यं समन्त्रः परिषेकः । सूतकान्नावपि तूष्णीमित्येतदर्थम् ॥ ३५ ॥

अथ दर्व्या जुहोति ॥ ३६ ॥

अथेध्माधानादनन्तरं होमान् वक्ष्यमाणान् दर्व्या जुहोति । अथशब्द इध्माधारयोः संबन्धार्थः । तेनाऽऽधारवत्येव दर्विहोमो नान्यत्र ॥ ३६ ॥

**उत्तरं परिधिसंधिमन्ववहृत्य दर्वीं प्रजापतये मनवे स्वाहेति मनसा ध्यायन् दक्षिणाप्राञ्चमृजुं दीर्घꣳ संततं जुहोति ॥ ३७ ॥**

उत्तरं परिधिसंधिमनुलक्षयित्वा तेन पथेत्यर्थः । अवहृत्य प्रवेश्य दर्वीं प्रजापतय इत्यनेन मन्त्रेण मनसा ध्यायन्ननुच्चारयन् वाचा शब्दं दक्षिणाप्रागपवर्गमकुटिलमायतमविच्छिन्नं जुहोति आघारयतीत्यर्थः । दर्वीग्रहणं स्थाल्या सहान्ववहृत्य पश्चादुपादाय होमप्रतिषेधार्थम् । तस्मात्पूर्वमेवोपादाय प्रवेश्याऽऽघारयितव्यम् ॥ ३७ ॥

**दक्षिणं परिधिसंधिमन्ववहृत्येन्द्राय स्वाहेति प्राञ्चमुदञ्चमृजुमाघारावाघार्य ॥ ३८ ॥**

दक्षिणं परिधिसंधिमनुलक्षयित्वा तेन पथेत्यर्थः । इन्द्राय स्वाहेत्यनेन प्रागुदगपवर्गमृजुं दीर्घं संततं जुहोतीत्येव । मनसा ध्यायन्निति निवर्तते । अतो वाचैवाभिघारयति । एतयोराघारयोर्ज्योतिष्मति होमः सर्वेषामिध्मकाष्ठानां संस्पर्शनं चेष्यते ॥ ३८ ॥

**आज्यभागौ जुहोति ॥ ३९ ॥**

तावाघार्येति पूर्वोक्तयोर्होमयोराघारसंबन्धार्थम् । नैतदस्ति । संज्ञायां संव्यवहाराभावात् । अथापि ज्ञानमाघारयतीत्येव ब्रूयात् । आघाराज्यभागयोस्तर्हि संबन्धार्थम् । आघारावाज्यभागौ स्यातां नेतरत्रेति आज्यभागाविति संज्ञासंव्यवहारार्थम् । आज्यभागान्तं कृत्वेत्यत्र ॥ ३९ ॥

**अग्नये स्वाहेत्युत्तरार्धपूर्वार्धे सोमाय स्वाहेति दक्षिणार्धपूर्वार्धे ॥ ४० ॥**

अग्नेरुत्तरार्धस्य पूर्वार्धमुत्तरपूर्वार्धम् । तथा दक्षिणार्धस्य पूर्वार्धं दक्षिणपूर्वार्धम् । जुहोतीति उभयोः शेषः ॥ ४० ॥

**तावन्तरेणेतरा जुहोति ॥ ४१ ॥**

तावाज्यभागावन्तरेण तद्धोमदेशयोर्मध्य इतराहुतीर्जुहोति । तावन्तरेण जुहोतीत्येतावत्युच्यमाने युक्तो वहेत्येतासामेव देशसंबन्धः प्रसज्येत स मा भूत्सर्वासामेव भवतीतीतरा इति वचनम् ॥ ४१ ॥

**युक्तो वह जातवेदः पुरस्तादग्ने विद्धि कर्म क्रियमाणं यथेदम् । त्वं भिषग्भेषजस्यासि कर्ता त्वया गा अश्वान् पुरुषान्सनेम स्वाहा ॥ या तिरश्ची निपद्यसेऽहं विधरणी इति । तां त्वा घृतस्य धारयाऽग्नौ सꣳराधनीं यजे स्वाहा ॥ सꣳ-**

**राधन्यै देव्यै स्वाहा । प्रसाधन्यै देव्यै स्वाहेति ॥ ( ख० २ ) ॥ ४२ ॥**

युक्तो वह० या तिरश्ची० संराधन्यै० प्रसाधन्यै० । इति चतस्रो जुहोति । द्वितीये सँराधनीमिति पठितव्यं यजेः सकर्मकत्वादित्येके । यथापठितमेव विभक्तिव्यत्ययादित्यन्ये । तन्न । उदीच्यानां सँराधनीमिति पाठः । तस्मान्निरनुनासिकोऽपपाठः । स्वाहाकारस्य पाठेऽपि त्वसमाप्ते यज इत्येतदन्तो होममन्त्रः । मन्त्रान्ते नित्यः स्वाहाकार इति परिभाषया स्वाहाकारः स्यात् ॥ ४२ ॥

**सर्वदर्विहोमाणामेष कल्पः ॥ ४३ ॥**

दर्व्या होमादिष्टस्य दारुणा व्युत्पादनात्तत्कर्तृकाणां दर्विहोम इति समाख्या । तस्मात्तेऽपि होमा दर्विहोमा इति श्रौतेषूक्तम् । सर्वे दर्विहोमाः सर्वदर्विहोमाः । के पुनस्ते । उपनयनस्नानविवाहाष्टकादयः । तेषामेष कल्पो विधिर्भवति योऽसावुद्धननादिरनुक्रान्तः । यद्येवमेष योगो व्याहृतिविधानानन्तरं कार्यः । इष्यते हि व्याहृतिपर्यन्तो विधिः । सर्वत्र श्रौत इष्यते यतस्तत्र व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वेत्याह । तत्र न कर्तव्यं भविष्यति । एवं तर्ह्यनुक्रान्तोऽनुक्रम्यमाणस्य यो विधिः ऋत्वर्थः परिषेकविसर्गान्तः सोऽभिप्रेत इष्यते च । सर्वत्र प्रवृत्तिश्चातश्चेष्यते यतस्तत्र वारुण्याद्यनुक्रमति । यद्येवमन्ते वक्तव्यम् । नैवं शक्यम् । सर्वस्य हीतिकर्तव्यताकलापस्य सर्वदर्विहोमेषु प्रसङ्गः स्यात् । तत्र को दोषः । सायंप्रातर्होमादिष्वतिप्रसङ्गात् । अत्र पुनः क्रियमाणे विधौ समाप्तेषु धर्मेषु विधानात् क्वचिदेकदेशस्य क्वचित्सर्वस्य चातिदेशः सिद्धो भविष्यति । तदुत्तरत्र वक्ष्यामः । अथ सर्वग्रहणं किमर्थम् । त्रिःप्रकारा दर्विहोमाः । आघारवन्त आपूर्विका अग्निहोत्रिकाश्चेति । तत्र येषामेतदन्तं सर्वं भवति त आघारवन्तः । येषां यावदुक्ता एवाऽऽहुतयस्त आपूर्विकाः । येषां द्विर्होमास्त्रिः प्राशनं तेऽग्निहोत्रिकाः । तेषां सर्वेषामनेनातिदेशः स्यादित्येतदर्थम् । बहुवचनात्तत्सिद्धिरिति चेन्न । बहुत्वान्नानाहविष्कत्वाच्चैषां युज्यते बहुवचनमिति । आपूर्विकेषु यावदर्थं द्रव्यसंस्कारः परिस्तरणं परिषेकविसर्गौ चातिदिश्यन्ते । यावदुक्तप्रधानाहुतयोऽन्यानि च वैशेषिकाणि कर्माणि भवन्ति । एवमेवाग्निहोत्रिकेषु । तत्र स्रुक्स्रुवौ । प्रयुज्य संस्कृत्य चतुर्गृहीतं गृहीत्वा सर्वान्मन्त्राननुद्रुत्य प्रथमाहुतिं जुहोति । अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति द्वितीयाम् । अग्निहोत्रवत्त्रिः प्राश्य स्रुवं दर्भैः प्रक्षालयति यथोक्तानि वैशेषिकाणि कर्माणीति बौधायनोक्तम् । आघारवतामापूर्विकाणां चेह दर्शनमस्ति । नाग्निहोत्रिकाणाम् । तस्मात्ते न सन्तीत्येके । तत्र येष्वाघारवत्त्वमेव येषु वाऽऽपूर्विकत्वमेव येषु चोभयं विकल्पते तेष्वग्निहोत्रिकत्वमपि संभवति तांस्तत्रैव वक्ष्यामः ॥ ४३ ॥

मन्त्रान्ते नित्यः स्वाहाकारः ॥ ४४ ॥

तेषु दर्विहोमेषु यैर्मन्त्रैर्होमस्तेषामन्ते नित्यः स्वाहाकारः स्यात् । यत्र पाठो नास्ति स्वाहाकारस्य तदर्थमयं पाठः । इदानीं किमर्थं मन्त्रचिकीर्षार्थं तत्र श्रौतं प्रायश्चित्तमितरत्र स्मार्तम् । इतरग्रहणं पित्र्येऽपि यत्र स्वधाकारो न पठ्यते तत्र स्वधाकारस्यापि प्रदानार्थत्वान्नास्ति स्वाहाकारः । तत्राप्येके स्वाहाकारं कुर्वन्ति नित्यवचनात् । श्रौते विहितमिह न स्यादितीदं सूत्रम् ॥ ४४ ॥

अमन्त्रास्वमुष्मै स्वाहेति यथादेवतम् ॥ ४५ ॥

यास्वाहुतिषु मन्त्रा न विधीयन्ते देवताश्चोपदिश्यन्ते तास्वमुष्मै स्वाहेति यथादेवतं जुहुयात् । अग्नये हुत्वाऽग्नये स्विष्टकृते जुहोति काण्डर्षिभ्यो जुहोति काण्डनामानि वेति ॥ ४५ ॥

भूर्भुवः सुवरिति व्याहृतिभिर्जुहोत्येकैकशः समस्ताभिश्च ॥ ४६ ॥

भूर्भुवःसुवरिति व्याहृतिभिर्जुहोति । एकैकश एकैकया । भूः स्वाहा । भुवः स्वाहा । सुवः स्वाहेति । समस्ताभिश्च । भूर्भुवः सुवरिति वचनं व्याहृतिबहुत्वादिष्टपरिग्रहार्थम् । भूर्भुवः सुवरित्येव सिद्धे व्याहृतिभिरिति वचनमेतासामेवान्यत्र व्याहृतिग्रहणे संप्रत्ययार्थम् । तेन व्याहृतिभिरन्वादधाति, व्याहृतिभी राकामहमित्येवमादिषु श्रौतेषु स्मार्तेषु चैतासामेव संप्रत्ययः सिद्धो भवति । ननु भूर्भुवः सुवरिति व्याहृतय इत्येतेनैव सिद्धम् । न सिद्ध्यति । तेनाऽऽधान एवेष्टपरिग्रहः कृतः स्यादिति ॥ ४६ ॥

आयुर्दा अग्न इत्येषा ॥ ४७ ॥

एषा प्रधानाहुतिः । अग्निरक्षतादिमम् । जरसे नयेमामिति लिङ्गतः पुरुषसंबन्धात्केचिदेषेति पूर्वस्यां वचनं प्रधानाहुतित्वख्यापनार्थं तदेवोत्तरस्यामनुवर्तते तेन तस्या अपि प्रधानाहुतित्वमितिचेन्न । एकस्या एकवद्भावप्रतिग्रहमेवेत्याचार्यशैली । ब्रह्म प्रतिष्ठेत्यत्रोक्तं हि बहूनि चास्मिन्सूत्र एवेति वचनानि । यदि सर्वेषां शक्यते प्रयोजनं वक्तुं ततोऽत्रापि वक्तव्यम् ॥ ४७ ॥

आयुर्दादेव जरसं गृणानो घृतप्रतीको
घृतपृष्ठो अग्ने । घृतं पिबन्नमृतं चारु गव्यं
पितेव पुत्रं जरसे नयेमꣳ स्वाहेमं मे
वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो
अग्ने त्वमग्ने अयास्ययासन्मनसा हितः ।

**अयासन्हव्यमूहिषे या नो धेहि भेषज॑ स्वाहा । प्रजापत इत्येषा ॥ ४८ ॥**

त्वमग्ने अयासीत्येवं स्यादिह कृत्स्नः पाठः पुरस्तादाम्नानाद्दर्शपूर्णमासयोश्चेह न्यायादपवादग्रहणमनर्थकम् । उपनदनस्य प्राथम्यात्प्राजापत्यायामप्येषेति वचनं मनसा होमार्थं केचिन्मन्यन्ते । तस्मान्मनसा प्रजापतये जुहोतीति दर्शनात्तच्चेत्युक्तम् । दर्श॰ नमप्याघारविषयत्वादकारणं कारणत्वे च दर्शपूर्णमासयोराश्रमेधिके तिर इत्येवमादौ यज्ञः ( त्नः ) कर्तव्यः । तत्र चेष्टत्वमन्तरेण न सिद्धिरिहापि न सिद्धिः । सूत्रे चेन्ने-ष्टमिहापि नेष्टमेव । तस्माद्वाचैव होतव्यम् ॥ ४८ ॥

**यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्त्सर्व॑ स्विष्ट॑ सुहुतं करोतु मे । अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वहुत आहुतीनां कामान॑ समर्धयित्रे स्वाहेत्युत्तरार्धपूर्वार्धेऽसꣳसक्तामितराभिराहुतिभिर्जुहोति॥४९॥**

यदस्येत्यनेन स्विष्टकृदाहुतिमुत्तरार्धपूर्वार्धेऽग्नेरितराभिराहुतिभिरसंसक्तामसंस्पृष्टाम् । ( आहुतीभिरिति दीर्घोऽपपाठः ) । अतिहायेतराहुतीर्जुहोति ॥ ४९ ॥

**अत्रैके जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति पुरस्तात्स्विष्टकृतः ॥ ५० ॥**

अत्रास्मिन्कर्मणि पुरस्तात्स्विष्टकृत एक आचार्या जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृतश्च जयाश्चाभ्यातानाश्च राष्ट्रभृतश्च । इतिशब्दः समुच्चयार्थः । प्रकारार्थ इत्येके । जयानामप्यत्रैकेषां राष्ट्रभृतामनन्तरमुपहोमत्वेनोपदेशाज्जयाञ्जुह्वति । प्रधानाहुतिसमीपे जुह्वति । एक इति वचनादनित्यो जयादीनां होमः । यद्यत्रेतिकर्म प्रकृतं निर्दिश्यते नार्थोऽनेन । प्रकरणादेव सिद्धत्वात् । देशार्थस्तर्हि । अस्मिन्देशे जुह्वतीति । ननु तदपि कर्म पुरस्तात्स्विष्टकृत एव सिद्धम् । एवं तर्हि देशमात्रेण जयादीनां प्राजापत्यान्ते संबन्धो नोपहोमत्वेनेत्येतदर्थम् । तस्माद्व्याहृतिपर्यन्तस्य वारुण्यादेश्चाङ्गत्वमेव । तथोक्तमधस्तात् । यद्येवमन्नप्राशनादिषु प्रधानाहुतेरेवाम्नानात्ता( त्का )सामेत उपहोमाः स्युः । एवं तर्हि तदुभयमेव तत्र प्रधानमिति ब्रूमः । एवमपि तस्यैव तत्कथमिदमङ्गत्वादप्रधानत्वमित्युपपन्नमपि तत्र यत्रेति वचनं जयादिष्वस्ति तत्किं कुर्यात् । एवं तर्हि यदूर्ध्वमाज्यभागाभ्यां व्याहृतिपर्यन्तं कर्तव्यं तत्साधारणं प्रधानमिति क्रमः । यच्चाऽऽयु-

---

१ ख. °दा स्नाताद्द° ।

र्दादिति तद्वैशेषिकमिति । तच्च प्रधानस्याङ्गरूपत्वादङ्गवदतिदेशः कृतो द्रष्टव्यः । अथ किमर्थं जयादीनामेव पृथक्समासो राष्ट्रभृद्भिः सह । राष्ट्रभृतामपि सन्ति सहचारिण इति ख्यापनार्थम् । के ते काण्डादयो ये तत्र साक्षादवचनात्तेषां विकल्पः । ततो जयादयस्त्रयोऽनुवाका उपहोमपक्षे नित्यमुपहोतव्याः । यद्देवा देव हेडनमिति विकल्पेन चतुर्थे विदधे नित्यमपि बौधायनः ॥ ५० ॥

**चित्तं च स्वाहा चित्तिश्च स्वाहेति जयाञ्जुहोति चित्ताय स्वाहा चित्तये स्वाहेति वा ॥ ५१ ॥**

जयादीनां प्रत्येकमनुक्रमणज्ञानार्थं विशेषविधानार्थं चित्तं च स्वाहेति यथापाठं त्रयोदश जयाञ्जुहोति देवासुरा इत्यादि ब्राह्मणम् । चित्ताय स्वाहेत्येवं चतुर्थ्यन्तैर्द्वादशभिर्जुहुयादविकृतैव त्रयोदशी । एवमपि शाखान्तरेऽस्ति पाठ इत्यवगन्तव्यम् । आकूतौ यथा । तत्र होतव्यं विसंज्ञया वाऽऽरम्भणीयानामेवमनुक्तत्वात्तत्रैव पाठो नास्तीत्यवगन्तव्यम् । सर्वत्र सत्येवं पाठ इहापि पूर्वपक्षश्चतुर्थ्यन्तताऽस्ति पाठ इति संग्रहकार आह ॥ ५१ ॥

**अग्निर्भूतानामधिपतिः स माऽवत्वित्यभ्यातानान् ॥ ५२ ॥**

अग्निरित्यष्टादशाभ्यातानाञ्जुहोति ॥ ५२ ॥

**अस्मिन्ब्रह्मन्नस्मिन्क्षत्र इत्यभ्यातानेष्वनुषजति ॥ ५३ ॥**

अस्मिन्ब्रह्मन्नित्यादि देवहूत्यामित्येतदन्तमभ्यातानेष्वनुषजति । किमुच्यतेऽस्मिन्ब्रह्मन्नित्येतदनुषजतीति । ननु अधिपतिः स माऽवत्वित्येतस्याप्यनुषङ्गः कर्तव्यः । सत्यम् । तत्रासंदेहो विप्रतिपत्त्यभावान्नपुंसकलिङ्गेन बहुवचनेन च विकृते विषये पाठदर्शनाच्च । अस्मिन्ब्रह्मन्नित्यत्र विवदन्ते । पितरः पितामहा इत्यस्यैवायं पाठः । शेषः सप्तदशसु होमेषु प्रतिहोमं होमान्तरवचनमन्त्र इति केचिद्विदधिरे । तस्मात्तस्यैवानुषङ्गतोक्ता तुल्ययोगित्वस्य सर्वेष्वस्य विद्यमानत्वादनेन वाक्यसमाप्तिर्ज्ञायते ॥ ५३ ॥

**पितरः पितामहा इति प्राचीनावीती जुहोत्युपतिष्ठते वा ॥ ५४ ॥**

पितर इत्येतामाहुतिं प्राचीनावीती जुहोति । उपतिष्ठते वाऽनेन मन्त्रेण प्राचीनावीती पितॄन् । अग्निमित्येके । लिङ्गविरोधस्तथा स्यात् ॥ ५४ ॥

**ऋतषाडृतधामेति राष्ट्रभृतः पर्यायमनुद्रुत्य**

तस्मै स्वाहेति पूर्वामाहुतिं जुहोति ताभ्यः स्वाहेत्युत्तरम् ॥ ५५ ॥

ऋताषाडिति राष्ट्रभृतो जुहोति । द्वादशैते पर्यायास्ते सप्तमोत्तमा एकाहुतिकास्तत्र पर्यायममुष्मै तस्मै स्वाहेति पूर्वामाहुतिं जुहोति ताभ्यः स्वाहेत्युत्तरां जुहोति । अत्र पर्यायमनुद्रुत्येत्येतदनुवर्तते । नानुवर्तत इत्येके । तेषां सर्वपर्यायेषु नामादिपान्त्वन्तोऽनुषङ्ग इति । तत्र पर्यायमनुषङ्गमनुद्रुत्य तस्मै स्वाहेति पूर्वा आहुतिर्होतव्या । यथा सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम स इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु ता इदं ब्रह्म क्षत्रं पान्तु तस्मै स्वाहेति । ताभ्यः स्वाहेत्येवो[त्त]रामेवमुत्तरास्वपि । तथा सति ताभ्य इत्येतस्य साकाङ्क्षस्यौषधयोऽप्सरस इत्यन्वयमपेक्षमाणस्य पृथक्प्रयोगो नोपपद्यत इति । अपरे त्वेवं वर्णयन्त इत्याहुस्तेषां पूर्वाहुतिः पर्यायं सानुषङ्गमनुद्रुत्य होतव्या । यथा ऋताषाडृतधामाऽग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरस ऊर्जो नाम स इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु ता इदं ब्रह्म क्षत्रं पान्तु तस्मै स्वाहेति । एव मुत्तरास्वपि । तत्र पूर्वस्यामाहुतावयं पिण्डार्थः । य एवं गुणवान्गन्धर्वस्तस्य स्वभूता एवंनामानोऽप्सरसः स ताभिः सहेदं ब्रह्म क्षत्रं पातु ताभ्यः स्वाहा । हविर्जुहोमीत्युत्तरस्याम् । अन्येषां त्वेवमेव सूत्रार्थः । अर्थवशेन पदानि सहानुवर्गे(षङ्गे)ण विभज्य पूर्वोत्तरयोराहुत्योरनुद्रवणम् । पर्यायैकदेशे च पर्यायशब्दस्तैलघृतपञ्चालादिवत् । तत्रैवं प्रयोगः—ऋताषाडृतधामाऽग्निर्गन्धर्वः स इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा । तस्यौषधयोऽप्सरस ऊर्जो नाम ता इदं ब्रह्म क्षत्रं पान्तु ताभ्यः स्वाहेति । एवमुत्तरास्वपि । तत्र यथासमाम्नातं चानुपूर्व्येण व्याख्यातामिति संकर्षे विचारितत्वात् । आद्यं व्याख्यानम् । यस्य स्याद्येन संबन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः । अर्थतो ह्यसमर्थानामान्तर्यमकारणमित्युक्त्वाऽस्योदाहरणत्वेन राष्ट्रभृतीयानां मन्त्रा मिश्रलिङ्गाः समर्पिता इत्युक्तम् । सूत्रकारस्यानार्जवादसदन्यद्व्याख्यातम् । मध्यमं त्वार्षबाधाभावादर्थस्य संबन्धस्य चानेन प्रकारेण परिकल्पयितुं शक्यत्वाच्च । तत्र युक्तं ग्राह्यम् । अग्निकल्पेऽप्येवमेव व्याख्यातम् । सूत्रान्तराध्यायप्रबोधनार्थमिहापि पुनर्व्याख्यातम् । दृश्यन्ते बहवोऽनेन ग्रन्थेन गृह्याणि कुर्वाणाः ॥ ५५ ॥

अग्रेणोत्तरं परिधिसंधिमश्मानं निधाय दक्षिणेन पादेन ॥ ( ख० ३ ) ॥ ५६ ॥

उत्तरतोऽग्नेरुत्तरपरिधिमग्रेणाश्मानं निधाय ॥ ५६ ॥

कुमारमास्थापयत्यातिष्ठेममश्मानमश्मेव त्वꣳ

स्थिरो भव । प्रमृणीहि दुरस्यून्सह-
स्व पृतनायत इति ॥ ५७ ॥

तमश्मानं कुमारमास्थापयति । आक्रमयति । आतिष्ठेममित्यनेन । गत्यर्थत्वादाङ्पूर्वस्य तिष्ठतेः प्रयोज्यस्य कर्तुः कर्मत्वम् । दक्षिणेनेति नियमार्थम् । उभयनिवृत्त्यर्थं वा । प्रकरणात्सिद्धेऽपि कुमारग्रहणमस्य विधेरन्यत्रापि प्रसङ्गोऽस्तीति । तेन विवाहेऽप्यग्रेणोत्तरं परिधिसंधिं निधाय दक्षिणेन पादेनायं विधिः सिद्धो भवति । स्पष्टत्वमेव वा । तथैवमश्मादीत्येवमादीनि द्रष्टव्यानि ॥ ५७ ॥

अथैनमहतं वासः परिधापयति पूर्वं निधाय या अकृन्तन्नवयन्या अतन्वत याश्च देवीरन्तानभितो ददन्त । तास्त्वा देवीर्जरसा संव्ययन्त्वायुष्मानिदं परिधत्स्व वासः । परिधत्त धत्त वाससैनꣳ शतायुषं कृणुत दीर्घमायुः । बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिदातवाउ । जरां गच्छासि परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा । शतं च जीव शरदः सुवर्चा रायश्च पोषमुपसंव्ययस्वेति ॥ ५८ ॥

अथानन्तरमेनं कुमारमहतं वासः परिधापयति । तत्पूर्वं परिधापितं वासः प्रज्ञातं निधाय । या अकृन्तन्निति परिधापनमन्त्रः । इदं वासः पुष्ये कर्तव्यमिति शास्त्रान्तरे दृष्टं तदस्माकमप्यविरुद्धम् । उक्तक्रमादेव सिद्ध आनन्तर्येऽथेति वचनं नित्यः क्रमो द्रष्टव्यः । मन्त्रावनित्याविति ख्यापनार्थम् । नेनाजिनस्य वा परिधापनं स्यात् । तत्र च मन्त्राम्नानमपि । वक्ष्यति च धर्मेषु—ब्रह्मवृद्धिमिच्छन्नजिनान्येव वसीतेति । अन्यस्यानित्यत्वख्यापनार्थोऽथशब्द इत्याहुः । तेषां पुनरुपनयने नास्ति परिधानम् । एनमिति कुमारस्य मन्त्रप्रतिषेधार्थमुत्तरार्थं च । पूर्वं निधायेति उत्तरत्र प्रयोजनभावख्यापनार्थम् । उत्तरीयप्रतिषेधार्थमित्येके । तन्न । वक्ष्यति—अजिनमुत्तरीयं कुर्यात् । निर्देशोऽपरिसमाप्त एव परिधाने निधानार्थम् । न निधानाश्रयप्रतिषेधार्थं परिधाप्यप्रतिषेधः ॥ ५८ ॥

परिधाप्याभिमन्त्रयते परीदं वासोऽधिधा स्वस्तये भूरापीणामभिशस्तिपावा । शतं च जीव शरदः पुरूचीर्वसूनि चार्यो विभजा स जीवन्निति॥५९॥

अभिमन्त्रयते कुमारं परिधाप्येति परिधानं कृत्वा न परिधानाभावे । अतश्चाजिनपक्षे न स्यात् ॥ ५९ ॥

अथैनं मेखलया नाभिदेशे त्रिः प्रदक्षिणं परिव्ययति द्विरित्येके । या दुरिता परिबाधमाना शर्म वरूथे पुनती न आगात् । प्राणापानाभ्यां बलमावहन्ती स्वसा देवानाꣳ सुभगा मेखलेयमिति ॥ ६० ॥

अथैनं कुमारं मेखलया त्रिः प्रदक्षिणं परिव्ययति परिवेष्टयति नाभिदेशमन्तरतो नाभिमिति । द्विः परिव्ययतीत्येकेषाम् । या दुरितेत्यनेन मन्त्रेण सकृदुक्त्वा । अथेत्यभावार्थः । पुनरुपनयने एनमिति कुमारर्त्विक्नि‌वृत्तये ॥ ६० ॥

उत्तरतो नाभेस्त्रिवृतं ग्रन्थिं कृत्वा दक्षिणतो नाभेः परिकर्षति ॥ ६१ ॥

उत्तरतो नाभेर्मेखलया त्रिवृतं ग्रन्थिं कृत्वा दक्षिणतो नाभेः परिकर्षति ॥ ६१ ॥

अथास्मा अजिनमुत्तरीयं करोति मित्रस्य चक्षुर्धरुणं धरीयस्तेजो यशस्वि स्थविरꣳ समिद्धम् । अनाहनस्यं वसनं जरिष्णु परीदं वाज्याजिनं धत्स्वासावदितिस्ते कक्षां बध्नातु वेदस्यानुवक्तवै मेधायै श्रद्धायानूक्तस्यानिराकरणाय ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति ॥ ६२ ॥

अथास्मै कुमारायाजिनमुत्तरीयं करोति मित्रस्येत्यनेन मन्त्रेण । असाविति संबुद्ध्या कुमारस्य नामग्रहणम् । अत्राप्यथशब्दः पूर्ववद्द्रव्यनित्यत्वाय । तेन वासोत्तरीयं स्याद्वक्ष्यति च धर्मेषु—क्षत्रवृद्धिमिच्छन् वस्त्राण्येव वसीतेति । अभावायास्य पुनरुपनयन इत्येकेषाम् । पूर्वोपात्तमेव स्यात् ॥ ६२ ॥

किं कृष्णाजिनमित्युच्यते—

कृष्णाजिनं ब्राह्मणस्य रौरवꣳ राजन्यस्य बस्ताजिनं वैश्यस्य ॥ ६३ ॥

कृष्णाजिनं ब्राह्मणस्य रुरोरजिनं रौरवम् । यद्येवं पूर्वत्रापि तदनर्थकमजिनपक्ष एव तत् । न वासःपक्ष इत्येतदर्थम् । एवमपि कार्ष्णं वासमित्येव सिद्धे पुनरजिनग्रहणमनर्थकम् । नातिनियतत्वख्यापनार्थम् । वक्ष्यति च धर्मेषु—हारिणमैणेयं बेत्यप्याभिकं सार्ववर्णिकं कम्बलश्चेत्येदन्तम् ॥ ६३ ॥

अथैनं परिददाति परीममिन्द्र ब्रह्मणे महे श्रोत्राय दधमस्यथैनं जरिमाणये ज्योक्श्रोत्रे अधिजागरदिति ब्राह्मणं परीममिन्द्र ब्रह्मणे महे राष्ट्राय दधमस्यथैनं जरिमाणये ज्योक्राष्ट्रे अधिजागरदिति राजन्यं परीममिन्द्र ब्रह्मणे महे पोषाय दधमस्यथैनं जरिमाणये ज्योक्पोषेऽधिजागरादिति वैश्यम् ॥ ६४ ॥

अथैनं कुमारमिन्द्राय पारिददाति । कथं परीममित्येतैर्मन्त्रैरथाम्नातैर्ब्राह्मणादीनुक्त्वाऽऽरभ्य ब्रवीतीत्यर्थः । अत्रानियतत्वाय पुनरुपनयनो अथशब्दो बह्वृचानामप्युक्तं पारिदानमिति । एनमिति वैश्याधिकारनिवृत्त्यर्थम् ॥ ६४ ॥

तमपरेणाग्निमुदश्चमुपवेश्य हुतोच्छेषणं प्राशयति त्वयि मेधां त्वयि प्रजामित्येतैः संनतैः ॥ ६५ ॥

तं कुमारमपरेणाग्निमुदङ्मुखमुपवेश्य हुतशेषमाज्यं प्राशयति । त्वयि मेधामित्येतैर्मन्त्रैः संनतैरूहिः । मयि मेधामित्येषां मयिशब्दानां स्थाने त्वयिशब्दान् कृत्वेत्यर्थः । त्रयाणामन्ते प्राशनमिति वाचनमाचार्यस्य मन्त्रप्रयोगार्थं वैश्याधिकारनिवृत्त्यर्थं च ॥ ६९ ॥

पृषदाज्यमेके प्राशयन्ति ॥ ६६ ॥

एतैर्मन्त्रैर्न हुतोच्छेषणं हुतोच्छेषणमेव वा दध्ना मिश्रयित्वा ॥ ६६ ॥

योगे योगे तवस्तरमिममग्न आयुषे वर्चसे कृधीति द्वाभ्यां प्राश्नन्तं समीक्षते ॥ ६७ ॥

योगे योग इममग्न इत्येताभ्यां प्राश्नन्तं कुमारं समीक्षते । उभयत्र ॥ ६७ ॥

प्राशयन्त्येके ॥ ६८ ॥

एतेनाऽऽभ्यां मन्त्रभ्यां न पूर्वैस्तत्र समीक्षणं न विद्यते ॥ ६८ ॥

आचान्तमुपस्पर्शयित्वाऽभिमन्त्रयते । शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रानश्चक्रा जरसं तनूनाम् । पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्यारीरिषताऽऽयुर्गन्तोरिति ॥ ( ख० ४ ) ॥ ६९ ॥

**इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्र एकोनविंशप्रश्ने प्रथमः पटलः ।**

आचान्तं कुमारमात्मानमुपस्पर्शयित्वा । उपस्पृश्यान्वारब्धवन्तं कृत्वेत्यर्थः । अभि-

मन्त्रयते शतमित्यनया । आचान्तमिति प्रागाचमनं मा भूदिति प्राशनाङ्गख्यापनार्थं वा । शेषव्यापत्तौ प्राशनाभावेऽभावाय ॥ १९ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तावेकोनविंशप्रश्ने प्रथमः पटलः ।

====

अथैकोनविंशप्रश्ने द्वितीयः पटलः ।

---

**आगन्ता समगन्महि प्रसमृत्युं युयोतन । अरिष्टाः संचरेमहि स्वस्ति चरतादिह स्वस्त्यागृहेभ्य इति प्रदक्षिणमग्निं परिक्रामन्तमभिमन्त्रयते ॥ १ ॥**

प्रदक्षिणमग्निं परिक्रामन्तं स्वयमासीन आगन्तेत्यनेनाभिमन्त्रयते । प्रदक्षिणवचनं पुनरावृत्तिप्रतिषेधार्थम् ॥ १ ॥

**अथैनमभिव्याहारयति ब्रह्मचर्यमागामुप मा नयस्व ब्रह्मचारी भवानि देवेन सवित्रा प्रसूत इति तं पृच्छति ॥ २ ॥**

अथैनं कुमारमाचार्योऽभिव्याहारयति वाचयति । ब्रह्मचर्यमित्येवम् । यत्र यत्राथ-शब्दस्य प्रयोजनं नोच्यते तत्र शास्त्रान्तरे क्रमान्तरदर्शनात् क्रमनियमार्थमित्यवगन्तव्यम् । एनमिति कुमारस्य प्रयोज्यकर्तृत्वाय । इतरथा व्याहारं करोति व्याहारयतीति कुमार एव मन्त्रं ब्रूयात् । आचार्यसंबोधनार्थत्वादाचार्यो वाचयेत् । ऐकश्रुत्यं स्यात् । अस्य संबोधनार्थत्वात् । तं पृच्छति तं कुमारमाचार्यः पृच्छति ॥ २ ॥

**को नामासीत्यसावित्याचष्टे यथानामा भवति ॥ ३ ॥**

किं नामधेयमित्यर्थः । नामेतिनिपातः प्रश्नप्रतिवचनयोर्वर्तते यथा का नामेयं नदीति च । गङ्गा नामेति प्रतिवचनम् । ज्ञातेऽपि प्रश्नार्थः । स कुमारोऽसावित्यात्मानमाचष्टे । यादृशं नामास्येति यथानामा । यथानामाऽऽत्मेति भवति । यथोत्तरत्र नामनी गृह्णाति इति वचनं द्वयोरपि नाम्नोराख्यानार्थम् । यथा देवदत्तः कार्तिकोऽस्मीति ॥ ३ ॥

**स्वस्ति देव सवितरहमनेनामुनोदृचमशीयेति नामनी गृह्णाति ॥ ४ ॥**

अथाऽऽचार्य आदित्यं स्वस्ति देव सवितरहमित्यनेनाऽऽत्मशिष्यविषयमाशीरर्थं संबोधयन्नमुनेत्यत्र तृतीयया कुमारस्य नामनी गृह्णाति व्यावहारिकं नाक्षत्रं च । वक्ष्यति हि नक्षत्रनाम द्वितीयं स्यादिति । यथाऽनेन देवदत्तेन कार्तिकेनोदृचमशीयेति ॥ ४ ॥

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंयो-
रभिस्रवन्तु न इत्युभौ मार्जयेते ॥ ५ ॥

शं न इत्युभौ कुमाराचार्यौ मार्जयेते । उभयोर्मन्त्रः । पूर्वमेव शिक्षणमेवंजातीय-कानां मन्त्रणां वचनसामर्थ्यात् । यथा पत्न्या आस्थीयते स्वयाजमानमन्त्राणाम् । शूद्रस्य चोदमन्थश्रपणादीनां दर्शनात् ॥ ९ ॥

अथास्य दक्षिणेन हस्तेन दक्षिणमꣳसमन्वारभ्य
सव्येन सव्यं व्याहृतिभिः सावित्र्येति दक्षिणं
बाहुमभ्यात्मन्नु(मु)पनयते । देवस्य त्वा सवितुः
प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामुपनयेऽ-
साविति च ॥ ६ ॥

अथास्य कुमारस्य दक्षिणमंसं स्वेन दक्षिणेन हस्तेन तूष्णीमन्वारभ्य तथैव सव्येन हस्तेन सव्यमंसं व्याहृतिभिस्तत्सवितुर्वरेण्यमिति सावित्र्या देवस्य त्वेत्यनेन च दक्षिणं कुमारस्य बाहुमभ्यात्मन्ना(मा)त्मन आभिमुख्येनाऽऽनीय दक्षिणतः समासीन उपनयते समीपं नयति । नीत्वा संस्पर्शयतीत्यर्थः । अथवा स्वं दक्षिणं बाहुमभ्यात्मन्ना(मा)भि-मुख्येन कुमारमुपनयते । समीपं नयति । अत्रासाविति संबुद्ध्या व्यावहारिकस्यैव ग्रहणम् । एवमुत्तरत्रापि । अथशब्द इदं प्रधानकर्मास्य विस्मरणे सर्वं कर्माऽऽवर्तेत इति ख्यापनार्थः । सावित्र्येति शब्दो मन्त्रपठितस्य ग्रहणार्थः । न यथोत्तरपाठस्तथेति समुच्चयार्थं इत्यनेन चकारेण सिध्यति । अन्तर्विधेरतन्त्रं केचिदाहुर्व्याहृतिभिः सावि-त्र्या चान्वारम्भणं सावित्रेणोपनयनमिति प्रागुक्त एवाऽऽगमः । अपिच चकारस्यैव-मनर्थकत्वं स्यादनेन दक्षिणं बाहुं सावित्रस्य मन्त्रैकदेशत्वात्तेन समुच्चयवचना-नुपपत्तेः ॥ ६ ॥

अथास्य दक्षिणेन हस्तेन दक्षिणꣳ हस्तꣳ
साङ्गुष्ठं गृह्णात्यग्निष्टे हस्तमग्रभीत्सोमस्ते हस्त-
मग्रभीत्सविता ते हस्तमग्रभीत्सरस्वती ते हस्त-
मग्रभीत्पूषा ते हस्तमग्रभीद्बृहस्पतिस्ते हस्त-
मग्रभीन्मित्रस्ते हस्तमग्रभीद्वरुणस्ते हस्तमग्रभी-
त्त्वष्टा ते हस्तमग्रभीद्धाता ते हस्तमग्रभीद्विष्णुस्ते
हस्तमग्रभीत्प्रजापतिस्ते हस्तमग्रभीदिति ॥ ७ ॥

अथानन्तरं स्वेन दक्षिणेन हस्तेन कुमारस्य दक्षिणं हस्तं साङ्गुष्ठं गृह्णाति । अग्निरित्ये-तैर्मन्त्रैः ॥ ७ ॥

सविता त्वाऽभिरक्षतु मित्रस्त्वमसि धर्मणाऽग्नि-
राचार्यस्तव देवेन सविता प्रसूतो बृहस्पतेर्ब्रह्म-
चारी भवासावपोऽशान समिधा आधेहि कर्म कुरु
मा दिवा स्वाप्सीरित्येनꣳ सꣳशास्ति ॥ ८ ॥

सविता त्वेत्यनेन एनं कुमारं संशास्ति । अपोऽशानेत्याचमनाद्युपलक्षणार्थम् । अश्नोत्यर्थे वा । अभिव्याप्तावश्नोतिः । समिध आधेहीति सायंप्रातरभ्याधानाभिप्रायम् । कर्म कुरु । गुरुशुश्रूषाभिप्रायम् ॥ ८ ॥

अथास्य दक्षिणेन हस्तेन दक्षिणमꣳसमुपर्यु-
पर्यन्ववमृश्य हृदयदेशमभिमृशति । मम हृदये
हृदयं ते अस्तु मम चित्तं चित्तेनान्वेहि मम वाच-
मेकमना जुषस्व बृहस्पतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यं
मामेवानुसꣳरभस्व मयि चित्तानि सन्तु ते
मयि सामीच्यमस्तु ते मह्यं वाचं नियच्छता-
दिति ॥ ९ ॥

स्वेन दक्षिणेन हस्तेनास्य कुमारस्य दक्षिणमंसमुपर्युपरि दक्षिणस्यांसस्योपरि सामीप्येन पृष्ठतः प्रवेश्यान्ववमृश्य क्रमेणावाचीनमभिमृश्य हृदयदेशमभिमृशति मम हृदय इत्यनेन । उपर्यादिषु त्रिष्विति द्वितीया । सामीप्यादुपरिशब्दस्य द्विर्वचनम् ॥ ९ ॥

प्राणानां ग्रन्थिरसि स मा विस्रस इति नाभि-
देशम् ॥ १० ॥

प्राणानामिति तथैव नाभिदेशमभिमृशति ॥ १० ॥

भूर्भुवः सुवः सुप्रजाः प्रजया भूयासꣳ सुवीरो
वीरैः सुवर्चा वर्चसा सुपोषः पोषैः सुमेधा
मेधया सुब्रह्मा ब्रह्मचारिभिरित्येनमभिमन्त्र्य
भूर्ऋक्षु त्वाऽग्नौ पृथिव्यां वाचि ब्रह्मणि ददेऽसौ
भुवो यजुःषु त्वा वायावन्तरिक्षे प्राणे ब्रह्मणि
ददेऽसौ सुवः सामसु त्वा सूर्ये दिवि चक्षुषि
ब्रह्मणि ददेऽसाविष्टतस्ते प्रियोऽसान्यसावन-
लस्य ते प्रियोऽसान्यसाविदं वत्स्यावः प्राण
आयुषि वत्स्यावः प्राण आयुषि वसासा-
विति च ॥ ११ ॥

भूर्भुवः सुवरित्येनं कुमारमभिमन्त्र्य पुनर्भूरित्यभिमन्त्रयते । चकारोऽभिमन्त्रणानुकर्षार्थः ॥ ११ ॥

**अथास्य दक्षिणेन हस्तेन दक्षिणꣳ हस्तꣳ साङ्गुष्ठं गृह्णात्यग्निरायुष्मानिति पञ्चभिः पर्यायैः ॥ १२ ॥**

अथास्य कुमारस्य दक्षिणं हस्तं साङ्गुष्ठं गृह्णाति स्वेन हस्तेन । अग्निः सोमो यज्ञो ब्रह्म देवा इति पञ्चभिः पर्यायैः । तत्र द्वितीयतृतीययोरायुष्मान्तेन त्वेत्यादि । चतुर्थे आयुष्मत्तेन त्वेत्यादि । पञ्चमे आयुष्मन्तस्त इत्यादि ॥ १२ ॥

**आयुष्टे विश्वतो दधदिति ॥ ( ख० ५ ) ॥ १३ ॥**

आयुष्ट इति कुमारस्य दक्षिणे कर्णे जपति ॥ १३ ॥

**दक्षिणे कर्णे जपत्यायुर्दा अग्न इत्युत्तरे ॥ १४ ॥**

आयुर्दा अग्न इति तस्यैवोत्तरे कर्णे जपति ॥ १४ ॥

**अग्नौ पृथिव्यां प्रतितिष्ठ वायावन्तरिक्षे सूर्ये दिवि याꣳ स्वस्तिमग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा आपोऽनुसंचरन्ति ताꣳ स्वस्तिमनुसंचरासौ प्राणस्य ब्रह्मचार्यभूरसावित्युभयत्रानुषजति ॥ १५ ॥**

अग्नावित्युभयोः कर्णयोरनुषजति । आयुष्टे अग्नौ पृथिव्यामिति ॥ १५ ॥

**मेधां त इन्द्रो ददातु मेधां देवी सरस्वती मेधां ते अश्विनावुभावाधत्तां पुष्करस्रजाविति तस्य मुखेन मुखꣳ संनिधाय जपति १६ ॥**

तस्य कुमारस्य मुखेन मुखं संनिधाय जपति ॥ १६ ॥

**अथैनं परिददाति कषकाय त्वा परिददाम्यन्तकाय त्वा परिददाम्यघोराय त्वा परिददामि गदाय त्वा परिददामि यमाय त्वा परिददामि मखाय त्वा परिददामि वशिन्यै त्वा परिददामि पृथिव्यै सवैश्वानरायै परिददाम्यद्भ्यस्त्वा परिददाम्योषधीभ्यस्त्वा परिददामि वनस्पतिभ्यस्त्वा परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि सुभूताय त्वा परिददामि ब्रह्मवर्चसाय त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वे-**

**भ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददामि सर्वाभ्यस्त्वा देव-**
**ताभ्यः परिददामीति ॥ १७ ॥**

अथानन्तरमेनं कुमारं देवताभ्यः पूर्ववत्परिददाति । कथम् । कषकाय त्वा परिद-दामीत्येतैर्मन्त्रैः । तत्प्रोक्तमेवाथशब्दस्य प्रयोजनम् ॥ १७ ॥

**अत्र सावित्रीं वाचयति यदि पुरस्तादुपेतो**
**भवति ॥ १८ ॥**

अत्रास्मिन्काले परिदानानन्तरं सावित्रीं वाचयति । उपनेयः पुरस्तादुपेत आचार्यमुपगत उपनीतो यदि भवति । प्रायश्चित्तार्थे पुनरुपनयनमित्यर्थः । कस्माच्चरितव्रत-त्वात् । अत्रेति वचनं त्र्यहे पर्यवेतेऽस्मिन्नेव काले सावित्रीवाचनार्थम् ॥ १८ ॥

**यद्यनुपेतस्त्र्यहे पर्यवेते ॥ १९ ॥**

यदि पुरस्तादनुपनीतः स्यात्त्र्यहे पर्यवेतेऽतिक्रान्ते सावित्रीं वाचयति ॥ १९ ॥

**सद्यः पौष्करसादिः ॥ २० ॥**

कुतः । व्रतचरणार्थम् । वक्ष्यति हि व्रतचर्यं त्र्यहव्रतं चरतीत्यादि । पुष्करेऽन्तरिक्षे सीदतीति पुष्करसत् । आकाशगमनः । अनवकाशे निश्छाये सीदतीति वा । पद्मस्य वा समीपे पुष्करिणीतीरे सीदतीति पुष्करसदृषिः । तस्यापत्यं पौष्करसादिः । बाह्वादित्वादिञ् । अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । पुष्करसादिरित्यपपाठ । वक्ष्यति धर्मेषु तथा काण्वपौष्करसादिरिति । स आचार्यो नवीनस्यापि सद्यः सावित्रीवाचनमि-च्छति । कस्मात्सद्य एवाऽऽरभ्य प्राग्व्रतचर्यापरिसमाप्तेः शुक्रियाणामध्ययनदर्शनात् । तत्राऽऽहेति वक्तव्ये सद्य इति वचनं नास्मिन्काले तत्पक्षे वाचनमिति किं तर्हि त्र्यहव्रतं चरतीत्यत्र व्रतमुपेत्य । तथा शुक्रियेषु दृष्टत्वादनारभ्य व्रतमध्ययनस्यानुपपन्न-त्वात् ॥ २० ॥

कथं वाचयतीत्युच्यते—

**अपरेणाग्निमुदगग्रं कूर्चं निधाय तस्मिन्प्राङ्मुख**
**उपविशति राष्ट्रभृदस्याऽऽचार्यासन्दीमान्वद्योष-**
**मिति ॥ २१ ॥**

अपरेणाग्निं पूर्वप्रयुक्तं कूर्चमुदगग्रं निधाय तस्मिन्नाचार्यः प्राङ्मुख उपविशति राष्ट्र-भृदस्येत्यनेन ॥ २१ ॥

**आदित्यायाञ्जलिं कृत्वाऽऽचार्यायोपसंगृह्य दक्षि-**
**णतः कुमार उपविश्याधीहि भो इत्युक्त्वाऽथाऽऽ-**
**ह सावित्रीं भो अनुब्रूहीति ॥ २२ ॥**

अथ कुमार आदित्याय तूष्णीं नमस्काराञ्जलिं कृत्वा आचार्यायोपसंगृह्य तादर्थ्ये चतुर्थी । यथाशास्त्रमुपसंगृह्येत्यर्थः । दक्षिणत आचार्यस्योपविश्याधीहि भो इत्याचार्यमुक्त्वाऽनन्तरमेवाऽऽह सावित्रीं अनुब्रूहीति । उभयमेकश्रुत्या । तत्राधीहि इत्यध्यापय वेदमित्यर्थः । भो वत्सलानुकम्पक । सावित्रीं भो अनुब्रूहीति सावित्रीमनन्तरमेव ब्रूहीत्यर्थः । उभयोरध्येषणमन्त्रयोः पृथग्वचनं संधानप्रतिषेधार्थम् । अथेति नानार्थत्वख्यापनार्थम् । आद्यः सर्ववेदार्थो द्वितीयः सावित्र्यर्थ इति । अत एव च परं गुरुकुले वासं प्रतिषेत्स्यति । न ब्रह्मचारिणो विद्यार्थस्य परोपवासोऽस्तीति ॥ २२ ॥

**गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामह इत्येनमभिमन्त्र्याथास्मै पच्छोऽग्रेऽन्वाहाथार्धर्चशोऽथ संतताम् । भूस्तत्सवितुर्वरेण्यम् । भुवो भर्गो देवस्य धीमहि । सुवर्धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ भूर्भुवस्तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । सुवर्धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ भूर्भुवः सुवस्तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयादिति ॥ ( ख० ६ ) ॥ २३ ॥**

गणानां त्वा इत्यनया एनं कुमारमभिमन्त्र्यास्मै कुमारायाग्रे प्रथमं पच्छः पादं पादं कृत्वा सावित्रीमन्वाह । ततोऽनन्तरमर्धर्चशोऽर्धर्चं कृत्वा । ततः संततां कृत्स्नां संधाय । संधानं कथम् । भूस्तदित्येवं प्रथमं भूर्भुवस्तदित्येवं द्वितीयं भूर्भुवः सुवस्तदित्येवं तृतीयम् । एनमिति कुमाराभिमन्त्रणार्थं लिङ्गाद्ब्रह्मणस्पतेर्मा भूदिति । अत्र ब्रह्मणो वेदस्य पात्रत्वात्पलायितृत्वात् । कुमार एव ब्रह्मणस्पतिरभिमतः । इतराणि प्रथमं भुव इत्येवं पदानि यथासंभवेन योज्यानि । अथेति वचनमनन्तरं क्रियमाणेन सावित्रीवाचनेन च पारगः सावित्रीवाचनं चोभयकृतमिति ख्यापनार्थम् । तथा च वक्ष्यति—सर्वेभ्यो वेदेभ्यः सावित्र्यनूच्यत इति हि ब्राह्मणमिति । अस्मा इति सावित्री कुमाराय प्रदीयत इति ख्यापनार्थम् । अतस्तेनापि सा वाच्या न श्रवणमात्रम् । अत एवोक्तं सावित्रीं वाचयतीति । अग्रे पच्छ इति वचनमेवं संततमुक्त्वा तदशक्तौ यथाशक्ति वाचयेदिति । बह्वृचानामप्युक्तं यथाशक्ति वाचयित्वेत्यर्थः । पाठः किमर्थः । ऋक्पादार्धादिषु व्याहृतिविहरणार्थः । एवमपि तृतीये नार्थः । विहरणाभावादर्थवत्त्वेनोभयानां क्रमार्थत्वात्प्राधान्यख्यापनार्थत्वाच्च । तेन संध्योपासनादिषु तृतीय एव पाठो ग्राह्यः । इह सावित्रीं वाचयतीत्युक्त्वा व्याहृतीरपि पठन् ज्ञापयति क्वचित्सा-

वित्रीग्रहणे व्याहृतयोऽपि गृह्यन्ते । तेन सावित्र्या समित्सहस्रमादध्यादिति सव्याहृतिः सावित्री गृह्यते ॥ २३ ॥

**अथ सप्त पालाशीः समिध आर्द्रा अप्रच्छिन्नाग्राः प्रादेशमात्रीर्घृतान्वक्ता अभ्याधापयति ॥ २४ ॥**

अथेति कुमारकर्मान्तराधिकारार्थः । तेन समिदाधानादि प्रधानाङ्गमेव । न सावित्रीवाचनाङ्गम् । तस्मादनुपेतस्य परिदानान्तरमेव कार्यम् । आर्द्रा अशुष्काः । अप्रच्छिन्नाग्राः । प्रादेशमात्रीः प्रादेशायताः । प्रमाणनियमार्थमेतत् । घृतान्वक्ता आज्येनाभ्यक्ताः । लौकिकमेव घृतं हुतोच्छेषणस्य उपयुक्तत्वात् । अवशेष्यं किंचिद्धुतोच्छेषणं वाऽभ्याधापयत्यग्नौ कुमारेण । कुमारो मन्त्रं ब्रूते लिङ्गादाचार्यस्तं वाचयति । प्रयोजकत्वादेतदर्थोऽथशब्द इत्येके ॥ २४ ॥

कथम्—

**अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे ।<br>यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवं मां<br>मेधया प्रज्ञया प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन<br>समेधय स्वाहेत्येकाम् ॥ २५ ॥**

अग्नये समिधमित्येतेनैकां समिधमभ्याधापयति ॥ २५ ॥

**अग्नये समिधाविति द्वे ॥ २६ ॥**

अग्नये समिधावित्येतेन द्वे समिधावभ्याधापयति ॥ २६ ॥

**अग्नये समिध इति चतस्रः ॥ २७ ॥**

अग्नये समिध इति चतस्रः समिधोऽभ्याधापयति ॥ २७ ॥

**अथ परिषिञ्चति यथापुरस्तात् ॥ २८ ॥**

अथाग्निं परिषिञ्चति यथापुरस्तात् पूर्वस्मिन्काले यथा । यथा पुरस्तादिति पूर्वधर्मातिदेशार्थम् । अथशब्दः पूर्वैस्तुल्यत्वख्यापनार्थः । तेन सर्वदर्विहोमाणामिदमङ्गम् । नोपनयनस्यैव ॥ २८ ॥

**अन्वमंस्था: प्रासावीरिति मन्त्रान्तान् संनमति ॥ २९ ॥**

मन्त्रान्तश्च मन्त्रान्तश्च मन्त्रान्तश्च मन्त्रान्ताः । तान् मन्त्रान्तान् । अन्वमंस्था इति च प्रासावीरिति च संनमति । यथाऽदितेऽन्वमंस्था देव सवितः प्रासावीरिति । तत्र मन्त्र नित्येव सिद्धेऽन्तग्रहणं देव सवितः प्रसुवेति यावदुक्तमेव समग्रोनादिग्रहणमिति ख्यापनार्थम् । अत्र प्राक् परिषेचनात्परिधीन् दर्व्याऽङ्क्त्वा परिस्तरणेभ्यः किंचिद् बर्हिरादाय तस्य दर्व्यामग्रमाज्यधान्यां मध्यं मूलं चेति प्रस्तरवत्तूष्णीमङ्क्त्वा तृणमपास्य निधाय

प्रस्तरवत्तूष्णीमनुप्रहृत्य पुनस्तृणं चानुप्रहृत्य परिधींश्च पूर्ववत्तूष्णीमनुप्रहृत्य संस्रावेणाभिजुहोति । अथ परिषेकं कृत्वाऽग्रेणाग्निं प्रणीताः पर्याहृत्यापरेणाग्निं निधाय किंचिदुदकमासिच्य पूर्ववत्तूष्णीं मार्जयेत् । यथाश्रद्धं दक्षिणां ददाति ब्रह्मा च प्रतिनिष्क्रामति । एष विधिराघारवत्सु दर्विहोमेषु गृह्यान्तरे दृष्टः । अस्माकमपि न विरुध्यते । केचिदिमं नेच्छन्ति । केचिद्वास्तुबलिकर्मानन्तरं कुर्वन्ति ॥ २९ ॥

**अथ देवता उपतिष्ठते ॥ ३० ॥**

अथेत्यनन्तरेण तुल्यत्वाय तेनोपनयनाङ्गं न सर्वदर्विहोमार्थम् ॥ ३० ॥

का देवता उपस्थेयाः । कैश्च मन्त्रैरित्युच्यते—

**अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामीत्यग्निं**
**वायो व्रतपत इति वायुमादित्य व्रतपत**
**इत्यादित्यं व्रतानां व्रतपत इति व्रतपतिम् ॥ ३१ ॥**

औपनायनिकोऽग्निः प्रकृताहानेरर्थाद्व्रतपतिः । केचित्पार्थिवमग्निं मन्यन्ते । व्रतपतिमेनमग्निमुपतिष्ठत इत्येवं सिद्धे देवताग्रहणं देवतोपस्थानमेवैतैर्मन्त्रैः कार्यं नान्यदिति ख्यापनार्थम् । तेनैवं विसर्गेऽप्येतैर्मन्त्रैरुपस्थेयं नोच्चारणमात्रम् । व्रतं चरिष्यामीति लिङ्गात् । एतद्व्रतोपायनं ब्रह्मचर्यव्रतं चैतत्सम वर्तने विसर्गदर्शनात् । तस्मात्तदत्रैव । परिमाणं तु बुद्ध्या संकल्पनीयम् । अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि षट्त्रिंशतं चतुर्विंशतिं द्वादश यावद्ग्रहणं वा चरिष्यामीति ॥ ३१ ॥

**अत्र गुरवे वरं ददाति ॥ ३२ ॥**

अत्र गुरव आचार्याय वरं ददाति कुमारः । गुरुग्रहणं ब्रह्मनिवृत्त्यर्थम् । पितुरपि स्याद्वरदानम् । उक्तो वरः । अत्रेति वचनमस्मिन्नेव व्रतग्रहणे वरदानं नान्यत्रेति ख्यापनार्थम् । एतेन ज्ञायते सर्वेषु व्रतग्रहणेषु देवतोपस्थानं भवतीत्यतरूयहव्रतं चरतीत्यत्र काण्डोपाकरणे भवत्येवोपस्थानं विसर्गे चैतत्संबन्धो भवत्येव ॥ ३२ ॥

**उदायुषेत्युत्थाप्य सूर्यैष ते पुत्रस्तं ते परिददामीति । तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं नन्दाम शरदः शतं मोदाम शरदः शतं भवाम शरदः शतꣳ शृणवाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमजीताः स्याम शरदः शतं ज्योक् च सूर्यं दृश इत्यादित्यमुपतिष्ठते ॥ ३३ ॥**

उदायुषेत्यनेनोत्थाप्य कुमारम् । कुमारो मन्त्रस्य वक्ता लिङ्गादाचार्यो वाचयिता हेतुत्वात् । अथाभ्युत्थाप्य तं सूर्यैष त इति सूर्याय परिदाय तच्चक्षुरित्यादित्यमुपतिष्ठत आचार्य एव समानकर्तृकत्वात्परिदानोत्थापनाभ्याम् । केचित्प्रत्यङ्गाशीर्ङ्गान्मन्त्रस्य कुमारमेवोपस्थातारं मन्यन्ते । उपतिष्ठते च । हेतुः कर्तरि कर्तृव्यपदेशः । यथा पञ्चभिर्हलैः कृषतीति । तेषामाचार्यो वाचयिता कुमार उपस्थाता । आचार्यकर्तृत्वेऽपि यां कां चिद्दृत्विगाशिषमाशास्ते यजमानस्य यथेति । आशीर्वचनमुपपद्यत एव । इदमपि परिदानमनित्यं पुनरुपनयने बह्वृचानाम् ॥ ३३ ॥

**अग्निष्ट आयुः प्रतरां कृणोत्वग्निष्टे पुष्टिं**
**दधात्विन्द्रो मरुद्भिरिह ते दधात्वादित्यस्ते**
**वसुभिरादधात्विति दण्डं प्रदायामत्रं प्रयच्छति ॥ ३४ ॥**

अग्निष्ट इत्यनेन कुमाराय दण्डं प्रदाय । अमत्रं मृन्मयं भाजनं तूष्णीं प्रयच्छति ॥ ३४ ॥

**अथाऽऽह भिक्षाचर्यं चरेति ॥ ३५ ॥**

अथैनं कुमारमाह भिक्षाचर्यं चरेति । इहाथशब्दः पुनरुपनयने भिक्षाचर्याभावात् तदर्थत्वाच्च दण्डामत्रदानं निवर्तते । अथशब्दो भिक्षाचर्यस्य दण्डामत्रदानसंबन्धार्थः । तेन भिक्षाचर्यधर्मे निवर्तमाने तयोरपि निवृत्तिः ॥ ३५ ॥

**स मातरमेवाग्रे भिक्षेत ॥ ३६ ॥**

स कुमारो मातरमेवाग्रे प्रथमं भिक्षेत । एवकारकरणमन्यप्रसङ्गास्तित्वख्यापनार्थम् । तेन मातुरभावे मातृस्थानीयामप्रत्याख्यायिनीं भिक्षेत । नास्ति प्रायश्चित्तम् । बह्वृचानां विशेषेणोक्तम् । अप्रत्याख्यायिनमग्रे भिक्षेताप्रत्याख्यायिनीं वेति । अग्रवचनग्रहणं किमर्थम् । सायंप्रातरपि संति संभवे मातुरेवाग्रे भिक्षणार्थम् । वक्ष्यति च धर्मेषु भिक्षणविधानम् । भवत्पूर्वं यो ब्राह्मण इत्यादि । तस्मात्तथेति भिक्षां देहीति ब्राह्मणो भिक्षेत यथोक्तमितरावपीति ॥ ३६ ॥

**अतोऽन्येषु रातिकुलेषु ॥ ३७ ॥**

अनन्तरं मातुर्भिक्षणादन्येषु ज्ञातिप्रभृतिषु भिक्षेत ॥ ३७ ॥

**आहृत्य भैक्षमिति गुरवे प्राह तत्सुभैक्षमित्युक्त्वा ॥ ३८ ॥**

भिक्षितं द्रव्यमाहृत्य आचार्याय भैक्षमिति प्राह भैक्षमिदं भो इत्यस्य प्रतीकग्रहणमित्येके । यावदुक्तमित्यपरे । वचनसामर्थ्यात् । इह तदाचार्यः प्रतिगृह्णाति दृष्टार्थत्वात् । बौधायनीयेऽप्युक्तम् । तत्सुभैक्षमित्युक्त्वा प्रतिगृह्णातीति ॥ ३८ ॥

यस्य ते प्रथमवास्य१ हरामस्तं त्वा विश्वे अवन्तु देवास्तं त्वा भ्रातरः सुहृदो वर्धमानमनुजायन्तां बह्वः सुजातमिति प्रथमवास्यमस्याऽऽदत्ते ॥ ३९ ॥

यस्य त इत्यनेनास्य कुमारस्य प्रथममाच्छाद्यत इति प्रथमवास्यं पूर्वं निहितं वास इत्यर्थः । तदाचार्य आदायाऽऽत्ममात्करोतीत्यर्थः । केचित्प्रथमं वासो निहितं वासस्तत्र भवं तेनोपहितं प्रथमवास्यम् । भिक्षामात्रवर्णकस्यानुकर्षणात् । भवे छन्दसीतियत् । तदाचार्य आदाय शिष्यायैव वासः प्रयच्छतीत्यत एव गम्यते तो(दो)पनिधाय भिक्षा चरितव्येति । अन्ये प्रथमं वास्यते निधीयतेऽग्र इति प्रथमवास्यं मातुर्लब्धं भैक्षद्रव्यं तदादत्ते । अथ भैक्षस्य भैक्षं कुमाराय प्रयच्छति स पित्रे तद्ददातीति । किमत्रार्थवत्त्वं पूर्वनिहितं वास इति । दृष्टं हि बौधायनीये ऽयहे पर्यवेते तेन मन्त्रेण तस्याऽऽदानम् ॥ ३९ ॥

उपस्थितेऽन्न ओदनस्यापूपाना१ सक्तूनामिति समवदाय सर्पिर्मिश्रस्य जुहोत्यग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहाऽग्नयेऽन्नादाय स्वाहाऽग्नयेऽन्नपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा सर्वाभ्यो देवताभ्यः स्वाहाऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति ॥ ४० ॥

उपस्थित आगत आनीतेऽन्ने ब्राह्मणपरिवेषणार्थम् । ओदनस्यापूपानां सक्तूनामक्षारलवणानां त्रयाणां समवदाय यावदर्थमवरं मिश्रयित्वेत्यर्थः । सर्पिर्मिश्रस्य सर्वमाचार्यस्य पुनर्मिश्रीकृतस्य दर्व्योपघातं जुहोति । अग्नये स्वाहेत्येतैर्मन्त्रैः । नात्रावदानधर्मः । अस्याऽऽपूर्विकत्वात् । उपस्थितवचनं किमर्थम् । ओदनस्यापूपानां सक्तूनामितीयत्युच्यमानेऽत्रैव संस्कारः प्राप्नोति बहिःसंस्कृतस्याऽऽनयनार्थमिदम् । एवमपि उपस्थितानामोदनापूपसक्तूनां समवदायेत्येतावता सिध्यति किमन्नग्रहणेन । एवं तर्हि सव्यञ्जनार्थमन्नग्रहणम् । तेन ज्ञायते भोजनार्थमप्येतदुपस्थितं न होमार्थमेवेति । अनेन ज्ञायते भोजनं हुतशेषस्यैव नान्यस्येति । आपूर्विकोऽयं दर्विहोमः । अस्य—प्रयोगः परिस्तीर्य पात्रप्रयोजनादिब्रह्मप्रणीतावर्जमाज्यसंस्कारान्तं कृत्वा बहिरेव संस्कृतमन्नमानीय तस्य परोक्षसंस्कृतत्वेनाग्नावन्नत्रयमधिश्रित्याद्भिः प्रोक्ष्याभिघार्योद्वास्य होमार्थमवखण्डच्यावखण्डचैकस्मिन्पात्रे प्रक्षिप्याऽऽज्यमासिच्य मिश्रयित्वाऽप परिषेकं कृत्वाऽष्टौ समिध आधाय दर्व्योपहत्यैता अष्टावाहुतीर्जुहोति । अन्त्यां पूर्वाभिरसंसक्तामुत्तरार्धपूर्वार्धे जुहुयात्स्विष्टकृतं तस्योपरि परिषेकं करोति । सर्पिःशब्दादाज्ये संस्कारो नास्ति ।

केचित्पूर्वैकदेशमिमं मन्यन्ते । तेषां पूर्वकृतानामेव द्रव्याणां संस्काराः परिषेकास्ते च पुनः कार्याश्चापवृत्तत्वात् ॥ ४० ॥

**सर्वत्रैवमनादिष्टदेवते ॥ ४१ ॥**

न आदिष्टा अनादिष्टा देवता यस्मिन्नन्नहोमे सोऽनादिष्टदेवतस्तस्मिन्सर्वस्मिन्नेता आहुतीर्जुहुयात् । कः पुनः सः । यत्र ब्राह्मणानन्नेनेति चोद्यते तत्रानेनातिदेशात् । इहापि ब्राह्मणभोजनस्य भावः । यद्येवं युग्मान्ब्राह्मणानित्यत्रापि प्राप्नोति । नैष दोषो यद्येवमिष्टं स्यात्तत्रैव वेदे विधायातिदिशेत् । तस्मात्तत्र नैवम् । सर्वग्रहणं किमर्थम् । यत्रान्तरेण वचनमाचारात्तु ब्राह्मणभोजनं होमश्च तत्राप्येवमेवमित्येतदर्थम् । यथा कूपारामतडागेषु । यद्येवं कर्णवेधनोपनिष्क्रमणादिष्वपि प्रसङ्गः स्यात् । यद्येवमिष्ट-मन्येषामन्यत्र होमस्य दर्शनात् । अथैतन्न मृष्यते यत्राऽऽचारोऽप्यस्ति तत्रायं विधिः स्यादित्येतदर्थं सर्वग्रहणमित्युक्तम् । आचाराभावादभावः स्यात् ॥ ४१ ॥

**अमुष्मै स्वाहेति यथादेवतमादिष्टदेवते ॥ ४२ ॥**

यत्रान्नहोम आदिष्टा देवतास्तत्रामुष्मै स्वाहेति यथादेवतमेव जुहुयात् । यथाऽग्नये स्विष्टकृते जुहोति महाराज(व्रत)मिष्ट्वा ब्राह्मणं भोजयित्वा पुष्टिकामः सिद्धिं वाचयेत् । गवां मार्गेऽनग्नौ क्षेत्रस्य पतिं जुहोति । सर्वत्रेति चानुवर्तते । तेनाऽऽचाराद्गृह्यमाणेषु विष्णुरुद्रस्कन्ददिवाकरादियज्ञेष्वप्येवं स्यात् । किमर्थमिदं सूत्रम् । ननु पुरस्तादेवमुक्त-ममन्त्रास्वमुष्मै स्वाहेति यथादेवतमिति । बाढमुक्तम् । अमन्त्रासु निर्दिष्टदेवतासु तन्म-न्त्रोपदेशार्थमिदमन्नद्रव्यकेषु पुनर्निर्दिष्टदेवतेषु एतद्धर्मप्राप्त्यर्थम् । तेनात्र सौविष्टकृती द्वितीयाहुतिः स्याद्देवतानामेव देवता निवर्तिकेति । यावदुक्तं च । क्रिया स्यादापूर्वि-कत्वादेवमपि यथादेवतमादिष्टदेवतमित्येवं सिध्यति । नार्थोऽमुष्मै स्वाहेति अनेनैवान्य-प्रयोजनं याज्यानुवाकाभ्यां केचिद्धोमं विदधिरे तन्मा भूदिति । अथवा पूर्वमाघारवत्सू-त्रविधानमापूर्विकेष्विदं तेनोभयं पार्वणादिषु भवति । यद्येवं पार्वणसौविष्टकृत्यां विधान-मनर्थकं तस्य प्रयोजनं तत्रैव वक्ष्यामः ॥ ४२ ॥

**एतेषामेवान्नानां समवदाय प्रागग्रेषु दर्भेषु बलिं करोति वास्तुपतये स्वाहेति ॥ ४३ ॥**

एतेषामेवौदनादीनामन्नानां समवदाय मिश्रीकृत्य प्रागग्रेषु दर्भेषु वास्तुपतये स्वाहेति बलिं करोति । एतेषामिति वचनं व्यञ्जननिवृत्त्यर्थम् । एवकारकरणं त्रिवृतोऽन्यत्र महाराजदर्व्यादौ मा भूदिति । बलिं करोतीति वचनात्प्रथममवोक्ष्य न्युप्य बलिं ततः परिषिञ्चति ॥ ४३ ॥

**त्रिवृताऽन्नेन ब्राह्मणान्परिविष्य पुण्याहꣳ स्वस्त्य-
यनमृद्धिमिति वाचयित्वा ॥ (ख०७) ॥ ४४ ॥**

अनेनैव त्रिवृता त्रिप्रकारेणौदनादिना तेन सव्यञ्जनेन ब्राह्मणान्परिविष्य पुण्याहादीनि वाचयित्वा ॥ ४४ ॥

**त्र्यहव्रतं चरति ॥ ४५ ॥**

त्रिप्रकारस्यान्नस्य प्रकृतत्वादन्नेनेत्येव सिद्धे त्रिवृतेति वचनमन्यत्र त्रिवृद्ग्रहण एषां संप्रत्ययार्थं यथा तथैव त्रिवृताऽन्नेनेति। इहापि देवतोपस्थानं कर्तव्यमित्येकेषाम् ॥४५॥

कानि पुनर्व्रतानीत्युच्यते—

**अक्षारमलवणमशमीधान्यं भुञ्जानोऽधःशाय्यमृ-
न्मयपाय्यशूद्रोच्छिष्ट्यमधुमाꣳसाश्यदिवास्वाप्यु-
भौ कालौ भिक्षाचर्यमुदकुम्भमित्याहरन्नहरहः
काष्ठकलापमुभौ कालौ सायꣳसायं वा समिधोऽ-
भ्यादधाति ॥ ४६ ॥**

गुडादिरिक्षुविकारः क्षारस्ततोऽन्यदक्षारम् । समुद्रसैन्धवादीनि लवणानि । ततोऽन्यदलवणम् । शम्याः कोशे यत्पच्यते तच्छमीधान्यं मुद्गमाषादि ततोऽन्यदशमीधान्यम् । एवंप्रकारमन्नं भुञ्जानः । अधो भूमौ शयानः । मृन्मयेन पिबतीति मृन्मयपायी । न मृन्मयपायी अमृन्मयपायी पानं भोजनोपलक्षणार्थम् । शरावादावभुञ्जान इत्यर्थः। उच्छिष्टं भुक्तशेषः । तदस्यास्तीति उच्छिष्टी । तादृशो न भवति । शूद्र उच्छिष्टी अदाता शूद्रायोच्छिष्टमित्यर्थः । मधु च मांसं च मधुमांसं तदश्नातीति मधुमांसाशी । न मधुमांसाशी अमधुमांसाशी । दिवा स्वपितीति दिवास्वापी । न दिवास्वापी अदिवास्वापी । उभौ कालौ सायं प्रातः । भिक्षया याचनेन चरितव्यं भिक्षाचरणद्रव्यमित्यर्थः । उदकुम्भः । इतिशब्दः प्रकारार्थः । अन्यदपि उपकारकमाहरन्नाचार्याय । अहरहः । अहन्यहनि । काष्ठकलापः काष्ठसमूहः । तमाहरन् । उभौ कालौ सायं प्रातः । सायमेव वा समिधो वक्ष्यमाणा अभ्यादधाति । सायमिति वीप्सावचनमादिविकल्पार्थम् । आदित आरभ्य आ समावर्तनादेक एव पक्षो भवति ॥ ४६ ॥

कथमभ्यादधातीत्युच्यते—

**पुरस्तात्परिषेचनाद्यथा ह तद्वसवो गौर्यमिति प्रद-
क्षिणमग्निं परिमृज्य परिषिञ्चति यथा पुरस्ताद्व्या-
हृतिभिः समिधोऽभ्यादधात्येकैकशः समस्ता-
भिश्चैषा ते अग्ने समित्तया वर्धस्व चाऽऽच प्या-**

यस्व । वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि स्वाहा । मेधां म इन्द्रो ददातु मेधां देवी सरस्वती । मेधां मे अश्विनावुभावाधत्तां पुष्करस्रजौ स्वाहा । अप्सरासु च या मेधा गन्धर्वेषु च यन्मनः । दैवी मेधा मनुष्यजा सा मां मेधा सुरभिर्जुषताꣳ स्वाहा । आ मां मेधा सुरभिर्विश्वरूपा हिरण्यवर्णा जगतीजगम्या । ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमाना सा मां मेधा सुप्रतीका जुषन्ताꣳ स्वाहेति तथैव परिमृज्य परिषिञ्चति यथा पुरस्तात् ॥ ८७ ॥

अनया प्रदक्षिणमग्न्यायतनं परिमृज्य सोदकेन पाणिना संमृज्य परिषिञ्चति यथापुरस्तात्तथा । आद्योऽयं परिषेकः । उक्तक्रमादेव सिद्धे पुरस्तात्परिषेचनादिति वचनं प्राप्तस्यैवात्र परिषेकस्य विधानं नाप्राप्तस्येति ख्यापनार्थम् । तेनाभ्यन्तरदीक्षायामप्याधानादौ परिषेकः सिद्धो भवति । यथा पुरस्तादिति प्रतिवचनं परिसंख्यानार्थम् । तेनात्राग्न्यायतनसंस्कारपरिस्तरणवचनं विद्यते । व्याहृतिभिः । एकैकया समस्ताभिश्च । एषा त इति चतुर्भिरष्टौ समिधोऽभ्यादधाति । तथैव यथा ह तदिति परिमृज्य परिषिञ्चति यथा पुरस्तात् । अन्त्योऽयं परिषेकः । परिसंख्यानादेवेदमपि । अथवोभयोरिह वचनमवान्तरदीक्षायां तूष्णीं परिषेकार्थम् । श्रौतत्वात्तत्र स्मार्तविधयो न भवन्ति हि ॥ ४७ ॥

यत्ते अग्ने तेज इत्येतैर्मन्त्रैरुपतिष्ठते मयि मेधामिति च ॥ ४८ ॥

एवं समिध आधाय एतमग्निं यत्त इत्येतैर्मन्त्रैरुपातिष्ठते मयि मेधामित्येतैस्तिसृभिश्च ॥ ४८ ॥

त्र्यहे पर्यवेते तथैव त्रिवृताऽन्नेन ब्राह्मणान् परिविष्य पुण्याहꣳ स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वा व्रतं विसृजतेऽग्ने व्रतपते व्रतमचारिषमित्येतैः संनतैः ॥ ४९ ॥

व्याख्यातानि व्रतानि । धर्मेऽप्युक्तप्रायाण्येतानि । तत्र क्षारलवणप्रतिषेधार्थं त्र्यहामुक्त्वाऽऽचार्यकुलवासिनो निवृत्तिं वक्तुकामेनोक्तं शूद्रोच्छिष्टप्रतिषेधात् तर्हि नैव शूद्रायेत्यादि तत् त्र्यहे मा भूदिति । मधुप्रतिषेधो धर्मान्तरे विकल्पितत्वादत्र नित्यत्वाय

मांसाशनं प्रति कृच्छ्रद्वादशरात्रविनिवृत्त्यर्थः। अशने पुनरुपनयनमेव भवेदिति। भिक्षाचर्या वचनं च नियतभोजनत्वाय स्यादित्याशङ्का निवृत्ता। आचार्यार्थस्य द्रव्यस्य भिक्षणमेवोदकाहरणमसत्यप्यर्थित्वे कर्तव्यमिति समिधोऽभ्याधानमपि कर्तव्यमिति कर्तव्यतोपदेशार्थः। अधःशयनमदिवास्वापं च प्रयत्नेनेह कर्तव्यमशक्तावन्यत्र दिवा स्वपनमुपरिशय्या च न दोषायेति। अथ वैतेषां वचनानामुत्तरत्र प्रयोजनं वक्ष्यामः। त्र्यहमेव तमग्निं धारयंस्तस्मिन्नेव समिधः सायं प्रातरादधानः सावित्र्या अवचने तूष्णीं संध्यामुपासीत। एतान्यन्यानि च धर्मोक्तानि व्रतानि चरन्नास्ते। त्र्यहादूर्ध्वं लौकिक एवाग्नौ समिदाधानमन्यानि च विवाहान्तानि कर्माणि। ततः परं प्रजासंस्कारैः सहौपासन एव। त्र्यहे पर्यवेतेऽतिक्रान्ते सावित्रव्रते। तथैव तेनैव प्रकारेण। उपस्थितेऽन्न ओदनस्येत्येवमादिना हुत्वा त्रिवृताऽन्नेन ब्राह्मणान्परिविष्य वाचयित्वा व्रतं विसृजते। अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषमित्येतैर्मन्त्रैर्व्रतोपायनमन्त्रैरेवंभूतविभक्त्या संनतैरूहितैर्यजमानपठितैरित्यर्थः। देवतोपस्थानविसर्ग इत्युक्तं तत्र परिवेषणवचनादेव सिद्धे होमे तथेति वचनमाधारातिदेशार्थं तेनौपनयनाग्नावेवान्नहोमः। व्यक्तं बौधायनीये। त्र्यहं धारणमुक्तम्। अस्मिंश्च क्रियमाणे अन्नमात्रेण धर्मातिदेशा इत्येवमादि विज्ञायेतेति त्रिवृतेति वचनम्। अथवा क्रियमाणेऽस्मिंस्त्र्यहे पर्यवेते तथैवेति योगविभागः स्यात्तथा सति सर्वमेवोपनयनकर्मान्नापि स्यात्तच्च नेष्टं तस्मात्त्रिवृतेति वचनम्। अग्रे चेत्सावित्रीवाचनं वाचयित्वा तु होमः। अपरा व्याख्या त्र्यहे पर्यवेते तथैवेत्येतावदेव सूत्रम्। अनेन सर्वमुपनयनकर्मातिदिश्यते। तत्र क्रत्वर्थाश्च सन्ति तेषां क्रत्वर्था अतिदिश्यन्ते न पुरुषार्थाः सकृत्तैरेव पुरुषार्थस्य तैः संस्कृतत्वात्। तत्र क्रत्वर्थानसंदेहार्थमनुक्रमिष्यामः। व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा जुहोतीमं मे वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो त्वमग्ने अयासि प्रजापते यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचमिति चात्रैके जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति यथापुरस्तादेते। व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा प्रधानाहुतय इतराण्यङ्गानि। अस्मिन्पक्षे परिषेकाविसर्गान्तं कृत्वा सावित्रीवाचनं त्र्यहे पर्यवेते। केचित्प्राक्परिषेकविसर्गादिच्छन्ति। उपनीतस्य तस्मिन्कालेऽपि पूर्वत्र दृष्टमिति। तत्र। उत्तरत्र समिदभ्याधानसद्भावाद्विसर्गस्तत्र कृतः। इह तदभावाद्विसृष्ट एव न्याय्यं वाचनं त्रिवृताऽन्नेन संनतैरित्युत्तरत्र सूत्रं तस्य स एवार्थः। त्रिवृद्ग्रहणं परिभाषासिद्धस्यैव प्रदर्शनार्थं ब्राह्मणानन्नेनेत्येवमादिष्वेवमिति। अस्मिन् व्याख्यानेऽप्यपरिसमाप्तत्वादुपनयनस्य त्र्यहं धारणं भवत्येव। पूर्वस्मिन्नपि व्याख्याने तथैव त्रिवृतेति वचनं परिभाषासिद्धस्यैव होमादेः प्रयोगः। शास्त्रादर्शनार्थमसंदेहाय कृतमेवंजातीयकेषु सर्वत्रैवमितीयं परिभाषेति। अस्यां प्रयोग-

विप्रतिपत्तौ यद्युक्तं तज्ज्ञात्वा प्रतिगृह्यतां सर्वत्र । केचिद्व्रतोपायनाविसर्गेषु व्रतस्य नामोपदिशन्ति । यथा सावित्र्या व्रतं चरिष्यामीति । व्रतमचारिषमिति तद्व्रतस्य ज्ञानं भवतीति तन्न । वचनाभावाद्धोमादिना विशेषेण प्रकृतस्य व्रतस्य विज्ञानार्थोऽस्त्या(स्तीष्ट्या)दिषु पौर्णमास्यमावास्यतन्त्रकृतमिति निर्दिश्यते । तथेहापि द्रष्टव्यम् ॥ ४९ ॥

**एतद्व्रत एवात ऊर्ध्वम् ॥ ५० ॥**

एतदिति प्रकृतं सावित्रीव्रतमक्षारलवणभोजनादि प्रतिनिर्दिश्यते । एतद्व्रतं यस्य सोऽयमेतद्व्रतः । एतद्व्रत एवात ऊर्ध्वमपि स्यात् । एवकारकरणं वक्ष्यमाणान्यपि व्रतानि त्र्यहे स्युरित्येतदर्थम् ॥ ५० ॥

किमविशेषेणैतानि व्रतानि भवन्ति नेत्याह—

**आचार्यकुलवासी ॥ ५१ ॥**

द्वौ ब्रह्मचारिणौ आचार्यकुलवासी विद्यार्थी नैष्ठिकश्च । तयोर्यो विद्यार्थमेवाऽऽचार्यकुले वसति स आचार्यकुलवासी । यस्त्वाश्रमार्थी ऊर्ध्वमपि विद्याक्रियायां ब्रह्म चरति स नैष्ठिकः । तयोराचार्यकुलवास्यश्नाति क्षारं लवणं शमीधान्यं च । इतिशब्दः समुच्चयार्थः । अपरा व्याख्या—एतद्व्रत एव । अत ऊर्ध्वमपि सन्नाचार्यस्य गृहवासी प्राक्त्र्यहादुपनयनस्यासमाप्तत्वात्पितुरेव कुले वासः । तत ऊर्ध्वमाचार्यकुलवास एव न पितुर्गृहे ॥ ५१ ॥

किं सर्वाणि व्रतानि भवन्ति नेत्याह—

**अश्नाति क्षारं लवणꣳ शमीधान्यमिति ॥ ५२ ॥**

क्षारं लवणं शमीधान्यमत ऊर्ध्वमश्नाति अथवा एक एवायं योगः । एतद्व्रत एव० धान्यमिति । एतद्व्रत एव भूत्वाऽऽचार्यकुले वसन् क्षारादीनश्नातीत्यर्थः । एतयोर्व्याख्यानयोर्धर्मेषु क्षारलवणप्रतिषेधः किमर्थः । नानुद्देशं भुञ्जीत तथा क्षारलवणमधुमांसानीति । अनशने फलमूलाशने न दोष इत्यर्थः । प्रथमे व्याख्याने कथमाचर्यकुलवासः सिध्यति । उपेतस्याऽऽचार्यकुले ब्रह्मचारिवास इति धर्मेषु वचनात् ॥ ५२ ॥

**दण्डी जटी मेखली शिखाजटो वा स्यात् ॥ ५३ ॥**

दण्डी मेखलीति मत्वर्थीयः । जटीति नित्ययोगे । शिखैव जटा यस्य सोऽयं शिखाजटः । अक्ष(अब्भक्ष)वदवधारणा द्रष्टव्या । न जटी शिखामेव धारयेदितरान्वापयेदित्यर्थः ॥ ५३ ॥

**काषायमजिनं वा वस्ते न स्त्रियमुपैति ॥ ५४ ॥**

काषायं कषायेण रक्तं वस्त्रमजिनं वा वस्त आच्छादयति । कषायग्रहणं प्रदर्शन-

मात्रं माञ्जिष्ठं हारिद्रमिति यथावर्णं भवति । एवं पूर्वत्र धर्मेषु माञ्जिष्ठादिजातिर्द्रष्टव्या । न स्त्रियमुपैति न मैथुनं चरतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

कियन्तं कालमेतानि व्रतानि चरति । उच्यते—

**अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि चतुर्विंशतिं द्वादश यावद्ग्रहणं वा ॥ ५५ ॥**

अष्टाचत्वारिंशच्चतुर्विंशतिं वा द्वादश वर्षाणि वा यावदध्ययनं व्रतचर्या भवति । एकस्य द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वाऽध्ययने विकल्पैनैते विकल्पा इति केचित् । अपरे प्रतिवेदं द्वादशेति । तत्र त्रयाणामध्ययने षट्त्रिंशद् भवन्ति । धर्मेषूक्तत्वात् । यावद्ग्रहणं तु सर्वत्र विशेषः । तस्मिन्नपि पक्षे द्वादशसूर्ध्वं यावद्ग्रहणं वा । दशावरार्ध्यमिति धर्मे वचनात् । अन्य आहुः–विनिवेशे विकल्पा एते तुल्यविकल्पत्वे कृष्णकेशोऽग्नीनादधीतेति श्रुत्या विरोधादेकार्थीयादीनामनधिकृतानामष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि षट्त्रिंशतं चतुर्विंशतिं द्वादश यावद्ग्रहणं वा । अधिकृतानामिति किमर्थम् । एतेषां व्रतानां कालस्य चातिक्रमणं क्रियते । ननु धर्मेष्वेव सिद्धान्येतानि कालश्च यथा नानुदेश्यं भुञ्जीताङ्गानि न प्रक्षालयीत नाप्सु श्लाघ्यमानः स्नायादपररात्रमुत्थाय गुरोस्तिष्ठन्प्रातरभिवादमभिवादयीत सदा निशायां गुरुं संभावयेत्तस्य पादौ प्रक्षाल्य संवाह्यानुज्ञातः संविशेदिति । अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि पादोनात्रिभिर्वेति । सत्यं सिद्धं वक्ष्यति । गुरुप्रसादनीयानि कर्माणि स्वस्त्ययनमध्ययनं संभृतिरिति । ततोऽन्यानि निवर्तन्त इति । केषांचिदनित्यता तस्मादिहैकेषां वचनं नित्यार्थं कालस्य वचनं विनिवेशाविकल्पार्थम् । स चोक्तो विनिवेशः ॥ ५५ ॥

**न त्वेवाव्रतः स्यात् ॥ ५६ ॥**

यस्य नास्ति व्रतं सोऽव्रतः । अव्रतस्तु नैव स्यात् । किमर्थमेत् । इहानुक्तान्यपि व्रतानि धर्मेभ्य आगमय्यैतैरपि व्रतवान्स्यादित्येतदर्थमनुदितमपि सिद्धमेव । तत्र विधानसामर्थ्येन विदधाति । इदानीमेवोत्तरयोरध्यावि ( वातोऽन्यानि ) निवर्तन्त इत्यनित्यत्वं तेषामिति । तत्राशक्ता( क्या )नामुपसंहार एवेत्येतदर्थमिदम् । तुशब्दः किमर्थः । अतिक्रान्ते संकल्पिते काले विद्यायामगृहीतायां प्राक् समावर्तनादव्रतो न स्याद्व्रतवांस्त्वेवाधीयीतेत्येतदर्थम् । एवकारः किमर्थः । समावृत्तेनापि प्राङ्निवेशादध्येयमिति वक्ष्यति । धर्मेषु सोऽप्याचार्यकुले नैवाव्रतः स्यादित्येतदर्थम् । व्रतीत्वेव स्यादित्येतावता सिद्धे नाव्रत इति चनं किमर्थम् । निविष्टोऽपि कृच्छ्रापत्तौ वा येन केनचिद्विक्षेपेणाऽऽचार्ये न्कालाद्यपेक्षयाऽव्रतो नैव स्यादेतदर्थम् ॥ ५६ ॥

काण्डोपाकरणे काण्डविसर्गे च सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषᳬ स्वाहेति काण्डर्षिर्द्वितीय इमं मे वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने त्वमग्ने अयासि प्रजापते यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचमिति चात्रैके जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति यथापुरस्तात् ॥ ( ख० ८ ) ॥ ५७ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्र एकोनविंशप्रश्ने द्वितीयः पटलः ।

चत्वारि काण्डानि । प्राजापत्यसौम्याग्नेयवैश्वदेवानीति । पञ्चमं स्वायंभुवमित्येके । तेषामनुक्रमणं काण्डानुक्रमणे द्रष्टव्यम् । तेषां काण्डानामुपाकरणं काण्डोपाकरणम् । तस्मिन्काण्डोपाकरणे काण्डव्रतारम्भ इत्यर्थः । काण्डानां विसर्गः काण्डव्रतविसर्ग इत्यर्थः । तस्मिंश्च व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा सदसस्पतिं जुहोति काण्डर्षीञ्जुहोति । अमन्त्रास्वमुष्मै स्वाहेति यथादेवतमिति वचनात् प्रजापतये काण्डर्षये स्वाहा सोमाय काण्डर्षये स्वाहाऽग्नये काण्डर्षये स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः काण्डर्षिभ्यः स्वाहा स्वयंभुवे काण्डर्षये स्वाहेति यथाकाण्डं जुहुयात् । वारुण्यादि स्विष्टकृदन्तं यथोक्तमुपहोमांश्च । यथापुरस्तादिति स्विष्टकृतः पूर्वत्वं होमविधिश्चोच्यते । केचित्सदसस्पतिमिति काण्डर्षिर्द्वितीय इति वर्णयन्ति । तेषामादौ काण्डर्षिं हुत्वा सदसस्पतेरिहैव होमः । अत्र द्वितीयवचनप्रसिद्धस्य काण्डर्षेः प्राथम्यार्थं पूर्वस्मिन्नपि व्याख्याने द्वितीयवचनं सदसस्पतिरेव काण्डर्षिर्मा भूदिति । वारुण्याद्यनुक्रमणमाघारवन्नियमार्थम् । तस्माद्व्याहृतिपर्यन्तमपि भवति । केचिद्वारुण्याद्यनुक्रमण एवैतदाहुतिद्वयमिच्छन्ति तत्र तत्र व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वेति वचनात् । अन्ये व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वेत्यत्रापि पालाशीमिति वर्णयन्ति । अथ व्याहृतिपर्यन्तादिक्रमणं वारुण्यादिष्वस्ति विशेष इति ख्यापनार्थम् । कः पुनरसौ यो जयादीनामुपकरण आश्रितः पक्षः स एव विसर्गेऽपि स्यादिति । परिषेकान्तं कृत्वा व्रतं चरिष्यामीति देवतोपस्थानं स्याद्व्रतमचारिषमिति काण्डविसर्गे ॥ ५७ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तावेकोनविंशप्रश्ने द्वितीयः पटलः ।

---

अथैकोनविंशप्रश्ने तृतीयः पटलः ।

---

अधीत्य वेदꣳ स्नानं तद्व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यस्मिन्कर्मणि उष्णशीताभिरद्भिर्मन्त्रैः स्नाति । यद्वा कर्मब्रह्मचारिव्रतान्निधापयति । अवभृथस्नानमिव दीक्षितव्रतान्नियमतो ब्रह्मचर्यव्रताद्विमुच्यते । स्नानादि मलान्तं स्नानं गुरुकुलात्समावर्तनमित्यर्थः । तदधीत्य वेदं वेदौ वेदान्वा कर्तव्यम् । प्रतिवेदमिति जातिनिर्देशः । तद्व्याख्यास्यामः । तत्स्नानं विस्तरेणेत्यपूर्वं वक्ष्यामः । स्नानं व्याख्यास्याम इत्येतावता सिद्धेऽधीत्य वेदमिति वचनमध्ययनप्रधानं स्नानं न कालप्रधानमिति ख्यापनार्थम् । तेनातिक्रान्तेऽप्युक्तकाले सति संभवेऽधीत्यैव स्नातव्यमिति । अत्यन्ताशक्तावेव व्रतमात्रेण स्नातव्यमिति । त्रिप्रकारं च स्नानं धर्मेषूक्तं विद्यास्नानं व्रतस्नानं विद्याव्रतस्नानं च । तत्रोभयस्नानं प्रशस्तं विद्यास्नानमध्ययनम् । व्रतस्नानं च व्रतमात्रस्नानं गर्हितमिति । ब्रह्मचर्यस्य विद्यार्थत्वात्तत्समाप्त्यवधिविशेषाच्छ्रुतिविशेषाच्च पूजायां फलविशेष इति ॥ १ ॥

उदगयन आपूर्यमाणपक्षे रोहिण्यां मृगशिरसि तिष्य उत्तरयोः फल्गुन्योर्हस्ते चित्रायां विशाखयोर्वैतेषु स्नायात् ॥ २ ॥

उदगयने मकरादिषट्सु राशिषु । श्रविष्ठार्धादारभ्य सार्धचतुर्दशसु नक्षत्रेषु स्थित आदित्य आपूर्यमाणपक्षे यानि रोहिण्यादीनि विशाखान्तानि अनुक्रान्तानि नेतराणि तेषु स्नायात् । वाशब्दः स्नानस्य विकल्पार्थः । स्नायान्न वा स्नायादिति । तेन यस्य कर्मण्यधिकारो नास्ति तस्य नैष्ठिकब्रह्मचर्यमेव स्यात् । अनुक्रमणादेव सिद्ध एतेष्विति वचनं रोहिण्यादिष्वसंभवे तादृशेष्वन्येषु पुण्येषु स्नायादिति । स्नानाधिकारे पुनः स्नायादिति वचनं द्वयोरध्ययनव्रतयोरिह स्नानं नाध्ययनस्यैवेति ख्यापनार्थम् । तेन साङ्गं वेदमधीत्य स्नायात् । श्रुत्या स्नायादेव दृष्टार्थताऽध्ययनस्य भविष्यति कर्मावबोधार्थत्वात् ॥ २ ॥

यत्राऽऽपस्तद्गत्वाऽग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा पालाशीꣳ समिधमादधातीमꣳ स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव संमहे मा मनीषया । भद्रा हि नः प्रमतिरस्य सꣳसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव स्वाहेति ॥ ३ ॥

यस्य भूतलस्य समीप आपो भवन्ति तद्गत्वा सामर्थ्यात्तत्रेति गम्यते । अथ तस्य देशस्य समीप आपः सामर्थ्यात्तं देशं गत्वा तस्मिन्देशेऽग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपारिसमा-

सिरन्तो यस्य कर्मणस्तद्व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वेत्यर्थः । इमं स्तोममित्यनया पालाशीं समिधमादधाति । यत्राग्निमुपसमाधायेति उच्यते तत्रोद्धननादिसंस्कृते देशेऽग्निमाहृत्य स्थापयित्वाऽग्नौ होमः । यत्र नोच्यते तत्र स्वस्थानेऽवस्थिते परिस्तरणादिना कार्यं न नियोगत उपसमाधानमित्येक आहुः । अग्निप्रज्वलनमुपसमाधानं सिद्धानुवादं च मन्यन्ते । दक्षिणाग्निमुपसमाधायेत्यौपासनमनाहिताग्नेरिति दर्शनात्तेषामौपासने कर्तव्यानां समिन्धनादि इतरत्रोद्धननम् । इदमाधानं वैशेषिकी प्रधानाहुतिः ॥ ३ ॥

**अथ व्याहृतिभिर्जुहोति यथा पुरस्तात् ॥ ४ ॥**

अथशब्दो व्याहृतिभिः पूर्वसंबन्धार्थः । तेनाऽऽसामपि प्रधानाहुतित्वम् । यथा पुरस्तादिति विहृतसमस्तार्थम् । जुहोतीत्याज्यहोमार्थम् ॥ ४ ॥

**त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषं यद्देवानां**
**त्र्यायुषं तन्मे अस्तु त्र्यायुष९ स्वाहा ॥ ५ ॥**

अस्यामप्यथेत्यनुवर्तनात्प्रधानाहुतित्वम् ॥ ५ ॥

**इमं मे तत्त्वा त्वं नो स त्वं नो त्वमग्ने अयासि प्रजापते यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचमिति चात्रैके जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति यथा पुरस्तात् ॥ ६ ॥**

उक्तार्थम् । सर्वत्र व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वेति वचनमाघारवत्परिग्रहार्थं वैशेषिकोपदेशार्थं च । वारुण्याद्यनुक्रमणं परिसंख्यानिवृत्त्यर्थम् । स्विष्टकृदन्तं कृत्वा परिषेकविसर्गं करोति ॥ ६ ॥

**ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याह९ स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वा व्रतं विसृजतेऽग्ने व्रतपते व्रतमचारिषमित्येतैः ॥ ७ ॥**

ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहादीनि वाचयित्वा व्रतं विसृजते । अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषमित्येतैः । पूर्ववत्संनतैरुपस्थाय त्रिवृताऽन्नेन हुत्वा वास्तुबलिं कृत्वा परिवषे(षेच )यतीत्युक्तम् । अष्टाचत्वारिंशत्परिमाण उपनयन उपेतस्य ब्रह्मचर्यव्रतस्यायं पूर्ववद् विसर्गः ॥ ७ ॥

**व्रतं विसृज्योदु त्यं चित्रमिति द्वाभ्यामादित्यमुपतिष्ठते ॥ ८ ॥**

विसृज्यैव व्रतमुदु त्यं चित्रमिति द्वाभ्यामृग्भ्यामादित्यमुपतिष्ठते । द्वाभ्यामित्येकमन्त्रनिवृत्तय इत्युक्तम् । व्रतं विसृज्येति वचनमुक्तानां वक्ष्यमाणानां च पदार्थानामाम्ना-

( मध्ये )नैव कर्ता नाध्याता( नाध्यापयिता ) इति ख्यापनार्थम् । अन्यथाऽऽचार्यो होमं कुर्यादित्याशङ्का स्यात् । काण्डोपाकरणविसर्गादिष्वाचार्यकर्तृकत्वं तस्य दृष्टमिति । तस्मादनुज्ञाप्याऽऽचार्यं तस्मिन्नुपद्रष्टारि स्वयमेवेदं कर्म कुर्यात् ॥ ८ ॥

**उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदित्युत्तरीयं ब्रह्मचारि-
वासो निधायान्यत्परिधाय ॥ ९ ॥**

उदुत्तममित्यनेन ब्रह्मचारिणो वास उत्तरीयं किं तदजिनं निधाय । ब्रह्मचारिवास इति किमर्थम् । ननु वक्ष्यमाणानि सर्वाणि ब्रह्मचारिण एव सन्ति । आनडुहवच्छब्दः(?)। यत्र ब्रह्मचारी वसति तद्ब्रह्मचारिवास इति ब्रह्मचारी तस्मिञ्छेत इति ख्यापनार्थम् । तस्मादाच्छादनमिति नोक्तं वासो नोत्तरीयं भवतीति ततोऽन्यद्वासः परिधाय ॥ ९ ॥

**अवाधममित्यन्तरीयं विमध्यममिति मेख-
लाम् ॥ १० ॥ अथा वयमादित्य व्रत
इति दण्डं मेखलां दण्डं कृष्णाजिनं चाप्सु
प्रवेश्यापरेणाग्निं प्राङ्मुख उपविश्य क्षुरꣳ
संमृशति । क्षुरो नामासि स्वधितिस्ते पिता
नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीरिति ॥ ११ ॥**

अवाधममित्यन्तरीयमधोवासो निदधाति । आचम्य ततो विमध्यममिति मेखलां निधाय । अत्राऽऽदिग्रहणं विमध्यमं श्रथायेति मन्त्रपूर्वयोर्यादुक्तमित्येके । अपरेऽनुषङ्गो वाक्यपरिसमाप्तिरित्येतेन न्यायेन वरुणपाशमस्मच्छ्रथायेति च सर्वमन्त्रानुषङ्ग इति यथोत्तरं वरुणपाशमस्मच्छ्रथाय । अवाधमं वरुणपाशमस्मच्छ्रथाय विमध्यमं वरुणपाश-मस्मच्छ्रथायेति । ततो अथावयमादित्य इत्यर्धर्चेन दण्डं निधाय । मेखलां दण्डं कृष्णा-जिनं च तूष्णीमप्सु प्रवेश्य प्रक्षिप्य उत्तरीयमर्थिने दद्यात् । ततोऽपरेणाग्निं प्राङ्मुख उपविशति । क्षुरं वपनार्थं संमृशति । क्षुरो नामासीत्यनेन ॥ १० ॥ ११ ॥

**वप्त्रे प्रदायोन्दनीया अपोऽभिमृशति
शिवा नो भवथ सꣳस्पृश इति ॥ १२ ॥**

तं क्षुरं वप्त्रे नापिताय प्रदाय उन्दनीयाश्छे(याः क्ले)दनीयाश्छे(याः क्ले)दनार्हाः शीतोष्णा अपोऽभिमृशति । शिवा न इत्यनेन । उन्दन्त्विति वचनादेव सिद्ध उन्दनीया इति वचनं चौलवदिहोष्णत्वपरिग्रहाय ॥ १२ ॥

**( अथोष्णशीता अपः सꣳसृजति शीतासूष्णा
आनीय ) आप उन्दन्तु जीवस इति दक्षिणं
गोदानमुनत्ति ॥ १३ ॥ ओषधे त्रायस्वैनमित्यू-**

धर्वाग्रामोषधिमन्तर्दधाति ॥ १४ ॥ स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीरिति क्षुरेणाभिनिदधाति ॥ १५ ॥ देवश्रूरेतानि प्रवप इति प्रवपति ॥ १६ ॥

उक्तार्थानि । उन्दनादिवपनान्तं वप्तुः कर्म । मन्त्रास्तु आचार्यस्येत्येके । तच्च वचनसामर्थ्यात्सांनाय्यदोहनादिष्विव वप्तुर्मन्त्राध्ययनं भविष्यति ॥ १३ ॥ १४ ॥ ॥ १५ ॥ १६ ॥

यत्क्षुरेण मर्चयता सुपेशसा वप्तर्वपसि केशश्मश्रु वर्चया मुखं मा न आयुः प्रमोषीरिति वप्तारꣳ समीक्षते ॥ १७ ॥

ततो यत्क्षुरेणेति स्वयं वप्तारं समीक्षते ॥ १७ ॥

श्मश्रूण्यग्रे वापयतेऽथोपपक्षावथ केशानथ लोमान्यथ नखानि ॥ १८ ॥

श्मश्रूण्यग्रे वप्ता वापयति । अथोपपक्षौ कक्षौ । अथ केशान् । अथ लोमानीतरप्रदेशस्थानि । अथ नखानि । वापयतीति सर्वत्र शेषः । नखानां निकृन्तनम् । वपनेऽयं क्रमः सार्वत्रिकत्वादुक्तक्रमादेव सिद्धः [ इति ] अग्रेऽथाथेति वचनम् ॥ १८ ॥

आनडुहे शकृत्पिण्डे संयम्य केशश्मश्रुलोमनखानीदमहममुष्याऽऽमुष्यायणस्य पाप्मानमवगूहामीति गोष्ठ उदुम्बरे दर्भस्तम्बे वा निखनाति योऽस्य रातिर्भवति ॥ १९ ॥

अनडुहोऽयमानडुहः । शकृत्पिण्डो गोमयपिण्डः । तस्मिन्केशश्मश्रुलोमनखानि संयम्य निधायान्तर्भूतानि कृत्वा तं पिण्डं योऽस्य रातिर्भवति स इदमहमित्यनेन गोष्ठ उदुम्बरे दर्भस्तम्बे वा निखनति। अवटं खात्वाऽग्रेण निधाय पुरीषेण प्रच्छादयतीत्यर्थः। अमुष्येति स्नातुः षष्ठ्या नाम्नो ग्रहणम् । अमुष्याऽऽमुष्यायण इति । तथैव गोत्रनाम यथेदमहं देवदत्तस्य कौण्डिन्यस्य पाप्मानमवगूहामि । युवप्रत्ययनिवृत्त्यर्थं पितुर्नामधेयेनेति वचनान्न पितुर्नामधेयात्तद्धितोत्पत्तिरिति दीक्षावेदन एवोक्तम् ॥ १९ ॥

स्नानीयेनोत्साद्यौदुम्बरेण दन्तान् प्रक्षालयते ॥ ( ख० ९ ) ॥ २० ॥

स्नातीत्यनेनेति स्नानीयं तच्चूर्णकल्कादि । स्नायनीयमित्यपपाठः । अथवा स्नायः स्नानं स्नातीत्यनर्थान्तरम् । स्नायं करोतीति णिच्युत्पन्ने तदन्तात्कृत्ये स्नायनीयमित्यपि

स्यात् । तेनोत्साद्य मलं विनाश्य प्रक्षालयेत्यर्थः । उदुम्बरेण काष्ठेन दन्तान् प्रक्षालयते प्रकर्षेण शोधयति । अन्नाद्येत्यनेन ॥ २० ॥

अन्नाद्याय व्यूहध्वं दीर्घायुत्वाय व्यूहध्वं ब्रह्मवर्चसाय व्यूहध्वं दीर्घायुरहमन्नादो ब्रह्मवर्चसी भूयासमिति ॥ २१ ॥ अथोष्णशीताभिरद्भिः स्नापयत्यापो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इति चैतेनानुवाकेन ॥ २२ ॥

अथानन्तरं दन्तप्रक्षालनात् । उष्णाश्च शीताश्च उष्णशीताः । उष्णाभिः शीतमिश्राभिरित्यर्थः । अद्भिः स्नाति । अब्ग्रहणं काञ्जिकादेर्निवृत्त्यर्थम् । आपो० तिसृभिः । हिरण्य० चतसृभिः । पवमा० अनुवाकेन सर्वान्ते स्नानम् । वचनादेकस्य कर्मणो बहुमन्त्रत्वम् । केचित्प्रतिमन्त्रं स्नानमिच्छन्ति । तत्र नास्ति प्रमाणम् । अथेति प्राक्स्नानार्थम् । अन्यथाऽशुचित्वात्स्नात्वैव । केचित्स्वतो वाऽन्येन केनचिच्छीतासु उष्णा आनीयेस्येतस्य ग्रहणार्थं मन्यन्ते । यद्याचारः प्रमाणान्तरं चास्ति तथा नाम ॥२१॥२२॥

गोष्ठे वाऽवच्छाद्य संपरिश्रित्य पुरोदयमादित्यस्य प्रविशत्यत्र सर्वं क्रियते नैनमेतदहरादित्योऽभितपतीत्येकेषाꣳ स्नातानां वा एष तेजसा तपति य एष तपति तस्मात्स्नातकस्य मुखꣳ रेफायतीव ॥ २३ ॥

गावो यत्र तिष्ठन्ति तद्गोष्ठं तस्मिन्वा अपररात्रे प्रच्छाद्य सर्वतः परिश्रित्य उपरिष्टाच्च निश्छिद्रं प्रच्छादयित्वा पुरोदयमादित्यस्य प्रविशति । तत्रोपसमाधानादि सर्वं क्रियते । कस्मादेवम् । स्नातकमेतस्मिन्नहनि आदित्यो नाभितपतीत्येकेषां श्रुतिस्तस्मादेनमभितापो न स्यादित्येके । कस्मान्नाभितपतीतिचेत् । स्नातानां ब्रह्मचारिणां वै तेजसा हतो नैष तपति । को य एष इमं लोकं तपत्यादित्यः । तस्मात्स्नातकस्य मुखं रेफायतीव दीप्यतीव । अस्य तेज आदित्येन हरं ( हृतं ) मा भूदिति । पूर्वेणैवापां समीपे स्नानेनेदं गोष्ठस्नानं न विकल्प्यते । पूर्वत्र पारिश्रयणं नास्ति । अभितापपरिहाराभावात् । गुरुलघुनोश्च तुल्यविकल्पानुपपत्तेः ॥ २३ ॥

अस्याशक्तौ पूर्वविधानमाह—

आहरन्त्यस्मै सर्वसुरभि चन्दनं वा पिष्टं तदभ्युक्ष्य नमो ग्रहाय चाभिग्रहाय च नमः शाक-

जञ्जभाभ्यां नमस्ताभ्यो देवताभ्यो या अभिग्राहिणीरिति देवेभ्यः प्राचीनमञ्जलिं कृत्वा तेनानुलिम्पतेऽप्सरासु च यो गन्धो गन्धर्वेषु च यद्यशः। दैव्यो यो मानुषो गन्धः स मामाविशतादिहेति॥ २४॥

आहरन्त्यस्मै स्नानकाय ज्ञातयः सर्वसुरभि सर्वसुगन्धि गन्धद्रव्यं यथालाभं पिष्टं चन्दनमेवैकं पिष्टम्। तदद्भिरभ्युक्ष्य तेन पाणी प्रक्षाल्य नमो ग्रहायेत्यनेन। देवेभ्यः प्राचीनमञ्जलिं कृत्वा तेनानुलेपनेनाप्सरासु च य इत्यनेनानुलोममात्मानं लिम्पति। अथवाऽभ्युक्ष्य नमस्कृत्य पाणी प्रलिप्यानुलिप्यते। मुखमग्रे ब्राह्मणोऽनुलिम्पते बाहू राजन्य उदरं वैश्य उपस्थं स्त्री ऊरू चरणजीवित(वन)इति बह्वृचानामुक्तं तदस्माकमविरुद्धम्। सर्वत्राऽऽहरन्त्यस्मा इति वचनं स्वयमाहरणनिवृत्त्यर्थम्। बहुवचनमनियतकर्तृकत्वाय॥ २४॥

आहरन्त्यस्मा अहते वाससी ते अभ्युक्ष्य सोमस्य तनूरसि तनुवं मे पाहि स्वा मा तनूराविश शिवा मा तनूराविशेति॥ २५॥

आहरन्त्यस्मै द्वे अहते वाससी ते अभ्युक्ष्योदकेन तयोरन्तरीयं सोमस्येत्यनेन परिधायाऽऽच्छाद्याप उपस्पृश्य आचम्येत्यर्थः। तत्रैव तेनैव मन्त्रेणोत्तरीयं परिधायापरेणाग्निं प्राङ्मुख उपविशति। अभ्युक्षणोपस्पर्शवचनं धर्मशास्त्रे सिद्धस्यैवानुवादः। श्रौतप्रायाश्चित्तार्थमेके कल्पयन्ति। कल्पकाराणां मूलवचनात्समावर्तनं श्रौतं मन्यमानाः। अपरेणाग्निमितिवचनादनुलेपनवस्त्रपरिधाने स्नानप्रदेश एव गम्येते॥ २९॥

अन्तरीयं वासः परिधायाप उपस्पृश्य तथैवोत्तरीयमपरेणाग्निं प्राङ्मुख उपविशति। आहरन्त्यस्मै कुण्डले चान्दनमणिं बादरं वा सुवर्णाभिच्छादनं तदुभयं दर्भेण प्रबध्योपर्यग्नौ धारयन्नभिजुहोति आयुष्यं वर्चस्यꣳ रायस्पोषमौद्भिदम्। इदꣳ हिरण्यमायुषे वर्चसे जैत्रायाऽऽविशतां माꣳ स्वाहा। उच्चैर्वाजिपृतनासाहꣳ सभासाहं धनंजयम्। सर्वाः समग्रा ऋद्धयो हिरण्येऽस्मिन्समाभृताः स्वाहा। शुनमहꣳ हिरण्यस्य

पितुरिव नामाग्रभिषम् । तं मा हिरण्यवर्चसं करोतु पुरुषु प्रियं ब्रह्मवर्चसिनं मा करोतु स्वाहा। प्रियं मा कुरु देवेषु प्रियं मा ब्रह्माणि कुरु। प्रियं विश्येषु शूद्रेषु प्रियं मा कुरु राजसु स्वाहा। इयमोषधे त्रायमाणा सहमाना सहस्वती। सा मा हिरण्यवर्चसं करोतु पुरुषु प्रियं ब्रह्मवर्चसिनं मा करोतु स्वाहेत्येतैरेव पञ्चभिरस्वाहाकारैस्त्रिः प्रदक्षिणमुदपात्रेऽनुपरिप्लाव्य ॥ (ख०१०) ॥२६॥

आहरन्त्यस्मै कुण्डले। चन्दने भवश्चान्दनः काष्ठकृत इत्यर्थः । चान्दनश्चासौ मणिश्च चान्दनमणिः । तं बादरं वा । एतं मणिं सुवर्णमुपरि च्छादनं यस्य स सुवर्णाभिच्छादनः। तं चाऽऽहरन्ति। तस्य मणेरुपरिष्टात्कोष्ठप्रदेशे सुवर्णेन च्छादितं सुषिरं सूत्रेण प्रोतं च भवतीत्यर्थः। तदुभयं कुण्डलयुगुलं मणिं च दर्भेण प्रबध्याग्नौ धारयन्नभ्युपरि तस्य आयुष्यमित्येतैः पञ्चभिस्तदुभयमभिजुहोति । अथवा उभयमुपरि धारयंस्तदभि तस्योपरिष्टादग्नौ जुहोति । मणिकुण्डलसंस्कारत्वात्परिषेकाभावः । पूर्वसंस्कृतमाज्यमवशेष्य तेन जुहोति। एतैः । एतैरेव पञ्चभिर्मन्त्रैः स्वाहाकारवर्जितैः सकृदुक्त्वा सर्वान्ते त्रिः प्रदक्षिणमुदपात्रेऽनुपरिप्लाव्य आज्यं प्रक्षाल्येत्यर्थः । अस्वाहाकारवचनं मन्त्रेषु पाठात् ॥ २६ ॥

विराजं च स्वराजं चाभिष्टीर्या च नो गृहे। लक्ष्मी राष्ट्रस्य या मुखे तया मा सꣳसृजामसीति कुण्डले प्रतिहरते। दक्षिणे कर्णे दक्षिणꣳ सव्ये सव्यम् ॥ २७ ॥

विराजं चेत्यनेन कुण्डले प्रतिहरते। आबध्नाति। क्व दक्षिणे कर्णे दक्षिणं दक्षिणपार्श्वगतम्। सव्ये सव्यं सव्यपार्श्वगतम् । नियमार्थमेतद्विपर्यासेन वा मध्ये वाऽन्यथा मा भूदिति। प्रतिकुण्डलं मन्त्रावृत्तिः । केचिद्दक्षिणसव्यकुण्डलयोर्लक्षणकरणाद्वा प्रयोगवृत्त्या वा पूर्वोत्तरप्रदानाद्वा मन्यन्ते ॥ २७ ॥

ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे संवत्सरस्य धायसा तेन सन्ननुगृह्णासीति कुण्डले संगृह्णीते ॥ २८ ॥

ऋतुभिरित्यनेन कुण्डले संगृह्णीतेऽपिधानेनापिदधाति । प्रतिग्रहसंग्रहणयोः संयुक्तत्वादेकापवर्गत्वात् ॥ २८ ॥

इयमोषधे त्रायमाणा सहमाना सहस्वती । सा
मा हिरण्यवर्चसं करोतु पुरुषु प्रियं ब्रह्मवर्चसिनं
मा करोत्वपाशोऽसीति ग्रीवायां मणिं प्रति-
मुञ्चते ॥ २९ ॥

इयमोषध इत्यनेन पूर्वोक्तं मणिं ग्रीवायां प्रतिमुञ्चते बध्नाति ॥ २९ ॥

शुभिके शुभमारोह शोभयन्ती मुखं मम ।
मुखं च मम शोभय भूयाꣳसं च भगं कुरु ।
यामाहरज्जमदग्निः श्रद्धायै कामायास्यै । इमां
तां प्रतिमुञ्चेऽहं भगेन सह वर्चसेति द्वाभ्याꣳ
स्रजं प्रतिमुञ्चते ॥ ३० ॥

शुभिके यामाहरदिति द्वाभ्यां स्रजं प्रतिमुञ्चते शिरसि । प्रसिद्धेः । तस्यां माला-शब्दो येन केनाचिदुपायेन प्रयोक्तव्यः । प्रयोगे तेनैव स्रगित्यभिधापयितव्य-मिति ॥ ३० ॥

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातꣳ हिमवत उपरि । तेन
वामाञ्जेऽहं भगेन सह वर्चसा मयि पर्वतपूरुषमिति
त्रैककुदेनाञ्जनेनाङ्क्ते तस्मिन्नविद्यमाने येनैव
केनचित् ॥ ३१ ॥

यदाञ्जनमित्यनेन त्रिककुदि पर्वते जातं तेनाञ्जनेनाङ्क्ते । तस्मिन्नविद्यमाने त्रैककुदे येनैव केनाचिदाञ्जनेनानक्ति तेनैव मन्त्रेण । किमर्थमेतत् । प्रतिनिधावपि प्रायश्चित्ताभावार्थम् । सव्यं पूर्वमाचारादपरिमितकृत्वश्च । सव्यं हि पूर्वं मनुष्या आञ्जते । अपरिमितं हि मनुष्या आञ्जते । इत्यनुवादाच्च । तत्र सव्येऽपि वामिति द्वित्वम् । युगपदशक्यत्वात्प्रतिचक्षुर्मन्त्रावृत्तिः । पुनः पुनरप्यावृत्तौ चक्षुःसंस्कारकत्वाद्यत्रैकस्मिन्निति न्यायेन सकृदेव मन्त्रः । द्वाभ्यां हस्ताभ्यां द्वयोश्चक्षुषोर्युगपदाञ्जनस्य शक्यत्वान्न मन्त्रावृत्तिरित्येके ॥ ३१ ॥

यन्मे मनः परागतमित्यादर्शेऽवेक्षते ॥ ३२ ॥

यन्मेन मन इत्यनया आदर्शे आत्मानमवेक्षते ॥ ३२ ॥

देवस्य त्वेति वैणवं दण्डं प्रतिगृह्येन्द्रस्य
वज्रोऽस्यश्विनौ मा पातमिति त्रिरूर्ध्वं-
मुन्मार्ष्टि ॥ ३३ ॥

देवस्य त्वेति सावित्रेण प्रतिग्रहणलिङ्गेन वैणवं दण्डं प्रतिगृह्यार्थादन्यः प्रयच्छति। इन्द्रायेत्यनेन सकृदुक्त्वा तमूर्ध्वं त्रिरुन्मार्ष्टि ॥ ३३ ॥

वेगवेजयास्मद्द्विषतस्तस्करान्सरीसृपाञ्छ्वापदा-न्रक्षाꣳसि पिशाचान्पौरुषेयाद्भयान्नो दण्डं रक्ष विश्वस्माद्भयाद्रक्ष सर्वतो जहि तस्करानन्नग्नः सर्ववृक्षेषु जायसे त्वꣳ सपत्नहा। जहि शत्रुगणा न्सर्वान्समन्तं मघवान्निवेति त्रिः प्रदक्षिणमुपर्युपरि शिरः प्रतिहरते ॥ ३४ ॥

वेगवेजयेत्यनेन तदुपरि शिरः प्रतिहरते प्रतिभ्रमयति। सकृदेव मन्त्रः ॥ ३४ ॥

प्रतिष्ठे स्थो देवते मा मा संताप्तमित्युपानहावध्य-वरोहति ॥ ३५ ॥

प्रतिष्ठे स्थो देवते इत्यनेन उपानहावध्यवरोहति उपमुञ्चत इत्यर्थः। युगपदशक्यत्वा-न्मन्त्रावृत्तिः। शक्यत्वे सकृदेव ॥ ३५ ॥

प्रजापतेः शरणमसि ब्रह्मणश्छादिरिति च्छत्रं प्रति-गृह्णाति ॥ ३६ ॥

प्रजापतेरित्यनेन च्छत्रं प्रतिगृह्णाति। अत्राप्यर्थाद्दानम् ॥ ३६ ॥

यो मे दण्डः परापतद्विहायसोऽधिभूम्याम्। इमं तं पुनराददे यमायुषे च बलाय चेति दण्डं पुनरा-दत्ते यद्यस्य हस्तात्पतति ॥ (ख० ११) ॥ ३७ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्र एकोनविं-शप्रश्ने तृतीयः पटलः।

यद्यस्य हस्ताद्दण्डः प्रमादात्पतेद्यो मे दण्ड इत्यनेन पुनरादत्ते। प्रायश्चित्तमेतदा मधु-पर्कसमाप्तेः। सति निमित्ते यावज्जीवमित्यपरे। स्नातकस्य नित्यत्वाद्वेणुदण्डधारणस्य। एतावत्कृत्वा तदानीमेव गच्छति पूजार्थम्। गोष्ठपक्षे तत्रैव वसितत्वाद्रात्रौ गच्छति अभितापप्रतिषेधात् ॥ ३७ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तावेकोनविंशप्रश्ने तृतीयः पटलः।

अथैकोनविंशप्रश्ने चतुर्थः पटलः ।

आनयन्त्यस्मै रथमश्वꣳ हस्तिनं वा ॥ १ ॥

आनयन्त्यस्मै स्नातकाय ज्ञातयो ग्रामप्रवेशार्थं रथं वा हस्तिनं वा ॥ १ ॥

रथंतरमासि वामदेव्यमसि बृहदस्यङ्कौ न्यङ्कावभित इत्येषा । अयं वामश्विना रथो मा दुःखे मा सुखे रिषत् । अरिष्टः स्वस्ति गच्छतु विविघ्नन्नभिदासतः । इह धृतिरिह विधृतिरिह रम इह रमतामिति रथमातिष्ठते । यादि रथेन प्रविशति॥ २ ॥

रथंतरमिति यजुरेकम् । अङ्कौन्यङ्कावभित इत्येषा ऋक् । अन्तादनुवाकस्यायमिति च ऋक् । इह धृतिरिति यजुः । एतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैः रथमातिष्ठत आरोहति । स्नातको यदि रथेन ग्रामं प्रविशति ॥ २ ॥

अश्वोऽसि हयोऽसि मयोऽसीत्येकादशभिरश्वनामभिरश्वं यद्यश्वेन ॥ ३ ॥

अश्वोऽसीत्येतैरेकादशभिरश्वमारोहति यद्यश्वेन ग्रामं प्रविशति । तैत्तिरीयाणां मयोऽसीत्येत्तृतीयं नाम पठितं नास्ति । वाजसनेयिनां चतुर्थमेतत्पठितम् । येषां तृतीयमस्त्याम्नातं यथा तेषां पा-स्तथा ग्राह्यः । केचिदश्वोऽसि हयोऽसि अत्योऽसि नरोऽसि इत्येवं ययुर्नामासीत्येतदन्तानि यथा तैत्तिरीयाणां पाठस्तथा गृह्णन्ति ॥ ३ ॥

इन्द्रस्य त्वावज्रेणाभ्युपविशामि वह कालं वह श्रियं माऽभिवह हस्त्यासि हास्तियशसमासि हास्तिवर्चसमासि हस्तियशसि(सी) हस्तिवर्चसी भूयासमिति हस्तिनं यदि तेन तद्गच्छति यत्रास्मा अपचितिं करिष्यन्तो भवन्ति ॥ ४ ॥

इन्द्रस्य त्वेत्यनेन हस्तिनमारोहति । यदि तेन हस्तिना ग्रामं प्रविशति । तद्गच्छति तत्र गच्छति । यस्मिन्देशेऽस्मा अपचितिं करिष्यन्तो भवन्ति ॥ ४ ॥

सꣳस्रवन्तु दिशो मयि समागच्छन्तु सूनृताः । सर्वे कामा अभि-

यन्तु नः प्रिया अभिस्रवन्तु नः
प्रिया इति दिश उपतिष्ठते ॥ ५ ॥

संस्रवन्त्विति सकृन्मन्त्रमुक्त्वा दिश उपतिष्ठत आरोहणानन्तरमेव। केचिद्गच्छतीत्युक्त्वा वचनाद्गच्छन्नेवोपतिष्ठत इत्याहुः ॥ ५ ॥

यशोऽसि यशोऽहं त्वयि भूयासमिति
योऽस्यापचितिं करिष्यन्भवति तम-
भ्यागच्छन्समीक्षते ॥ ६ ॥

योऽस्य स्नातकस्यापचितिं पूजां करिष्यन्भवति तमाभिमुख्येन समीपं गच्छन्नभिगच्छन्तं वा स्वयमागच्छन् यशोऽसीत्यनेन मन्त्रेण सम्यगीक्षते अवरुह्यैतत्कार्यमित्येके। अनवरुह्येत्यपरे ॥ ६ ॥

अथास्मा आवसथं कल्पयित्वाऽर्घ इति प्राह
कुरुतेति प्रत्याह ॥ ७ ॥

अपचितेः कर्ता। एत्याऽऽवसत्यस्मिन्नित्यावसथः। आवासदेशः। शयनासनाशनाद्येतत्कल्पयित्वा उपकल्प्येत्यर्थः। अस्मै स्नातकायार्घ इति प्राह। अर्घः, अर्हणं पूजेत्यनर्थान्तरम्। अथशब्दोऽधिकारार्थः। इत उत्तरं यद्वक्ष्यते एषोऽयं विधिरिति। तेनर्त्विगाचार्यादीनामथवा विवाह्यादीनामेतेन विधिना सिद्धं मधुपर्कदानम्। कुरुतेति तं स्नातकः प्रत्याह ॥ ७ ॥

कुर्वन्त्यस्मै त्रिवृतं पाङ्क्तं वा दधि मधु
घृतमिति त्रिवृद्दधि मधु घृतमापः सक्तव
इति पाङ्क्तः कंसे दध्यानीय मध्वा-
नयति ॥ ८ ॥

कुर्वन्त्यस्मै त्रिवृतं त्रिवृद्द्रव्यकं पाङ्क्तं पञ्चद्रव्यकं मधुपर्कम्। कुर्वन्तीति बहुवचनमनियतकर्तृकत्वाय। तेन परिकर्मिभिरासादयितव्यानि मधुपर्कद्रव्याणि। कस्तु त्रिवृत् कः पाङ्क्त इत्युच्यते। दधि मधु घृतमिति त्रीणि द्रव्याणि त्रिवृन्मधुपर्क इति। पाङ्क्तो दधि मधु घृतमापः सक्तव इति एतानि पञ्चद्रव्याणि पाङ्क्तो भवति। धर्मेषु तु दधिमधुसंसृष्टं मधुपर्कं पयो वा मधुसंस्पृष्टमभाव उदकमित्युक्तं तदनेन विकल्पते। क कथं च तेषां द्रव्याणां संसर्ग इत्युच्यते। कांस्यपात्रे दध्यानीय मध्वानयति ततो घृतं पारिशेष्यात्। त्रिवृत् त्रिवृतम्। पाङ्क्ते दध्यादीनां नास्ति क्रमो घृतमन्ततोऽभिघारणरूपत्वात् ॥ ८ ॥

**ह्रसीयस्यानीय वर्षीयसाऽपिधायानूचीनानि पृथ-ग्गादापयति कूर्चं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्क इति ॥ ९ ॥**

ह्रसीयसि ह्रस्वतरे पात्र एतानि द्रव्याणि आनीय वर्षीयसा वृद्धतरेण पात्रेण चापि धायानूचीनानि वक्ष्यमाणानि आनुपूर्वकाणि पृथगेकैकं प्रदाता स्नातकेनाऽऽदापयति । कूर्चं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्कं च । कूर्चो दर्भमयमासनम् । पादार्थमुदकं पाद्यमिति न्याय्यम् । तदर्थे पद्भावस्य प्रतिषेधात् । अर्घार्थमुदकमर्घ्यम् । आचम्यते येनोदकेन तदाचमनीयम् । मधुना संपृक्तो दध्यादिसमूहो मधुपर्कः । एतानि क्रमेण सादयित्वा पश्चादादापयति । मधुपर्कस्यैव ह्रसीयस्यानीय वर्षीयसाऽपिधानं प्रच्छादनमिष्टम् । तत एवं वक्तव्यं—कांस्ये दध्यानीय मध्वानयति वर्षीयसाऽपिधायानूचीनानीति गुरुनिर्देशस्य प्रयोजनं पाद्यादिपात्रत्रयाणामपि प्रच्छादनमिष्टं तेषां तु कांस्यनियमो नास्ति उक्तक्रमादेव सिद्धेऽनूचीनानीति किमर्थम् । सादनमपि तेनैव क्रमेण स्यात् । न यथोपपादमित्येतदर्थम् । पृथगिति वचनं पृथगिति वा शक्यत्वादुत्तरत्रा(क्तक्रम)वचनाच्च सिद्धिरेतदर्थमेव ॥ ९ ॥

**अन्वङ्ङनुसंव्रजिता सोऽनुपकिंचया वाचैकैकं प्राह कूर्च इति कूर्चम् ॥ १० ॥**

अन्वङ्ङनुगच्छन् आदातुरभिप्रायानुकूलो भूत्वेत्यर्थः । अनुसंव्रजिता सह कूर्चादिना द्रव्येण तदग्रतः कृत्वा अनुगच्छन् । अनुसंवृजितेति प्रमादपाठः । स प्रदाताऽनुपकिंचया न विद्यते उपघातिका वाग्यस्याः सेयमनुपकिंचा वाक् । पृषोदरादिको विकारो द्रष्टव्यः । वागन्तरेणानुपहतया उच्चैर्भूतयेत्यर्थः । वाचैकैकं प्राह कूर्चादिकं द्रव्यम् । केचिदनुसंव्रजिनेति पाठान्तरं कृत्वा वाग्विशेषणमिच्छन्ति यथा मृष्टाऽप्यवाक् संस्कृता वाक् हृद्या चेति । अपरे यथापाठमेवमर्थमिच्छन्ति । एकैकमिति यौगपद्यप्रतिषेधार्थमिति केचित् । पृथग्वचनादुत्तरत्र कूर्चादिना प्रत्येकं वचनाच्च सिध्यति । तथेदं प्रयोजनम् । द्रव्यस्यैकत्वं नियतम् । शब्दस्याभ्यावृत्तिर्वा स्यादिति तेन त्रिस्त्रिरथैकैकं प्राह । अथवैकैकमिति वचनमेकैकमसकृत्प्रवचनं द्विरिति । तेनाऽऽचमनीयस्य नास्ति द्वितीयं प्रवचनम् । कूर्च इति त्रिः पूजयिता पूज्याय कूर्चं नीत्वा प्राह । कूर्चादीनां प्रतिवचने परिभाषासिद्धेऽपि पुनर्वचनमुत्तरविधिशास्त्रार्थमिष्टशब्दपरिग्रहणार्थं वा । दृष्टार्थत्वाच्छास्त्रान्तरदर्शनाद्वा विष्टरादिशब्दानामपि प्रसङ्ग इति ॥ १० ॥

**तस्मिन्प्राङ्मुख उपविशति राष्ट्रभृदस्याचार्यासन्दी मा त्वद्योषमिति ॥ ११ ॥**

तस्मिन्कूर्चे राष्ट्रभृदसीत्यनेन मन्त्रेण पूज्यः प्राङ्मुख उपविशति प्राङ्मुख इति उदङ्मुखत्वनिवृत्तये । उदङ्मुख इह कूर्चः स्याद्बह्वृचानामुक्तत्वात् ॥ ११ ॥

**अथास्मै पाद्यमिति प्राह ॥ १२ ॥**

अनन्तरमस्मै पूज्याय पूजयिता पाद्यार्थमुदकं नीत्वा पाद्यमिति प्राह । एवं सर्वत्रेति न्याय्यत्वात् ॥ १२ ॥

**तेनास्य शूद्रः शूद्रा वा पादौ प्रक्षालयति सव्यमग्रे ब्राह्मणस्य दक्षिणमितरयोः ॥ ( ख० १२ ) ॥ १३ ॥**

तेनोदकेनास्य पूज्यस्य शूद्रो दासः शूद्रा दासी वा पादौ प्रक्षालयति । कथम् । सव्यमग्रे ब्राह्मणस्य प्रक्षालयति दक्षिणमितरयो राजन्यवैश्ययोः ॥ १३ ॥

**विराजो दोहोऽसि मयि दोहः पद्यायै विराज इति योऽस्य पादौ प्रक्षालयति तस्य हस्तावभिमृश्य ॥ १४ ॥**

योऽस्य पादौ प्रक्षालयति तस्य हस्तौ विराज इत्यनेनाभिमृश्य ॥ १४ ॥

**आत्मानं प्रत्यभिमृशति मयि तेज इन्द्रियं वीर्यमायुः कीर्तिर्वर्चो यशो बलमिति ॥ १५ ॥**

मयीत्यनेनाऽऽत्मानं प्रत्यभिमृशते । प्रक्षालयितुर्हस्तावित्येव सिद्धे योऽस्य पादावित्येवमादिवचनं प्रक्षालयितुरनियमार्थम् । तेन ब्राह्मणस्य ब्रह्मणो वा प्रक्षालयेत् । तदुक्तं बह्वृचानां दक्षिणमग्रे ब्राह्मणाय प्रयच्छति । सव्यं शूद्रायेति ॥ १५ ॥

**अथास्मा अर्घ्यमिति प्राह ॥ १६ ॥**

अथानन्तरमर्घ्येणोदकेन गन्धमाल्यवस्त्रालंकारयुक्तेन सहाऽऽगत्यार्घ्य इति प्राह । केचिदर्घं प्राहेति पाठं मन्यन्ते । पूर्वत्रार्घ्यमाचमनीयमित्युक्तत्वात्तन्न । अर्हत्यनेनेति पूजार्थस्य द्रव्यसमूहस्यार्घशब्देनाभिवादितत्वादशक्यस्तदेकदेश उदके पूर्वत्रार्घ्यार्थत्वादर्घ्यशब्दप्रयोगस्योपपन्नत्वाच्च ॥ १६ ॥

**तत्प्रतिगृह्णात्या मा गन् यशसा सꣳसृज तेजसा वर्चसा पयसा च । तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामिति ॥ १७ ॥**

अर्घ्यादिद्रव्यं प्रतिगृह्णाति आ मा गन्नित्यनेन मन्त्रेण ॥ १७ ॥

**समुद्रं वः प्रहिणोम्यक्षिताः स्वां योनिमपिगच्छत । अच्छिद्रः प्रजया भूयासं मा परा-**

सेचिमत्पय इति शेषं निनीयमानमनुमन्त्र-
यते ॥ १८ ॥

प्रतिगृह्य वस्त्रालंकारादिनाऽलंकृत्य शिष्टमुदकं प्रदात्रे प्रदाय तेन तदुदकं निनीयमानं समुद्रं व इत्यनेनाभिमन्त्रयते ॥ १८ ॥

आथास्मा आचमनीयमिति प्राह ॥ १९ ॥

अथानन्तरमस्मा आचमनीयं नीत्वाऽऽचमनीयमिति प्राह ॥ १९ ॥

अमृतोपस्तरणमसीत्यप आचामति ॥ २० ॥

तदुक्तम्— अमृतोपस्तरणमसीत्याचम्य पिबति । तदित्येकदेशे समुदायशब्दः । उत्तरत्राऽऽचम्यवचनादर्धमेव गृहीत्वाऽवशिष्टं प्रदात्रे प्रदायाऽऽचामति ॥ २० ॥

अथास्मै मधुपर्क इति प्राह ॥ २१ ॥

अथानन्तरमस्मै मधुपर्कं नीत्वा मधुपर्क इति प्राह ॥ २१ ॥

तꣳ सावित्रेणोभाभ्याꣳ हस्ताभ्यां प्रतिगृह्य पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामीडायाः पद इति पृथिव्यां प्रतिष्ठाप्य यन्मधुनो मधव्यꣳ परममन्नाद्यꣳ रूपम् । तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेण परममधव्योऽन्नादो भूयासमित्यङ्गुष्ठेनोपमध्यमया चाङ्गुल्या त्रिः प्रदक्षिणꣳ संयुज्य तेजसे त्वा श्रियै यशसे बलायान्नाद्याय प्राश्नामीति त्रिः प्राश्य योऽस्य रातिर्भवति तस्मा उच्छिष्टं प्रयच्छति ॥ २२ ॥

तं मधुपर्कं देवस्य त्वेति सावित्रेण प्रतिगृह्णाति । अनेनोभाभ्यां हस्ताभ्यामाकाशाञ्जलिना प्रतिगृह्य पृथिव्यास्त्वेति पृथिव्यां प्रतिष्ठाप्य सम्यक्स्थापयित्वाऽङ्गुष्ठेनोपमध्यमयोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्या यन्मधुन इति सकृन्मन्त्रमुक्त्वा त्रिः प्रदक्षिणं संयुज्याऽऽलोड्य तेजसे त्वेत्यनेनाऽऽवर्त्य मन्त्रं त्रिस्ताभ्यामेव प्राश्य योऽस्य पूज्यस्य रातिर्भवति तस्मा उच्छिष्टं प्रयच्छति ॥ २२ ॥

सर्वं वा प्राश्यामृतापिधानमसीत्यप आचामति ॥ २३ ॥

सर्वं वा मधुपर्कं स्वयमेव प्राश्याभावे विकल्प एषः । रातेरभावे सर्वप्राशनं बह्वृचानामप्युक्तम् । ब्राह्मणायेदमुच्छिष्टं प्रयच्छेदभावे सर्वप्राशनमलाभे सर्वं वेति । अमृतापि-

धानमसीत्यप आचामति । तेनाऽऽचमनीयस्यावशिष्टा अप आचामति पिबति । न सर्वप्राशन एवोच्छिष्टदानेऽपि स्यादपिधानार्थत्वादेतदर्थमेव प्राश्येति वर्तमाने पुनः प्राश्येतिवचनम् । आचमनीयमित्युक्तत्वादस्यैवावशिष्टा इत्युक्तम् । यद्येवं पूर्वत्र नपुंसकलिङ्गेन निर्दिष्टत्वादिहोदकशब्देन निर्देष्टव्येऽप इति वचनं किमर्थम् । लाघवार्थम् । भिन्नत्वख्यापनार्थं वोभयस्य । केचिदुपस्तरणीया आचामन्ति श्रौतार्थम् । बह्वृचानामाचान्तोदकायेति वचनस्यैव तदर्थत्वात्पूर्वत्रैवानाचमने कृतार्थत्वात्स्मृतेः । केचिदन्यथाऽपि प्रयोगं कुर्वन्तो दृश्यन्ते तद्द्वयं न जानीमः । अपर आचमनीयेनैवोदकेन स्मार्तमाचमनं तेनैव मन्त्रेण त्रिरभ्यावर्तं कृत्वा यथोक्तं मधुपर्कप्राशनान्तमाचमनं पुनराचमनशेषेणैव स्मार्तमाचनं मन्त्रेण त्रिरभ्यावृत्त्यैके कुर्वन्ति । एवं शास्त्रान्तरे दृष्टमिति तथाऽस्माकं तेषामुपस्तरणीयानामपिधानीयानां चापां भेदादिह नैकत्वाद्भिन्नदर्शनमिति ॥ २३ ॥

अथास्मै गौरिति प्राह ॥ २४ ॥

अथास्मै गामुक्षाणं वेहतं वाऽऽनीय गौरिति प्राह । तथैवाऽऽदौ मनुष्यराजस्वागतेष्वन्यस्मिन्वा अर्हत्युक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्त एवमेवास्मा एतत् क्षदन्ते यद्यग्निं मन्थति अग्निर्हि देवानां पशुरित्यातिथ्यायामग्निमन्थनवाक्यशेषे नित्यानुवादवचनाभावादस्माकं गोमात्रमेव । सा च स्त्र्येव मन्त्रलिङ्गात्स्त्रीलिङ्गनिर्देशाच्चेत्येके ॥ २४ ॥

तस्याः कर्मोत्सर्गो वा ॥ २५ ॥

तस्या गोः कर्म संज्ञपनक्रियायां सोऽर्थः स्यात् । उत्सर्गे यथेष्टचर्यार्थम् ॥ २५ ॥

गौर्धेनुर्भव्या माता रुद्राणां दुहिता वसूनाꣳ स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः । प्र णु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट । पिबतूदकं तृणान्यत्तु । ओमुत्सृजतेत्युत्सर्गे सꣳशास्ति ॥ २६ ॥

तत्रोत्सर्गे सति गौर्धेनुर्भव्येत्येकं मन्त्रमुक्त्वोत्सृजतीति संशास्ति । तस्मिन् मन्त्रे प्र णु वोचमिति यः पाठः स साधुः । अन्योऽपपाठः । केचित्सर्वेण मन्त्रेण संशासनमिच्छन्ति । तदयुक्तम् । प्रणवादेरेव संशासनत्वाद्भूतिकर्मत्वं तदादीन्येव वाक्यानि स्युरिति धर्मेषु वचनाद्बह्वृचानां पूर्वस्य जयवचनाच्च ॥ २६ ॥

गौरस्यपहतपाप्माऽपपाप्मानं जहि । मम चामुष्य च हत मे द्विषन्तꣳ हतो मे द्विषन्कुरुतेति क्रियमाणायाम् ॥ २७ ॥

क्रियमाणायां हिंस्यमानायां गवि गौरसीत्येतं जपित्वा कुरुतेति संशास्ति । तत्र मन्त्रेऽमुष्य चेति एतत्पूजयितुर्नाम षष्ठ्या गृह्णाति । तथा मम च देवदत्तस्य चेति । अत्राऽऽह–ओमुत्सृजतेति उत्सर्गे संशास्ति । कुरुतेति कारयिष्यन्नित्येतावता सिद्धे तस्याः कर्मोत्सर्गेत्यनर्थकम् । नानर्थकम् । क्रियावदुत्सर्गस्यापि स्वरूपत्वख्यापनार्थत्वात् । तेन नोत्सृष्टा स्वामिना दातव्या इतरस्य स्वं स्यादर्हणार्थत्वात् । तस्यापि न स्वं तेनोत्सृष्टत्वात्कस्यचित्स्वसत्त्वाद्राष्ट्रादिवदित्यपरे । अन्ये हिंसाप्रतिषेधार्थ उत्सर्गः स्वामिन एव स्वत्वम् । अन्ये स्त्रीत्वख्यापनार्थं तस्याः कर्मोत्सर्गो वेति वचनमिति पुंस्त्वेऽपि गोजातिमात्रस्य विवक्षितत्वाच्छ्रुतित्वाच्च । धेनुर्भव्येत्यादिरनुवृत्तिरेव जपस्य । अथ किमर्थं कर्मोत्सर्गेति पूर्वमुक्त्वा पश्चात् क्रमविपर्यासेनोत्सर्गस्य विधिः प्रथममुच्यते । दृष्टाभावाद्धिंसाभाविष्या(विषया)र्थं उत्सर्गकरणं बलीय इति ख्यापनार्थम् ॥ २७ ॥

**उत्सर्गेऽन्येन मांसेनान्नं संस्कृत्याथास्मै भूतमिति प्राह तत्सुभूतं विराडन्नं तन्मा क्षयि तन्मेऽशीय तन्म ऊर्जं धास्तत्सुभूतमित्युक्त्वाऽथाऽऽह ब्राह्मणान्भोजयतेति ॥ २८ ॥**

तत्सुभूतमित्येतत्प्रतिवचनमुक्त्वाऽथाऽऽह एनान् ब्राह्मणान्भोजयतेति ॥ २८ ॥

**तेष्वस्मै भुक्तवत्स्वनुसंवृजिनमन्नमाहारयति ॥२९॥**

तेषु अनेन पूज्येन सह गतेषु ब्राह्मणेषु अन्येषु भुक्तवत्सु अनूचीनं च तत् संवृजिनं चानुसंवृजिनम् । अनुसंव्रजिनमित्यपपाठः । शेषभूतव्यञ्जनैः संगतमित्यर्थः । शिष्टं सव्यञ्जनमनुसंवृजिनमित्येके पाठान्तरं कृत्वाऽन्ये यथापाठ एवामुमर्थमिच्छन्ति । तदेवंप्रकारमन्नमस्मा आहरति पूजयिता । हेतुकर्तृत्वादन्यः संस्कारकर्ताऽऽहरति ॥२९॥

**तत्प्रतिगृह्णाति द्यौस्त्वे ददातु पृथिवी प्रतिगृह्णातु पृथिवी ते ददातु प्राणः प्रतिगृह्णातु । प्राणस्त्वाऽश्नातु प्राणः पिबत्विति ॥ ३० ॥**

द्यौस्त इत्यनेन तदन्नं प्रतिगृह्णाति पूज्यः ॥ ३ ॥

**इन्द्राग्नी मे वर्चः कृणुतामिति यावत्कामं प्राश्य योऽस्य रातिर्भवति तस्मा उच्छिष्टं प्रयच्छति ॥ ३१ ॥**

इन्द्राग्नी म इत्यनया सकृदुक्तया यावत्कामं प्राश्य भुक्त्वेत्यर्थः । योऽस्य पूज्यस्य रातिर्भवति तस्मा उच्छिष्टं प्रयच्छति । अन्नपानीय एवोच्छिष्टदानं न सुरादौ । आचारविरोधान्नापि शूद्राय ज्ञातित्वाभावात् ॥ ३१ ॥

यं कामयेत न विच्छिद्येतेति यस्मिन्भूतं च भव्यं च सर्वे लोका इह श्रिताः । तेन त्वाऽहं प्रतिगृह्णामि त्वामहं ब्रह्मणा त्वा मह्यं प्रतिगृह्णाम्यसावित्याचम्य ॥ ( ख० १३ ) ॥ ३२ ॥

यं रातिं न विच्छेद्येत मदधीनः स्यादिति कामयेत स्वयमाचम्य ॥ ३२ ॥

भुक्तवतो दक्षिणं हस्तं गृह्णीयात् ॥ ३३ ॥

तस्य व्रतोच्छिष्टस्य भुक्तवत आचान्तस्य दक्षिणं हस्तं यस्मिन्भूतमित्यनेन गृह्णीयात् । तत्रासाविति संबुद्ध्या रातेर्नाम गृह्णाति । आचम्येत्यनुवर्तमाने पूजयिता तस्य हस्तं गृह्णीयादिति तन्मा भूत् । अतः पूज्य एव रातेर्गृह्णीयादित्येतदर्थं हस्तग्रहणम् । इदमनित्यं काम्यत्वात् ॥ ३३ ॥

समाप्तं समावर्तनम् । इदानीं समावृत्तस्य निविष्टस्य (गृहस्थस्य च) केचन काम्यविधय उच्यन्ते—

यममात्यमन्तेवासिनं प्रेष्यं वा कामयेत ध्रुवो मेऽनपायी स्यादिति स पूर्वाह्णे स्नातः प्रयतवस्त्रोऽहःक्षान्तो ब्राह्मणसंभाषो निशायां तस्याऽऽवसथं गत्वा जीवशृङ्गे प्रस्राव्य त्रिः प्रदक्षिणमावसथं परिषिञ्चन्परिक्रामेत्परि त्वा गिरेरहमिदं परिभ्रातुः परिष्वसुः । परि सर्वेभ्यो ज्ञातिभ्यः परिषीदः क्रेष्यसि । शश्वत्परिकुपिलेन संक्रामेणाविच्छिदा ऊलेन परिमीढोऽसि परिमीढोऽस्यूलेनेति ॥ ३४ ॥

यममात्यमन्तेवासिनं शिष्यम् । वेदाध्ययनार्थं यो गुरुकुले वसति स शिष्यः । योऽधीत्य वेदं श्रवणार्थं सोऽन्तेवासी । यत्रोभयोर्ग्रहणं तत्रैष भेदः । शिष्यान्तेवासिन इत्यादौ । यत्रान्यतरस्य ग्रहणं तत्रोभयोरपि संप्रत्ययः । प्रेष्यं वा दासादिं कर्मकरं कामयेत ध्रुवो नित्योऽनपाय्यनपक्रमणीयो मे मम स्यादिति स पूर्वाह्णे स्नात्वा प्रयतवस्त्रोऽहःक्षान्तं कृत्स्नमहरनश्नन्ब्राह्मणेनैव संभाषमाणो रात्रौ निशायामष्टमे मुहूर्ते प्रदोषान्ते वा तस्य कामिन आवसथमावासं वेश्म गत्वा जीवतः पशोः शृङ्ग उदकं गृहीत्वा छिद्रेण तत्प्रस्राव्य तेनोदकेनाथवा जीवशृङ्गे प्रस्राव्य मूत्रयित्वाऽऽचम्य तेन मूत्रेण त्रिः प्रदक्षिणं तस्याऽऽवसथमावासदेशं परिषिञ्चन्परिक्रामेत् । परि त्वेति सकृन्मन्त्र-

मुक्त्वा तत्रास्ति कश्चिदनपायी ध्रुवो मरणादीनामास्ति ध्रुवो दीर्घायुरनपायीति तस्मादि-दमुभयमुक्तम् । अथ द्विरावसथग्रहणं किमर्थम् । पूर्वं वेश्मार्थमुत्तरं शालार्थम् ॥ ३४ ॥

अनिगुप्ते जीवशृङ्गं विदधाति ॥ ३५ ॥

पारिषिच्य तज्जीवशृङ्गमनिगुप्तेऽरक्षितेऽपरिगृहीते देशे बहिर्वेश्म गोमार्गादौ निद-धाति ॥ ३५ ॥

यस्मा अमात्या अन्तेवासिनः प्रेष्या वोद्द्रवेयुस्ता-
न्परिक्रोशेदनुपौह्वदनुपह्वयेन्निवर्तो यो न्यवीवृधः ।
ऐन्द्रो वः परिक्रोशः परिक्रोशतु सर्वदा ।
यदिति मामिति मन्यायध्वं माया देवा अन्त-
त्तरम् । इन्द्रः पाशो नवः सिक्त्वा मह्यं पुनरु-
दाजत्विति ॥ ३६ ॥

यस्मै यदर्थे वर्तमानाय यस्य वा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । अमात्यादय उच्छिष्टे द्रवेयु-स्तान्परिक्रोशेत् । सर्वत आह्वयेत् । अनुपौह्वदनुपह्वयेदित्यनेन ॥ ३६ ॥

योऽथ स्वागारं प्रविश्य सैध्रकीᳶ समिधमाधा-
याऽऽवर्तन वर्तयेत्याकर्षणेन जुहोति ॥(ख०१४)
॥ ३७ ॥

योऽथ परिक्रुष्टो वासस्तमगारं प्रविश्य सिध्रकमयीं समिधं तूष्णीमाधाय आव-र्तनेत्यनेन मन्त्रेणाऽऽकर्षणेन पुनरन्तेनाऽऽहुतिं जुहोति । आकृष्यन्तेऽनेनेमा आहुत्या-दय इत्याकर्षः । ज्ञानार्थमाकर्षग्रहणम् । केचिदाकृष्यन्तेऽस्मिञ् शरा इत्याकर्षः । न्यून-फलकं दर्व्याः स्थान इत्यर्थं मन्यन्ते । अगारं प्रविश्येति वचनं बहिः प्रसक्तमिति ख्यापनार्थम् । तस्माद्यां दिशं ते गता बहिर्ग्रामात्स्थित्वा परिक्रोशनं कर्तव्यम् । आपूर्वि-कोऽयं दर्विहोमः । समिदाधानलिङ्गात् ॥ ३७ ॥

अथातो दारगुप्तिᳶ स्थूराद्दढाचूर्णानि कारयित्वा
जारी सुप्तायै योनिमुपवपेदिन्द्राय यास्यशेफम-
लिकमन्येभ्यः पुरुषेभ्योऽन्यत्र मादिति ॥ ३८ ॥

अथातो दारगुप्तिः । अथशब्दोऽधिकारार्थः । अतःशब्दो हेतौ । यस्मादप्रमत्ता रक्षतेत्येवमादिवचनाद्दाराः प्रयत्नेन रक्षितव्याः । तस्माद्दारगुप्तिः । इदमुत्तरं वक्ष्यते । स्थूरा दढाः छुरा(स्थूलाः)शतपद्यः तासां चूर्णानि कारयित्वा यस्य गृहे जारो विद्यते स जारी । स एवं कृत्वा तानि चूर्णानि सुप्ताया भार्याया योनिमुपवपेद्योन्यां प्रक्षिपेत् । इन्द्राय यास्यशेफमलिकामित्यनेन । देशान्तरजिगमिषुणा एतत्कर्तव्यम् । एवं कृत

उपगमनासमर्था योनिर्भवतीत्युपदिशन्ति । पुनरागत्य बस्तमूत्रेण प्रक्षालयेदित्यापस्तम्बेनोक्तम् । कर्मसिद्धौ बस्तमूत्रेण प्रक्षालयेदित्यौषधं किलैतस्याः ॥ ३८ ॥

अथातः पण्यसिद्धिः ॥ ३९ ॥

अत्रापि पूर्ववदथातःशब्दौ महर्घविक्रय आशुविक्रयश्च पण्यसिद्धिः । यस्मात्पण्यसिद्धिमन्तरेण वैश्यानामन्येषां वाऽऽपदि पण्येन जीवतां जीवनं [न]स्यात्तस्मात्पण्यसिद्धिरधिक्रियते ॥ ३९ ॥

पण्यस्यापादाय जुहोति यद्वो देवाः प्रपणं चराम
देवा धनेन धनमिच्छमानाः । तस्मिन्सोमो रुच
मादधात्वग्निरिन्द्रो बृहस्पतिरीशानश्च स्वाहेति ॥४०॥

पण्यस्य होमार्हस्य सर्वस्यैकदेशमादाय यद्वो देवा इत्यनेनैकामाहुतिं जुहोत्यौपासने । अयमपि आपूर्विकः । अन्ये त्वाहुः । पण्यस्यैकदेशं यावद्विक्रेतव्यं तावदवदाय विक्रयार्थं जिगमिषुरेतामाहुतिमाज्येन हुत्वा गच्छेदिति । तेषां विशेषलिङ्गाभावादाघारापूर्विकोऽयं स्यात् ॥ ४० ॥

अथातः क्रोधविनयनम् ॥ ४१ ॥

यस्मात्क्रुध्यते बलवत आत्मनो मरणादि महद्भयं तस्मात्क्रुद्धस्याऽऽत्मानं प्रति क्रोधस्य विनयनं शमनमुच्यते ॥ ४१ ॥

या त एषा रराट्या तनूर्मन्योर्मृद्धस्य नाशिनी ।
तां देवा ब्रह्मचारिणो विनयन्तु सुमेधसः । यत
एतन्मुखे मतः रराटमुदिव विध्यसि । अव
ज्यामिव धन्विनो हृदो मन्युं तनोमि ते । अहं
द्यौश्च पृथिवी च विधे क्रोधं नयामसि । गर्भ-
मश्वतर्या इवेति क्रुद्धमभिमन्त्रयते ॥ ४२ ॥

या त इत्यनेन क्रुद्धं पुरुषमभिमन्त्रयते ॥ ४२ ॥

अथातः संवादाभिजयनम् ॥ ४३ ॥

संवादो द्रव्यविषयो ज्ञानविषयो वा विवादस्तस्याभिजयनमभिभूय प्रतिवादिनमात्मनो जयः । यस्मात्तदन्तरेण लोकयात्रा न विद्यते । तस्मात्तदधिक्रियते ॥ ४३ ॥

निशायामन्तरागारेष्वग्निमुपसमाधाय व्याहृतिप-
र्यन्तं कृत्वा कणैराज्यमिश्रैर्जुहोति । अव जिह्व
निजिह्विकात्र त्वा हविषा यजे । यथाऽहमुत्तरो
वदाम्यधरोवद सौवद स्वाहेति ॥ ४४ ॥

प्रत्यासन्ने जयपराजयकाले कस्यांचिन्निशायामन्तरागार आत्मनो गृहमध्ये यथोक्तमग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा करवीरबीजमादायैतैरेव जुहोति । एतामाहुतिं दर्व्या जुहोति तत्रासावित्यत्र प्रथमया वादिनो नाम गृह्णाति । ततो वारुण्यादिपरिषेकान्तं स्यात् ॥ ४४ ॥

अथैनꣳ संनिधावभिजपति आ ते वाचमास्याददे मनस्याꣳ हृदयादधि । अङ्गादङ्गात्ते वाचमाददे यत्र यत्र निहिता वाक्तां त आददे । रुद्रनीलशिखण्डवीरकर्मणि कर्मणीमं मे प्रतिसंवादिनं वृक्षमिवाशनिना जहि । अधोवदाधरोवदाधस्ताद्भूम्यावद । अधोप्रतिरिव कूटेन निजस्य निहितो मया । तत्सत्यं यदहं ब्रवीम्यधरो मत्पद्यस्वासाविति ॥ ४५ ॥

अथैतस्मात् कर्मण ऊर्ध्वं प्रविश्य सभासंनिधौ समीप एनं प्रतिवादिनमभिवीक्षमाणो जपति । आ ते वाचमित्येतदन्तम् । तत्रासाविति संबुद्ध्या तस्य नामग्रहणम् । यथा अधरो मत्पद्यस्व देवदत्तेति ॥ ४९ ॥

हिरण्यबाहुः सुभगा जिताक्ष्यलंकृता मध्ये देवानामासीनाऽर्थं मह्यमवोचत्स्वाहेति सभामालभ्य जपति ॥ ४६ ॥

हिरण्यबाहुरित्यनेन बहुश्रुतं तं सभायां संभावितं क्वचिदालभ्य जपति ॥ ४६ ॥

मम परे ममापरे ममेयं पृथिवी मही । ममाग्निश्चेन्द्रश्च दिव्यमर्थमसाधयन्निवेति परिषदमभिवीक्षतेऽभ्येव जपति ॥ ( ख० १५ ) ॥ ४७ ॥

**इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्र एकोनविंशप्रश्ने चतुर्थः पटलः ।**

मम पर इत्यनेन पारिषदं सभ्यान्पुरुषानाभिवीक्षते । एवं कुर्वाणः प्रतिवादिनमभिजयत्येवेत्यर्थवादः ॥ ४७ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तावेकोनविंशप्रश्ने चतुर्थः पटलः ।

====

अथैकोनविंशप्रश्ने पञ्चमः पटलः ।

---

**दर्शे चन्द्रमसं दृष्ट्वाऽप आचम्यापो धारयमाण आप्यायस्व सं ते नवो नवो भवति जायमानो यमादित्या अ॰शुमाप्याययन्तीति चतसृभिरुप· तिष्ठते ॥ १ ॥**

अमावास्यायां समीपे प्रतिपदि अस्मिन्नहनि वा चन्द्रमसं दृष्ट्वा कामार्थं शुद्धोऽपि आचम्यापो हस्ताभ्यां धारयमाण आप्यायस्वेत्यादिभिर्यथागृहीतं चतसृभिरुपतिष्ठते । सं त इत्यनया साहचर्यादेषा ग्राह्या ॥ १ ॥

**मयि दक्षक्रतू इति जञ्जभ्यमानो जपति ॥ २ ॥**

जञ्जभ्यमानस्यास्य वशेन विवरणं कृत्वा मयि दक्षक्रतू इति जपति । यद्यपीदमि- होक्तं तथाऽपि दर्शपूर्णमासप्रकरणे तत्रैव श्रवणात्पुरुषाणां स्याद्विरोधाभावादित्येके । एष एव न्याय्यो निर्णयः । सर्वार्थ एव तत्रावचनादित्यपरे । तत्रापि याजमानमापस्तम्ब आह । ऋत्विजामपि भवेदित्येतदर्थमिह वचनमित्यन्ये ॥ २ ॥

**सिगसिनासि वज्रो नमस्ते अस्तु मा मा हि॰सी- रिति सिचाऽधिक्षिप्तो जपति ॥ ३ ॥**

सिगसीत्येनं पराच्छादितेनोत्तरीयेण वाससाऽधिक्षिप्त उपरिक्षिप्तो जपति । उत्तरी- येण वा इत्येके । उत्तरसिचेति प्रयोगे दृष्ट इति सर्वत्र नानाकर्मार्थत्वादविकाराभावा- त्पुनः पुनर्जपतीति वचनात् ॥ ३ ॥

**तस्य तन्तुमाच्छिद्य मुखवातेन प्रध्वं॰सयेत् ॥ ४ ॥**

ततस्तस्य वासस एकं तन्तुमाच्छिद्य मुखवातेनाऽऽस्यवातेन प्रध्वं॰सयेत् ॥ ४ ॥

**ये पक्षिणः पतयन्ति बिभ्यतो निर्ऋतैः सह । ते मा शिवेन शग्मेन तेजसोन्दन्तु वर्चसेति वय- साऽधिक्षिप्तो जपति ॥ ५ ॥**

ये पक्षिण इत्यनेन वयसा पक्षिणां मूत्रेण पुरीषेण वोपरिक्षिप्तो जपति ॥ ५ ॥

**तदन्येन हस्तात्प्रमृज्याद्भिः प्रक्षालयीत दिवो नु मा बृहतो अन्तरिक्षादपा॰ स्तोको अभ्यपत- च्छिवाय । समिन्द्रियेण मनसाऽहमागां ब्रह्मणा गुप्तः सुकृता कृतेनेति जपेद्यद्येनमविज्ञातोऽपा॰ स्तोकोऽभिच्छादयेत् ॥ ६ ॥**

यद्येनं पुर ईदृश इत्यविज्ञातोऽपां स्तोकोऽभिश्च्योतेदुपरि क्षरति स दिवो नु मेति मन्त्रं जपेत् ॥ ६ ॥

**यद् वृक्षाग्रादभ्यपतत्फलं यद्वाऽन्तरिक्षात्तदु वायुरेव । यत्रा वृक्षस्तनु वै यत्र वास आपो बाधतां निर्ऋतिं पराचैरिति जपेद्यद्येनमविज्ञातं फलमभिपतेत् ॥ ७ ॥**

यद्येनमविज्ञातमविज्ञानेनाऽऽगतं फलमुपरि पतेत् । यद्वृक्षाग्रादित्येतं जपेत् ॥ ७ ॥

**नमः पथिषदे वातेषवे रुद्राय नमो रुद्राय पाथिषद इति चतुष्पथमवक्रम्य जपति ॥ ८ ॥**

उक्तं चतुष्पथं तदपक्रम्य परिक्रम्य पथिषद इति जपति ॥ ८ ॥

**नमः पशुषदे वातेषवे रुद्राय नमो रुद्राय पशुषद इति शकृद्धतौ ॥ ९ ॥**

पशुषद इति शकृद्धतावक्रम्य जपति ॥ ९ ॥

**नमः सर्पसृते वातेषवे रुद्राय नमो रुद्रायेति सर्पसृते ॥ १० ॥**

सर्पसृत इति सर्पसृते देशे जपति । तदवक्रम्येति सप्तम्या निर्देशोऽधिष्ठाने लङ्घने च प्रायश्चित्तार्थः । समानप्रकारत्वादधिकारानुवृत्तिरनुवचनानां कर्मत्वेऽपि ॥ १० ॥

**नमोऽन्तरिक्षसदे वातेषवे रुद्राय नमो रुद्रायान्तरिक्षसद इति ॥ ११ ॥**

नमोऽन्तरिक्षसद इति जपेत् ॥ ११ ॥

**यद्येनं संवर्तवात आगच्छेत् । नमोऽप्सुषदे वातेषवे रुद्राय नमो रुद्रायाप्सुषद इति ॥ १२ ॥**

यद्येनं संवर्तवातो मण्डलीभूतो वात आगच्छेन्नमोऽप्सुषद इति जपेत् ॥ १२ ॥

**नदीमुदन्वतीमवगाह्य जपति नमस्तत्सदे वातेषवे रुद्राय नमो रुद्राय तत्सद इति ॥ १३ ॥**

नदीमुदन्वतीं सोदकामवगाह्य जपति । छान्दस उदभावः ॥ १३ ॥

**चित्रं देशं देवयजनं वनस्पतिं वाऽऽक्रम्य जपति ॥ १४ ॥**

चित्रं वाऽर्चनीयं संनिहितदेवताकं देवयजनं वा यज्ञभूमिं वनस्पतिं वा पुराणवृक्षमभिलक्षितमभिक्रम्य नमस्तत्सद इति जपति ॥ १४ ॥

**सूर्याभ्युदितोऽहनि नाश्नीयाद्वाग्यतोऽहस्तिष्ठेत् ॥ १५ ॥**

सूर्येणाभ्युदितः सूर्याभ्युदितः सूर्योदयकाले सुप्तवानित्यर्थः । सोऽहनि नाश्नीयाद्वाग्यतः कृत्स्नमहस्तिष्ठेत् । अदर्शनप्रतिषेधोऽयम् । न च क्रमः प्रतिषिध्यत इत्युक्तम् । धर्मेषु वचनादेव सिद्ध इह वचनं विशिष्टविषयत्वख्यापनार्थम् । तेन कर्मश्रान्तस्य न स्यात् । उक्तं बह्वृचानां मा भूदिति । कर्मश्रान्तमभिरूपेण कर्मणेति ॥ १५ ॥

**सूर्याभिनिम्रुक्तो रात्रावेवम् ॥ १६ ॥**

सूर्येणाभ्यस्तमितः सूर्याभिनिम्रुक्तः सूर्यास्तकाले सुप्तवानित्यर्थः । स रात्रावेवं कुर्वन् नाश्नीयात् । रात्रिशेषं च तिष्ठेदित्यर्थः । इदं तु धर्मेषूक्तेनानशनेन विकल्प्यते । व्याधितस्य चाभ्युदयास्तमयात् प्रायश्चित्तं न स्याद्बह्वृचानामित्युक्तम् । अव्याधितश्चेत् स्वयं तमादित्योऽभ्यस्तमियादित्यादि प्राणायामश्चोभयत्र धर्मेषूक्तो विकल्पेन स्यात् ॥ १६ ॥

**न यूपमुपस्पृशेद्यद्युपस्पृशेद्दुरिष्टं यज्ञस्य प्रतिमुञ्चीत यद्येकमुपस्पृशेदेष ते वायो इति ब्रूयाद्यदि द्वावेतौ तौ वायू इति यदि बहूनेते ते वायव इति ॥ १७ ॥**

यूपं नोपस्पृशेत् । यो यूपमुपस्पृशेद्दुरिष्टं दुष्कृतं दोषं यज्ञस्य मुञ्चीत प्राप्नुयात् । तस्मान्नोपस्पृशेत् । यद्येकमुपस्पृशेदेष ते वायुरिति ब्रूयात् । यदि द्वौ एतौ तौ वायू इति । यदि बहूनुपस्पृशेदेते ते वायव इति । तत्र दुरिष्टमिति भूतविभक्त्या निर्देशात् समाप्त एव यागे प्रतिषेधः प्रायश्चित्तं च नासमाप्त इति सिद्धान्तः । अनूबन्ध्यायां क्रियायामवभृथादारभ्यायं प्रतिषेधः ॥ १७ ॥

**अनिहूतं परिहूतं परिष्टुतꣳ शकुनैरुदितं च यत् । मृगस्य शतमक्ष्णया तद्द्विषद्भ्यो भयामसीत्यध्वानमभिप्रव्रजञ्जपति ॥ १८ ॥**

अनिहूतमित्येतं मन्त्रमिष्टदेशं प्रति अध्वानं गन्तुमारभमाणो जपति ॥ १८ ॥

**उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि । स्वस्ति नः शकुने अस्तु शिवो नः सुमना भवेत्यनभिप्रेतꣳ शकुनं प्रति जपति ॥ १९ ॥**

उद्गातेवेत्येतमनभिप्रेतमनिष्टं शकुनमुपलभ्य तं प्रति तद्दोषशमनार्थं जपति । साम गायसीति लिङ्गाद् वाक्यश्रवण एवेदं प्रायश्चित्तमित्येके । स्तुत्यर्थं न सर्वत्रेत्यन्ये ॥ १९ ॥

**यदेतद्भूतान्यन्वाविश्य दैवीं वाचं वदसि । द्विषतो नः परा वदतान्मृत्यो मृत्यवे नयेत्येकसृकम् ॥ २० ॥**

यदेतदित्येतमेकसृकं वाश्यमानं प्रति जपति । सृगालो मृगशब्दं कुर्वाण एकसृक इत्युच्यते ॥ २० ॥

अथास्मा उभयत आदीप्तमुल्मुकं तां दिशं प्रति निरस्यति । अग्ने अग्निना संवदस्व मृत्यो मृत्युना संवदस्वेत्यप उपस्पृश्य ॥ २१ ॥

अथानन्तरमेकसृकाय संप्रदानरूपत्वाच्चतुर्थी तादर्थ्याद्वा । उभयतोऽधस्तादुपरिष्टाच्च दीप्तमुल्मुकं तां दिशं प्रति निरस्यति । अग्न अग्निना इत्यनेन यावदुक्तेन । अनन्तरमप उपस्पृशते ॥ २१ ॥

अथैनमुपतिष्ठते विभूरसि प्रवाहण इत्येतेनानुवाकेन ॥ (ख० १६) ॥ २२ ॥

अनन्तरं तमेकसृकमुपतिष्ठते विभूरसीत्येतेनानुवाकेन रौद्रमनीकं सर्वत्रानुषज्य । पूर्वापरसंबन्धार्थोऽथशब्दः । तेनोल्मुकाभावे सर्वं लुप्यते ॥ २२ ॥

यदीषितो यदि वा स्वकामी भयेडको वदाति वाचमेताम् । तामिन्द्राग्नी ब्रह्मणा संविदानौ शिवामस्मभ्यं कृणुतं गृहेष्विति सालावृकीम् ॥ २३ ॥

यदीषित इति सालावृकीं वाश्यमानां प्रति जपति । आरण्यः श्वा सालावृकः । तस्य स्त्री सालावृकी । जातिमात्रं विवक्षितं न स्त्रीत्वमित्येके ॥ २३ ॥

प्रसार्य सक्थौ पतसि सव्यमक्षि निपेपि च । मेह कस्य च नाम मदिति शकुनिम् ॥ २४ ॥

प्रसार्येति शकुनिं प्रति जपति । शकुनिर्ध्वाङ्क्षः । तस्य शकुनिनिमित्त एव शब्दे जपो न काकशब्दे । अभिप्रेते तेषां तु स्वरे भवत्येव जपः । अनभिप्रेते पूर्वश्चायं च । केचित्सर्वेष्वेवानभिप्रेतमित्यनुवर्तयन्ति । तेषामभिप्रेते न स्यात् । शकुनौ पूर्वेणैतद्बाध्यते ॥ २४ ॥

हिरण्यपक्षः शकुनिर्देवानां वसतिंगमः । ग्रामं प्रदक्षिणं कृत्वा स्वस्ति नो वद कौशिकेति पिङ्गलाम् ॥ २५ ॥

हिरण्यपक्ष इति पिङ्गलां वाश्यमानां प्रति जपति । उलूकः पिङ्गलेत्युच्यते । शकुनिवदिहापि द्रष्टव्यम् ॥ २५ ॥

पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनरायुः पुनर्भगः । पुनर्ब्राह्मणमैतु मा पुनर्द्रविणमैतु मेति । अथैते धिष्णियासो अग्नयो यथास्थानं कल्पन्तामिहैव स्वाहा । पुनर्म आत्मा पुनरायुरागात्पुनः प्राणः पुनराकूतमागात् ।

वैश्वानरो रश्मिभिर्वावृधानोऽन्तस्तिष्ठतु मे मनोऽमृतस्य केतुः स्वाहा । यदन्नमद्यते सायं न तत्प्रातरवति क्षुधः । सर्वं तदस्मान्मा हिꣳसीर्नहि तद्ददृशे दिवा स्वाहेत्यनभिप्रेतꣳ स्वप्नं दृष्ट्वा तिलैराज्यमिश्रैर्जुहोति ॥ २६ ॥

अनभिप्रेतमशुभं स्वप्नं दृष्ट्वा तिलैराज्यमिश्रैः पुनर्मामेत्येतैर्मन्त्रैर्जुहोति । स्वाहाकारत्रयस्य प्रदर्शनात्तिस्र एता आज्याहुतय इत्येके । मन्त्रचतुष्काच्चतस्रो न्याय्याः । बह्वृचानां हि पुनर्मामित्येषां कल्पज्ञानां पृथक्मन्त्रो दृष्टः । तस्मादस्यान्ते परिभाषायाः स्वाहाकारः कर्तव्यः । यथा या तिरश्चीत्यत्र । अयमापूर्विको दर्विहोमः ॥ २६ ॥

अथैतान्यद्भुतप्रायश्चित्तानि भवन्ति कुप्त्वा कपोत उपाविक्षन्मध्वगार उपाविक्षद्गौर्गामधैषीत्स्थूणा व्यरौक्षीद्वल्मीक उदैक्षीदित्येवꣳरूपाणि ॥ २७ ॥

अथेत्यधिकारार्थम् । एतानि वक्ष्यमाणानि अद्भुतप्रायश्चित्तानि भवन्ति । अद्भुतमभूतमाश्चर्यमिति अनर्थान्तरम् । कानि पुनरद्भुतानि । कुप्त्वा परुषः कपोतो गर्हितः पतङ्ग आरण्यपारावत उपाविक्षत् । अध्यासितवान् । अगारप्रवेशोपलक्षणस्थाग्रमिदम् । एतदुक्तं बह्वृचानां कपोतश्चेदगारमुपहन्यादिति । मधुकरीभिः क्रियमाणं मध्वगार उपाविक्षदुपविष्टमभूत् । गौर्वत्सादन्या गामधैषीत्पीतवती । स्थूणा व्यरौक्षीत् । गृहोपरि रूढवती । वल्मीक उदैक्षीत् । गृह उत्थित इत्येवंरूपाणि एवंप्रकाराणि ॥ २७ ॥

स पूर्वाह्णे स्नातः प्रयतवस्त्रोऽहःक्षान्तो ब्राह्मणसंभाषोऽन्तरागारेऽग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा जुहोतीमं मे वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने त्वमग्ने अयासि प्रजापते यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचमिति चात्रैके जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वाति यथापुरस्ताद्ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहꣳ स्वस्त्ययनमिति वाचयित्वा ॥ ( ख० १७ ॥ ) ॥ २८ ॥

उक्तार्थानि एतेषां सर्वेषामिदं प्रायश्चित्तम् ॥ २८ ॥

अथ गवि गवा धीतायामस्मिन्कृतेऽपि विशेष उच्यते- —

इन्द्राग्नी वः प्रस्थापयतामश्विनावभिरक्षताम् । बृहस्पतिर्वो गोपालः पूषा वः पुनरुदाजत्विति

**गाः प्रतिष्ठमाना अनुमन्त्रयते । पूषा गा अन्वेतु न इति च ॥ २९ ॥**

इन्द्राग्नी व इत्यनेन पूषा गा इत्यनया वा गाः प्रतिष्ठमाना गोचरं प्रति गच्छन्तीरनुमन्त्रयते ॥ २९ ॥

**इमा या गाव आगमन्नयक्ष्मा बहुसूवरीः । नद्य इव स्रवन्तु समुद्र इव निषिञ्चन्त्विति गा आयतीः प्रतीक्षते ॥ ३० ॥**

इमा या गाव इत्यपराह्णे गृहं प्रत्यागच्छन्तीर्गाः प्रतीक्षते ॥ ३० ॥

**सꣳस्थाः स्थ सꣳस्था वो भूयास्थाच्युताः स्थ मा मा च्योढ्वं माऽहं भगवतीभ्यश्च्यौषीरिति सꣳस्थिताः ॥ ३१ ॥**

संस्थाः स्थिताः । संस्थाः स्थेत्यनेनाऽऽगत्य सह स्थिता गाः प्रतीक्षते ॥ ३१ ॥

**ऊर्जा वः पश्याम्यूर्जा मा पश्यतेति गोष्ठगताः सहस्रपोषं वः पुष्यासमिति च ॥ ३२ ॥**

ऊर्जा वः सहस्रपोषमित्येताभ्यां गोष्ठं गताः प्रतीक्षते । श्रयन्तामित्येतदन्तो द्वितीयो मन्त्रः । यदैवमग्निहोत्रोपस्थानेऽस्यैकमन्त्रत्वाद्द्वितीयस्याऽऽदिग्रहणं चकारग्रहणं चानर्थकम् । एवं तर्हि तत्रापि द्वावेवोन्नितौ मन्त्रौ गोष्ठोपस्थानाविति ख्यापनार्थम् । अथवा सहस्रपोषं वः पुष्यासमिति चेत्येतदन्तं सूत्रमिहैतदन्तो मन्त्र इत्येतदर्थं द्वितीयग्रहणम् । तथा सति मयि वो रायः श्रयन्तामित्येतस्य लोपः । चकारकरणं चानर्थकं स्यात् ॥ ३२ ॥

**अतो गवां मध्येऽग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा पयसा जुहोत्युद्दीप्यस्व जातवेदोपघ्नं निर्ऋतिं मम । पशूꣳश्च मह्यमावह जीवनं च दिशो दिश स्वाहा । मा नो हिꣳसीज्जातवेदो गामश्वं पुरुषं जगत् । अबिभ्रदग्न आगहि श्रिया मा परिपातय स्वाहा । अपामिदं न्ययनं नमस्ते हरसे शोचिष इति च ॥ ३३ ॥**

अतोऽनन्तरं गवां मध्ये गोष्ठेऽग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा पयसा जुहोति । उद्दीप्यस्व मा नो हिꣳसीरपामिदं नमस्त इत्येताभिः प्रतिमन्त्रम् ॥ ३३ ॥

इमं मे वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने त्वमग्ने अयासि प्रजापते यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचामिति चात्रैके जयाभ्याता-नान्राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति यथापुरस्तात् ॥ ( ख० १८ ) ॥ ३४ ॥

**इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्र एकोनविंशप्रश्ने पञ्चमः पटलः ॥**

उक्तार्थम् । वारुण्याद्याज्येन स्विष्टकृत् । पयसेत्येके । प्रधानशेषात्तस्य क्रियेति मन्यमानाः । न पाकयज्ञ एतदस्ति शेषात् स्विष्टकृतं यजति प्रणीताभिः संयौति च । यदि हि स्यादाज्यहोमेषु स्विष्टकृन्न स्यात्प्रणयनं च । दृश्यते चोभयमुपनयनादौ । तस्माद्यत्र वचनं नास्ति तत्राऽऽज्येनैव स्विष्टकृदिति सिद्धान्तः ॥ ३४ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तावेकोनविंशप्रश्ने पञ्चमः पटलः ।

====

अथैकोनविंशप्रश्ने षष्ठः पटलः ।

———

समावृत्त आचार्यकुलान्मातापितरौ बिभृयात्ता-भ्यामनुज्ञातो भार्यामुपयच्छेत्सजातां नग्निकां ब्रह्मचारिणीमसगोत्रामह्नः पञ्चसु कालेषु प्रातः संगवे मध्यंदिनेऽपराह्णे सायं वैतेषु यत्कारी स्यात्पुण्याह एव कुरुतेऽग्निमुपसमाधाय परिधि-परिधानान्तं कृत्वा वधूमानीयमानाꣳ समीक्षते सुमङ्गलीरियं वधूरिमाꣳ समेत पश्यत । सौभा-ग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं विपरेतनेति दक्षिणतः पतिं भा(त्युर्भा)र्योपविशत्याचान्तसमन्वारब्धायां परिषिञ्चति यथापुरस्तात् ॥ १ ॥

उपनयनप्रभृति ब्रह्मचार्याचार्याधीनः सन्कृतविद्य आचार्यकुलात्समावृत्तः स्नातक इत्यर्थः । स मातापितरौ शुश्रूषयन्धान्याहरणादिना बिभृयात्पोषयेत् । मातापित्र-धीनः स्यादित्यर्थः । स्नात इत्येतावता सिद्धे समावृत्त आचार्यकुलादिति वचनं स्नातकस्यापि विद्यायाः कृच्छ्रापत्तेर्वा भूयः श्रुतार्थं वा विद्यया प्रकाशाभावे

नियमेन वा धनार्थं वा पुनराचार्यकुले संवसेन्न मातापित्रोर्भरणमिति ख्यापनार्थम् । मातापितृभ्यामनुज्ञातो भार्यामुपयच्छेत् । कीदृशीं सजातां सवर्णां समानाभिजनां च नग्निकामासन्नार्तवाम् । नग्न(ज) परिपठितो वस्त्रविक्षेपणार्थः । ततोऽर्हे कर्तरि च स्यात् क्तो बहुलं कृत् । तस्माद्वस्त्रविक्षेपणार्हा नग्निका मैथुनार्हेत्यर्थः । ब्रह्मचारिणीमकृतमैथुनाम् । समानं गोत्रं वरेण यस्याः सा सगोत्रा । न सगोत्राऽसगोत्रा । तामसगोत्राम् । सगोत्रत्वमसगोत्रत्वं च प्रवरकाण्डे वक्ष्यामः । तत्र ताभ्यामनुज्ञात इति वचनमननुज्ञातस्य दारसंग्रहप्रतिषेधार्थम् । कृतदारस्यापि पितुरनुज्ञामन्तरेण नास्ति चोदितेषु कर्मसु प्रवृत्तिः । अनुज्ञयाऽऽहितेषु अग्निषु कर्मणां नित्यत्वं नानुज्ञया प्रयोजनमित्युक्तम् । तथा जीवत्पितुरित्यर्थः । पञ्चसु कालेषु प्रातरादिषु सायमन्तेषु । वाशब्दो ज्योतिर्ज्ञान(तिःशास्त्र)प्रसिद्धे काले विकल्पार्थः । एतेषु पुण्येषु मुहूर्तेषु देवस्य सवितुः प्रातरिति प्रकृत्य समानस्याह्नः पञ्च पुण्यानि नक्षत्राणि इति श्रुतेष्वन्तरालेषु चतुरोऽश्लीलान्कालान्रात्रिं च वर्जयित्वा यत्कर्तव्यं कर्म तत्कर्तुं शीलं यस्य स यत्कारी । सर्वाणि कर्माणि तेष्वेव कालेषु करणशील इत्यर्थः । स पुण्याह एव प्रशस्त एव दिने कुरुते । तत्र प्रागुदयादेका नाडिकोर्ध्वं चैका प्रातरित्युच्यते । प्राक्प्रथमाह्नश्चतुर्भागान्तादेका नाडिकोर्ध्वं चैका संगवः । प्रागहरर्धान्तादेका नाडिकोर्ध्वं चैका मध्यंदिनः । प्राक्तृतीयाह्नश्चतुर्भागान्तादेका नाडिकोर्ध्वं चैका सोऽपराह्णः । प्रागस्तमयादेका नाडिकोर्ध्वं चैका तत्सायम् । अयं सर्वकर्मणां कालो न विवाहस्यैव । यत्कारीति वचनादहोरात्राणामेवायं विकल्पः । पुण्यानि तिथिवारनक्षत्राणि कालज्ञानविदितान्येवोपादेयानि । प्रदर्शनार्थत्वाच्चैतस्य विधानस्य । नक्षत्रेष्वपि यान्येव देवनक्षत्राणि तेषु कुर्वीत यत्कारी स्यात् । यत्पुण्यं नक्षत्रम् । तद्वट्कुर्वीतेत्यादिवचनाद्देवनक्षत्राणि ज्योतिःशास्त्रविहितविवाहनक्षत्राविरोधीनि प्रशस्तानि द्रष्टव्यानि । श्रुतौ तु विवाहं स्तौति । यां कामये दुहितरं प्रिया स्यादितीत्यादिना । षड्विवाहा धर्मेषु व्याख्यास्यन्ते । अष्टावेकेषाम् । तेषु ब्राह्म उदकपूर्वकं दानमेकेषामुक्तम् । तत्र नास्ति प्रतिग्रहणमन्त्रः । दैवे दक्षिणाभिः सह दत्तायां मनवे तल्पमिति प्रतिग्रह उक्तः । बौधायनेन तु अथ यदि दक्षिणाभिः सह दत्ता स्यात्तां प्रतिगृह्णीयात् । प्रजापतिः स्त्रियामिति षड्भिरनुच्छन्दसमित्युक्तम् । तत्रासौ मे कामः समृध्यतामिति । अत्र प्रजा मे काम इति स्यात् । केचिन्महाब्राह्मेऽपि एतैर्मन्त्रैः प्रतिगृह्णन्ति तस्य प्रमाणं नास्ति । इतरेषु विवाहेषु नास्ति दानम् । ब्राह्मे चास्माकं नास्ति । बन्धुशीलश्रुतारोग्याणि बुद्ध्वा प्रजासहत्वकर्मभ्यः प्रतिपादयेदिति वचनाद्द्यादिति वचनं गौणं तत्र । तस्मा-

---

१ ख. प्राग्द्वितीयाह्नश्चतुर्भागान्तादे॰ । २ ख. ॰नाह्नोराणा॰ ।

द्धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या त्वयेयमित्युक्त्वा प्रतिपादयितव्या । सोऽपि तथेत्युक्त्वा प्रतिगृह्णाति । ततो विवाहस्तस्य विधिरुच्यते—अग्निमुपसमाधाय परिधिपरिधानान्तं कृत्वा वधूमात्मानं प्रति स्वैरानीयमानां समीक्षते । सुमङ्गलीरित्यनया । दक्षिणतो जामातुर्भार्या वधूरुपविशति । पतिमित्यपपाठो व्यत्ययो वा दक्षिणेन पतिमिति वा पठितव्यम्। पतिर्भार्येति भविष्यद्वृत्त्या निर्देशः । सम्यगन्वारब्धः समन्वारब्धः पतिर्यस्या अस्ति सा समन्वारब्धा । अकारो मत्वर्थीयः । विभक्ता भ्रातर इति यथा । समन्वारब्धा भवतीत्यर्थः । आचान्ता चासौ समन्वारब्धा च आचान्तसमन्वारब्धा । कर्माङ्गमिदमाचमनं प्रयताया एव । आचान्तः समन्वारब्धायां परिषिञ्चति वध्वाम् । यथापुरस्तादिति सिद्धानुवादः ॥ १ ॥

व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा जुहोति । अग्निरैतु प्रथमो देवताना৺ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् । तदय৺ राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेय৺ स्त्री पौत्रमघं नरोऽदात्स्वाहा । इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्राजामस्यै नयतु दीर्घमायुः । अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिप्रबुध्यतामिय৺ स्वाहा । मा ते गृहे निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु । मा त्वम्विके शूरअविधिष्ठा जीव पत्नी पतिलोके विराज प्रजां पश्यन्ती सुमनस्यमाना৺ स्वाहा । द्यौस्ते पृष्ठ৺ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च स्तनं धयतस्ते पुत्रान्सविताऽभिरक्षु । आवाससः परिधानाद्बृहस्पतिर्विश्वे देवा अभिरक्षन्तु पश्चात्स्वाहा। अप्रजस्तां पौत्रमृत्युं पाप्मानमुत वाऽघम् । शीर्ष्णः स्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाप৺ स्वाहा । देवकृतं ब्राह्मणं कल्पमानं तेन हन्मि योनिषदः पिशाचान् । क्रव्यादो मृत्यूनधरान्पादयामि दीर्घमायुस्तव जीवन्तु पुत्राः स्वाहा ॥ २ ॥

व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वाऽग्निरैत्विति षट्प्रधानाहुतीर्जुहोति ॥ २ ॥

इमं मे वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने त्वमग्ने अयासि प्रजापत इति ॥ ३ ॥

वारुण्यादीन् प्राजापत्यान्तान् हुत्वा ॥ ३ ॥

अश्मानमास्थापयत्यातिष्ठेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव । प्रमृणीहि दुरस्यून्त्सहस्व पृतनायत इत्यपरेणाग्निं द्वयान्दर्भान्पूर्वापरानुदगग्रान्सꣳस्तीर्य तेषु पूर्वापरावतिष्ठेते ॥ (ख० १९)॥४॥

पूर्ववदश्मानं निधाय वधूमास्थापयति आतिष्ठेति । यथावर्णमिह मन्त्रः । अपरेणाग्निं द्वयान्द्वयान्दर्भान्पूर्वापरांश्च संस्तीर्य द्वयोर्देशयोस्तरणाद्वचवयवत्वम् । तयपोऽयच्प्रत्ययः । तेषु दर्भेषु पूर्वापरौ दंपती अवतिष्ठेते । एकत्र स्तीर्णे जाया परत्र पतिः ॥ ४ ॥

प्राङ्मुखः प्रत्यङ्मुख्या हस्तं गृह्णीयात्प्रत्यङ्मुखः प्राङ्मुख्या वा ॥ ५ ॥

अपरेषु दर्भेषु अवास्थितः प्राङ्मुखः पतिः पूर्वेष्ववास्थितायाः प्रत्यङ्मुखाया भार्याया हस्तं गृह्णीयात् । प्रत्यङ्मुखो वा पूर्वेष्ववास्थितोऽपरेष्ववस्थितायाः प्राङ्मुख्याः सरस्वति गृह्णामि ते सुप्र० इत्येताभ्याम् ॥ ५ ॥

यदि कामयेत पुꣳसो जनयेयमित्यङ्गुष्ठं गृह्णीयात् ॥ ६ ॥

यदि कामयेत पुंसः पुत्राञ्जनयेयमिति अङ्गुष्ठं गृह्णीयात् ॥ ६ ॥

यदि कामयेत स्त्रीरित्यङ्गुलीः ॥ ७ ॥

यदि कामयेत स्त्रीर्जनयेयमिति अङ्गुलीरेव गृह्णीयात् ॥ ७ ॥

यदि कामयेतोभयं जनयेयमित्यभीव लोमान्यङ्गुष्ठꣳ सहाङ्गुलिभिर्गृह्णीयात् । सरस्वति प्रेदमिव सुभगे वाजिनीवति । तां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्यग्रतः । गृह्णामि ते सुप्रजास्त्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथाऽसत् । भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवा इति ॥ ८ ॥

यदि कामयेतोभयं स्त्रीपुंसंश्च जनयेयमिति अभीव लोमान्यपर्यास्तरोम्णामङ्गुष्ठमङ्गुलीभिः सह गृह्णीयात् । प्राङ्मुखः प्रत्यङ्मुख्याः प्रत्यङ्मुखः प्राङ्मुख्या वा । यदि कामयेत पुंसो जनयेयमित्येवमादिना सिद्धे किमर्थं हस्तं गृह्णीयादिति । उच्यते—

कामाभावेऽपि हस्तग्रहणार्थम् । इतरथा हि सत्येव कामेऽङ्गुष्ठादीनामेव ग्रहणं स्यात् । नासति कामे । अथ किमर्थं गृह्णीयादित्युच्यते । न चतुर्णामपि सकृदुच्यते । कथमेतावत्यसति अङ्गुष्ठं गृह्णीयादित्येवमादिभिरेव हस्तस्यायं संबन्धः स्यात् । हस्तग्रहणं च मन्त्रप्राप्त्यर्थम् । अङ्गुष्ठाङ्गुलिपक्षे तथा सत्यकामसंयुक्तं ग्रहणं न स्यात् । द्वितीये त्वक्रियमाणे हस्तग्रहणादन्यत्साङ्गुष्ठग्रहणं स्यात् । तथा सति मन्त्राभावः प्रसज्येत । लिङ्गविरोधात् । तृतीये वचनमकामसंयोगेऽपीहैव ग्रहणं न स्याद्यत्र क्वच हस्त इति । स्त्रीरित्यत्रापि वचने चतुर्णां तुल्यत्वं स्यात् । तत्राकामसंयुक्तग्रहणे यत्र क्वचन हस्तग्रहणं प्राप्नोति । अङ्गुष्ठादीनां ग्रहणं हस्तग्रहणवन्न स्यात् । तत्र मन्त्राभावः स्यात् ॥ ८ ॥

तामग्रेण दक्षिणमꣳसं प्रतीचीमभ्यावृत्याभिमन्त्रयते । अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः जीवसूर्वीरसूः स्योना शं न एधि द्विपदे शं चतुष्पदे । तां नः पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति । या न ऊरू उशती विस्रयातै यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपम् । सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः । तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयोऽहं मनुष्यजाः । सोमोऽददाद्गन्धर्वाय गन्धर्वोऽग्नयेऽददात् । पशूꣳश्च मह्यं पुत्राꣳश्चाग्निर्ददात्यथो त्वाम् । अमूहमस्मि सा त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् । सामाहमृक्त्वं तावेहि संभवाव सह रेतो दधावहै । पुꣳसे पुत्राय वेत्तवै रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्यायेमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्राꣳ सुभगां कुरु । दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कुर्विति ॥ ९ ॥

तां भार्यामात्मनोऽग्रेण दक्षिणेन संस्थिता प्रत्यङ्मुखी च यथा भवति तथाऽभ्यावृत्याभिमन्त्रयते । अघोरचक्षुरिति । सोमः प्र० सोमोऽद० अमूहमिति इमामिति एतैरभ्यावृत्येत्यपपाठः । प्रत्यङ्मुखः प्राङ्मुख्या वेत्यस्मिन्पक्ष इदं विधानम् । तामात्मनोऽग्रेण दक्षिणमंसं प्रत्यङ्मुखीमवस्थाप्याभिमन्त्रयते । अथवोत्तरेण तां गत्वा प्रसव्यमावृत्य प्राङ्मुखो यथाऽऽत्मनोऽग्रेण दक्षिणमंसं स्थिता भवति तथा स्थित्वा प्रदक्षिणां तां प्रत्यङ्मुखीमावृत्याभिमन्त्रयते । प्राङ्मुखः प्रत्यङ्मुख्या इत्येतस्मिन्पक्षे तामीषद्दक्षिणेन ॥ ९ ॥

**तां यथायतनमुपवेश्याथास्या अञ्जलावाज्येनोपस्तीर्य लाजान् द्विरावपतीमाल्लाँजानावपामि समृद्धिकरणान्मम । तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामयमित्यभिघार्येयं नार्युपब्रूतेऽग्नौ लाजानावपन्ती । दीर्घायुरस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहेति तस्या अञ्जलिना जुहोति ॥ १० ॥**

तां भार्यां यथायतनमुपवेश्य तस्या अञ्जलावाज्येनोपस्तीर्य लाजान् द्विरावपति । इमाल्लाँजानिति मन्त्रमावर्त्य । वर एव कर्ताऽन्यस्याश्रवणात् । अथग्रहणं परिभाषार्थं यत्राऽऽघारवत्यवदानं तत्रैवं यत्रावदानं चोद्यते तत्रापि । यथौदुम्बर्यो दर्व्योपस्तीर्णाभिघारितं द्रव्यमुपस्तीर्यैतेषामेवान्नानां समवदायेत्यादौ । अन्य आहुः—आवपने परकर्तृकत्वख्यापनार्थोऽथशब्द इति । स च यो भ्राता भ्रातृस्थानीयो वा तस्मिञ्शालशब्दः स्यात् । शूर्पाल्लाजानावपति एतेन निमित्तेन प्रवृत्तमिति । शास्त्रान्तरे च तथा दृष्टम्—भ्राता भ्रातृस्थानीयो वा द्विर्लाजानावपतीति । पूर्वस्मिन्पक्षे शाल आसन्नः संयोगेनेति नैदानादित्येतन्निर्वचनं द्रष्टव्यम् । द्विरिति च प्रदर्शनमात्रम् । त्रिः पञ्चावत्तिनां स्यात् । आवपनं वैदिके शास्त्रान्तरे च दर्शनात् । त्रिर्जामदग्न्यानामिति । अभि० जुहोति । अभिघार्योवत्तानेव लाजानवशिष्टानपीत्येके । शास्त्रान्तरे च दर्शनात् । प्रत्यभिघार्य हविरिति तस्या अञ्जलिं पूरयित्वा स्रुक्स्थानीयेन वरो जुहोति । सेत्यवचनान्न सा कर्त्री वर एव कर्ता । तस्मात्तस्या हस्तावालभ्य स्वयमेव मन्त्रमुक्त्वा जुहोति ॥ १० ॥

**उदायुषेत्युत्थाप्य विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव । अतिगाहेमहि द्विष इति प्रदक्षिणं परिक्रम्य ॥ ११ ॥**

तामुदायुषेत्युक्त्वा पूर्ववदुत्थाप्य विश्वा इत्यनेन स्वयमेव मन्त्रमुक्त्वा तया सह प्रदक्षिणमेतमग्निं परिक्रम्य ॥ ११ ॥

**तथैव लाजानावपति द्वितीयं परिक्रम्य ॥ १२ ॥**

उत्थापनादिना परिक्रम्योपविश्योपस्तरणादिना धर्मेण तथैव लाजानावपति जुहोति । द्वितीयग्रहणं प्राप्त्यर्थम् ॥ १२ ॥

**तथैव लाजानावपति तृतीयं परिक्रम्य सौविष्टकृतीं जुहोति ॥ १३ ॥**

उपविश्योपस्तरणादिना धर्मेण तथैव लाजानावपति जुहोति । उत्थापनादिना परिक्रम्य स्विष्टकृद्देवताकामाहुतिं यदस्येत्येतां जुहोति । कालविधानार्थमिदं तृतीयग्रहण-

स्यापि धर्मवत्ताप्रयोजनम् । आज्येनैव सौविष्टकृती द्रव्यान्तरावचनात् । केचित्तु लाजाधिकारमनुवर्त्य लाजैरिच्छन्ति । लाजैरितरा॑वेति बौधायनीये दर्शनात् । तदन्याय्यम् । तेषां प्रधानहोमानामाज्यद्रव्यकत्वादनामत्वाच्च ॥ १३ ॥

अत्रैके जयाभ्यातानाꣳराष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति यथापुरस्तात् ॥ १४ ॥

पुनर्वचनात्परिसंख्येत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमिदम् ॥ १४ ॥

तामपरेणाग्निं प्राचीमुदीचीं वा विष्णुक्रमान्क्रमयति ॥ १५ ॥

तां भार्यामपरेणाग्निं प्राचीमुदीचीं वा विष्णुक्रमान्क्रमयति । दीर्घोऽपपाठः । प्राचीमुदीचीमित्येके मुखवादं मन्यन्ते तेषामर्थाद्दिगपि भविष्यति ॥ १९ ॥

अथैनाꣳ सꣳशास्ति दक्षिणेन प्रक्रम्य सव्येनानुप्रक्राम मा सव्येन दक्षिणमतिक्रामीरिति ॥ (ख० २०) ॥ १६ ॥

अथैनां भार्यां संशास्ति दक्षिणेनेत्यनेन । अथेति पारिषेकाविसर्गादिकर्मसमाप्त्यानन्तर्यार्थम् ॥ १६ ॥

एकमिषे विष्णुस्त्वाऽन्वेतु द्वे ऊर्जे विष्णुस्त्वाऽन्वेतु त्रीणि व्रताय विष्णुस्त्वाऽन्वेतु चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वाऽन्वेतु पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वाऽन्वेतु षड्रायस्पोषाय विष्णुस्त्वाऽन्वेतु सप्त सप्तभ्यो होत्राभ्यो विष्णुस्त्वाऽन्वेत्विति सप्तमं पदमवस्थाप्य जपति ॥ १७ ॥

एकमिष इत्येतैः सप्तभिः सप्त विष्णुक्रमान्क्रमयति । वर एव मन्त्राणां वक्ता त्वेति लिंगात्परिगृह्यैव पादं क्रमयति। हे(अन्वेतु) त्वेति ग्रहणात्संशानेन मन्त्रवचनेन हेतुत्वात्स्वयमेव क्रामतीत्येके। सा यथासंप्रैषं दक्षिणेन प्रक्रम्य सव्येनानुक्रामति। न सव्येन दक्षिणमतिक्रामति । सप्तमं पदमवस्थाप्य सप्तमं विष्णुक्रमं क्रामयित्वेत्यर्थः । जपति सखायौ इत्येतं मन्त्रं वर एव । सप्तमं पदमवस्थाप्येति वचनं जपस्य सप्तमाङ्गत्वाय तेन सप्तमं प्रक्रम्य तथैवावस्थिते पादे जपः ॥ १७ ॥

सखायौ सप्तपदा बभूव सख्यं ते गमेयꣳ सख्यात्ते मा योषꣳ सख्यान्मे मा योष्ठा इति । अथास्य दक्षिणेन पादेन दक्षिणं पादमवक्रम्य

**दक्षिणेन हस्तेन दक्षिणमꣳसमुपर्युपर्यन्ववमृश्य हृदयदेशमभिमृशति यथापुरस्तात्प्राणानां ग्रन्थिरसि समाविस्रम इति नाभिदेशम् ॥ १८ ॥**

जपादनन्तरमस्या दक्षिणं पादमात्मनो दक्षिणेन पादेनावक्रम्य दक्षिणेन हस्तेन दक्षिणमंसमुपर्युपर्यन्ववमृश्य हृदयदेशमभिमृशतीत्युक्तार्थम् । यथापुरस्तादिति मन्त्रप्राप्तये । यद्येवं यथापुरस्तादित्येतेनैव सिद्धत्वाद्दक्षिणेन हस्तेनेत्याद्यनर्थकम् । नानर्थकम् । मन्त्रमात्रस्यातिदेश इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात् । प्राणा० देशमिति उक्तार्थम् । १८ ॥

**तामपरेणाग्निं प्राचीमुपवेश्य तस्याः पुरस्तात्प्रत्यङ्तिष्ठन्नद्भिः प्रोक्षत्यापो हि ष्ठा मयो भुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इति चैतेनानुवाकेन॥१९॥**

तां वधूमपरेणाग्निं प्राङ्मुखीमुपवेश्य तस्याः पुरस्तात्प्रत्यङ्तिष्ठन्नद्भिः प्रोक्षति आपो हि ष्ठेति । यथागृहीतं प्रतिमन्त्रं प्रोक्षणम् । एकमन्त्रत्वात्कर्मणामेकादृष्टाभावाच्च कर्मबहुत्वम् ॥ १९ ॥

**अत्र बीजान्यधिश्रयन्ति ॥ ( ख० २१ ) ॥ २० ॥**

**इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्र एकोनविंशप्रश्ने षष्ठः पटलः ।**

अत्रास्मिन्काले व्रीह्यादीनामोषधीनां बीजानि ज्ञातयो वपन्ति जायापत्योः शिरसि क्षिपन्ति । अत्रेति वचनमाचारत एव सिद्धस्य कर्मणः कालविधानार्थम् । तेनान्येषामपि ग्रामकुलजनपदधर्माणां पुरस्तादुपरिष्टाच्च कर्तव्यानां संग्रहः सिद्धो भवति । बह्वृचानामप्युक्तम्—अथ खलूच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्माश्च तान्विवाहे प्रतीयादिति ॥२०॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तावेकोनविंशप्रश्ने षष्ठः पटलः ।

---

अथैकोनविंशप्रश्ने सप्तमः पटलः ।

---

**तां ततः प्रवाहयन्ति प्र वा हारयन्ति ॥ १ ॥**

पितुर्गृहे यत्कर्तव्यं तत्परिसमाप्येदानीं पत्युर्गृहे कर्तव्यमाचष्टे । तां भार्यां ततः पितुर्गृहात्प्रवाहयन्ति शकटेन रथेन वाऽऽनयन्ति ज्ञातयः । प्र वा हारयन्ति पुरुषाश्वहस्तिभिर्नयन्ति वेत्यर्थः ॥ १ ॥

**समोप्यैतमग्निमनुहरन्ति ॥ २ ॥**

समोप्य तत एतं विवाहाग्निमनुहरन्ति । जायापत्योः पृष्ठतो हरन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

**नित्यो धार्यः ॥ ३ ॥**

यावज्जीविकोऽयमग्निर्धार्यः स्यात् । नित्यग्रहणं विवाहसमाप्तेरूर्ध्वमपि यावज्जीवधारणार्थम् ॥ ३ ॥

**अनुगतो मन्थ्यः श्रोत्रियागाराद्वाऽऽहार्यः ॥ ४ ॥**

अनुगतः सोऽग्निर्मथितव्यो भवति । श्रोत्रियागाराद्वाऽऽहर्तव्यः । विनिवेशविकल्प एषः । यद्यादौ मथितोऽयं समाहितो मथितव्यः । यदि लौकिक आहृतः श्रोत्रियागारादाहरणीयः । एतस्मादेव ज्ञायते । उपनयनादौ लौकिकहरणं श्रोत्रियागारादेवेति ॥४॥

**उपवासश्चानुगते भार्यायाः पत्युर्वा ॥ ५ ॥**

उपवासश्च भार्यायाः पत्युर्वा स्यादनुगते तस्मिन्नग्नौ । चशब्दो मन्थनाहरणाभ्या मुपवाससमुच्चयार्थः । अहन्यनुगते आ सायमाहुतेरनशनमुपवासः । रात्रावनुगत आ प्रातराहुतेरित्यनुगमन एकरात्रमुभयत्रेत्यपरे । अनुगताधिकारे पुनरनुगतवचनं प्रागूर्ध्वं च विवाहसमाप्तेरेतत्प्रायश्चित्तं भवेदिति । तस्मात्सर्वत्रानुगते मन्थनेनाऽऽहरणेन वोत्पाद्योपवस्तव्यम् । नैतदस्ति नित्यग्रहणादेव सिद्धत्वात् । इदं तर्हि प्रयोजनमनुगत इदमेव प्रायश्चित्तं स्यान्नान्यदिति । तेनास्त्यन्यदपि अन्यत्र प्रायश्चित्तमिति गम्यते । किं तत् । अपिवोत्तरया जुहुयान्नोपवसेदित्यापस्तम्बेनोक्तम् । प्रागुत्तराऽयाश्चाग्न इत्येषा तत्रानभिशस्तीश्चेत्येतावान् विकारः ॥ ५ ॥

**अगारं प्राप्याथैनाᳲ सᳲशास्ति दक्षिणं पादमग्रेऽतिहर देहलिं माऽधिष्ठा इति ॥ ६ ॥**

ग्रामान्तरे चेद्विवाहः प्रविश्य ग्राममगारं प्राप्यैकग्रामे चेदगारमेव प्राप्यानन्तरमेनां संशास्ति दक्षिणं पादमित्यनेन । अथशब्दः प्राप्यैव स्वगृहमुत्तरं कर्म कार्यं न स्व(श्वशुर)गृह एव सर्वं विवाहकर्मकार्यमिति एतदर्थम् । यथासंप्रैषं सा दक्षिणं पादमग्रे विहृत्यानुहृत्य पूर्वं देहलीमनधिष्ठाय प्रविशति । अग्रेदेहलिमिति च्छान्दसं ह्रस्वत्वम् ॥ ६ ॥

**पूर्वार्धे शालायां न्युप्योपसमादधात्यपरेणाग्निं लोहितमानडुहं चर्म प्राचीनग्रीवमुत्तरलोमाऽऽस्तृणाति ॥ ७ ॥**

यस्यां शालायां दंपत्योर्निवासस्तस्यां पूर्वार्धे देशे कृत्वा देशसंस्कारं न्युप्य विवाहाग्निमुपसमादधाति । अपरेण तमग्निं रोहितवर्णमानडुहं चर्म प्राचीनग्रीवमुत्तरलोमाऽऽस्तृणाति वरः ॥ ७ ॥

तस्मिन् प्राङ्मुखावुदङ्मुखौ वोपविशतः ५श्रा-
स्पतिं भार्योपविशतीह गावो निषीदन्त्विहाश्वा
इह पूरुषाः । इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा निषी-
दत्विति ॥ ८ ॥

तस्मिंश्चर्मणि जायापती प्राङ्मुखावुदङ्मुखौ वा सहोपविशतः । इह गाव इत्येतया । मन्त्र उभयोः । अपरस्यां तु दिशि पत्युर्भार्योपविशति यद्युदङ्मुखौ स्यातां प्राङ्मुखत्वे दक्षिणतः । एवं पुनरुपविशतिग्रहणमनन्तरेण पक्षेण संबन्धार्थम् ॥ ८ ॥

वाचंयमावासाते आ नक्षत्राणामुदयात् ॥ ९ ॥

उपवेशनादारभ्य वाग्यतौ जायापती तथैवाऽऽ नक्षत्राणामुदयादासाते । आसाते इति वचनं स्नानादिप्रतिषेधार्थं देशान्तरप्रतिषेधार्थं च । उदितेषु नक्षत्रेष्विति सिद्ध आ नक्षत्राणामुदयादिति वचनमहन्येव प्रवेशनमुपवेशनं च भवेतामित्येतदर्थम् ॥ ९ ॥

उदितेषु नक्षत्रेषु प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनि-
ष्क्रम्य देवीः षड्उर्वीरिति दिश उपतिष्ठते॥ १० ॥

उदितेषु नक्षत्रेषु दृश्यमानेषु वध्वा सह निर्गत्यागारात्प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य यत्र नक्षत्रादीनि द्रष्टुं शक्यन्ते । देवीरित्यर्धर्चेन सकृदुक्त्वा दिश उपतिष्ठते । उदितेषु नक्षत्रेष्विति वचनं सर्वोपस्थानस्य कालार्थम् । तेन पूर्वपक्ष एव विवाहो नापरपक्ष इति । चन्द्रमसस्तदाऽनुपलम्भात् । केचिदा नक्षत्राणामित्यस्य मर्यादावचननिवृत्त्यर्थत्वं मन्यन्ते तद्व्याख्यानतः सिध्यति । सर्वाणि उपस्थानानि पत्या कार्याणि । एकवचनेनोपदेशात् । भार्या च समीपे तिष्ठतीत्येके । अन्ये पुरुषसंस्कारत्वाद्भार्यया कर्तव्यम् । अविवक्षितमेकवचनमिति ॥ १० ॥

मा हास्महि प्रजयेति नक्षत्राणि ॥ ११ ॥

मा हास्महीति पादेन नक्षत्राण्युपतिष्ठते ॥ ११ ॥

मारधाम द्विषते सोमराजन्निति चन्द्रमसम् ॥ १२ ॥

मारधामेति चन्द्रमसमुपतिष्ठते ॥ १२ ॥

सप्तर्षयः प्रथमां कृत्तिकानामरुन्धतीं ये ध्रुवता५
ह निन्युः । षट्कृत्तिकामुख्ययोगं वहन्तीयमस्माकं
भ्राजत्वष्टमीति सप्तर्षीनुपस्थाय ध्रुवमुपतिष्ठते ।
ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवमसि ध्रुवमस्थितं त्वं नक्ष-
त्राणां मेध्यसि स मा पाहि पृतन्यतः । नमो
ब्रह्मणे ध्रुवायाच्युतायास्तु नमो ब्रह्मणः पुत्राय

प्रजापतये नमो ब्रह्मणः पुत्रेभ्यो देवेभ्यस्त्रयस्त्रिꣳशेभ्यो नमो ब्रह्मणः पुत्रपौत्रेभ्योऽङ्गिरोभ्यो यस्त्वा ध्रुवमच्युतꣳ सपुत्रꣳ सपौत्रं ब्रह्म वेद ध्रुवा अस्मिन् पुत्राः पौत्रा भवन्ति प्रेष्यान्तेवासिनो वसनं कम्बलानि कꣳसꣳ हिरण्यꣳ स्त्रियो राजानोऽन्नमभयमायुः कीर्तिर्वर्चो यशो बलं ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्येतानि मयि सर्वाणि ध्रुवाण्यच्युतानि सन्तु ॥ (ख०२२) ॥ ध्रुवं त्वा ब्रह्म वेद ध्रुवोऽहमस्मिँल्लोकेऽस्मिꣳश्च जनपदे भूयासम् । अच्युतं त्वा ब्रह्म वेद माऽहमस्माल्लोकादस्माच्च जनपदाच्च्योषि द्विषन्मे भ्रातृव्योऽस्माल्लोकादस्माच्च जनपदाच्च्यवताम् । अचेष्टं त्वा ब्रह्म वेद माऽहमस्माल्लोकादस्माच्च जनपदाच्चेष्टिषि द्विषन्मे भ्रातृव्योऽस्माल्लोकादस्माच्च जनपदाच्चेष्टताम् । अव्यथमानं त्वा ब्रह्म वेद माऽमहस्माल्लोकादस्माच्च जनपदाद्व्यथिषि द्विषन्मे भ्रातृव्योऽस्माल्लोकादस्माच्च जनपदाद्व्यथताम् । नभ्यं त्वा सर्वस्य वेद नभ्यमहमस्य जनपदस्य भूयासम् । मध्यं त्वा सर्वस्य वेद मध्यमहमस्य जनपदस्य भूयासम् । तन्तिं त्वा सर्वस्य वेद तन्तिरहमस्य जनपदस्य भूयासम् । मेथीं त्वा सर्वस्य वेद मेथ्यहमस्य जनपदस्य भूयासम् । नाभिं त्वा सर्वस्य वेद नाभिरहमस्य जनपदस्य भूयासं यथा नाभिः प्राणानां विषूवानेवमहं विषूवानेकशतं तं पाप्मानमृच्छतु योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो भूयाꣳसि मामेकशतान्पुण्यान्यागच्छन्त्विति ॥ १३ ॥

सप्तर्षय इत्यनेन सप्तर्षीनुपस्थाय ध्रुवमुपतिष्ठते ध्रुवक्षितिरित्यनेन । सप्तर्षयो ध्रुव इति च लोके प्रसिद्धानि नक्षत्राणि। उपतिष्ठत इत्यनुवर्तमाने पुनरुपस्थायेति चोपतिष्ठत

इति वचनं पूर्वोपस्थानैरतुल्यत्वख्यापनार्थम् । तेनादर्शनेऽपि काले दर्शनवदेव तेषामुपस्थानं तस्यां दिशि कर्तव्यम् । तत्र प्र्येकैनैवोपस्थानवचनेन सिद्धे द्विरुपस्थानवचनमुभयस्याप्यतुल्यत्वख्यापनार्थम् । तेनारुन्धत्यष्टमानां सप्तर्षीणामुपस्थानं ध्रुवस्य केवलस्यैव ॥ १३ ॥

**अत्र मनोज्ञेन संभाष्यागारं प्राप्याथैनामाग्नेयेन स्थालीपाकेन याजयति ॥ १४ ॥**

अत्रास्मिन्नेवोपस्थानदेशे मनोज्ञेन मनोहरणेन मनसः प्रियेण पुरुषेण संभाष्य प्रतिनिवृत्त्यागारं प्रविश्यानन्तरमेनां वधूमग्निदेवत्येन स्थाल्यां पच्यत इति स्थालीपाकश्चरुस्तेन याजयति । अथेति प्रवेशानन्तरं रात्रावेव क्रियार्थं श्वोभूतेऽहनि मा भूदिति । एनामिति स्त्रीसंस्कार एवायं विवाहैकदेश इति व्याख्यापनार्थम् ॥ १४ ॥

**पत्न्यवहन्ति ॥ १५ ॥**

पत्नी तदर्थान्व्रीहीनवहन्ति ॥ १५ ॥

**श्रपयित्वाऽभिघार्योद्वास्याग्नये हुत्वाऽग्नये स्विष्टकृते जुहोति ॥ १६ ॥**

तस्मिन्नग्नौ स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽभिघार्योद्वास्याग्नये हुत्वाऽग्नये स्विष्टकृते जुहोति । अत्र परिभाषितः स्वाहाकार उक्तः । अन्नद्रव्यकाणामापूर्विकत्वं तेनायमापूर्विकः । तत्र प्रयोगः—समिध्य परिस्तीर्य यावदर्थं द्रव्याणि प्रयुज्य पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीं संकृत्य प्रोक्षति । ततः पत्नी उलूखले व्रीहीनोप्य मुसलेनावहत्य फलीकरणान्तं करोति । ततः श्रपयित्वा दर्वीं संमृज्याऽऽज्यं संस्कृत्याभिघार्योद्वास्य परिषिच्य द्वे समिधावाधाय स्थालीपाकं दर्व्योपहत्याग्नये स्वाहेति हुत्वा पुनर्भूय उपहत्याग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति उत्तरार्धपूर्वार्धे हुत्वा परिषेकविसर्गं करोति । यद्यापूर्विक एवायमग्नये स्विष्टकृते जुहोतीत्यनर्थकम् । तर्ह्याघारवानापूर्विको वाऽयं तत्राऽऽघारवत्त्वे स्विष्टकृतोऽ ( द ) र्थं देवतापदेनैव वा होमार्थमिदम् । आघारवत्त्वे तु पुनः प्रयोगः । व्याहृतिपर्यन्तमविकृतं तत्र विशेषः स्तरणाभिघारणार्थस्य च मेक्षणस्य पुनः प्रयोगः । प्रोक्षणादूर्ध्वमभिघारणमुद्वासनं च कृत्वा व्याहृतिपर्यन्तं मेक्षणेन दर्व्यामुपस्तीर्य चरोर्मध्यात्पूर्वार्धाच्च द्विरवदाय पश्चार्धाच्च पुनः पञ्चावत्तिनामभिघार्य प्रत्यभिघार्य चरुमग्नये स्वाहेति हुत्वा वारुण्यादीन्हुत्वा विकल्पेन जयादींश्च दर्व्यामुपस्तीर्योत्तरार्धाच्चरोः सकृन्महदवदाय द्विः पञ्चावत्तिनां द्विरभिघार्याग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति उत्तरार्धपूर्वार्धे जुहोति । शिष्टं तुल्यम् ॥ १६ ॥

**तेन ब्राह्मणं विद्यावन्तं परिवेवेष्टि ॥ १७ ॥**

तेन स्थालीपाकशेषेण ब्राह्मणं विद्यावन्तं श्रुताध्ययनसंपन्नं परिवेवेष्टि तर्पयति भोजयतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

**योऽस्यापचितो भवति तस्मा ऋषभं ददाति ॥ १८ ॥**

योऽस्य वरस्यापचितः पूजनीयाचार्यस्थानीयो भवति । वर्तमाने निष्ठा । षष्ठी च कर्तारि । तस्मा ऋषभं ददाति । विवाहाङ्गमेतद्दानं न स्थालीपाकाङ्गम् । केचित्तेन ब्राह्मणमित्यादि योऽस्यापचितो भवतीत्येतदन्तं सूत्रं कुर्वन्ति तेषामपचित एव भोजयितव्यः । तस्मा ऋषभो दातव्यः ॥ १८ ॥

**नित्यमत ऊर्ध्वं पर्वस्वाग्नेयेन स्थालीपाकेन यजते ॥ १९ ॥**

प्रसङ्गादेतदुच्यते । अतो गृहप्रवेशस्थालीपाकादूर्ध्वं पर्वस्वाग्नेयेन स्थालीपाकेन याजयति । अत ऊर्ध्वमितिवचनं दीर्घत्वादध्वनोऽन्यथा वा प्रागागतेऽपि पर्वणि स्थालीपाको मा भूदिति । अत ऊर्ध्वं चातः प्रागपि चतुर्थीहोमादागते पर्वणि भवेदित्येतदर्थम् । अन्तरेणापि नित्यग्रहणं नित्यत्वे सिद्धे नित्यमिति वचनं यावज्जीवं तावद्वा त्रिंशद्वर्षाणि कृत्वोत्सर्गो मा भूदिति । कः प्रसङ्ग उत्सर्गस्येतिचेद्दर्शपूर्णमासभक्तित्वादस्य त्रिंशद्वर्षता यावज्जीविकतया विकल्पत इत्याशङ्केत हि । एतच्च प्रज्ञापयति । पर्वण्युपोष्य प्रतिपदि क्रियां पौर्णमास्यामारम्भं च । तदुक्तं बह्वृचानाम् । तस्य दर्शपूर्णमासाभ्यामुपवास इध्माबर्हिषोश्च संनहनमिति । धर्मे च तदेव वक्ष्यति—पर्वसु चोभयोरुपवास इति प्रकृत्य श्वोभूते स्थालीपाक इति । तदन्यथाऽपि केचिद्वर्णयन्ति । तत्तत्रैव दूषयिष्यामः । आग्नेयेनेति वचनं नियमार्थं दर्शपूर्णमासदेवता मा भूवन्निति । बह्वृचानां ह्युक्तम्—देवता तूपांशुयाज इन्द्रमहेन्द्रवर्जमिति । उक्तः प्रयोगः । ऋषभदानं न विद्यते । योऽस्यापचित इतिवचनाद्विवाहाङ्गत्वादाग्नेयेनेति वचनमाग्नेयेनैव यजते न गोदानमिति नियमार्थम् ॥ १९ ॥

**नित्यं सायंप्रातर्व्रीहिभिर्यवैर्वा हस्तेनैते आहुती जुहोति अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति ॥२०॥**

नित्यं सदा सायं प्रातर्व्रीहिभिर्यवैर्वा हस्तेनैव वक्ष्यमाणे आहुती जुहोति । के ते । अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति । नित्यग्रहणं किमर्थम् । प्रागपि गृहप्रवेशनीयाद्धोमार्थम् । अन्यथाऽत ऊर्ध्वमित्यधिकारात् प्रागुक्तं स्यात् । विनिवर्तयामोऽधिकारमितिचेत्तन्न । उत्तरत्र प्रयोजनसद्भावात् । उक्तं च बह्वृचानां प्रागपि होमभावः पाणिग्रहणादि गृह्यं परिचरेदिति । अथवाऽत्रापि नित्यग्रहणं यावज्जीविकत्वार्थम् ।

अग्निहोत्रदर्शनात्सायंप्रातर्होमस्य जीर्णस्य वा विरमणमित्याशङ्केत हि तन्मा भूदिति । एतेन ज्ञायते अग्निहोत्रस्य कालोऽस्यापि काल इति । तेन प्रथमास्तमिते नक्षत्रं दृष्ट्वा प्रदोषे वा सायं होतव्यम् । प्रातरुषसि पुरोदयमुदिते यर्हि वाक्प्रवदेत्तर्हि होतव्यम् । सायं चाऽऽरम्भो न प्रातः । उद्धरणकालश्चास्य प्रादुष्करणकाल इत्यर्थः । तदुक्तं बह्वृचानाम् । तस्याग्निहोत्रेण प्रादुष्करणहोमकालो व्याख्यात इति । पक्षेऽस्मिन्नत ऊर्ध्वमित्यधिकारात्प्राक्गृहप्रवेशनीयान्नास्ति होमः । य एव स्थालीपाकस्याभावे स एवाभावे सायंप्रातर्होमस्य । तत्राप्यपरिसमाप्तता विवाहस्य हेतुरत्रापि स एव । एतेन विज्ञायते गृहप्रवेशनीयान्तो विवाहः । संगमार्थं चतुर्थीहोम इति । हस्तेनेति दर्वीनिवृत्त्यर्थम् । एते इति वचनमाहुत्योर्नियमार्थम् । तेन द्रव्यं नियतमग्निहोत्रद्रव्याणां दशानामेकं स्यात् । तदुक्तं बह्वृचानां होम्यं तु मांसवर्जं कामं तु व्रीहितिलयवैरिति ॥ २० ॥

**सौरीं पूर्वां प्रातरेके समामनन्ति ॥ २१ ॥**

सौरीं सूर्यदेवत्यां सूर्याय स्वाहेति एतां पूर्वां प्रातरेके समामनन्ति । अग्नय इत्येतामन्येषां पूर्वां प्रातरपि । तत्र प्रयोगः । परिस्तीर्य परिषिच्य सूर्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति । तत उत्तरपरिषेचनम् । शेषं पूर्ववत् । अग्निहोत्रभक्तित्वादेकावसायिनी॥२१॥

**त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनावधःशायिनावलंकुर्वाणौ ब्रह्मचारिणौ वसतः ॥ २२ ॥**

अथ द्वावेव शयानावलंकुर्वाणौ ब्रह्मचारिणौ मैथुनमकुर्वाणौ सह वसतः । ब्रह्मचारिव्रतस्य प्रदर्शनधर्मा रूपाण्यद्यापि प्रतिषिध्यन्ते । अत ऊर्ध्वमित्युनुवृत्तेरूर्ध्वं गृहप्रवेशनीयादेव त्रिरात्रव्रतम् । यद्येवं प्राक्व्रताभावः प्राप्नोति । एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते । अक्षारालवणाशिना० वसत इति । तेन विवाहादारभ्यैतद्व्रतं ततस्त्रिरात्रमन्तर्हितमिति । तेन प्राक्चोर्ध्वं च सिद्धम् । पुनरेवमपि त्रिरात्रग्रहणमनर्थकम् । चतुर्थ्यां शेषमिति वचनादेव सिद्धत्वात् । नैष दोषः । नियमार्थत्वात् । बह्वृचानामप्युक्तं त्रिरात्रं द्वादशरात्रं संवत्सरं चैक ऋषिव्रतमिति ॥ २२ ॥

**चतुर्थ्यामपररात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रायश्चित्तिपर्यन्तं कृत्वा नव प्रायश्चित्तीर्जुहोति ॥ (ख०२३) ॥ अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै घोरा तनूस्तामितो नाशय स्वाहा । वायो प्रायश्चित्ते त्वं प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै निन्दिता**

तनूस्तामितो नाशय स्वाहा । आदित्य प्रायश्चित्ते त्वं प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै पतिघ्नी तनूस्तामितो नाशय स्वाहा । आदित्य प्रायश्चित्ते वायो प्रायश्चित्तेऽग्ने प्रायश्चित्तेऽग्ने प्रायश्चित्ते वायो प्रायश्चित्त आदित्य प्रायश्चित्त इति हुत्वा ॥ २३ ॥

एतस्या रात्रेरारभ्य चतुर्थ्यां राज्यां तृतीयस्याहो राज्यामित्यर्थः । अपररात्रे त्रिभागावशेषायां राज्यामग्निमुपसमाधाय प्रायश्चित्तिपर्यन्तं कृत्वा स त्वं नो अग्न इत्येतदन्तं कृत्वा नव प्रायश्चितीर्जुहोति अग्ने प्रायश्चित्त इत्येताः । अग्निमुपसमाधायेत्यस्योक्तं प्रयोजनम् । नव प्रायाश्चित्यः प्रधानाहुतयः । तासामिष्टदेशादुत्कर्षः । तस्माद्व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा इमं मे वरुणेति चतस्रो हुत्वैता जुहोति । हुत्वा वा तासां संपातं पात्रान्तरेऽवनयति ॥ २३ ॥

अथास्यै मूर्न्धि सश्स्रावं जुहोति भूर्भगं त्वयि जुहोमि स्वाहा ॥ भुवो यशस्त्वयि जुहोमि स्वाहा ॥ सुवः श्रियं त्वयि जुहोमि स्वाहा ॥ भूर्भुवः सुवस्त्विषिं त्वयि जुहोमि स्वाहेति ॥ २४ ॥

अथ प्रायश्चित्यनन्तरमस्या मूर्ध्नि संस्रावं पात्रान्तरस्थं निहितं दर्व्या जुहोति । भूर्भुवः सुवरिति चतुर्भिः । हुत्वेति वचनमेतासामेव नवानां संस्रावार्थम् । अथेत्यानन्तर्यार्थं कर्मशेषसमापनात्प्रागेव संस्रावहोमा भवेयुरिति ॥ २४ ॥

अत्रैवोदपात्रं निधाय प्रदक्षिणमग्निं परिक्रम्या परेणाग्निं प्राचीमुदीचीं वा संवेश्याथास्यै योनिमभिमृशत्यभि त्वा पञ्चशाखेन शिवेनाभिद्विषावता ॥ सहस्रेण यशस्विना हस्तेनाभिमृशामसि सुप्रजास्त्वायेति ॥ २५ ॥

अथ त्वमग्ने अयासीत्येतदादिकर्मशेषं परिसमाप्यैवास्मिन्नेवाग्निसमीपे देश उदपात्रं निधाय प्रदक्षिणमग्निं सोदपात्रं परिक्रम्यापरेणाग्निं परिस्तृत्य पर्यङ्के स्वास्तरेण प्राक्शिरसमुदक्शिरसं वा वधूं संवेश्य शाययित्वाऽनन्तरमस्या योनिमभिमृशति दक्षिणेन हस्तेनाभि त्वेत्यनेन ॥ २५ ॥

अथैनामुपयच्छते सं नाम्नः सश्हृदयानि सं

**नाभिः सं त्वचः ॥ सं त्वा कामस्य योक्त्रेण युञ्जान्यविमोचनायेति ॥ २६ ॥**

अथैनां वधूमुपयच्छते । अवकिरते मिथुनी भवति । सं नाभ्न इत्यनेन तस्याः प्रजनन आत्मनः प्रजननं प्रवेशयति ॥ २६ ॥

**अथैनां परिष्वजते मामनुव्रता भव सहचर्या मया भव ॥ या ते पतिघ्नी तनूर्जारघ्नीं त्वेतां करोमि शिवा त्वं मह्यमेधि क्षुरपविर्जारेभ्य इति ॥ २७ ॥**

अथैनां वधूं परिष्वजते । मामनुव्रतेत्यनेन ॥ २७ ॥

**अथास्यै मुखेन मुखमीप्सते मधु हे मध्विदं मधु जिह्वा मे मधुवादिनी ॥ मुखे मे सारघं मधु दत्सु संवननं कृतम् । चाक्रवाकः संवननं यन्न-दीभ्य उदाहृतम् । यद्युक्तो देवगन्धर्वस्तेन संव-निनौ स्वक इति ॥ २८ ॥**

अथास्या मुखेन मुखमीप्सत आप्तुमिच्छति पोषयतीत्यर्थः । मधु चाक्रवाक-मित्येताभ्याम् । अथशब्दः कर्मान्तरप्रतिषेधार्थः । क्षतयोनिर्हि अत्यन्तस्वीकृता भवति । अक्षतयोनिः पत्युर्मरणोत्तरकालं पुनः संस्कृत्य परिणेतव्येति स्मरणात् । समाप्तं चतु-र्थीकर्म ॥ २८ ॥

गर्भाधानमिदानीमुच्यते

**त्रिरात्रं मलवद्वासा ब्राह्मणव्याख्यातानि व्रतानि चरति ॥ २९ ॥**

सर्वा स्त्री रजस्वला मलवद्वासास्तिस्रो रात्रीस्तस्मान्मलवद्वाससा न संवदेतेति प्रकृत्य ब्राह्मणोक्तानि व्रतानि चरति । सिद्धानुवाद एष उत्तरविधिवस्सार्थः । दर्शपूर्णमासप्रक-रणमतिक्रम्य सर्वार्थता चैषां व्रतानां व्याख्या निर्णीता प्रागवरोधान्मलवद्वाससेत्यत्र॥२९॥

**चतुर्थ्यां स्नातां प्रयतवस्त्रामलंकृतां ब्राह्मणसं-भाषामाचम्योपह्वयते ॥ (ख०२४)॥३०॥ विष्णु-र्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ॥ आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते । गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति । गर्भं ते अश्विनावुभावाधत्तां पुष्करस्रजौ । हिरण्ययी**

अरणीयं निर्मन्थतो अश्विना । तं ते गर्भꣳ हवामहे दशमास्याय सूतवै । यथाऽग्निगर्भा पृथिवी द्यौर्यथेन्द्रेण गर्भिणी । वायुर्यथा दिशां गर्भ एवं गर्भं दधामि ते । यस्य योनिं प्रति रेतो गृहाण पुमान्पुत्रो जायतां गर्भो अन्तः । तं माता दशमासो विभर्तु स जायतां वीरतमः स्वानाम् । आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान्बाण इवेषुधिम् । आवीरो अत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः । करोमि ते प्राजापत्यमा गर्भो योनिमेतु ते । अनूनः पूर्णो जायतामनन्धोऽश्लोणोऽपिशाचधीरः । यानि प्रभूणि वीर्याण्यृषभा जनयन्तु नः । तैस्त्वं गर्भिणी भव स जायतां वीरतमः स्वानाम् । यो वशायां गर्भो यश्च वेहतीन्द्रस्तं निदधे वनस्पतौ । तेन त्वं गर्भिणी भव सा प्रसूर्धेनुगा भव । सं नाम्नश्चाक्रवाकमिति च ॥ ३१ ॥

ततो निष्क्रान्ते त्रिरात्रे स्नातां प्रयतवस्त्रां शुद्धवस्त्रामलंकृतां माल्यानुलेपनभूषणैः । ब्राह्मणसंभाषां विशिष्टब्राह्मणेन प्रथमं संभाषणं कृतवतीम् । भर्ता प्रयतोऽपि कर्मार्थं पुनराचम्य चतुर्थ्यां रात्र्यां मैथुनार्थं समीपमाह्वयते । विष्णुर्योनिमित्येताभिर्नवभिः । सं नाम्नश्चाक्रवाकमित्येताभ्यां च ॥ ३० ॥ ३१ ॥

भूः प्रजापतिनाऽत्यृषभेण स्कन्दयामि वीरं धत्स्वासौ । भुवः प्रजापतिनाऽत्यृषभेण स्कन्दयामि वीरं धत्स्वासौ । सुवः प्रजापतिनाऽत्यृषभेण स्कन्दयामि वीरं धत्स्वासाविति वीरꣳ हैव जनयाति ॥ ३२ ॥

भूः प्रजापतिनेत्येतैस्त्रिभिरुपगच्छेद्रेतोऽवस्कन्दयेत् । वीरꣳ हैव जनयतीत्येवं विधिः । मारयितारं क्षिप्तारममित्राणामाभिमुख्येन वाऽमित्राणां हन्तारं विक्रान्तं वा पुत्रं जनयति । अर्थवाद एव । अस्मादेव वाक्यशेषादुपगमनार्थता मन्त्राणाम् । केचिच्चतुर्थ्यामित्यादि धेनुगा भवेत्येतदन्तं पूर्ववाक्यमिति तत्र तथैव मन्त्रा आह्वानार्थाः । यदि मर्त्येपि जनयतीत्येतदन्तमुत्तरम् । अस्यायमर्थः । सं नाम्न इत्यादिचाक्रवाक इत्येतदन्तं च मन्त्रपदमनुषज्य स्वयं यथा चतुर्थ्यां तथा स्वेन स्वेन कर्मणैव स्यात् । यथाऽऽप-

स्तम्बीयानां यद्देवा देव हेडनं त्वमग्ने अयासीति पूत इत्याद्यन्तयोर्मन्त्रयोर्ग्रहणेन तन्मध्यपतितानामपि मन्त्राणां ग्रहणं तद्वद्भूरित्यन्ते च त्रयो मन्त्रा लिङ्गाद्वीर९ हैव जनयतीति वाक्यशेषाच्च रेतःस्कन्दनार्थाः । प्रतिमन्त्रं स्कन्दयितव्यम् । तत्रासाविति भार्यायाः संबुद्ध्या नाम ग्राह्यम् । अपरे त्वाहुः संनाम्नश्चाक्रवाकमित्येतावेव मन्त्रौ स्वेन स्वेन कर्मणा भवतोऽन्यदनन्तरेण व्याख्यानेन तुल्यम् । अन्ये त्वाह्वानपक्षे संनाम्नश्चाक्रमित्याभ्यां सह वचनमिच्छन्ति । अत्र स्त्रीरित्यङ्गुलीरिति वचनात्स्त्रीजननार्थमुपगमे लिङ्गवाक्यशेषविरोधान्मन्त्रा न इत्येके । अन्येतु जातिनिर्देशाल्लिङ्गस्याविवक्षितत्वाद्दुहितृपुत्रादिपुंजननस्य विद्यमानत्वाल्लिङ्गार्थवादाविरोधान्न मन्त्राभाव इति ब्रुवन्ति । अत्र निवीतं मनुष्याणामित्यनुवाददर्शनाच्छास्त्रान्तरदर्शनाच्च निवीतिना भवितव्यम् ॥ ३२ ॥

**सर्वाण्युपगमनानि मन्त्रवन्ति भवन्तीत्यात्रेयः ॥ ३३ ॥**

सर्वाणीति । ऋतोरन्यत्रापि काममाविजनितोः संभवामेति श्रुतेरुपलब्धानि । अन्यथा गच्छन्नपि मन्त्रवन्ति भवन्तीत्यात्रेयाचार्यो मन्यते । कुतः । उपगमनार्थत्वान्मन्त्राणाम् । प्रधानावृत्तौ मन्त्रावृत्तिरिति । व्याख्यार्थवादश्च वीर९ हैव जनयतीत्येतदिति ॥ ३३ ॥

**यत्राऽऽदौ यत्रर्ताविति बादरायणः ॥ ( ख० २५ ) ॥ ३४ ॥**

बादरायणः पुनराचार्यो यत्राऽऽदौ चतुर्थ्यामुपगमनं यत्रर्तौ चतुर्थ्यादिषु रात्रिषूपगमनं तदेव मन्त्रवदिति मन्यते । कुतः । स्त्रीसंस्कारार्थत्वात् प्रथमोपगमनस्य । यावज्जीवं विभवाद्गर्भाधानार्थत्वाच्चर्तौ गमनस्य । तयोश्च वाचनिकत्वादन्यत्र लिङ्गविरोधादवाचनिकत्वाच्च तयोर्मन्त्राणामिति ॥ ३४ ॥

**पाणिग्रहणादिरग्निरतमौपासनमित्याचक्षते । तस्मिन्गृह्याणि कर्माणि क्रियन्ते । तस्यौपासनेनाऽऽहिताग्नित्वम् । यथा पार्वणेन चरुणा दर्शपूर्णमासयाजित्वं चेति । द्वादशाहं विच्छिन्नः पुनराधेयः । प्रतिसंख्याय वा सर्वान्होमाञ्जुहुयात् । परिश्रित उद्धतेऽवोक्षिते सिकतोपोप्त उदुम्बरशाखाभिः प्लक्षशाखाभिर्वा प्रच्छाद्य । यथालाभं तूष्णीं९ संभारान्संभृत्य । याज्ञिकात्काष्ठादग्निं मथित्वा लौकिकं वाऽऽहृत्य सते कृत्वा प्रज्वा-**

लयित्वाऽभ्यादधाति भूर्भुवः सुवरों प्रतिष्ठेति । अथैनमग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा द्वे मिन्दाहुती जुहोति यन्म आत्मनो मिन्दाभूत्पुनरग्निश्चक्षुरदादिति । तिस्रस्तन्तुमतीर्जुहोति तन्तुं तन्वन्नुद्बुध्यस्वाग्ने त्रयस्त्रिꣳशत्तन्तव इति । चतस्रोऽभ्यावर्तिनीर्जुहोत्यग्नेऽभ्यावर्तिन्नग्ने अङ्गिरः पुनरूर्जा सह रय्येति । एकैकशो व्याहृतीः समस्ताश्च हुत्वा । अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तीश्च सत्यमित्त्वमया असि । अयसा मनसा धृतोऽयसा हव्यमूहिषे या नो धेहि भेषजꣳ स्वाहेत्येताम् । मनस्वतीं प्राजापत्याꣳ सप्तवतीं च हुत्वा दशहोतारं मनसाऽनुद्रुत्य सग्रहꣳ हुत्वा इमं मे वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने त्वमग्ने अयासि प्रजापते यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचमित्येके जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति यथापुरस्ताद्ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहꣳ स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वा प्रसिद्धमाग्नेयेन स्थालीपाकेन यजते। अत्र गुरवे वरं ददाति वाससी धेनुमनड्वाहं वा। यदि प्रयायाद्व्याख्यातो होमकल्प आत्मन्नरण्योर्वा समारोपणꣳ समिधि वा समारोपयेदरणीकल्पेन खादिरः पालाश औदुम्बर आश्वत्थश्चात्रैकतरस्मिन् । यत्रावस्येत्तस्मिञ्छ्रोत्रियागारादग्निमाहृत्याऽऽजुह्वान उद्बुध्यस्वेति द्वाभ्यां यस्याꣳ समारूढस्तामादधाति । व्याख्यातो होमकल्पः । यदि पार्वणो विच्छिद्येत तस्मिन्पाथिकृतेन याजयेत् । यदि द्वौ वैश्वानरपाथिकृतौ । यदि बहून्पुनराधेयः । यदि नाशे विनाशे वाऽन्यैरग्निभिरग्नौ सꣳसृष्टे वा पुनराधेयः ॥ ( ख० २६ ) ॥ ३९ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्र एकोनविंशप्रश्ने सप्तमः पटलः ।

एतावतोपनयनादिगर्भाधानान्तं कर्मजातं प्रतिपादितम् । तत्र विवाहाग्नेर्नित्यो धार्य इति नित्यं धारणमनुगतो मन्थ्य इत्यादिना विच्छेदप्रायश्चित्तं च प्रासङ्गिकं सायंप्रातरित्यादिना होमविधिश्चोक्तः । तस्यैवेदानीं विशेषान्वक्तुं स्वाभिमतमौपासनशब्दार्थं तावदाह—पाणिग्रहणादिरित्याचक्षत इति । प्रागपि विवाहादुपनयनाद्यग्निधारणमौपासनत्वं च तस्य केचिन्मन्यन्ते । तथा च बौधायनः—यस्मिन्नग्नावुपनयति तस्मिन्ब्रह्मचर्यं तस्मिन्व्रतचर्या तस्मिन्समावर्तनं तस्मिन्गृह्याणि कर्माणि क्रियन्ते तस्मिन्काम्यानि तस्मिन्प्रजासंस्कारा इत्येके स एष उपनयनप्रभृति व्याहृतिभिः समिद्भिर्हूयत आ समावर्तनात्समावर्तनप्रभृति आज्येन व्याहृतिभिर्हूयते आ पाणिग्रहणात्पाणिग्रहणप्रभृति व्रीहिभिर्यवैर्वा हस्तेनैते आहुती जुहोति अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति सायं सूर्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति प्रातरप्यग्निहोत्रहविषामन्यतमेन जुहुयादिति । उपनयनादिरग्निस्तमौपासनमित्याचक्षत इति च दारकाले दायाद्यकाले वेति । एष उपनयनाद्यग्निधारणपक्षः स्वानभिमत इति दर्शयति—पाणिग्रहणादिरग्निर्धार्यस्तमग्निं ततःप्रभृत्येवौपासनमित्याचक्षते शिष्टाः । सायंप्रातरुपास्यत इत्युपासनः । बाहुलकात्कर्मणि ल्युट् । उपासन एवौपासनः । प्रज्ञाद्यण् । अस्य चाधारणे प्रत्यवायः श्रूयते स्मृतिषु—

यो हि हात्वा विवाहाग्निं गृहस्थ इति मन्यते ।
अन्नं तस्य न भोक्तव्यं वृथापाको हि स स्मृतः ॥ इति ।

भारद्वाजपरिशिष्टे श्रुतिरपि—औपासने वा अग्नयो निविष्टा औपासनो यजमाने तस्मादौपासनान्न प्रमदितव्यमिति । याज्ञवल्क्योऽपि वैतानिकैस्तुल्यकक्षतामौपासनस्याऽऽह—

वैतानौपासनाः कार्याः क्रियास्तु श्रुतिचोदिताः । इति ।

तस्मिन्गृह्याणि कर्माणि क्रियन्त इति । तस्मिन्नौपासनाख्य विवाहाग्नौ गृहे भवानि गृह्याणि गृहशब्देन गृहस्थाश्रमो लक्ष्यते, तदाश्रमविहितानि कर्माणि अग्निसाध्यानि सायंप्रातर्होमप्रभृति सप्त पाकयज्ञाः सीमन्तपुंसवनादयः स्त्रीसंस्काराश्च नैमित्तिकाद्भुतप्रायश्चित्तानि च सर्वाणि गृहसंबन्धिकर्माणि कुर्यादिति विपरिणामेन विधिविभक्तिरुन्नेया ।

कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही । इति स्मृतेः ।

तस्यौपासनेनाऽऽहिताग्नित्वमिति । तस्येति नियतौपासनिकस्येत्यर्थः । औपासनाग्निधारणमात्रेणैवाऽऽहिताग्नित्वम् । नानाहिताग्निर्म्रियत इति निषेधोऽनाहिताग्निता स्तेयमित्युपपातकिता ।

यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपूरुषम् ।
स वै दुर्ब्राह्मणो नाम यश्चैव वृषलीपतिः ॥

इति स्मृतौ वेदिशब्दोपलक्षितत्रेताग्न्यभावप्रयुक्तदौर्ब्राह्मण्यता चानेन परीक्ष्यते । तथा च बौधायनः–औपासनो नित्यो धार्य इति न दुर्ब्राह्मणो भवतीति । भारद्वाजोऽपि–औपासने वा अग्नयो निविष्टा इति । तद्गृह्ये च होमदेवतया समानता। तथैव श्रुतेश्च–या एवाग्निहोत्रे देवतास्ता औपासने य एवाऽऽहिताग्नेर्धर्मः स एव धर्मो य एवाऽऽहिताग्नेर्लोकः स एवौपासनिकस्येति शाट्यायनिब्राह्मणं भवतीति च ।

ननु च वैतानिकविधिः कमधिकरिष्यति । किंच नानाहिताग्निरित्यादावाहिताग्निःशब्द आहिता आधानसंस्कृता अग्नयो यस्येति व्युत्पत्त्याऽऽधानसंस्कृताग्निमत्परोऽनन्तरमाधानादाहिताग्निव्रताग्ने इतिसूत्राच्चेतिचेत् । नानेन वैतानिको निरस्यते नापि तुल्यविकल्पः । किंतु यो वैतानिकेष्वनधिकृतस्तस्यायमनुकल्पः । तथा चाधिकारी श्रूयते–य एवंविद्वानग्निमाधत्ते य एवंविद्वानग्निहोत्रं जुहोतीत्यादि । यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण यजति याजयति वा स्थाणुमृच्छति गर्तं वा पातयेत्प्र वा मीयेत पापीयान्भवति तस्मादेतानि मन्त्रे विद्यादिति । स्वयमातृण्णाब्राह्मणेऽपि ईश्वरो वा एष आर्तिमार्तोर्योऽविद्वानिष्टकामुपदधातीति । ईदृशविद्वत्तायाः प्रायेण दौर्लभ्यात् । नहि वेदार्थज्ञानमन्तरा तत्प्रतिपाद्यदेवताकर्मप्राशस्त्यादिज्ञानं संभवति । नहि कारयितॄणां विद्वत्त्वे नित्ये कर्मणि तत्कर्मोपयुक्तवेदैकदेशाध्ययनमलमिति वाच्यम् । यद्वाऽनुष्ठेयमखमात्रविदिति त्रिकाण्डमण्डनवचनेन हि एतदवगतम् । तत्राप्यनुष्ठेयतत्तत्कर्मप्रतिपादकवेदभागस्यार्थज्ञानमन्तरा न भवतीति तदपि निरस्तम् । याजयितॄणां तु अकरणे प्रत्यवायाभावात्तादृशविद्वत्ताभावे प्रवृत्त्यप्रसक्तिः । तमसो वा एष तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयते यश्चाविद्वानित्याचार्यवचनाच्च । उपनयनमुपलक्षणं याजमानस्यापि गुरुत्वाविशेषात् । नाननूचानमृत्विजं वृणीतेति च । अनूचानः साङ्गवेदाध्यायी । स्मृतिरपि–

ऋत्विगात्मा धनं जाया शुद्धं यस्य चतुष्टयम् ।
तस्याग्निहोत्रं स्वर्गाय नरकायेतरत्स्मृतमिति ॥

नहि व्रीह्याद्यभावे नीवारादिप्रतिनिधिवदविद्वदृत्विजामविदुषो यष्टुश्च प्रतिनिधिरस्ति किंच कर्मणां मन्त्रैरेव स्मर्तव्यत्वनियमात्तदभावे सर्वाणि कर्माणि विगुणानि भवेयुः । प्रतिपाद्यज्ञानाभाव ऊहोऽप्यदृष्टार्थ एव स्यादित्यादिदोषानन्त्यं न्यायविदां स्पष्टमेव । किंच–अग्निहोत्रं गवालम्भमिति कलौ निषिद्धस्याग्निहोत्रस्य ।

यावद्वर्णविभागोऽस्ति यावद्वेदः प्रवर्तते ।
संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत्कुर्यात्कलौ युगे ॥

इति प्रतिप्रसववाक्ये वर्णविभागवेदप्रवृत्त्योरवधित्वेनोक्त्या तदपि कियत्कालमित्याकाङ्क्षायां पराशरः—

चत्वार्यब्दसहस्राणि चत्वार्यब्दशतानि च ।
कलेर्यदा गमिष्यन्ति तदा त्रेतापरिग्रहः ॥
संन्यासश्च न कर्तव्यो ब्राह्मणेन विजानता ।

इति कालस्य परिमितत्वादिदानीमनुष्ठानं चिन्त्यमूलम् । एतेन त्रेतापरिग्रह इति सर्वाधानपरमित्यपि निरस्तम् । अदृष्टार्थत्वप्रसक्तेर्मूलान्तरकल्पनागौरवात्त्रेताशब्दस्यौपासनाभावकल्पकतायां मानाभावाच्च । गार्हपत्यादीनुपक्रम्याग्नित्रयमिदं त्रेतेति हि कोशः । तस्मादीदृशे काल उपपातकित्वदौर्ब्राह्मण्यादिदोषयुक्ता मा भूवन्निति परमकारुणिको भगवान्नियतौपासनिकोऽप्याहिताग्निरित्याह । एतदपि भरद्वाजोदाहृतशाट्यायनश्रुतिमूलकमित्यवोचाम । पार्वणेन चरुणा दर्शपूर्णमासयाजित्वं चेति अर्धमासे देवा इज्यन्ते मासि पितृभ्यः क्रियते । तथा—एते वै संवत्सरस्य चक्षुषी यद्दर्शपूर्णमासौ य एवं विद्वान्दर्शपूर्णमासौ यजते ताभ्यामेव सुवर्गं लोकमनुपश्यतीति स्वर्गफलकत्वम् । तथा—प्रजापतिर्यज्ञानसृजताग्निहोत्रं चाग्निष्टोमं च पौर्णमासी चोक्थ्यं चामावास्यां चातिरात्रं चेति श्रुतौ यज्ञानिति सामान्येनोपक्रम्य हविर्यज्ञत्रयसोमयागत्रयाभ्यां द्वंद्वत्रयमभिधाय हविर्यज्ञेष्वेव विदुषः सोमत्रयफलश्रवणात्सप्तस्वपि हविर्यज्ञेषु सत्सु त्रयाणामेवातिमुख्यत्वं प्रतीयत इति तदनुष्ठानाभावे कथमनाहिताग्नेः स्वर्गप्राप्तिरिति शङ्कापनोदाय पार्वणस्थालीपाकाभ्यामेव तदनुष्ठानसिद्धिरित्यनेन सूत्रेण प्रतिपादितम् । पर्वशब्देन दर्शपूर्णमासस्तत्र भवः पार्वणः । संधिवेलादित्वादणिदमर्थे वा । स्थाल्यां पच्यत इति स्थालीपाकश्चरुः । तेन साध्यं कर्म लक्ष्यते । पर्वण्यनुष्ठेयेन चरुहविष्केण दर्शपूर्णमासस्थालीपाकाख्येन कर्मणा दर्शपूर्णमासयाजिन आहिताग्नेर्यत्फलं तदवाप्यत इति । पिण्डपितृयज्ञोऽप्यौपासनिकस्याऽऽचार्येण विहित एव । इतिशब्देनैवंप्रकारमन्यदप्येकाग्निसाध्यं कर्तव्यमिति । तेन शरद्वसन्तयोर्व्रीहियवाग्रयणे यद्यपि श्यामाकाग्रयणमपि ईप्स्यते तथाऽपि नाऽऽचरन्ति शिष्टाः । व्रीहियवयोः प्राधान्यात्तदनुष्ठानेनैव सिद्धिरिति तदाशयः । तथा च बह्वृचगृह्य आग्रयणे श्यामाकदेवता नाऽऽम्नाता । आपस्तम्बीयेऽपि—आग्रयणदेवताभ्यः स्विष्टकृच्चतुर्थीभ्य इति स्विष्टकृच्चतुर्थीत्वं वदता सोमो नास्तीति सूचितम् । भारद्वाजेऽपि—नवे सस्यजाते पक्त्वाऽऽग्रयणदेवताभ्यः स्विष्टकृच्चतुर्थीभ्यो जुहुयादिन्द्राग्निभ्याꣳ स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याꣳ स्वाहाऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति पुरस्तात्स्विष्टकृत उपहोमाञ्जुहोति शतायुधाय शतवीर्यायेति पञ्च ततो ब्राह्मणान्भोजयेदिति । बौधायनोऽपि—अथ व्रीहिभ्यो यवेभ्यश्चेति नवानामिति स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्याऽऽघारावाघार्याऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽग्रयणदेवताभ्य इन्द्राग्निभ्यां विश्वेभ्यो देवेभ्यो द्यावापृथिवीभ्यां स्विष्टकृच्चतुर्थीभ्यो जुहुयात्कामं पुरस्तात्स्विष्टकृतोऽज्यानीरुपजुहुयात्प्रसिद्धौ प्राशनमन्त्रौ ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा प्राशनमेव पु(यू)ष्णामन्येषां च नवानां

ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा प्रयोग इति । यवाग्रयणमपि कृताकृतम् । अपिवाऽक्रिया यवेष्वित्याश्वलायनोक्तेः ।

अथ विच्छिन्नाग्नेः पुनः संधानाय पुनराधेयाख्यं प्रायश्चित्तं वक्तुं कालपरिमाणं तावदाह—द्वादशाहं विच्छिन्नः पुनराधेय इति । अहःशब्दोऽत्राहोरात्रपरः ।

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।

इतिवत् । द्वादशाहोरात्रपर्यन्तमग्निविच्छेदे पुनराधेयेन कर्मणा पुनरग्निरुत्पाद्यः । नेदं पुनराधानं केवलाग्न्यभावनिमित्तकम् । अपितु तावत्कालं होमाभावप्रयुक्तमग्नेर्लौकिकत्वं प्राप्तं तदर्थमिदम् । ननु संततप्रवृत्तस्य कंचित्कालं मध्येऽभावो हि विच्छेदः । यस्याग्निहोत्रं विच्छिद्येत यदि पार्वणो विच्छिद्येत विच्छिन्नो वा एतस्य सोमपीथः, ।

यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपूरुषम् ।

इत्यादौ तथा क्लृप्तत्वात् । एवं प्रकृतेऽपि संततधार्यस्याग्नेः कंचित्कालं मध्येऽसत्त्वमेव विच्छेदः । अत एव द्वादशाहं विच्छिन्न इति सामानाधिकरण्यमुपपद्यत इति होमाभावप्रयुक्तविच्छेदकल्पनं कुत इतिचेत् । उत्तरसूत्रे होमसमासस्य वैकल्पिकस्य विधानात् । कतिथमग्निविच्छेदप्रायश्चित्तमुपक्रम्य तत्प्रकारं च परिश्रित इत्यादिना विधास्यन्मध्येऽप्रकृतं होमसमासं कथं ब्रूयादिति श्रद्दधीमहि । तस्मादुक्त एवार्थः । अत एव प्रत्यक्षाग्नौ सायंप्रातर्होमयोः क्रियमाणयोरपि बहुपार्वणविच्छेदे लौकिकोऽग्निरिति पुनराधेयं वक्ष्यति यदि बहुविच्छिन्नः पुनराधेय इति ।

प्रतिसंख्याय वा सर्वान्होमाञ्जुहुयादिति । कदाचिद्दैवान्मानुषाद्वा कंचित्कालं होमाभावशङ्कायामौपवसथादर्वागापदानुगुण्येन सायंप्रातर्होमाः समसनीयाः । कालैक्याद्दैवतैक्याच्च प्रतिसंख्यातहोमद्रव्याणां सह प्रक्षेपः । एकधा वपा जुहोति एकदेवत्या हि एत इति दर्शनात् । नतु द्रव्यमात्रवृद्धिरेको होम इति भ्रमितव्यम् । होमानां प्रतिसंख्यानविरोधात् । अङ्गानां तु कालैक्यात्सकृदनुष्ठानम् । औपवसथीयेऽहनि तु न समासो भारद्वाजीये निषेधदर्शनात् । उत्तराहुतेः स्विष्टकृत्स्थानीयत्वेनाङ्गत्वान्न समास इति भ्रमं व्युदसितुं सर्वानिति । अयं भावः—अग्निहोत्रं जुहुयादिति वाक्येनैकत्वविशिष्टं निर्द्रव्यदेवतं कर्मोत्पन्नं तस्य यावज्जीववाक्यप्राप्तजीवनावधिकसंततानुष्ठानस्य सायंप्रातर्वाक्येन कालयोरावृत्तिर्बोधिता । तत्र च दध्यादिवाक्यैर्द्रव्यं मन्त्रवर्णेन सायं प्रातः क्रमेणाग्निसूर्यदेवताद्वयं यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति यत्सूर्याय प्रजापतये च प्रातरिति वाक्यद्वयेनाग्निसूर्यसमुच्चितप्रजापतिविधानं नैकतरस्य गौणत्वमपितु द्वयोस्तुल्यत्वमेवेति । अत एवाऽऽवृत्तिबोधकः सुच्प्रयुक्तो द्विर्जुहोतीति । होमानिति बहुवचनाच्च स्थालीपाकादौ समास इति ज्ञापयति । पुनराधेये कालो भारद्वाजगृह्ये—पौर्णमास्याममावास्यायां रोहिण्यां मृगशिरसि पुनर्वस्वोर्वा मध्यंदिन इति । अनूराधास्वपीत्यापस्तम्बः । आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे वा ।

परिश्रित उद्धृतेऽवोक्षिते सिकतोपोप्त उदुम्बरशाखाभिः प्लक्षशाखाभिर्वा प्रच्छाद्येति । परिश्रयणं सर्वत इषुमात्रे। तथा सति दृष्टार्थं भवति । अग्निमाप्रयत आसीदेदिषुमात्रादिति स्मृतेः । उद्धननं यज्ञियकाष्ठेन प्राचीनप्रवणमुदीचीनप्रवणं प्रागुदक्प्रवणं वा परिश्रितस्य देशस्य । अवोक्षणमद्भिरवागग्रेण हस्तेन । सिकताभिर्नद्यादितीरस्थमूक्ष्मशिलाभिः । उपोप्ते विकीर्णे । उद्धननादिषु तत्प्रकाशकमन्त्रानपि पठन्ति शिष्टाः । व्यृद्धं वा एतद्यज्ञस्य यदयजुष्केण क्रियत इति निन्दार्थवादस्तन्मूलम् । उदुम्बरः प्रसिद्धः । प्लक्षस्य तु जम्बूवत्पर्णानि वृक्षश्च हरिद्वर्णो दृश्यते । पिंपरी इति प्रसिद्धः । शाखा अग्रतो हस्तमात्राः प्रादेशमात्रा वा । प्रच्छादनमग्न्यायतनस्यैव दृष्टार्थत्वात् ।

यथालाभं तूष्णीं संभारान् संभृत्येति । पुनराधेय इति नामैक्यादाधानोक्ता एव संभाराः । ते च सिकतोषाखूत्करवल्मीकमृद्भ्रद वराहविहतशर्कराहिरण्यसुवर्णशकलं चेति पार्थिवाः । अश्वत्थोदुम्बरपलाशशमीविकङ्कताशनिहतवृक्षशल्कपुष्करपर्णानि चेति वानस्पत्याः । आदितः पञ्च पञ्च वा । अत्र पक्षे ताम्रशकलं सुवर्णस्थाने । यथालाभमित्यस्यायमर्थः—लाभमनतिक्रम्येति । तच्च सर्वसंभाराणां लाभे संभर्तव्यं न चेन्नेत्येतत्तात्पर्यकम् । यत्किंचित्संभारलाभे तावदेव संभर्तव्यमिति केचिद्व्याचक्षते । तदयुक्तम् । न संभृत्याः संभारा न यजुः कर्तव्यमित्यथो खलु संभृत्या एव संभाराः कर्तव्यं यजुरिति पक्षद्वयस्यैव श्रुतावाम्नानात्कृताकृताः संभारा यजूꣳषि चेति सूत्राच्च । क्लृप्तमूलकत्वसंभवे कल्प्यमूलकत्वमन्याय्यमिति न्यायात् । यदि संभाराꣳल्लब्धुं शक्तिरस्ति तर्हि संभर्तव्या न चेल्लभ्यन्ते न कर्मवैगुण्यमिति पर्यवसितोऽर्थः । तूष्णींवचनमुद्धननोक्तन्यायेन मन्त्रप्रसक्तौ तन्निवृत्त्यर्थम् । एतदपि पूर्वोक्तार्थे ज्ञापकं बोध्यम् । एतच्च यत्राग्निः स्थाप्यते तत्र भूमावेव न स्थण्डिले । अनाम्नानात् । आश्वलायनस्तु यत्र क्वच होष्यन्स्यादिषुमात्रावरं सर्वतः स्थण्डिलमुपलिप्येति स्थण्डिलमाह । कुण्डकरणं तु तान्त्रिकत्वादवैदिकम् । प्राचारस्तु अग्निसंरक्षणार्थं समन्तादावरणमात्राभिप्रायेण । न च भूमावग्निस्थापनं कर्मणि न कुत्रापि दृष्टमिति वाच्यम् । मध्यतोऽग्निराधीयतेऽन्ततो हि देवानामाधीयत इति श्रुत्या केवलभूमौ स्थापनस्य स्पष्टं प्रतीयमानत्वात् । आह च सूत्रकारः—दक्षिणाग्नेरग्निमाहृत्य मध्ये वेद्या उपसमादधातीति । तथा जघन्यः प्रतिप्रस्थाता दक्षिणवेद्यामिति । अभिपर्यग्निकृते देश उल्मुकं निदधाति स शामित्र इति च । किंचाऽऽधानेऽपि उद्धननादिसंस्कृते देश एव निधानमग्नेः प्रतीयते । आयतनपरिमाणं तु वक्तव्यम् । गार्हपत्यात्प्राग्द्वादशसु विक्रामेष्वग्निमादधीतेति अवधित्वेन निर्देशात् । तच्च परिमाणं धिष्ण्यनिवपनप्रकरण आग्नीध्रीयाद्यष्टानां मन्त्रैर्निवपनमुक्त्वाऽनुदिशतीतरानितरेषामपि धिष्ण्यत्वकथनात्तदेव परिमाणम् । तच्च शुल्बसूत्रे पिशीलमात्रा भवन्तीति धिष्ण्यानां विज्ञायत इति । पिशीलशब्दार्थो बहुविधः बाह्वोरन्तरमेकविंशत्यङ्गुलं चतुर्विंशत्यङ्गुलं द्वात्रिंशदङ्गुलं

षट्त्रिंशदङ्गुलं वेति प्रयोजनानुगुणमाश्रयणीयम् । प्रकृतेऽपि परिस्तरणाद्यर्थं परिमाणस्यापेक्षितत्वात्पिशीलमात्रमेव स्वीकर्तव्यम् ।

याज्ञिकात्काष्ठादग्निं मथित्वा लौकिकं वाऽऽहृत्य सते कृत्वा प्रज्वलयित्वाऽभ्यादधातीति । याज्ञिकं काष्ठमाश्वत्थादि । अयं चारणीमन्थनपक्षे । लौकिकोऽपि श्रोत्रियागारस्थः । अनुगतो मन्थ्यः श्रोत्रियागाराद्वाऽऽहार्य इति प्रागुक्तत्वात् । तस्य या प्रकृतिस्तत आहरणमित्येव बौधायनः । वैवाहिकाग्न्यनुसारेण व्यवस्थितविकल्पः । सतं मृन्मयपात्रं तस्मिन्निधाय प्रज्वाल्य यथाऽऽयतने स्थापितो न नश्यति तथा प्रागेव दृढज्वालितं कृत्वा संभाराणामाभिमुख्येनाऽऽदधाति स्थापयति । मन्त्रमाह भूर्भुवः सुवरों प्रतिष्ठेति । स्थापनेऽयं मन्त्रः । व्याहृतिभिर्न्युप्योपसमाधायेति बौधायनः ।

अथैनमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वेति । एनं निहितमग्निमुपसमाधायोपसमिध्येत्यर्थः । शल्कैर्धमनेन च प्रज्वाल्येति यावत् । व्याहृतिपर्यन्तं सामान्यप्रधानान्तमाघारवत्तन्त्रेण कृत्वेत्यर्थः ।

द्वे मिन्दाहुती जुहोतीति । यन्म आत्म० पुनराग्निरिति द्वे । सकृद्गृहीतेनाऽऽज्येन होमः । मिन्दवानग्निर्देवता । अत्राऽऽद्या ऋगेव । मिन्दयाऽऽहवनीयमुपतिष्ठत इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्संपाठाभावादनवसाना गायत्री छन्दः ।

तिस्रस्तन्तुमतीर्जुहोतीति । तन्तुं तन्वन्, उद्बुध्यस्वाग्ने, त्रयस्त्रिंशत्तन्तव इति । तन्तुमानग्निर्देवता ।

चतस्रोऽभ्यावर्तिनीर्जुहोति । अग्नेऽभ्यावर्तिन्, अग्ने अङ्गिरः पुनरूर्जा सह रय्येति । आद्यं यजुः । छत्रिन्यायेन स्त्रीत्वानिर्देशः । अग्निरभ्यावर्ती देवता ।

एकैकशो व्याहृतीः समस्ताश्च हुत्वेति । अग्निवायुसूर्यप्रजापतयो देवताः । अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तीश्च सत्यमित्त्वमया असि । अयसा मनसा धृतोऽयसा हव्यमूहिषे या नो धेहि भेषजꣳ स्वाहेत्येतां हुत्वेति शेषः । अया अग्निर्देवता । अयसेऽग्नय इति प्रयोगः ।

मनस्वतीमिति । मनोज्योतिः०या इष्टा इति मनस्वती । मनोज्योतिर्देवता ।

प्राजापत्यामिति । प्रजापते न त्वदित्येताम् । प्रजापतिर्देवता ॥

सप्तवतीं च हुत्वेति । सप्त ते अग्न इति सप्तवती । अग्निः सप्तवान्देवता ।

दशहोतारं मनसाऽनुद्रुत्य सग्रहं हुत्वेति । चित्तिः स्रुगिति दशहोता । सामाध्वर्युरित्यन्तं मनसा प्रयोगः । वाचस्पत इत्यादिर्ग्रहभाग उपांशु । वाचस्पतिर्ब्रह्मा देवता ।

इमं मे० वाचयित्वेति । अङ्गहोमादिपुण्याहवाचनान्तमाघारवत्तन्त्रेण समाप्येत्यर्थः ।

प्रसिद्धमाग्नेयेन स्थालीपाकेन यजत इति । विवाहहोमाङ्गभूतेन स्थालीपाकेन व्याख्यातः । अग्निर्देवता यस्य चरोः स आग्नेयः स्थालीपाको व्याख्यातः ।

अग्निदेवताकेन स्थाल्यां पक्केन चरुणा प्रसिद्धेन प्रसिद्धेतिकर्तव्यताकेन यजते । प्रसिद्धमिति क्रियाविशेषणं वा । पुनराधेयसंशब्दनात् । संभाराः प्राप्यन्त इत्युक्तं तेनैवायमपि स्थालीपाकस्तदनुकृतिरिति विज्ञायते । तत्रापि पुनराधेये केवल आग्नेयः पञ्चकपालो दृष्टः । भारद्वाजानां तु आधानानुकृतिविच्छिन्नसंधानं दृष्टं मन्त्रेण स्थापनं शमनहोमास्तूष्णीं होम आग्नेयपावमानानां स्थाने चरुरिति तस्माच्चतसृभ्यो देवताभ्यः प्रतिस्वं होम इति । बौधायनानां तु स्थालीपाक एव न दृष्टस्तन्मतेऽपूर्वमेवेदं कर्माग्निनाशनिमित्तमिति ।

अत्र गुरवे वरं ददाति वाससी धेनुमनड्वाहं वेति । अत्रास्मिन्पुनराधाननिमित्ते स्थालीपाके गुरवे दक्षिणत उपविष्टाय ब्रह्मणे वरं वरयितव्यं गोजातीयं गौर्वरोऽतिवरोऽन्य इति आपस्तम्बोक्तेः । यद्वा वरयितव्यं वस्तु ददाति । किं तदित्याह—वाससी धेनुमिति । वाससी इति द्विवचनाद्वासोद्वयम् । धेनुर्नवप्रसूतिका । अनड्वाञ्शकटवाहकः । प्रत्यक्षाभावे मूल्यं निष्कादि वा कल्प्यम् ।

अथ प्रसङ्गात्प्रवासविधिमाह—यदि प्रयायाद्व्याख्यातमात्मन्नरण्योर्वा समारोपणमिति । यदीतिवचनं प्रयाणस्य नैमित्तिकत्वं सूचयति । यदि निमित्तवशात् सभार्यः प्रयायात्तदाऽग्नेर्नयनस्याऽऽवश्यकत्वात्प्रत्यक्षं नेतुं विधानाभावाच्छ्रौतन्यायेनारण्योरात्मनि वा अयं ते योनिः, या ते अग्ने यज्ञियेत्येताभ्यां क्रमेण समारोपयते । तत्र प्राणानायम्य सगृहः प्रयास्यन्नौपासनाग्नेररणीसमारोपणं करिष्य इति संकल्प्याग्निं प्रज्वाल्योपर्यग्नावरणी धारयञ्जपति—अयं ते योनिरिति या ते अग्ने यज्ञिया० सक्षय एहीति । हस्तं प्रताप्याऽऽमुखायाऽऽहरत इति । व्याख्यातमिति । श्रौत इति शेषः । अत्राऽऽत्मसमारोपणे नियमविशेषान्बौधायन आह—आत्मनि समारूढेष्वग्निषु न खादेन्न पिबेन्नोपरि शय्यायां शयीत नाप्सु निमज्ज्यान्न मैथुनं चरेत् । कामं खादेत्कामं पिबेत्कामं शय्योपरि शयीत नैवाप्सु निमज्ज्यान्न मैथुनं व्रजेत् । प्रसिद्धं समारोपणमिति ।

समिधि वा समारोपयेदरणीकल्पेन खादिरः पालाश औदुम्बर आश्वत्थश्चात्रैकतरस्मिन्निति । खादिरादिष्वेषु वृक्षेष्वेकतरस्मिन्नन्यतमे समिधमादाय तस्यामरणीन्यायेनोपर्यग्नेर्धारयञ्जपेत् अयं त इति । न त्वेकदेशं दहेत् । अत्र समारोपात्पूर्वमेकदेशे दग्धानीन्धनानि सम्यक्प्रज्वाल्यैव समारोपयेत् । अन्यथा दोषश्रवणात् । यद्वक्ष्यमाणान्यसंप्रज्वाल्य प्रयायाद्यथा यज्ञवेशसं वा दहनं वा तादृगेव तदिति । तथा नेतव्यानि भाण्डादीनि बहिः स्थापयित्वैव समारोपयितव्यः । श्रौते दर्शनात् । यद्यपि श्रुतौ समारोपसमीपे वास्तोष्पतिहोमोऽपि श्रूयते तथाऽप्याचार्येण गार्हपत्ये जुहोतीत्युक्तेर्विहारसंयुक्तन्यायेनानाहिताग्नेर्न भवति । अरण्योः समारोपणे निर्मन्थ्यनिर्वर्त्यमानेऽग्नावुपावरोहेति मन्त्रं जपेत् । आत्मारोपणे तु श्रोत्रियागाराग्नावनेनैव मन्त्रेणाभिप्राणिति ।

समिदारोपे विशेषमाह—यत्रावस्येत्त० तामादधातीति । यस्मिन्देशे वासो निश्चितस्तस्मिञ्श्रोत्रियागाराहृतेऽग्नौ यत्र क्वचविधिना स्थाप्यते । आजुह्वानः सुप्र० यजमानश्च सीदत । उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति० त्वयि तन्तुमेतामित्येताभ्यामग्निसमारूढां समिधमादधाति ।

व्याख्यातो होमकल्प इति । एकाग्निकल्पे श्रौतधर्माणां प्रायो दर्शनात् । होमेऽपि अपउपस्पर्शननिमील्यवीक्षणादयोऽग्निहोत्रधर्माः स्युरित्याशङ्कमानं प्रत्याह—व्याख्यातो होमकल्प इति । औपासनहोमप्रकारस्तु स्थालीपाक प्रकरण एव नित्यमत ऊर्ध्वमित्यादिर्व्याख्यातो न ततोऽधिकः कश्चित्तत्र धर्मोऽस्तीत्यर्थः। एतदर्थमेव भारद्वाजगृह्ये प्राक्पठितोऽप्यौपासनविधिः पुनरेकाग्निकल्पे पठितः।

तस्मिन्विशेषधर्मा न सन्तीति बहुपार्वणविच्छेदस्य पुनराधेयनिमित्ततां वक्तुं प्रसङ्गादेकद्विविच्छेदे प्रायश्चित्तमाह—यदि पार्वणो० याजयेदिति । पार्वणो दार्शः पौर्णमासो वा स्थालीपाकः। स यदि दैवान्मानुषाद्वाऽपराधात्स्वकाले न कृतः स्वकालेऽकरणाद्विच्छिन्न इत्युच्यते। तस्मिन्सति पथिकृद्देवताकेन चरुणा यागं कुर्यात् । स्वार्थे णिच् । अग्निः पथिकृद्देवता । केवलगुणात्तु ताद्धितः । मरुत्वतीयागृहमेधीयादिवत् । श्रुतौ सगुणस्यैव निर्देशात् ।

यदि द्वौ वैश्वानरपाथिकृताविति । यदि प्रमादात्पार्वणद्वयं स्वकाले नानुष्ठितं तदा पाथिकृतेन वैश्वानरेण चरुणा यजेत । अत्रापि पूर्ववदग्निर्वैश्वानरो देवता। पाठक्रमोऽत्र देवतयोर्न विवक्षितः । श्रुतौ पथिकृतः पूर्वपाठात् । असति न्यायविरोधे पाठक्रमस्यैवानुष्ठापकत्वात् । ननु अमावास्यापौर्णमास्यन्यतरातिपत्तिनिमित्तस्येष्टिद्वयस्य श्रुतावाम्नानात्तुल्यार्थाश्च विकल्पेरन्निति न्यायेन विकल्पे सिद्धे यागद्वयातिपाते निमित्तावृत्त्या नैमित्तिकस्यान्यतरस्याऽऽवृत्तौ प्राप्तायां प्राजापत्यपुरोडाशवदेकेनैव प्रसङ्गाद्द्वयोरुपकारे सिद्धे द्वयोः समुच्चयेनानुष्ठानं कथमुपपद्यत इति चेत्सत्यम्। तथापि दर्शपूर्णमासयोर्विच्छेदेऽन्यतरनिमित्तयोर्द्वयोरप्यसमुच्चये संभवति किमित्येकस्यैवाऽऽवृत्तिः कल्पनीया । एवं सति समाम्नानमपि सार्थकम् । तत्र पूर्वनिमित्ते पूर्वं परनिमित्ते परमिति श्रुतिपाठक्रमेणैवानुष्ठानं न सूत्रपाठक्रमेण ।

यदि बहून्पुनराधेय इति । यदि बहूंस्त्र्यादीन्पार्वणान्विच्छिन्द्यात्तदा न प्रायश्चित्तमपि तु लौकिकोऽग्निर्भवतीति । पुनराधेयो विहितः ।

निमित्तान्तराण्याह—यदि नाशे विनाशे वा० पुनराधेय इति । नाशो नामाग्न्यदृष्टाश्रयस्याङ्गारसमुदायस्य समिधोऽरण्योर्वाऽपहारादिनाऽभावः । भस्मनि विद्यमाने तेजसोऽपगमेऽनुगतिप्रायश्चित्तं प्रागुक्तम् । विनाशस्तु प्रत्यक्षाग्नेः समारूढस्य वा चाण्डालश्ववायसपापपात्रादिस्पर्शे विण्मूत्राद्यमेध्यस्पर्शे वाऽग्निं विहाय दंपत्योः प्रवासे वा होमकाले सीमातिक्रमणे वा पत्न्याः समुद्रगानद्युत्तरणे वैवमादिशा-

स्त्रान्तरसिद्धनिमित्तेषु सत्या( त्स्वा )श्रयेऽदृष्टरूपाग्नेः शास्त्रदृष्टापगमो वेदितव्यः । अन्यैरग्निभिर्वैदिकैर्लौकिकैर्वौपासने संसृष्टे सत्येतेषु निमित्तेषु पुनराधेय एव कार्यः । न तु श्रौते दृष्टं संसर्गनिमित्तप्रायश्चित्तमिति । नन्वस्य सूत्रस्य सति प्रामाण्ये तदुक्तार्थोऽनुष्ठेयः । तत्रैव प्रमाणाभावात् । सर्वं गृह्यं व्याचक्षाणेन वृत्तिकृताऽस्पृष्टत्वात् । तस्मादाधुनिकोत्प्रेक्षितत्वाच्छास्त्रान्तरासिद्धस्य संग्रहणाद्वाऽग्राह्यमितिचेत् । नाऽऽचार्यप्रभृत्यविच्छिन्नपरम्परयाऽधीयमाने कश्चिदेवांशो मध्य आधुनिकेन कल्पित इति संभावयितुं शक्यते । नापि शास्त्रान्तरेऽस्य मूलमुपलभामहे । प्रत्युत बोधायनभारद्वाजीयगृह्ययोरयमेव पुनराधेय ईषदीषद्भिन्नः परिदृश्यते । तस्मादत्राप्यपेक्षित एवायमंशः । ईषद्विशेषोऽपि कल्पान्तरत्वादस्यालंकारायैव संपद्यते । किंच वृत्तिकृताऽस्पृष्टोऽयमंश इति यदुक्तं तदपि सम्यग्वृत्त्यनवलोकनप्रयुक्तमेव । तथाहि—जातकर्मप्रकरण उपनिर्हरन्ति औपासनमतिनिर्हरन्ति सूतिकाग्निमिति सूत्रेण होमस्य सूतिकाग्निविधानादेवौपासनाभावे सिद्धे तन्निषेधो ज्ञापयति सीमन्तादावौपासनप्राप्तिमिति फलमभिधाय तस्मिन्गृह्याणि क्रियन्त इत्यनेन सूत्रेण सिद्धत्वान्नैतत्फलमित्याशङ्क्यैवं तर्हि प्रजासंस्काराणामौपासनप्राप्तेर्ज्ञापकमित्याह । अतो ज्ञायते वृत्तिकृतोऽपि संमतोऽयं खण्डांशः । तद्व्याख्या तु शोधकाभावात्त्रुटितेति संभावनीयम् । तथैवोक्तं प्रयोगकारैरपि ।

सत्याषाढीयगृह्यस्य पुनराधेयकल्पगाम् ।
अकरोद्वृत्तिमात्रेयो यज्ञेशप्रेरितो मुदा * ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तावेकोनविंशप्रश्ने सप्तमः पटलः ।

====

* पाणिग्रहणादिरग्निरित्यादिसत्याषाढीयहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रखण्डव्याख्या नैव मातृदत्तेन प्रणीतेति श्रूयते । नैवोपलभ्यते संप्रत्युपलभ्यमानासु मातृदत्तप्रणीतवृत्तिपुस्तिकासु क्वापि । तथाऽप्येतद्व्याख्यावसाने शेषे व्याख्याकृताऽस्य खण्डस्य वृत्तिकृताऽस्पृष्टत्वादप्रामाण्यमाक्षिप्योपहरन्ति औपासनमिति तस्मिन्गृह्याणि क्रियन्त इत्यादिसूत्रेण ज्ञापकेन प्रामाण्यं प्रस्थाप्य अतो ज्ञायते वृत्तिकृतोऽपि संमतोऽयं खण्डांश इत्युक्त्वा तद्व्याख्या तु शोधकाभावात्त्रुटितेति संभावनीयं, तथैवोक्तं प्रयोगकारैरपीत्युक्तत्वादस्य खण्डस्य मातृदत्तप्रणीता वृत्तिरासीदिदानीं विच्छिन्नेति नोपलभ्यत इति निश्चीयते । अतोऽन्येयं व्याख्या समारब्धा । इयं च व्याख्या केन प्रणीतेति न स्पष्टं नाम प्रतीयते । तथाऽपि व्याख्यासमाप्तिश्लोके अकरोद्वृत्तिमात्रेयो यज्ञेशप्रेरितो मुदा, इत्युक्तत्वादत्रिकुलोत्पन्नेनानिर्दिष्टस्वाभिधेयेन केन चित्पण्डितेन श्रौतपारदृश्वना प्रणीतेति स्पष्टं प्रतीयते । सेयं व्याख्या वैदिकाग्रणीश्रौतस्मार्तयाज्ञिकनिष्णाताभ्यंकरोपाह्वाण्णंभट्टैर्महता प्रयासेन संपाद्य मुद्रणार्थं समर्पिता । इयं च खलु सुसमीचीना ललिताक्षराभिधेयाऽपि मनोहारिणीति मातृदत्तीयसरस्वतीप्रवाहमध्ये संनिवेशिता तथा तादात्म्यभावं गता यथा हंसबुद्धिरपि तं संभेदं संभेत्तुं न पारयेत् । एवं सत्यप्यन्तर्लीना सरस्वतीव संभेदशोभां न जनयतीति नेति ।

अथैकोनविंशप्रश्नेऽष्टमः पटलः ।

---

शालां कारयिष्यन् ॥ १ ॥

गृहस्थस्य गृहकरणमर्थप्राप्तं तदुच्यते । शालां शालासमुदायं गृहकर्मकरैः कारयिष्यन् ॥ १ ॥

उदगयन आपूर्यमाणपक्षे रोहिण्यां त्रिषु चोत्तरेष्वग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा जुहोतीमं मे वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने त्वमग्ने अयासि प्रजापते यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचमिति चात्रैके जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति यथापुरस्ताद्ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहꣳ स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वा ॥ २ ॥

उदगयने पूर्वपक्षे रोहिण्यां चोत्तरेषु त्रिषु फल्गुन्यषाढाप्रोष्ठपदेषु नक्षत्रेषु अग्न्युपसमाधानादिपुण्याहवाचनान्तं यथोक्तं कृत्वा ॥ २ ॥

अहतं वासः परिधायाप उपस्पृश्य ॥ ३ ॥

अहतं वासः परिधायाऽऽचम्याप उपस्पृश्येति सिद्धानुवाद उत्तरीयपरिधानख्यापनार्थः ॥ ३ ॥

देवस्य त्वेत्यभ्रिमादाय परिलिखितमिति त्रिः प्रदक्षिणं परिलिख्य यथार्थमवटान्खात्वाऽभ्यन्तरपाꣳसून्करोति ॥ ४ ॥

देवस्य त्वेति अभ्रिमादत्ते । अभ्रिलिङ्गेन मन्त्रेणाभ्रिमादाय परिलिखितमित्यनेन परिलिख्य प्रत्यवटं सकृन्मन्त्रमुक्त्वा त्रिः प्रदक्षिणं यावन्तोऽवटास्तान्परिलिख्य यथार्थं यथाप्रयोजनं यावद्भिरवटैः प्रयोजनं तावतः खात्वा यावत्प्रमाणैर्वा खातैः प्रयोजनं तावत्प्रमाणान्खात्वाऽभ्यन्तरपांसून्करोति । ये खातानां पांसवः शालायामभ्यन्तरे भवन्ति तेऽभ्यन्तरपांसवः । अभ्यन्तराः पांसवोऽभ्यन्तरपांसव इति समानाधिकरणं समासं मन्यन्ते । खातानामवटानां पांसून्शालायामभ्यन्तरे प्रकीर्णान्करोतीत्यर्थः । मन्त्रवतीनामेव स्थूणानां मन्त्रवन्तोऽवटाः । सर्वासामपीत्येके । उच्छ्रयणक्रमोऽवटानांक्रमः ॥ ४ ॥

इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठ घृतमुक्षमाणा । तां त्वा शाले सुवीराः सर्ववीरा अरि-

घ्रुवीरा अनुसंचरेमेति दक्षिणां द्वारस्थूणामु-
च्छ्रयति ॥ ५ ॥

इहैवेत्यनेन द्वारस्थूणयोर्दक्षिणामुच्छ्रयति । उच्छ्रित्यावटे स्थापयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

इहैव ध्रुवा प्रतितिष्ठ शाले अश्वावती गोमती
सूनृतावती । ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानोच्छ्रयस्व
महते सौभगायेत्युत्तराम् ॥ ६ ॥

इहैव ध्रुवेत्यनेनोत्तरामुच्छ्रयति । दक्षिणामुत्तरामिति लक्षणयोर्वचनात्प्राग्द्वारैव शाला ॥ ६ ॥

आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।
आ त्वा हिरण्मयः कुम्भ आदध्नः कलशैरयन्नि-
वेति संमिताविभिमृशति ॥ ७ ॥

आ त्वा कुमार इत्यनेन संमितौ सम्यग्मितौ समपत्यौ वा प्रत्येकं मन्त्रमुक्त्वा द्वारस्थूणावभिमृशति । स्थूणाशब्दः पुंलिङ्गोऽप्यस्ति । ऋतेन स्थूणाविति दर्शनादिति संमितावित्याह ॥ ७ ॥

एवमेव स्थूणाराजावुच्छ्रयति ॥ ८ ॥

एवमेव दक्षिणोत्तरौ स्थूणाराजौ दीर्घस्थूणावुच्छ्रयति स्वेन स्वेन मन्त्रेण ॥ ८ ॥

एवमभिमृशति ॥ ९ ॥

एवं संमितावभिमृशति आ त्वेत्यनेन ॥ ९ ॥

ऋतेन स्थूणावधिरोह वꣳशोध्र्वो विराजन्नपसेध
शत्रून् । अथास्मभ्यꣳ सहवीराꣳ रयिंदा इति
पृष्ठवꣳशमारोपयते ॥ १० ॥

ऋतेनेत्यनेन तयोः स्थूणाराजयोः पृष्ठवंशं मध्यमं वंशमारोपयति स्थापयति ॥ १० ॥

मा नः सपत्नः शरणः स्योना देवो देवेभि-
र्विमितास्यग्रे । तृणं वसानाः सुमना असि त्वꣳ
शं न एधि द्विपदे शं चतुष्पद इति च्छन्नामभि-
मृशति ॥ ११ ॥

शालायामुपरि सर्वतश्छन्नां शालां मा न इत्यनेनाभिमृशति । एवं सर्वशाला यावदर्थं कारयितव्या ॥ ११ ॥

ततोऽनूराधैर्वास्तुशमनं निशायामन्तरागारेऽग्नि-मुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा जुहोति ॥ ( ख० २७ ) ॥ १२ ॥

सर्वकृतकृत्यायां शालयां शालयोः शालासु वाऽनूराधैरनूराधासु नक्षत्रेषु अधिकरण एषा तृतीया वास्तुशमनं गृहशान्तिकर्म कर्तव्यम् । अन्तरागारे कृतस्य गृहस्य मध्येऽग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा ॥ १२ ॥

वास्तोष्पते वास्तोष्पत इति द्वे वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो । अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति नो जुषस्व स्वाहा । अपैतु मृत्युरमृतं न आगन्वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु । पर्णं वनस्पतेरिवाभि नः शीयता॰ रयिः सचतां नः शचीपतिः स्वाहा। परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् । वास्तोष्पते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजा॰ रीरिषो मोत वीरान्स्वाहा । इदमू नुः श्रेयोवसानमागन्म यद्गोजिद्धनजिदश्वजिद्यत् । पर्णं वनस्पतेरिवाभि नः शीयता॰ रयिः सचतां नः शचीपतिः स्वाहेमं मे वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने त्वमग्ने अयासि प्रजापते यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचमिति चात्रैके जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति यथा पुरस्ताद्ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याह॰ स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वा ॥ १३ ॥

वास्तोष्पते वास्तोष्पते शग्मया वास्तोष्पते प्रतरणोऽपैतु मृत्युः परं मृत्योरिदमू नुरिति षडधिकाः प्रधानाहुतीर्हुत्वा वारुण्यादिपरिषेकविसर्गान्तेऽन्नहोमादिपुण्याहवाचनान्तं करोति ॥ १३ ॥

एवं विहित॰ संवत्सरे संवत्सरे वास्तुशमनम् ॥ १४ ॥

एवं विहितं प्रविष्टस्यापि गृहस्य संवत्सरे संवत्सरे वास्तुशमनं कर्तव्यम् ॥ १४ ॥

ऋतावृतावित्येके ॥ ( ख० २८ ) ॥ १५ ॥

ऋतावृतौ कर्तव्यमित्येके ॥ १९ ॥

गृहा मा बिभीत मा वेपिढ्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वसुवनिः सुमेधा गृहानेमि मनसा मोद-
मानः । येषामभ्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः । उप-
हूता इह गाव उपहूता अजावयः । अथो अन्नस्य
कीलाल उपहूतो गृहेषु नः । उपहूता भूरिसखाः
सखायः स्वादुसंमुदः । अरिष्टाः सर्वपूरुषा गृहा
नः सन्तु सर्वदा ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्त इरावन्तो
हसामुदः । अनश्या अतृष्या गृहा माऽस्मद्भि-
भीतनेति गृहानभ्येति ॥ १६ ॥

ततः शमिते गृहे प्रवेशनमुच्यते । गृहा मेत्येतैः सकुटुम्बो गृहानभ्येति गृहसमीपं गच्छतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः
शंयोरिति प्रविशति । न तदहरागतः कलहं
करोति ॥ १७ ॥

उक्तार्थान्येतानि । अत्र न तदहरागतः कलहं करोतीति प्रविष्टदिवसे कलहं न कुर्यादित्यर्थः ॥ १७ ॥

गृहानहꣳ सुमनसः प्रपद्ये अवीरघ्नो वीरतमः सुशे-
वान् । इरां वहन्तः सुमनस्यमानास्तेष्वहꣳ सुमनाः
संविशामीति संविशति ॥ विश्वा उत त्वया वयं
धारा उदन्या इव । अतिगाहेमहि द्विष इति
भार्याꣳ समीक्षते समीक्षते ॥ ( ख० २९ ) ॥१८॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्र एकोनविंश-
प्रश्नेऽष्टमः पटलः प्रश्नश्च ।

अथ चैतद्वचनं ग्रामान्तरादागतस्यानाहिताग्नेरपीति प्रवेशविधानख्यापनार्थम् । तस्मान्नवगृहप्रवेशने ग्रामान्तरादागमने चेदं विधानं स्यात् । केचिन्नवगृहप्रवेशन एवेच्छन्ति । तन्न । गृहानीक्षेतापि अनाहिताग्निरिति बह्वृचानाम् । अनाहिताग्नेरपि ग्रामान्तरादागतस्यैव प्रवेशनस्य दर्शनात् । अपरे ग्रामान्तरादागमन एवेच्छन्ति तदपि न । इहापि बह्वृचानामप्युक्तं गृहप्रवेशपदमित्युक्तत्वात् । तस्मात् सूत्रमुभयार्थमिति नवगृहस्य क्रियायां पुराणस्य तस्मान्निष्क्रम्य पुनः क्रियायां चैतद्विधानम् । अथ तत्रैव वसित्वै-

कस्याः शालाया द्वयोर्वा क्रियायामेतेन विधानेन कारयित्वा तमेव देशं शमयित्वा । प्रवेशशमनमेव नवप्रवेश इत्येके । उक्तप्रयोजनोऽभ्यास इति ॥ १८ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तावेकोनविंशप्रश्नेऽष्टमः पटलः प्रश्नश्च ।

अथ विंशतितमप्रश्ने प्रथमः पटलः ।

**अथातः सीमन्तोन्नयनम् ॥ १ ॥**

अथशब्दोऽधिकारार्थः । सीमन्तोन्नयनमधिक्रियते । अतःशब्दो हेतौ । यतोऽनेन कर्मणा संस्कृतायामुत्पन्ना प्रजा ब्राह्मण्यं लभते न जातिमात्रेण तत इदमाधिक्रियते । अधिकारवचनं हेतुवचनं वा विशेषापादकसंस्कारेषु कार्यमिति ॥ १ ॥

**प्रथमगर्भायाश्चतुर्थे मास्यापूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रेऽग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा धाता ददातु नो रयिमिति चतस्रो धात्रीर्जुहोति ॥ २ ॥**

प्रथमो गर्भो यस्याः सा प्रथमगर्भा । तस्याश्चतुर्थे गर्भमासे । मासीति पदादीनां केषां चिदादेशानां भाषायां प्रयोगो दृष्ट इत्युक्तम् । पूर्वपक्षे पुण्ये नक्षत्रे स्त्रीसंस्कारत्वात् स्त्रिया अनुकूलेऽग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा धाता ददातु नो रयिमिति चतस्रो धात्रीर्जुहोति । धात्रीवचनमिदं वामास्य इत्याम्नातानां ग्रहणार्थम् । प्रथमगर्भ इति वाच्ये प्रथमगर्भाया इति वचनं स्त्रीप्राधान्यख्यापनार्थम् । तस्मादयं सर्वगर्भार्थ आधारसंस्कारः । ततः प्राक्चतुर्थान्मासाद्विहते गर्भे विस्मरणे वा [वि]क्रियायां वा प्रथमे गर्भे चतुर्थे मासि कर्तव्यम् । अथ किमर्थं क्रमविपर्यासेन प्राक्पुंसवनात् । सीमन्तोयनमुच्यते । तत्रैक आहुः । सकृत्कृतस्य सीमन्तोन्नयनस्य विवाहादर्वाक् पुंसवनादीनां प्रातिगर्भमावृत्तावतुल्यत्वादिति । अपरे प्रथमगर्भे पुंसवनस्य भावार्थमिति । तथा केचिच्छन्दोगा गृह्येषु व्याचक्षते । अन्ये पुंसवनस्य कालानित्यत्वख्यापनार्थम् । तथा ह्येकेषां व्यक्ते गर्भे इति वचनम् । अपरेषां किल षष्ठ इति ॥ २ ॥

**इमं मे वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने त्वमग्ने अयासि प्रजापते यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचमिति चात्रैके जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वाति यथापुरस्ताद्ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य**

पुण्याहꣳ स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वा स्नातां प्रयतवस्त्रामलंकृतां ब्राह्मणसंभाषामपरेणाग्निं मण्डलागारे प्राचीमुपवेश्य त्रेण्या शलल्या शलालुग्रप्समुपसंगृह्य पुरस्तात्प्रत्यङ्तिष्ठन्व्याहृतिभी राकामहं यास्ते राक इति द्वाभ्यामूर्ध्वꣳ सीमन्तमुन्नीयाभिमन्त्रयते ॥ सोम एव नो राजेत्याहुर्ब्राह्मणीः प्रजा निवृत्तचक्रा आसीनास्तीरे तुभ्यं गङ्गे विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव ॥ अतिगाहेमहि द्विष इति ॥ ( ख० १ ) ॥ ३ ॥

वारुणीप्रभृतिपरिषेकविसर्गान्ते ३ तेऽन्नहोमादिपुण्याहवाचनान्तं कृत्वाऽऽरम्भकाल एवादीनां ( व प्रविश्य ) पुनः कर्माङ्गस्नानादिब्राह्मणसंभाषणान्तं कृतवतीमपरेणाग्निं प्राङ्मुखीमुपवेश्य पूर्वमेव नैवं कारयित्वा पुण्याहवाचनान्ते त्रेण्या त्रिःश्वेतया शलल्या श्वावित्कण्टकेन सह शलालुग्रप्समुदुम्बरफलस्तबकमुपसंगृह्य न्यग्रोधफलस्तबकमित्येके। तस्य च युग्मफलत्वं बह्वृचानामुक्तम् । अथास्मै युग्मेन शलालुग्रप्सेनेति । पुरस्ताद्भार्यायाः प्रत्यङ्तिष्ठन् व्याहृतिभिर्याम्ते राक इति द्वाभ्यां सकृदेव तस्याः सीमन्तं शलालुग्रप्सया शलल्या प्रत्यगपवर्गमुन्नीय विभज्य केशान् । सोम एव नो० विश्वा उत० इत्येताभ्यां तामभिमन्त्रयते । समाप्तं सीमन्तोन्नयनम् ॥ ३ ॥

अथातः पुंसवनम् ॥ ४ ॥

अथ प्राचीनं काम्यस्यापि संस्कारत्वान्नित्यत्वार्थम् ॥ ४ ॥

तृतीये मास्यापूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रेऽग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा धाता ददातु नो रयिमिति चतस्रो धात्रीर्जुहोतीमं मे वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने त्वमग्ने अयासि प्रजापते यदस्य कर्मणोऽत्यरिरीचमिति चात्रैके जयाभ्यातानान् राष्ट्रभृत इत्युपजुहोति यथापुरस्ताद्ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहꣳ स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वा स्नातां प्रयतवस्त्रामलंकृतां ब्राह्मणसंभाषामपरेणाग्निं मण्डलागारे प्राचीमुपवेश्य वृषाऽसीति तस्या दक्षिणे पाणौ यवमादधाति ॥ ९ ॥

तृतीयमासे गर्भस्याऽऽपूर्यमाणपक्ष इत्याद्यपरेणाग्निमित्येतदन्तमुक्तार्थम् । परिमण्डलशाला मण्डलागारम् । पूर्ववदादावस्मिन्नेव काले प्राचीमुपवेश्य तस्या दक्षिणे पाणौ वृषाऽसीत्यनेन यवमादधाति ॥ ५ ॥

**आण्डौ स्थ इत्यभितो यव सर्षपौ धान्यमाषौ वा ॥ ६ ॥**

आण्डौ स्थ इत्यनेन सकृदुक्तेन तं यवमभितो दक्षिणतश्चोत्तरतश्च सर्षपौ धान्यमाषौ वाऽऽदधाति । धान्यग्रहणं पारिमाणमापनिवृत्त्यर्थम् ॥ ६ ॥

**श्वावृत्तादिति दधिद्रप्सं तदेनां प्राशयति ॥ ७ ॥**

श्वावृत्तादिति गावं दधिद्रप्समादधाति । तत्समुदितमेनां प्राशयति तूष्णीम् ॥ ७ ॥

**आचान्ताया उदरमभिमृशत्यभिष्ट्वाऽहं दशभिरभिमृशामि दशमास्याय सूतवा इति ॥ ८ ॥**

आचान्तायास्तस्या उदरमभिमृशति अभिष्ट्वेत्यनेनोभाभ्यां हस्ताभ्यां मन्त्रलिङ्गात्प्राशनानन्तरं मा भूदित्याचान्ताया इति वचनम् ॥ ८ ॥

**न्यग्रोधशृङ्गं वा घृतेन कोशकारीं वा प्रैयङ्गवेण संयावेन यूपशकलं वोत्तरपूर्वस्याग्निष्ठाश्रेरग्निं वा निर्मन्थ्यमूरुमूलोपधानायै दक्षिणे नासिकाछिद्रे प्रणयेत् ॥ ९ ॥**

न्यग्रोधत्वग्न्यग्रोधशाखाग्रं तद्वा पिष्ट्वा प्रपीड्य च रसं गृहीत्वा घृतेन मिश्रयित्वा, कोशकारीं कौशेयार्थस्य कोशस्य कर्ता कृमिस्तं वा पिष्ट्वा प्रैयङ्गवेण प्रियङ्गुविकारेण संयावेनौदनावस्रावितेन द्रव्येण मिश्रयित्वा यूपशकलं वोत्तरपूर्वस्याग्निष्ठाश्रेरग्रे गृहीतं चूर्णीकृतं वचनात्संस्पर्शः प्राग्वा समाप्तेर्ग्रहणम् । अग्निं निर्मन्थ्यं मथितं निर्वाप्य तूष्णीं कृतमग्निमेव वा यथा न दहेत्तथा तस्य धूममौष्ण्यं वा उन्मारं देहनि(दहाति)न्यग्रोधं वाऽवम्रियते समाप्यते । उदुम्बरमूरुमूलमित्यर्थः । तदुपधानं यस्याः शिरसः सोरुमूलोपधाना तस्या दक्षिणे नासिकाच्छिद्रे प्रणयेत्प्राशयेत्तूष्णीम् । समाप्तं पुंसवनम् ॥ ९ ॥

**यदि गर्भः स्रवेदार्द्रेणास्याः पाणिना त्रिरूर्ध्वं नाभेरुन्मार्ष्टि पराञ्चं त्वा नार्वाञ्चं त्वष्टा बध्नातु बन्धने । स ऋतूनुपवेश्य दशमासो अवीरहेति ॥ १० ॥**

यदि गर्भो गर्भिण्याः स्रवेदस्या ऊर्ध्वं नाभेर्यो देशस्तं स्वेन पाणिना पराञ्चमिति सकृन्मन्त्रमुक्त्वा त्रिरुन्मार्ष्टि ऊर्ध्वापवर्गं संमृशते । नैमित्तिकमिदं कर्म ॥ १० ॥

विजननकाले क्षिप्रंसुवनꣳ शिरस्तं उदकुम्भं निधाय पत्तस्तूर्यन्तीमथास्या उदरमभिमृशति । ( ख० २ ) ॥ यथैव वायुः पवते यथा समुद्र एजति । एवं ते गर्भ एजतु सह जरायुणाऽवस-र्पत्वित्यवाङ्वमार्ष्टि ॥ ११ ॥

विजननकाले प्रसवकाले क्षिप्रं प्रसूयते येन कर्मणा तत्क्षिप्रप्रसवनम् । तदेव प्रमाद-पाठो वा । तद्वक्ष्यते । शिरस्तः शिरःसमीप उदकुम्भं निधाय पत्तः पादसमीपेऽस्या-स्त्रियाः । उभयत्र तसिः । पद्भावश्छान्दसः । तूर्यन्तीमवकाम् । केचित्तामौषधविशेष-माहुः । तां निधायानन्तरमस्या उदरमभिमृशति । कथम् । यथैवेत्यनेन अवाङ्धोपवर्ग-मवमार्ष्टि । सुतरामायोनिं निमार्ष्टि । यद्येवमथास्या उदरं यथैवेत्यवाङ्वमार्ष्टि इत्येतावता सिध्यति । एवं तर्ह्यथास्या उदरमभिमृशति यथैवेत्यनेन । ततस्तूष्णीमवाङ्वमार्ष्टि । अथवा तूष्णीमभिमृशति मन्त्रेणावाङ्वमार्ष्टि । एवमवसर्पत्विति लिङ्गोपपत्तिः । अत्राथशब्दो नित्यत्वख्यापनार्थः । तेन काम्यमिदं न पुंसवनवन्नित्यम् । श्रमपरिहा-रार्थं शुभाशुभयोरपेक्षया कार्यमिति नित्यत्वख्यापनार्थमितीतरे ॥ ११ ॥

अथ जातकर्मोच्यते—

जातेऽश्मनि परशुं निधायोपरिष्टाद्धिरण्यं तेषू-त्तराधरेषूपरिष्टात्कुमारं प्राञ्चं धार्यमाणमनुमन्त्र-यते । अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव । वेदो वै पुत्रनामाऽसि जीव त्वꣳ शरदः शतम् । अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधि जायसे । आत्मा वै पुत्रनामाऽसि जीव त्वꣳ शरदः शत-मिति ॥ १२ ॥

जाते कुमारेऽश्मनि परशुं निधाय परशोरुपरि हिरण्यं तेषूत्तराधरेषूत्तरमधरं येषा-मिति बहुव्रीहिः । यथावस्थितं विपर्यस्य यथाऽधस्ताद्धिरण्यमुपरिष्टाच्चाश्मा तथा कृतेषूपरिष्टात्तेषां कुमारं हस्ताभ्यां धारयति अश्मा भव० अङ्गादङ्गादित्येता-भ्याम् ॥ १२ ॥

यद्यपरा न पतेदञ्जलिनोदकमादाय मूर्धानम-स्यावासिञ्चेत्तिलदेव पद्यस्व न मांसमसि नो दलमवपद्यस्व स्वपथादिति ॥ १३ ॥

यद्यपरा जरायुः प्रसूताया न पतेन्न निर्गच्छति अञ्जलिनोदकमादायास्या मूर्धानमवसिञ्चेत्प्रक्षालयेन्मूर्ध्नि सिञ्चेदित्यर्थः । तिलदेव इत्यनेन । नैमित्तिकमिदम् ॥ १३ ॥

**उपनिर्हरन्त्यौपासनमतिहरन्ति सूतिकाग्निम् ॥ १४ ॥**

उपनिर्हरन्ति समीपादस्य कर्मणो निर्गमयन्ति । औपासनमग्निं तमतिहायेमं सूतिकाग्निं हरन्ति । सूतिकाग्नेरभिहरणादन्यस्याग्नेरप्रसङ्गः । अथौपासनाग्नेर्निर्हरणवचनं पूर्वत्र पुंसवनसीमन्तोन्नयनयोरौपासन एव क्रियेति ज्ञापनार्थम् । ननु तस्मिन्गृह्याणि क्रियन्त इति वचनादेव तत्सिद्धम् । न सिध्यति । जायापतीकर्मार्थे तद्वचनमिति व्रतसमावर्तनादिष्वेव संस्कारेषु न प्राप्नोति हि तत्रापि प्राप्तिज्ञापनार्थमिदम् । उक्तं च बौधायनेन तस्मिन्प्रजासंस्कार इति । केचिदुपनिर्हरणवचनं सूतकदिवसेष्वौपासने कर्तव्यानां पार्वणसायंप्रातर्होमानां निवृत्त्यर्थं मन्यन्ते । तद्धर्मशास्त्रादेव सिध्यति । मरण इवोभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं भुज्यते । दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तत इति । वैतानिकनिवृत्त्यर्थं नियम इतिचेत्तदपि न । विप्रतिषेधे श्रुतिलक्षणं बलीय इत्येव सिद्धत्वात् । अपर आहुः । प्रयोजनेष्वौपासने कर्तव्यानां सूतिकाग्नौ संक्रमणार्थमिति । ततः पार्वणवैश्वदेवादिष्वतिप्रसङ्ग इतिचेन्नेत्युत्तरत्र वक्ष्यामः ॥ १४ ॥

**स एष उत्तपनीय एव ॥ १५ ॥**

स एव सूतिकाग्निरुत्तपनीय एव कपालसंतापाग्निरेव स्यादाम्बरीषमुत्तपनीयमित्येके । तथा त्वर्थवता शब्दस्य न स्यादेवकारकरणं केषांचिन्निर्मन्थ्यस्यौपासनस्य वा वचनान्नियमार्थम् ॥ १५ ॥

**नास्मिन्किंचन कर्म क्रियतेऽन्यत्रोद्धूपनात् ॥ १६ ॥**

अस्मिन्सूतिकाग्नौ न किंचित्कर्म क्रियतेऽन्यत्रोद्धूपनात् । प्रथमार्थेऽत्रेतराभ्योऽपि दृश्यन्त इति [ सप्तमी ] । समित्परिषेकनिवृत्त्यर्थमिदम् । परिस्तरणं कुर्वन्ति परिषेकं च तूष्णीं सर्वस्याभावो न्याय्यः । अन्यत्रोद्धूपनादित्यनर्थकम् । विधानसामर्थ्यान्निवृत्तेनाप्यनर्थकं रक्षामात्रार्थोऽयमग्निरिति कृत्वा लौकिकाग्नौ तस्य प्रसङ्गाद्ये त्वौपासने कार्याणामिहोपसंक्रमणार्थमुपनिर्हरणवचनं मन्यन्ते त आहुः । पार्वणवैश्वदेवसायंप्रातर्होमाणामिहोपसंक्रान्तानां प्रतिषेधवचनमिति । अन्यत्रोद्धूपनादिति वचनं तुल्यजातीयापेक्षद्रव्यस्य होमस्य स्थानेऽस्य प्रवृत्त्यर्थम् । तेनान्वहं सायंप्रातरुद्धूपनं सिद्धं भवति । तत्रास्ति(त्र स्तः) परिस्तरणपरिषेकौ मन्त्रवन्तौ च स्याताम् ॥ १६ ॥

**अथैनं कणैः सर्षपमिश्रैरुद्धूपयति शण्डो मर्क उपवीरः शाण्डीकेर उलूखलः । च्यवनो नश्यता-**

दितः स्वाहा । आलिखन्विलिखन्ननिमिषन्किं वदन्त उपश्रुतिः स्वाहा । अर्यम्णः कुम्भीशत्रुः पात्रपाणिर्निपुणिः स्वाहा । आन्त्रीमुखः सर्षपारुणो नश्यतादितः स्वाहा । केशिनी श्वलोमिनी बजाबोजोपकाशिनी । अपेत नश्यतादितः स्वाहा । कौबेरका विश्ववासो रक्षोराजेन प्रेषिताः । ग्रामान्सजातयो यन्तीप्सन्तः परिजाकृतान्स्वाहा । एतान्हतैतान्बध्नीतेत्ययं ब्रह्मणो दूतस्तानग्निः पर्यसरत् । तानिन्द्रस्तान्बृहस्पतिस्तानहं वेद ब्राह्मणः प्रमृशतः कूटदन्तान्विकेशाँल्लम्बस्तनान्स्वाहा । नक्तंचारिण उरस्पेशाच्छू(न्स्थू)लहस्तान् कपालपान्स्वाहा । पूर्व एषां पितेत्युच्चैः श्राव्यकर्णकः । माता जघन्या गच्छन्ति(न्ती) ग्रामे विधुरमिच्छन्ती स्वाहा । नक्तंचारिणी स्वसा संधिना प्रेक्ष्यते कुलम् । या स्वपत्सु जागर्ति तस्यै विजातायां मनः स्वाहा । तासां त्वं कृष्णवर्त्मने क्लोमानꣳ हृदयं यकृत् । अग्ने यक्षीणि निर्दह स्वाहेति प्रतिमन्त्रमङ्गारेष्वावपति ॥ १७ ॥

अथैनं कुमारं सर्षपमिश्रैः कणैरुद्धूपयन्नूक्रमणार्थं रक्षसां स उद्धूपयति । कथं शण्डो मर्क इत्येकादशभिः स्वाहाकारान्तैः । प्रतिमन्त्रमङ्गारेषु तान्सर्षपमिश्रान्कणानावपति । अथेति पूर्वस्यानित्यत्वात्तदभावे तदपूर्वाणां अर्थात्? सायंप्रातःक्रियापेक्षत्वादिहापि कुर्यात् । कथमेनमिति द्वितीया । उद्धूपनं पुरुषसंस्कार एव । तेन सायंप्रातरपि क्रियमाणं रक्षार्थमेव कुमारस्य । अङ्गारेष्विति वचनं ज्वालाकाष्ठवतां निवृत्त्यर्थम् । आवपतीति वचनं हस्तेन प्रक्षेपार्थम् । उद्धूपनार्थं यथैतत्स्वाहाकारवत्त्वाद्धोमकर्मैव । तेन परिस्तरणपरिषेकभावः सायंप्रातःपक्ष उक्तः । परिस्तरणादिप्रतिषेधपक्षे सकृदिहैवोद्धूपनम् । आपस्तम्बस्तु प्रत्यहं सकृदाह । केचित्परिस्तीर्य तूष्णीं परिषिच्य सायंप्रातः कुर्वन्तोऽपि दृश्यन्ते ॥ १७ ॥

ततः पाणी प्रक्षाल्य भूमिमालभते यत्ते सुशीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । तथाऽमृतत्वस्येशानो माऽहं पौत्रमघꣳ रुदम् । वेद ते भूमिहृदयं

दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । तथाऽमृतत्वस्येशानो माऽहं पौत्रमघꣳ रुदमिति ॥ १८ ॥

ततः पाणी प्रक्षाल्य यत्ते वेद त इत्येताभ्यां भूमिमालभते । तत इति वचनमुद्धूपनेन संबन्धार्थम् । तस्मादन्वहं सायंप्रातःक्रियायामप्येतदन्तं कार्यम् ॥ १८ ॥

अथातो मेधाजननं दर्भेण हिरण्यं प्रबध्य तदन्तर्धायोपरिष्टात्प्राञ्चं कुमारं धार्यमाणं घृतं प्राशयति भूर्ऋचस्त्वयि जुहोमि स्वाहा भुवो यजूꣳषि त्वयि जुहोमि स्वाहा सुवः सामानि त्वयि जुहोमि स्वाहा भूर्भुवः सुवरथर्वाङ्गिरसस्त्वयि जुहोमि स्वाहेति ॥ १९ ॥

इति च स्थापनोपस्थानाधानकुम्भनिधानेषु चाथशब्दः कालनियमार्थः । कालान्तरेषु शास्त्रान्तरे दर्शनात् । अतःशब्दो हेतौ । यतो नैवाप्रयोजनवन्ति ततोऽनन्तरं भूम्यालम्भनान्मेधाजननमुच्यते । दर्भेण हिरण्यमन्तर्धाय प्राङ्शिरसमेनं धार्यमाणं घृतं प्राशयति भूर्ऋच इत्येतैश्चतुर्भिः प्रतिमन्त्रम् ॥ १९ ॥

अथोष्णशीताभिरद्भिः स्नापयति क्षेत्रियै त्वा निर्ऋत्यै त्वा द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणे त्वा करोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे इमे । शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं द्यावापृथिवी सहौषधीभिः । शमन्तरिक्षꣳ सह वातेन ते शं ते चतस्रः प्रदिशो भवन्तु । सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या यद्देवा अमुञ्चन्नसृजन्व्येनसः । एवमहमिमं क्षेत्रियाज्जामिशꣳसाद्द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशादिति ॥ २० ॥

अनन्तरमेनं कुमारमुष्णशीताभिरद्भिः स्नापयति । क्षेत्रियै त्वा शं ते सूर्यमित्येताभिः ॥ २० ॥

अथैनं मातुरुपस्थ आदधाति । ( ख० ३ ) । या दैवीश्चतस्रः प्रदिशो वातपत्नीरभिसूर्यो विचष्टे । तासां त्वा जरस आदधामि प्रयक्ष्म एतु निर्ऋतिं पराचैरिति ॥ २१ ॥

अनन्तरमेनं कुमारं स्नातं मातुरुपस्थ आधापयति या दैवीरित्यनेन ॥ २१ ॥

**आधायाभिमन्त्रयते मा ते पुत्रꣳ रक्षो हिꣳसीन्मा धेनुरतिसारिणी । प्रिया धनस्य भूया एधमाना स्वे वश इति ॥ २२ ॥**

आधायाऽऽधापितमभिमन्त्रयते मा त इत्यनेन । आधायेति वचनं पुत्रस्यैवाभिमन्त्रणमथास्याः संबोध्यमानायास्त्रिया मा भूदिति । अथवाऽधिकारात्पुत्रस्यैव मा भूदिति लिङ्गात्स्त्रिया एवाभिमन्त्रणमित्येतदर्थम् । अथवोभयोरभिमन्त्रणार्थमेतदुभयोराधाने संबन्धान्मन्त्रसंकीर्तनाच्च ॥ २२ ॥

**प्रक्षाल्य दक्षिणꣳ स्तनमाधापयत्ययं कुमारो जरां धयतु सर्वमायुरेतु तस्मै स्तनं प्रप्यायस्वाऽऽयुः कीर्तिर्वर्चो यशो बलमिति ॥ २३ ॥**

तूष्णीं प्रक्षाल्य दक्षिणं स्तनमयमित्यनेन क्रमादाधापयति आदरेण पाययति ॥२३॥

**एवमुत्तरम् ॥ २४ ॥**

एवमुत्तरं सव्यं स्तनं प्रक्षाल्याधापयति अयमित्यनेन ॥ २४ ॥

**नामयति न रुदति यत्र वयं वदामो यत्र वाऽभिमृशामसीत्युभावभिमृश्याथास्यै शिरस्त उदुकुम्भमपिहितं निदधात्यापो गृहेषु जाग्रत यथा देवेषु जाग्रत एवमस्यै सुपुत्रायै जाग्रतेति ॥ २५ ॥**

नामयतीत्यनेनोभयोः स्तनयोरावर्त्य मन्त्रेणाभिमृश्यानन्तरमस्याः शिरसः समीप उदकुम्भमपिहितं निदधात्यापो गृहेष्वित्यनेन । पूर्वः कुम्भः प्रसवानन्तरमपनीतः । कुम्भान्तरमिदम् । समाप्तं जातकर्म । तत्पुंस एव स्यान्न स्त्रियाः । कुतः । जाते कुमारेऽश्मनीत्येतेषु पुंलिङ्गस्य विवक्षितत्वात् । मन्त्राणां च पुंस एवाभिधानात् ॥ २५ ॥

अथ नामकरणमुच्यते—

**द्वादश्यां मातापुत्रौ स्नातः ॥ २६ ॥**

द्वादशे दिवसे माता च पुत्रश्च मातपुत्रौ इत्येके तत्र । जातिनिर्देशात् पुंलिङ्गस्याविवक्षितत्वात् । दुहितृपुत्रार्थं पुंसवनस्य विद्यमानत्वाद्वा लिङ्गार्थः पुत्रौ स्नात इहानङ्गावदवयवसंख्यानाधिकाराच्च । यद्वा तस्माद्वचनादेकादश्यामप्यस्याः शौचमिति गम्यते । मातापुत्राविति मातुरेवाशौचपक्षमाश्रित्य प्रदर्श्यते । तेन पिताऽपि स्नाति । तत्कुलीनाश्च यथाविकल्पं वा ॥ २६ ॥

शुच्यगारं कुर्वन्ति ॥ २७ ॥

शुच्यगारं सूतिकागृहमवशिष्टं च सेचनलेपनसंमार्जनासेचनोपलेपनैः कुर्वन्ति भृत्याः। एवं मरणेऽपि शौचविधिः ॥ २७ ॥

उपनिर्हरन्ति सूतिकाग्निमातिहरन्त्यौपासनम् ॥ २८ ॥

उपनिर्हरन्तीत्युक्त्याऽर्थात् उत्सृजन्ति सूतिकाग्निं प्रयोजनाभावात् संबद्धानि च पात्राणि। अन्येषां च पात्राणां यथोक्तं शौचं कार्यम्। आहरन्त्यौपासनाग्निम्। अतः प्रभृति नित्यानि कर्माणि प्रवर्तन्ते ॥ २८ ॥

तमुपसामाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा धाता ददातु नो रयिमिति द्वादशाऽऽहुतीर्जुहोति त्रयोदशेत्येकेषाम् ॥ २९ ॥

तमौपासनमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा धाता ददातु नो रयिमित्येवमादिया सुपाणिरित्येवमन्ता द्वादशाऽऽहुतीर्जुहोति। कुहूमहमित्येतया सह त्रयोदश जुहोतीत्येकेषां मतम्। उपनिर्हरन्ति सूतिकाग्निमग्निमुपसमाधायेत्येव सिद्धेऽतिहरन्त्यौपासनमिति वचनमित ऊर्ध्वं प्रागुपनयनात् प्रजासंस्कारास्तेऽप्यौपासन एव भवेयुरित्येतदर्थम्। केषांचित्सूतिकाग्निमेव समारोप्य मथित्वा निधानं तस्मिन्क्रिया ह्युक्ता हि ॥ २९ ॥

इमं मे वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने त्वमग्ने अयासि प्रजापते यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचमिति चात्रैके जयाभ्यातानान् राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति यथापुरस्ताद्ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहः स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वा पुत्रस्य नाम दध्याद्द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं यत्र वा स्वित्युपसर्गः स्यात्ताद्धि प्रतिष्ठितामिति विज्ञायते पिता मातेत्यग्रेऽभिव्याहरेयातां विज्ञायते च मम नाम प्रथमं जातवेद इति ॥ ३० ॥

वारुणीहोमादिपरिषेकविसर्गान्ते कृतेऽन्नहोमादिब्राह्मणतर्पणान्तं कृत्वा पुत्रस्य नाम दध्यात्। नाम संज्ञाऽभिधानमित्यनर्थान्तरम्। कीदृशं द्वे अक्षरे परिमाणं तस्य तद्द्व्यक्षरं चत्वारि अक्षराणि परिमाणं यस्य तच्चतुरक्षरम्। अक्षरशब्दोऽत्र स्वरेषु वर्तते। यथा चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्रीति। यद्द्व्यक्षरं वा चतुरक्षरं वा तद्घोषवत् शषसर्ववर्गप्रथमद्वितीयेभ्योऽन्यद्व्यञ्जनमादिर्यस्य तद्घोषवदादि। अन्तर्मध्येऽन्तःस्थो

यरलवानामेको यस्य तदन्तरन्तःस्थम् । अभिनिष्ठानान्तः प्रमादपाठ इत्येके । विसर्जनीय इत्यर्थः । दीर्घश्चाभिनिष्ठानश्च दीर्घाभिनिष्ठानौ तावन्ते यस्य तद्दीर्घाभिनिष्ठानान्तम् । यौगपद्येनाऽऽम्नातत्वाद्दीर्घान्तं विसर्जनीयान्तं वेत्यर्थः । केचिद्दीर्घात्परं विसर्गं मन्यन्ते । प्रथमवचनात यत्परमक्षरं तद्दीर्घाभिनिष्ठानान्तम् । यस्मिन्नाम्नि सु इत्युपसर्गः स्यात्तद्वा दध्यादनादृत्य घोषवदादिकं लक्षणम् । कुतः । तत्प्रतिष्ठितं लोक इति विज्ञायते हि । प्रतिष्ठा नाम्नो नामवतो दीर्घायुष्यम् । उपसर्गग्रहणं प्रातिपदिकतच्छब्दोपसंग्रहणार्थम् । सुषुवाणादिषु मा भूदिति । क्रियायोगस्य नाम्नि विवक्षा । तत्रोदाहरणानि धावा ग्रावा दावा मयो द्रोणो बलः देवः निर्णीः दयूः निलूः निवीः वीर्यदायी भूरिदा मालभारी बहुदावा जयसेनः विश्वामित्रः बलदेवः देवदत्तः महायशाः भूरिदावा विशालदा बहुश्रावाः सुश्रीः सुषदाः सुविशाखः भुवः सुश्रीरित्येवमादीनि । तन्नाम पिता माता च प्रथममभिव्याहरेयाताम् । उच्चारयेयाताम् । कर्त्रभिप्रायत्वादात्मनेपदार्थताऽपि । पुत्रनामकरणे हि जातेष्टिप्रत्यायनश्रुतावात्मनेपदवादिति । कुतः । विज्ञायते हि मम नामेत्येतस्मिन्मन्त्रवर्णे पिता माता च दधतुर्यदग्रे इति । तस्मादादितस्ताभ्यामुच्चारयितव्यं देवदत्तोऽयं यज्ञदत्तोऽयमिति । ततः पुण्याहादिवाचने ब्राह्मणैरभिव्याहारयितव्यम् ॥ ३० ॥

**द्वे नामनी कुर्याद्विज्ञायते च तस्माद्द्विनामा ब्राह्मणोऽर्धुक इति ॥ ३१ ॥**

द्वे नामनी कुर्यात् । नैकमेव । कुतः । विज्ञायते हि तस्माद्द्विनामा ब्राह्मणोऽर्धुक इति धिष्णियव्याघारणवाक्यशेषेषु । अर्धुको वर्धमानशील इत्यर्थः । अस्यानुवादत्वाद्ब्राह्मणग्रहणं त्रैवर्णिकप्रदर्शनार्थम् । नामाधिकारे पुनर्नामग्रहणं नामेदमनित्यमुक्तलक्षणमिति । तेन द्व्यक्षरादिघोषवदाद्यनियमेन संख्याद्यनियमेन च चतुर्णां वर्णानां क्रमेण शर्मवर्मभूतिदासान्तता • पूर्वपुरुषनामक्रिया ऋष्यनूकत्वं देवतानूकत्वं कृदन्ततानियमो वृद्धतद्धितप्रतिषेधः स्त्रीणामयुगक्षरत्वमिति सिद्धानि भवन्ति । एवं कुर्यादिति किमर्थम् । दध्यादित्यधिकाराद्भवत इति वाऽध्याहारात्सिद्धेः । नानर्थकम् । तस्येदं प्रयोजनं द्वयोरेव लक्षणयोर्नाम्नोः क्रिया स्यादिति । यद्येवं पूर्वत्रैव नामनी दध्यादिति वाच्यम् । नैवं शक्यम् । एवमुच्यमाने द्वयोर्नाम्नोः पुण्याहादिवाचनकाल एव क्रिया वाचनं च प्रसज्येत । इह पुनः क्रियमाणेऽन्यस्मिन्काले गुह्यनाम्नः क्रिया वाचनाभावश्च सिद्धो भवति ॥ ३१ ॥

**नक्षत्रनाम द्वितीयꣳ स्यात् ॥ ३२ ॥**

तयोर्नाम्नोरेकस्य नाम्नो नक्षत्रनाम द्वितीयꣳ स्यात् । नक्षत्रनाम किं तज्जन्मनक्षत्रप्रकृतिकम् । तत्र जाततद्धितान्तम् । यथा रौहिणः श्रविष्ठ आर्द्रकः शतभिषगिति । तस्य पुनरिदं द्वितीयम् । तथा कृत्रिमयोर्नाम्नोरन्यतरन्नाम गुह्यमन्यैरविदितं स्यात् । मातापितरावेव तज्जानीतः । उपनयनात्प्रभृति कुमारोऽपि जानातीत्येके ॥ ३२ ॥

**अन्यतरद्गुह्यं स्यादन्यतरेणैनमामन्त्रयेरन् ॥ ३३ ॥**

अन्यतरेण गुह्यादन्येन नाम्नैनं कुमारं लौकिकेषु वैदिकेषु च कर्मस्वामन्त्रयेरन् । संबोधनादिना व्यवहरेयुः । येन व्यवहरेयुस्तस्य नक्षत्रनाम द्वितीयं स्यात् । अथ तद्वाक्यत्रयमेकं वाक्यम् । व्यत्ययेन च संबन्धस्तयोःकर्तृक(कृत्रिम)योर्नाम्नोः । अन्यतरन्नाम गुह्यं स्यादन्यतरेण गुह्यादन्येन नाम्नैनं कुमारं लौकिके चैनमामन्त्रयेरन् । तस्य चाऽऽमन्त्रणीयस्य नाक्षत्रनाम द्वितीयं स्यादिति ॥ ३३ ॥

**सोमयाजीति तृतीयं नाम कुर्वीतेति विज्ञायते ॥ ३४ ॥**

यः सोमेनेष्टवान्स सोमयाजी । स एतयोस्तृतीयं नाम्नोः सोमयाजीत्येतत्कुर्वीतेति विज्ञायते । तृतीयं सोमयाजिन इत्यत्र केषांचिद्व्याख्या । द्वे नाम्नी कुर्यादित्युक्तं तयोः पुत्रस्य नाम दध्यादित्येकं लक्षणम् । तदुक्तमथ किं द्वितीयं नामेति । उच्यते । नक्षत्रनाम द्वितीयं स्यात्तयोश्चान्यतरन्नाम कृत्रिमं नक्षत्रनाम वा गुह्यं स्यादित्यन्यतरेण गुह्यादन्येनैनं लौकिकेषु व्यवहारेषु आमन्त्रयेरन् । सोमयाजीति तृतीयमिति तुल्यम् । तेषां कुर्यादित्यनुपपन्नमकृत्रिमत्वात् । नक्षत्रनाम्नो गुह्यत्वं च कस्यचिन्न स्यात् । प्रयोगकाले व्यक्त्यभावाद्विरोधश्च शास्त्रान्तरेणाऽऽगमेन स्यात् । बह्वृचानां च व्यक्तं चास्मै नाम दध्युर्घोषवदादीत्येवमादिना लक्षणेनैकं नाम विधायाभिवादनीयं च समीक्षते । द्वितीयं नाम विहितम् । तथा कौषीतकानां नामात्र दधातीति । जातकर्मानन्तरमेकस्य क्रियामुक्त्वा दशम्यां व्यावहारिकामिति द्वितीयस्य क्रियोक्ता । तस्मात्पूर्वोक्त एवार्थः । तत्र जातकर्मानन्तरमेव गुह्यं नाम कर्तव्यमिति केषांचित्तत्र दर्शनादिहैव वा प्राक्पुण्याहादिवाचनादत्र वचनसामर्थ्यात् । तत्र प्रयोगः । अनन्यसकाशे मातापितरौ देवोऽयं देवदत्तोऽयमिति यथानाम गुह्यमभिव्याहृत्य प्राक्स्वस्तिवाचनात्कृत्वा पूर्ववद्व्यावहारिकं मातापितरौ प्रथममभिव्याहृत्य ब्राह्मणैरप्यभिव्याहारयतो नक्षत्रनाम्ना सह । कथम् । देवदत्ताय कार्तिकाय स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्त्विति अयं ब्रूते । ते च यथार्थं ब्रूयुः । तत्र ऋद्धिवाचने नक्षत्रनामापि मातापितरौ व्यावहारिकादनन्तरं कार्तिको रौहिण इति प्रथमया विभक्त्या व्याहारयतः । पुण्याहादिवाचन इव कृत्रिमेऽपीत्येके । तदपि न विरुध्यत एव । स्त्रियाश्चार्थप्राप्तत्वान्नामकरणं कर्तव्यम् । तदर्थत्वात्पुण्याहादिवाचनं च नान्यदस्ति । जातकर्मादि प्रागुपनयनात्सर्वं कर्म तूष्णीं कर्तव्यम् । बह्वृचानामप्युक्तम् । अमन्त्रतैव कुमार्या अपि जातकर्मणः । तूष्णीं क्रियाऽपि नास्तीत्येके । तत्र स्त्रिया एकाक्षरादीनि आसप्ताक्षराणि अयुगक्षराणि नामानि १ । ३ । ५ । ७ । यथा श्री सुभद्रा माधवदत्ता स्कन्दविशाखदत्ता, इति । नक्षत्रनामान्यपि

स्त्रीपुंसयोरबुधबोधायानुक्रमिष्यामः । कार्तिकः । कार्तिकी ॥ रौहिणः । रोहिणी ॥ मार्गशीर्षः । मार्गशीर्षी ॥ आर्द्रकः । आर्द्रिका ॥ पुनर्वसुः । पुनर्वसूः ॥ तिष्यः । तिष्या ॥ आश्लेषः । आश्लेषा ॥ माघः । माघी ॥ फल्गुनः । फल्गुनी ॥ हस्तः । हस्ता ॥ चैत्रः । चित्रा ॥ स्वातिः । स्वातिः ॥ विशाखः । विशाखा ॥ अनुराधः । अनुराधा ॥ ज्यैष्ठः । ज्यैष्ठी ॥ मूलकः । मूलिका ॥ अषाढः । अषाढा ॥ आभिजितः । आभिजिता ॥ श्रावणः । श्रावणी ॥ श्रविष्ठः । श्रविष्ठा ॥ श्राविष्ठीयः । श्राविष्ठीया ॥ शातभिषक् । शातभिषः ॥ शातभिषजः । शतभिषक् ॥ शातभिषी । शातभिषजी ॥ प्रोष्ठपादः । प्रोष्ठपादी ॥ रैवतः । रेवती ॥ अश्वयुगाश्वयुजः । अश्वयुगाश्वयुजी ॥ आपभरणः । आपभरणी ॥ इति यथार्थं विभक्तयः ॥ ३४ ॥

**प्रवासादेत्याऽऽगतं वा पुत्रमभिमृशति सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिमृशाम्यग्नेस्तेजसा सूर्यस्य वर्चसेति ॥ ३५ ॥**

प्रवासात्पुत्रसकाशमागत्य प्रवासादात्मसकाशमागतं च पुत्रं सोमस्य त्वेत्यनेनाभिमृशति । वाशब्दः समुच्चये ॥ ३५ ॥

**पशूनां त्वा हुंकारेणाभिजिघ्राम्यसावायुषे वर्चसे हुतमिति मूर्न्यभिजिघ्र्य ॥ ३६ ॥**

पशूनां त्वेत्यनेनास्य मूर्धानमभिजिघ्र्य । अभिजिघ्र्यासाविति संबुद्ध्या नामग्रहणम् । अभिघ्रायेति वाच्ये अभिजिघ्र्येति वचनं जिघ्रतिरयमशित्त्वविषयेऽपि क्वचिदस्तीत्यभिप्रायेण । प्रमादपाठो वा ॥ ३६ ॥

**अथास्य दक्षिणेन हस्तेन दक्षिणꣳ हस्तꣳ साङ्गुष्ठं गृह्णात्यग्निरायुष्मानिति पञ्चभिः पर्यायैरायुष्टे विश्वतो दधदिति दक्षिणे कर्णे जपति यथापुरस्तात् ॥ ( ख० ४ ) ॥ ३७ ॥**

अथास्य दक्षिणेत्यादि व्याख्यातम् । आयुष्ट आयुर्दा इति सानुषङ्गं यथा पुरस्ताद्दक्षिणोत्तरयोः कर्णयोर्जपति । तत्र ब्रह्मचारिशब्दो भाविनि वर्तते । उपनयनेऽपि भूते न संभवतीति हि प्रागुपनयनादेतत्कुर्यादित्येके । यावज्जीवमित्यपरे । तूष्णीं स्याद्दुहितुरपि । इह केचिज्जन्मनक्षत्रे प्राक्संवत्सरात्प्रतिमासं नक्षत्रहोममिच्छन्ति । तत ऊर्ध्वं च संवत्सरे । तत्र प्रयोगः—उपहोमत्वादाघारवानसौ स्थालीपाकश्च । व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा चरोरवदायामुष्मै स्वाहेति यथानक्षत्रदेवतं हुत्वा वारुण्यादिराष्ट्रभृत्पर्यन्तं यथानक्षत्रमुपहोमान् हुत्वा चरोरवदायाग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति परिषेकविसर्गं कृत्वा

हविःशेषेण ब्राह्मणान्परिविष्य पुण्याहवाचनादि करोति । एषोऽस्त्याचार्यस्य न्यायः । यदि शास्त्रान्तरविधानमाश्रयेद्यथा तत्र विहितं तथा कार्यम् ।। ३७ ।।

अथ षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् ।। ३ ।।

षष्ठे मासि कुमारस्यान्नप्राशनं नाम कर्म कार्यम् । यस्मिन्कर्मणि अन्नं प्राश्नाति कुमारस्तदन्नप्राशनम् । अथशब्द आनन्तर्ये , चतुर्थे मासि उपनिष्क्रमणं निर्वर्त्य ततोऽनन्तरमिति प्रागस्मादुपनिष्क्रमणस्य भावार्थम् ।। ३८ ।।

**आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रेऽग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा जुहोतीमं मे वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने त्वमग्ने अयासि प्रजापते यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचमिति चात्रैके जयाभ्यातानान् राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति यथा पुरस्ताद्ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहꣳ स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वा ।। ३९ ।।**

आपूर्यमाणपक्ष इत्यादि व्याख्यातार्थम् । पुण्याहादिवाचनान्तं कृत्वा ।। ३९ ।।

**अथैनं दधि मधु घृतमिति त्रिवृत्प्राशयति । भूस्त्वयि दधामि भुवस्त्वयि दधामि सुवस्त्वयि दधामीति ।। ४० ।।**

अनन्तरमेनं कुमारं दधि मधु घृतमिति त्रिवृत् प्राशयति भूस्त्वयि दधामीत्येतैर्मन्त्रैः ।। ४० ।।

**अथैनमन्नं प्राशयत्यपां त्वौषधीनाꣳ रसं प्राशयामि शिवास्त आप ओषधयः सन्त्वनमीवास्त आप ओषधयो भवन्त्विति ।। (ख० ५) ।।४१।।**

अथेत्यानन्तर्यवचनं पूर्वस्यैतदङ्गत्वायेदं प्रधानकर्मेति । तेनेदमर्थप्राप्तत्वात्स्त्रिया अप्यस्ति, न मन्त्रपूर्वम् । एनमिति वचनं स्त्रिया मन्त्रनिवृत्त्यर्थम् । अनन्तरं त्रिवृत्प्राशनात् । एनमन्नं मांसादिव्यञ्जनसहितमोदनं प्राशयति । अत्राथशब्दस्त्रिवृदन्नप्राशनयोः परस्परसंबन्धार्थः । तेन स्त्रिया अपि त्रिवृत्प्राशनम् । अत्राप्येनमिति स्त्रिया मन्त्रनिवृत्त्यर्थम् । समाप्तमन्नप्राशनम् ।। ४१ ।।

**तृतीये वर्षे चूडाकर्म ।। ४२ ।।**

तृतीये वर्षे कुमारस्य चूडाकर्म कर्तव्यम् । चूडाः शिखाः क्रियन्ते यस्मिंस्तच्चूडाकर्म ।। ४२ ।।

आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रेऽग्निमुपसमाधाय आज्ञ्याहुतिपर्यन्तं कृत्वा जुहोतीमं मे वरुण तत्त्वा यामि त्वं नो अग्ने स त्वं नो अग्ने त्वमग्ने अयासि प्रजापते यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचमि- त्येके जयाभ्यातानान् राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति यथा- पुरस्ताद्ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहꣳ स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वाऽपरेणाग्निं प्राङ्- मुख उपविशति ॥ ४३ ॥

आश्लेषः ।

आपूर्यमाणपक्ष इत्यादि व्याख्यातम् । उदगयनमपि आचाराद्ग्राह्यम् । पुण्याहादि- वाचनान्तं कृत्वाऽपरेणाग्निं प्राङ्मुखः कुमार उपविशति । संस्कार्यस्य कुमारस्य हेतु- कर्तृकत्वात्कर्तृत्वं परिवेषणादेरपि कुमारस्येति समानकर्तृत्वेन निर्दिष्टम् । होमकाले प्रवेश्यान्वारभ्यमाऽऽसीनः पुण्याहादिवाचनार्थमुत्थितः पुनरुपविशति ॥ ४३ ॥

उत्तरतो माता ब्रह्मचारी वाऽऽनडुहं शकृत्पिण्डं धारयति तेनास्य केशान् प्रतिगृह्णाति ॥ ४४ ॥

उत्तरतोऽग्नेर्माता कुमारस्य ब्रह्मचारी वा कश्चित्तदभावे । आनडुहं शकृत्पिण्डं धारयन्नुपविशति । अथ चोत्तरेणेति वक्तव्य उत्तरत इति वचनमग्निसंबन्धार्थनिवृत्त्यर्थम् । तेनोत्तरतः कुमार उपविशति । सौकर्याच्चैवं केशप्रतिग्रहणं स्यात् । तेन शकृत्पिण्डे- नास्य कुमारस्य केशान्वपन्प्रतिगृह्णाति । उत्तरत इत्येतदादि प्रतिगृह्णातीत्येतदन्तं वा सूत्रम् । धारयंस्तेनास्य केशानिति पठितव्यम् ॥ ४४ ॥

अथोष्णशीता अपः सꣳसृजति ॥ ४५ ॥

अथोष्णशीताश्चापः संसृजति । अथशब्दो विधेयाधिकारार्थः । इदं वक्ष्यमाणं प्रधानं कर्म पूर्वं तदङ्गम् । कुमार्याश्च तूष्णीं कर्तव्यमिति । शीतासूष्णा आनीयेत्येव सिद्ध उष्णशीता अपः संसृजतीति वचनमन्यत्रापि वचने शीतोष्णाभिरेवोन्दनमिति । तेन समावर्तने दीक्षायां चोन्दनीयाः शीतोष्णा एव स्युः ॥ ४५ ॥

शीतासूष्णा आनीयाऽऽप उन्दन्तु जीवस इति दक्षिणं गोदानमुनत्ति ॥ ४६ ॥

शीतप्स्वप्सूष्णा अप आनीय ताभिराप इत्यनेन दक्षिणं गोदानमुनत्ति । भूतोपदे- शात्पुरुषार्थत्वाच्च समयाल्लौकिकाग्नौ परितपनम् ॥ ४६ ॥

ओषधे त्रायस्वैनमित्यूर्ध्वाग्रामोषधिमन्तर्दधाति

**स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीरिति क्षुरेणाभिनिदधाति देवश्रूरेतानि प्रवप इति प्रवपति ॥ ४७ ॥**

उक्तार्थानि । प्रच्छिन्नान्केशान्मात्रे ब्रह्मचारिणे वा प्रयच्छति । प्रत्तान्गोमये निदधाति ॥ ४७ ॥

**एवमितरान्प्रदक्षिणं येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् । तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्योर्जेमꣳ रय्या वर्चसा सꣳसृजाथेति पश्चात् । येन पूषा बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चाऽऽयुषेऽवपत् । तेन तेऽहं वपाम्यसावित्युत्तरतो यथा ज्योक्सुमना असत् । ज्योक्च सूर्यं दृश इति पुरस्तात् ॥ ४८ ॥**

एवमितरान्पर्यन्तान्पश्चादारभ्य प्रदक्षिणमुन्दनादिना विधानेन प्रच्छिनत्ति । तत्र येनावपत् १ येन पूषा २ यथा ज्योक् ३ इति क्रमेण देवश्रूरित्यस्य प्रत्याम्नायः । प्रच्छिद्य प्रच्छिद्य शकृत्पिण्डे निधानार्थं प्रयच्छति । तत्रासाविति संबुद्ध्या नामग्रहणम् । पश्चादुत्तरतः पुरस्तादिति वचनादेव प्रादक्षिण्ये सिद्धे प्रदक्षिणमिति वचनं वपनमपि दक्षिणादारभ्य प्रादक्षिण्येन वेदितव्यमित्येतदर्थम् ॥ ४८ ॥

**उप्त्वा यथोदितं चूडाः कारयन्ति यथर्षि वा ॥ ४९ ॥**

उप्त्वा वपनानन्तरं मुण्डयित्वा तु यथोचितं यथाकुलस्योचितं यथाकुलधर्ममित्येकां द्वे तिस्रः पञ्च वा शिखा यथाप्रदेशं कारयन्ति । यथा वैकार्षेयस्यैका । द्व्यार्षेयस्य द्वे । त्र्यार्षेयस्य तिस्रः । पञ्चार्षेयस्य पञ्चेति । तत्रैका चेन्मध्ये द्वे चेन्मध्ये पुरस्ताच्च । तिस्रश्चेन्मध्ये पश्चात्पुरस्ताच्च । दक्षिणतो मध्ये उत्तरे वा । पञ्च चेत्प्रतिदिशं मध्ये च । उप्त्वेति वचनं छेदनमात्रं मा भूदिति । स्वातन्त्र्यविवक्षया कुमारस्य वपने कर्तृत्वं शिखाक्रियायां च हेतुत्वं चेति कारयन्तीत्युच्यते । अथवा कारं करोतीति कारयतीति शुद्धः कर्ता नापित एवोच्यते । न णिजन्तेनासमानकर्तृत्वे वा(?) क्वचिददत्वांगत्वेति यथा । अपिवोन्दनादेः प्रपवनात्तस्याऽऽचार्यः कर्तेति दर्शनात्तेषामृजुरेव कल्पना ॥ ४९ ॥

**संयम्य केशान् । यत्र पूषा बृहस्पतिः सविता सोमो अग्निः । तेभ्यो निधानं बहुधा व्यैच्छन्नन्तरा द्यावापृथिवी अपः सुवरिति गोष्ठ उदुम्बरे**

**दर्भस्तम्बे वा निखनाति योऽस्य रातिर्भवति ॥ ५० ॥**

संयम्य गृहीत्वा केशान् । यत्रेत्यनेन गोष्ठादिषु निखनाति । योऽस्य कुमारस्य रातिर्भवति सः ॥ ५० ॥

**यथाश्रद्धं ब्राह्मणाय ददाति ॥ ५१ ॥**

यथाश्रद्धं यथाशक्ति ब्राह्मणाय जातिनिर्देशो वाऽयम् । ब्राह्मणेभ्यो वा । यैः पुण्याहादि वाचितं तेभ्योऽविशेषेण वाचकेभ्यश्च दक्षिणां ददाति ॥ ५१ ॥

**सर्पिष्मन्तमोदनं नापिताय ॥ ५२ ॥**

सर्पिष्मन्तं प्रभूतसर्पिष्कमोदनं नापिताय ददाति । समाप्तं चूडाकर्म । अस्याऽऽदौ नान्दीमुखं श्राद्धम् ॥ ५२ ॥

अथाऽऽचक्षते—

**एवं विहितꣳ षोडशे वर्षे गोदानकर्म ॥ ५३ ॥**

यथा चूडाकर्मैवं विहितमुपनीतस्य षोडशे वर्षे गोदानकर्म स्यात् ॥ ५३ ॥

तत्रैतावान्विशेषः—

**सशिखं वापयते शिखामत्रावशिनष्टीत्येकेषामग्निगोदानो वा भवति ॥ ५४ ॥**

सशिखं सह शिखाभिः शिरो वापयते । मध्यमां शिखामेकामत्रावशिनष्टीत्येकेषां स्मृतिः । अग्निकार्यमेव गोदानकर्म यस्य सोऽग्निगोदानकर्मा । अग्निगोदानो वा कुमारो भवति । उपसमाधानादिपुण्याहवाचनान्तमग्निकार्यमिव वा भवतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

**गुरवे गां ददाति ॥ ( ख० ६ ) ॥ ५५ ॥**

**इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रे विंशतितमप्रश्ने प्रथमः पटलः ॥**

गुरव आचार्याय गामस्य कर्मणोऽन्ते ददाति । अग्निगोदान एव गोदानमित्येके । तन्न । उभयत्रैव स्यात् । अनेन हीदं कर्म गोदानमिति समाख्यायते । अस्माकमिदं संस्कारकर्म प्रागूर्ध्वं चोपनयनात्षोडशे वर्षे कार्यम् । बह्वृचानां तु सांवत्सरिकमिदं व्रतं चौलवदस्मिन्नेव काल उपाकृत्य चरितव्यम् । समाप्तं गोदानकर्म ॥ ५५ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तौ विंशतितमप्रश्ने प्रथमः पटलः ।

---

अथ विंशतितमप्रश्ने द्वितीयः पटलः ।

अथातः श्वग्रहप्रायश्चित्तम् ॥ १ ॥

अथेत्यधिकारार्थः । अत इति हेतौ । श्वग्रहोऽपस्मारः । उन्मत्तः सारमेय इत्येके । प्रायश्चित्तं भेषजम् । यतोऽयं महाव्याधिः श्वग्रहस्तस्मादस्य प्रायश्चित्तमधिक्रियत इति ॥ १ ॥

समुपसृजते यज्ञोपवीत्याचान्तोऽनाभीतेन शरावेणोदकमाहृत्य सभायां मध्येऽधिदेवनमुद्धत्यावोक्ष्याक्षान्न्युप्य व्यूह्य समूह्य प्रथयित्वोपरिष्टात्सभायां व्यूह्य तृणानि तेन कुमारमभ्याहृत्याक्षेषूत्तानं निपात्य दध्ना लवणोदकमिश्रेणाभ्युक्षत्याघ्नन्ति कश्सं दाक्षिणतः कुर्कुरः सुकुर्कुरः कुर्कुरो नीलबन्धनः । औलव इत्तमुपाह्वयतार्जिमच्छबलो अथो राम उलुम्बरः । सारमेयो ह धावति समुद्रमिव चाकशत् । बिभ्रन्निष्कं च रुक्मं च शुनामग्रꣳ सुवीरिणः । सुवीरिणः सृज सृजैकव्रात्य सृज शुनक सृजच्छत् । टेकश्च ससरमटङ्कश्च तूलश्च वितूलश्च । अर्जुनश्च लोहितश्चोत्सृज त्वꣳ शितिभ्न त्वं पिशंकरो हतः । अमी एके सरस्यका अवधावति तृतीयस्यामितो दिवि । छदये हि सीसरम सारमेय नमस्ते अस्तु सीसर । दूलाह नाम वो माता मण्डाकको ह वः पिता । छदये हि सीसरम सारमेय नमस्ते अस्तु सीसर । दुला ह नाम वो माता मण्डाकको ह वः पिता । छदये हि सीसरम सारमेय नमस्ते अस्तु सीसर । समश्वा वृषणः पदो न सीसरीदतः । छदये हि सीसरम सारमेय नमस्ते अस्तु सीसर । सं तक्षा हन्ति चक्रिणो न सीसरीदतः । छदये हि सीसरम सारमेय नमस्ते अस्तु सीसरेति ॥ २ ॥

समुपसृजत आविष्टो यज्ञोपवीती भूत्वाऽऽचान्तः कर्ता कर्माङ्गमिदमाचमनं प्रयतस्यापि । यज्ञोपवीतं चाभ्यधिकमजिनं वासो वाऽनाप्रीतेन शरावेणोदकमभ्युक्षणार्थमाहृत्य सभायां कितवसभायां मध्य उपरि यत्र दीव्यन्ति सोऽधिदेवनो देशः । अस्याऽऽवृदित्यर्थः(?) । तमुद्धत्याद्भिरवोक्ष्याक्षान्विभीतकान्यथार्थं न्युप्य व्यूह्य प्रतिदिशं व्यभज्य समूह्य समूढानेकधाकृत्य पुनस्तान्प्रथयित्वा यथा तेषु शाययितुं शक्यते तथा विस्तार्य सभाया उपरिष्टाच्छादनतृणानि व्यूह्य मार्गं कृत्वा तेन मार्गेण कुमारं ग्रहगृहीतमवहृत्य सभां प्रवेश्य अक्षेषूत्तानं निपात्य शाययित्वा दध्ना लवणोदकमिश्रेण कर्ताऽभ्युक्षति । कांस्यं च ताडयन्ति कुमारस्य दक्षिणतो घ्नन्ति तस्मिन्काले । बहुवचनमनियतकर्तृकत्वार्थम् । कुमारस्याभ्युक्षण एते मन्त्रा न कांस्यघातार्थाः । संस्कारार्थत्वात्कुमारस्य संनिपत्योपकारकत्वाच्च प्रधानमभ्युक्षणं तदर्थः कांस्यघातो गुणभूतः । आरादुपकारकत्वात् । अतः प्रधानेन संबन्धो मन्त्राणां न्याय्यो न गुणेनेति । केचिदानन्तर्यात्कांस्यघातार्थतामेषां मन्यन्ते । तूष्णीं वाऽभ्युक्षणम् । अभ्युक्षति आघ्नन्तीत्येवमादिपाठः ॥ २ ॥

**अथ वरं वृणीष्वेति ॥ ३ ॥**

अथ कर्ता ब्रूयाद्वरं वृणीष्वेति । अथेत्यभ्युक्षणेनास्य संबन्धार्थम् । तेनोक्तं कर्तेति ॥ ३ ॥

**कुमारमेवाहं वरं वृण इति ॥ ४ ॥**

कुमारमेवाहं वरं वृण इति । कुमारसंबन्धी पिता भ्राताऽन्यो वा वदतीति स चातः सर्वत्र । अथशब्दात् । केचित्त्वाहुः । एतस्मात्प्रायश्चित्तकरणात् स एवाऽऽविष्टग्रहो ब्रवीति वरं वृणीष्वेति । तं प्रतिब्रूयात् कर्ता कु० वृण इति । तयोर्युक्तेन कृत एवमेवावश्यं भवतीति तेषां दर्शनं तदुत्तरेण वाक्येन विरुध्यते ॥ ४ ॥

**एवꣳ समुपसृजते त्रिरह्नः प्रातर्मध्यंदिने सायं च कुर्याद्यदि चागतः (दः) स्यात् ॥ (ख० ७) ॥ ५ ॥**

**इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रे विंशतितमप्रश्ने द्वितीयः पटलः ।**

एवं समुपसृजते च ग्रहे त्रिष्वह्नः प्रातरादिषु कालेषु कुर्यात् । यावच्चायमगदः स्यात्तावत्कुर्यात् । अथवा यदुभयाद्यपि (?) सकृत्करणेनागदः स्यात्तथाऽप्येकस्मिन्नहनि प्रातरादिषु कालेषु कुर्यादेवेति । अस्मिन्व्याख्याने यदु चागतः स्यादिति पाठः । अपरे व्याचक्षते । एवं समुपसृजत इति यदु वाऽऽगतो यदाऽस्मिन्नपि काले ग्रह आविष्टस्तदा च कुर्यात् । प्रातरादिषु च त्रिष्वपि समुपसृजते । एकस्मिन्नेवाहनि प्रत्यहं वा यावद्ग्रहोपशमस्तावदिति । तेषां यदु चागतः स्यादिति पाठः । तत्र समुपसृजत इत्यतिरिक्तमिवो-

पलक्ष्यते । तत्परिहारार्थमन्ये वर्णयन्ति । प्रथमं कृत्वैकस्मिन्नहनि समुपसृते च कुर्यात् । प्रातरादिषु च त्रिष्वपि समुपसृते द्वितीयादिष्वहःसु आविष्ट एव कुर्यात् । प्रातरादिष्वहःसु । अत्र तयोर्युक्ते कुर्यादित्यापस्तम्बेनोक्तम् ॥ ९ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तौ विंशतितमप्रश्ने द्वितीयः पटलः ।

अथ विंशतितमप्रश्ने तृतीयः पटलः ।

**अथातः शूलगवम् ॥ १ ॥**

अथेत्यधिकारे । अत इति हेतौ । शूल इव गवां भवतीति शूलगवो रुद्रः । स यस्य देवता तच्छूलगवं कर्म । यस्माच्छौलगवेन शान्तो रुद्रः पशून्न हन्यात्तस्माच्छौलगवं कर्माधिक्रियते वक्तुमित्यर्थः । गवामुपतापशान्त्यर्थमिदं कर्मोत्तरत्र शिवोऽनेन भवतीति दर्शनात् ॥ १ ॥

**आपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रेऽग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्य पयसि स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽभिघार्योद्वास्यापरेणाग्निं द्वे कुटी कृत्वा दक्षिणस्याꣳ शूलगवमावाहयत्या त्वा वहन्तु हरयः सचेसः श्वेतै रश्वैः सह केतुमद्भिर्वाताजवैर्बलवद्भिर्मनोजवैरायाहि शीघ्रं मम हव्याय शर्वोमिति ॥ २ ॥**

आपूर्येत्याद्युपसमाधाय । औपासनं परिस्तीर्य पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वा पार्वणवत् । स्वयमेवावहत्य श्रपयित्वाऽभिघार्योद्वास्यापरेणाग्निं द्वे कुटी कृत्वा । दक्षिणोत्तरे प्राग्द्वारे वा कृत्वा दक्षिणस्यां कुट्यां शूलगवं देवमावाहयति आ त्वा वहन्त्वित्यनेन । संपरिस्तीर्येत्येतदर्थमथवा यथा संगता दर्भा भवेयुस्तथा परिस्तीर्येति प्रागुदगग्रप्रक्षेपेणेत्यर्थः ॥ २ ॥

**उत्तरस्यां मीढुषीम् ॥ ३ ॥**

उत्तरस्यां कुट्यां मीढुषीं तस्य शूलगवस्य पत्नीमावाहयति ॥ ३ ॥

**मध्ये जयन्तम् ॥ ४ ॥**

तयोः कुट्योर्मध्येऽवकाश एव जयन्तं तस्य पुत्रमावाहयति । मीढुषीमावाहयामि । जयन्तमावाहयामि । लौकिक्या वाचेतरयोरावाहनमित्येके । अन्ये त्वा त्वा वहन्त्वित्य-

नेनैव शर्वेत्येतस्य स्थाने मीढुषीजयन्तेत्येतत्पदद्वयं कृत्वेति । कंचित्प्रदेशमायतनं कल्पयित्वा तत्राऽऽगमनं संकल्प्य मन्त्रावचनमावाहनप्रतिकृतिमप्येके कुर्वन्ति ॥ ४ ॥

**यथोढमुदकानि प्रदायोपस्तीर्णाभिघारितांस्त्रीनो दनान्कल्पयित्वेति ॥ ५ ॥**

यथोक्तमावाहनक्रमेणाऽऽयतनेषु देवताभ्य उदकाञ्जलींस्तूष्णीं प्रदायोपस्तीर्णाश्चाभिघारिताश्चोपस्तीर्णाभिघारितास्तांस्त्रीनोदनान्स्थालीपाकेन कल्पयित्वा त्रिषु पात्रेषूपस्तीर्य तेषु स्थालीपाकं त्रिधा व्युद्धृत्याभिवार्येत्यर्थः ॥ ५ ॥

**यथोढमेवोपस्पर्शयत्युपस्पृशतु मीढ्वान्मीढुषे स्वाहा । उपस्पृशतु मीढुषी मीढुष्यै स्वाहा । जयन्त उपस्पृशतु जयन्ताय स्वाहेति ॥ ६ ॥**

यथोढमेवाऽऽवाहनक्रमेणैवोपस्पर्शयति ताभ्यो देवताभ्यः । त्रीनोदनांस्ताभ्यः संकल्प्याऽऽयतनेषु अपहरति उपस्पृशत्वित्येतैः स्वाहाकारैर्यथालिङ्गम् । एवकारकरणं संकल्पनमप्येतेनैव क्रमेणेत्येतदर्थम् ॥ ६ ॥

**व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वौदनानभ्याहृत्य जुहोति भवाय देवाय स्वाहा । रुद्राय देवाय स्वाहा । शर्वाय देवाय स्वाहा । ईशानाय देवाय स्वाहा । पशुपतये देवाय स्वाहा । उग्राय देवाय स्वाहा । भीमाय देवाय स्वाहा । महते देवाय स्वाहेति॥७॥**

परिधानादिव्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा कुटीभ्य ओदनादेकैकस्याऽऽहृत्य जुहोति । आचारवत्त्वादत्रास्त्वन्नदानधर्मः । भवाय देवायेत्येतैरष्टाहुतीः शूलगवौदनस्य जुहोति । उत्तरत्रेतरयोः । प्रथमौदनस्य जुहोतीत्युदीच्यानां पाठः ॥ ७ ॥

**अथ पत्न्योदनं पत्न्यै जुहोति भवस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा । रुद्रस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा । शर्वस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा । ईशानस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा । पशुपतेर्देवस्य पत्न्यै स्वाहा । उग्रस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा । भीमस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहा । महतो देवस्य पत्न्यै स्वाहेति ॥८॥**

अथ पत्न्योदनस्य मीढुष्या ओदनस्यावदाय जुहोति भवस्य देवस्येत्येतैरष्टाभिराहुतिभिः । अथशब्दो व्याहरणस्याप्ययमेव काल इत्येतदर्थः । अन्ये व्याहरणं पूर्वत्रैव कृतमिति ज्ञापनार्थमिति ॥ ८ ॥

**अथ मध्यमौदनस्य जुहोति जयन्ताय स्वाहा जयन्ताय स्वाहेति ॥ ९ ॥**

मध्यमौदनं जयन्तौदनमित्यर्थः । तस्यावदाय जुहोति जयन्ताय स्वाहा जयन्ताय स्वाहेति । द्विर्वचनान्मन्त्रस्य पूर्वाभ्यामोदनाभ्यां साहचर्याच्चाष्टावेता आहुतीर्जुहोतीत्युपदिशन्ति । द्वे एवेत्येके । मन्त्रद्वित्वात्स्कन्धविशाखापेक्षत्वाच्च । अथशब्द उक्तप्रयोजनः। अथवा पूर्वत्रेह चाथशब्दस्त्रयाणामोदनानां तुल्यत्वख्यापनार्थः । तेनेहाप्यष्टावाहुतयः स्युः ॥ ९ ॥

**अथ सर्वेभ्य ओदनेभ्यः समवदाय सौविष्टकृतीं जुहोति अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति ॥ १० ॥**

अथ सर्वेभ्यस्त्रिभ्य ओदनेभ्यः समवदाय सौविष्टकृतीमाहुतिं जुहोति अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्यनेन । अत्राथशब्दः प्रधानाहुत्यानन्तर्यार्थः । तेन वारुण्यादीनामभावः केचित्तान्यपीच्छन्ति । राष्ट्रभृत्पर्यन्तानि । प्रागस्याऽऽज्येन तत्प्रतिषेधात् । अथशब्दोऽनर्थकः स्यात् ॥ १० ॥

**अभित एतमग्निं गाः स्थापयन्ति यथा हूयमानस्य गन्धमाजिघ्रेयुः स्वस्ति नः पूर्णमुखः परिक्रामतु इति सर्वतः प्रदक्षिणं परिक्रम्य नमस्ते रुद्र मन्यव इत्येतैरनुवाकैरुपतिष्ठते प्रथमोत्तमाभ्यां वा ॥ ( ख० ८ ) ॥ ११ ॥**

अभित एतमग्निमस्याग्नेर्दक्षिणत उत्तरतश्च । समन्तत इत्येके । अभितः परित इत्युपसंख्यानाद्द्वितीया । गा आत्मीयाः स्थापयन्ति । यथा हूयमानस्य हविषो गन्धमघ्रातुं शक्नुयुस्तथाऽऽसन्ना इध्माधानमारभ्य स्थाप्याः । स्विष्टकृदन्ते परिषेकविसर्गादि कृत्वा स्वस्ति न इत्यनेन सर्वत इदं कर्म देवैः सह गवाग्निकुटिकं प्रदक्षिणं परिक्रम्य नमस्त इत्येतैरेकादशभिरनुवाकैः शूलगवमुपतिष्ठते । प्रथमोत्तमाभ्यां वैतेषामनुवाकानाम् ॥ ११ ॥

**अथातो बौड्यविहार एव ॥ १२ ॥**

अथेत्यानन्तर्यार्थोऽत इति हेतौ । बौड्यानि पलाशपर्णानि तेषां विहारो विहरणं नानादेशेषु स्थापनं बौड्यविहारः । कर्मनाम वा । अथ ( एव ) शब्दोऽवधारणायाम् । अनन्तरमुपस्थानात् । पर्णपुटार्थत्वाद्धेतोर्बौड्यविहार एव वक्ष्यते । आनन्तर्यवचनमोदनपिण्डव्यापत्तावुपस्थानवन्नित्यत्वार्थम् । प्रमाणमप्येषां कर्म न पिण्डधारणमात्रमिति । अनुवचनं पर्णान्तरपुटकरणप्रतिषेधार्थम् । एवकारकरणं विहरणमेव देवताभ्यः

प्रधानान्नाग्नौ होम इत्येतदर्थम् । अन्ये बौडयानि विक्रियन्ते यत्र स बौडयविहार इत्यासञ्जनान्तं कर्म बौडयविहारः सोऽनन्तरमुपस्थानाद्धविःशेषप्रतिपादनार्थत्वादुच्यते । स एव नात्र स्वाहाकारत्वेऽपि होम इत्येतदर्थमेवकारकरणम् । आनन्तर्यवचनं पूर्वाङ्गत्वाय । तेनेदं प्रतिपत्तिकर्म न कर्मान्तरं फलहेतुकमित्येतदर्थमिति ॥ १२ ॥

**गृहपोपस्पृश गृहपाय स्वाहा गृहप्युपस्पृश गृहप्यै स्वाहा द्वारपोपस्पृश द्वारपाय स्वाहा द्वारप्युपस्पृश द्वारप्यै स्वाहेति चत्वारि पलाशानि ददाति ॥ १३ ॥**

गृहपोपेत्येतैश्चतुर्भिश्चत्वारि पलाशानि ददाति ॥ १३ ॥

देशान्तरे पृथग्वचनसामर्थ्याद्दशैतानि पर्णानि ददाति —

**घोषिण उपस्पृशत घोषिभ्यः स्वाहा । निषङ्गिण उपस्पृशत निषङ्गिभ्यः स्वाहा । अन्वासारिण उपस्पृशतान्वासारिभ्यः स्वाहा । प्रयुन्वन्त उपस्पृशत प्रयुन्वद्भ्यः स्वाहा । विचिन्वन्त उपस्पृशत विचिन्वद्भ्यः स्वाहा । समश्नन्त उपस्पृशत समश्नद्भ्यः स्वाहेति ॥ १४ ॥**

॥ १४ ॥

**दशाथापराणि देवसेना उपस्पृशत देवसेनाभ्यः स्वाहेति ॥ १५ ॥**

दशापराणि पलाशानि ददाति देवसेना इत्यनेन मन्त्रेण प्रतिपर्णमावृत्य ॥ १५ ॥

देशान्तरेऽथापराणि दशैव पर्णानि ददाति—

**दशैवाथापराणि या आख्याता देवसेना याश्चानाख्याता उपस्पृशत ताभ्यः स्वाहेति ॥ १६ ॥**

या आख्याता इत्यनेनाऽऽवृत्य मन्त्रं देशान्तरे दश पर्णानि ददाति । एवकारकरणमथशब्दश्चेह वाक्यधर्मत्वादुक्तौ नान्यदस्ति प्रयोजनम् ॥ १६ ॥

**अथ पर्णपुटं कृत्वा तस्मिन्नुपस्तीर्णाभिधारितमोदनपिण्डमवदाय परोगव्यूतिं गत्वा वृक्ष आसृजते निषाङ्गिण उपस्पृशत निषङ्गिभ्यः स्वाहेति ॥ १७ ॥**

अथैतैरेव सादितैः पर्णैः कण्टकादिभिः संतृद्य पर्णपुटं कृत्वा तस्मिन्नुपस्तीर्योदनशेषा-

देकं पिण्डं कृत्वाऽवदायाभिघार्य तमवदाय परोगव्यूतेरध्वानं शत्रोर्वा गोः संचारभूमिं गत्वा कस्मिंश्चिद्वृक्ष आसजति निषङ्गिण इत्यनेन। अथेति वचनमेतैरेव पुटाक्रियार्थम् ॥ १७ ॥

**अथोपतिष्ठते नमो निषङ्गिण इषुधिमते तस्कराणां पतये नम इति ॥ १८ ॥**

अथैनमासक्तमुपतिष्ठते नमो निषङ्गिण इति। अथैके यावदुक्तेनैतेनोपतिष्ठन्ते कल्पजं मन्त्रान्तरं मन्यमानाः। अनुवाकशेषेण तृतीयस्य शतरुद्रीयानुवाकस्य तृतीयेन पर्यायेण सह चतुर्थ्यादेर्नमस्कारस्य प्रतीकत्वेन ग्रहणं मन्यमानाः। तन्न। अन्येऽनुवाकशेषेणाववचनान्मन्त्रान्तरं मन्यमानाः प्रमाणाभावान्मन्त्रैकदेशोपादानस्य न्याय्यत्वाच्चान्यो नमस्कारोऽसन्नेव प्रक्षिप्त इति। यावदुक्तेनैवैकेन नमस्कारान्तेनोपतिष्ठते। अथशब्द आसक्तस्यैवोपस्थानार्थम् ॥ १८ ॥

**अथ चान्दनसुरोदकाक्षताक्षतगोमयदूर्वास्तम्बमुदुम्बरपलाशशमीविकङ्कताश्वत्थेन गोवालेनेति गाः प्रोक्षति वृषाणमेवाग्रे शिवो भवेत्यथ शिवो हैव भवति ॥ १९ ॥**

अथ प्रतिनिवृत्य ततो देशात्। चन्दनस्येदं चान्दनमनुलेपनम्। सुरोदकं वर्ष्यमुदकम्। आतपवर्ष्यमित्येके। अक्षता अखण्डिता अक्षता स्तण्डुलाः। गोमयं गोशकृत्। दूर्वायाः स्तबं दूर्वास्तम्बम्। उदुम्बरादय एकदेशे समुदायशब्दाः शाखाभिधानाः। पलाशाभिधायिन इत्येके। लुबन्तैः शब्दैरभिधानं मुख्यमेवेति द्वंद्वैकवद्भावादेकवचनमेवकारेण च। गोवालैर्जातिनिर्देशादेकवचनमेव। पूर्वं मिश्रीकृत्य गाः प्रोक्षति। तासां वृषाणमेव पुंगवमेवाग्रे प्रथमं प्रोक्षति। पश्चादितराः। शिवो भवेत्येष प्रोक्षणमन्त्रः। प्रतिद्रव्यमावृत्य वीप्सासंभवात्। वृषाणमेवेत्येवकारकरणं पुंबहुत्वे च प्रधानस्यैव प्राथम्यार्थं सर्वेषामेवेत्येके। शिवो हैव सुखहेतुरेव गवां शूलगवो देवोऽवश्यमेव तस्मिन् कृते भवतीत्यर्थवादोऽनेनेति शान्त्यर्थं गवां शूलगवमिति प्रतिपादितं भवति। अथेति वचनं कर्मान्तरबुद्धिनिवृत्त्यर्थम् ॥ १९ ॥

**अथ हैनं क्षैत्रपत्यस्य पयसि स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽभिघार्योद्वास्य गवां मध्येऽनग्नौ क्षेत्रस्य पतिं यजति ॥ २० ॥**

शूलगवानन्तरमेव क्षैत्रपत्यं क्षेत्रपतिदेवताकं पयसि स्थालीपाकमौपासन एवाऽऽपूर्विकेन विधानेन श्रपयित्वा दर्वीमाज्यं च संस्कृत्याभिघार्योद्वास्य तमादायोपनिष्क्रम्य गवां मार्गे तासामेव साधारणपथि अनग्नौ भूमावेव क्षेत्रस्य पतिं देवतां यजति। अथेति

वचनं शूलगवसंबन्धार्थम् । तदनन्तरमेवावश्यं कर्तव्यमिति क्षैत्रपत्यामिति संकल्पार्थम् । उत्तरसंव्यवहारार्थम् । एनमिति पूर्वापेक्षं पूर्ववदौपासन एवास्यापि श्रपणार्थमनग्नौ यागादन्यत्र श्रपणं मा भूदिति । क्षेत्रस्य पतिवचनमसमासेन वा देवतेति ख्यापनार्थम्॥२०॥

**चतुर्षु सप्तसु वा पलाशेषु तथैवाऽऽवाहयति यथा शूलगवं नूर्ते यजते पाको देवोऽथोपतिष्ठते क्षेत्रस्य पतिना वयं क्षेत्रस्य पत इत्यथैतस्य क्षैत्रपत्यस्य ये सनाभयो भवन्ति ते प्राश्नन्ति यथैवैषां कुलधर्मो भवति ॥ (ख० ९) ॥ २१ ॥**

**इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रे विंशतितमप्रश्ने तृतीयः पटलः ।**

चतुर्षु वा सप्तसु वा पर्णपलाशेषु अपरेण होमदेशं स्थापितेष्वायनभूतेषु कुटीस्थानीयेषु वा तं क्षेत्रपतिं तथैवाऽऽवाहयति यथा शूलगवम् । आ त्वा वहन्त्वित्यनेन मन्त्रेणेत्यर्थः । उपस्पर्शनोदकदानं चाऽऽवाहनातिदेशेनैवातिदिश्यते दृष्टार्थत्वादावाहनस्य नेत्यपरे । केचिच्चतुर्षु सप्तसु वा पलाशेष्विति पूर्वाङ्गं मन्यन्ते । तेषां पर्णेषु होमः । तत्रानग्नाविति वचनमनर्थकं स्यात् । तस्मादुत्तराङ्गमेव । नूर्ते यजते । शीघ्रं यजते । कुतः । यतः स देवः पाकः पचनशीलस्तीक्ष्णस्तस्मात् । तत्र प्रयोगः— परिस्तीर्य होमदेशं तमपरेण कुटीं कृत्वा तत्र यथोक्तं पलाशानि स्थापयित्वा तेष्वावाहयति आ त्वेति । शर्वेत्येतस्य क्षेत्रस्य पत इत्यूहः । तत्रोदकं प्रदाय कृत्स्नमेव चरुमुपस्पर्शयति । उपस्पृशतु क्षेत्रस्य पतिः क्षेत्रस्य पतये स्वाहेति । ततोऽभ्याहृत्य चरुमावाहनमात्रमेव वा कृत्वा परिषिच्य होमदेशं दर्व्योपहत्य क्षेत्रस्य पतये स्वाहेति हुत्वा पुनरग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति सौविष्टकृतीं जुहोति । ततः परिषेकविसर्गौ । अथोपतिष्ठते । क्षेत्रस्य पतिना क्षेत्रस्य पत इति द्वाभ्यां क्षेत्रपतिम् । अथेति पूर्वोपस्थानदेवताभ्य एवोपस्थानार्थम् । अथैतस्य क्षैत्रपत्यस्य हुतशेषस्यैकदेशम् । पञ्चम्यर्थे विशेषलक्षणम् । षष्ठ्यप्राणिविषयत्वात् । ततः किंचित्किंचिदुपादाय येऽस्य कर्तुः सनाभयो ज्ञातयो भवन्ति ते प्राश्नन्ति । यथैवैषां ज्ञातीनामिदं प्राशनं कुलधर्म एव भवति तथा प्राश्नीयुर्नान्यथा । किमुक्तं भवति । सकुल्यानामेव ज्ञातीनां प्राशनं नान्येषां कुलान्तरसंक्रान्तानां प्रत्तानां स्त्रीणां नास्तीति । अथवा यथैषां ज्ञातीनामात्मीये कुले प्राशनधर्मः प्रवर्तते तथा प्राश्नीयुरिति । अथेति वचनं तदानीमेवारण्ये प्राशनार्थं वा ग्रामं प्रविश्य मा भूदिति । एतस्येति ग्रामनिर्देशार्थम् । क्षैत्रपत्यस्येति शूलगवस्यातिरिक्तस्यापि प्राशन-

निवृत्त्यर्थम् । पूर्वेषां प्रतिषिद्धं हि । समाप्तं शूलगवम् । कौषीतकिनां वाजसनेयिनां च ब्राह्मणे दृष्टत्वाच्छ्रौतमिदं न स्मार्तम् । अतस्तद्द्रेषे श्रौतमेव प्रायश्चित्तं कार्यम् ॥२१॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तौ विंशतितमप्रश्ने तृतीयः पटलः ।

अथ विंशतितमप्रश्ने चतुर्थः पटलः ।

**अमावास्यायामपराह्णे मासिकमपरपक्षस्य वाऽयुक्ष्वहःसु ॥ १ ॥**

मासे भवं मासिकं श्राद्धम् । तदमावास्यायां तिथावन्येष्वपरपक्षस्यायुक्ष्वहःसु अपराह्णे कार्यम् । फलस्यानाम्नानादकर्मणि लोक उपालम्भाच्च मासिकादीनि नित्यानि । अत्र कालनियमनिमित्ता द्रव्यनिमित्ताश्च फलविशेषादेव विधयो धर्मेषूक्ताः । यथा प्रथमेऽहनि स्त्री प्रायं तिलमाषव्रीहियवा उदीच्यवृत्तिस्त्वासनगतानामित्यादीनि तानि प्रेक्ष्याणि ॥ १ ॥

**पितृभ्योऽन्नꣳ सꣳस्कृत्य दक्षिणाग्रान्दर्भानासनानि कल्पयित्वा ब्राह्मणाञ्शुचीन्मन्त्रवतः समङ्गानयुज आमन्त्रयते योनिगोत्रमन्त्रासंबन्धान् ॥ २ ॥**

अथ पितृभ्यो होमभोजनार्थमन्नं संकृत्य दक्षिणाग्रान्दर्भान्ब्राह्मणानामासनार्थं कल्पयित्वा ब्राह्मणाञ्शुचीनागन्तुकसहजदोषरहितान्नियमवतश्च । मन्त्रवतो विद्यावतो नियमवत इत्येकेषाम् । शुचित्वं दोषाभाव एव । समङ्गानन‌ङ्गविकलान् । अयुजस्त्रिप्रभृतीनयुक्संख्याकान् । योनिगोत्रमन्त्रैरात्मनोऽसंबन्धान् । योनिसंबन्धा मातुलमातामहप्रभृतयः । गोत्रसंबन्धाः सगोत्राः । मन्त्रसंबन्धा ऋत्विक्शिष्याचार्याः । एवंप्रकारानामन्त्रयते ये धर्मेषूक्ताः । तृतीयमामन्त्रणं तदिह बह्वृचानाम् । त्रयाणामेकैकस्यैकैकस्त्रयस्त्रयो वा पुरुषा उक्ताः । सर्वेषामेकः प्रतिषिद्धः । तस्मात्त्रिप्रभृतयः षड्भ्योऽयुजो ग्राह्याः । वृद्धौ फलभूयस्त्वमेव । दुर्भिक्षेऽभक्तदाने वा सर्वेषामेकोऽपि प्रतिभूतः काममन्नाद्य इति ॥ २ ॥

**नार्थापेक्षो भोजयेत् ॥ ३ ॥**

अर्थापेक्षः प्रयोजनापेक्षः प्रयोजनमपेक्षमाणोऽस्मिन्भोजन इदं मम कार्यं भविष्यतीति न भोजयेत् । अण्कर्मणि चेति भविष्यति काले क्रियायां क्रियार्थायामुपपदेऽण् । वैश्वदेवपू-

र्वकं च पितॄणां भोजनमेकेषामुक्तम् । द्वौ देवे त्रीन्पित्र्य एकैकमुभयत्र वेति विरोधाभावादिच्छातस्तस्यापि संग्रहः । तथा सति पूर्वं वैश्वदेवानामन्त्र्य पश्चात्पित्र्यानामन्त्रयते । ब्राह्मणानां गुणदोषबलाबलं च धर्मेषूक्तं तदुत्प्रेक्ष्यम् । पूर्वेद्युर्ब्राह्मणान्निवेद्योत्तरेद्युः प्रातः पुनर्निवेद्यैवं तृतीयमामन्त्रणं कृत्वा श्मश्रूणि वापयित्वाऽभ्यञ्जनं स्नापनीयं च दत्त्वा स्नापयित्वा ॥ ३ ॥

**अग्निमुपसमाधाय दक्षिणाप्रागग्रैर्दर्भैरग्निं परिस्तीर्यैकपवित्रान्तर्हितायामाज्यस्थाल्यामाज्यꣳ सꣳस्कृत्य प्रसव्यं परिषिच्यौदुम्बरमिध्ममभ्याधायौदुम्बर्या दर्व्या जुहोति ॥ ४ ॥**

यज्ञोपवीती अग्निमौपासनमुपसमाधाय तं दक्षिणाप्रागग्रैर्दर्भैः परिस्तीर्य प्रागुदगग्रपक्षवत्पश्चात्पुरस्ताच्च दक्षिणाग्रान्कृत्वा परिस्तीर्य पात्रप्रयोगकाल औदुम्बरमिध्ममौदुम्बरीं च दर्वीमुपस्तरणाभिघारणार्थं स्रुवं मेक्षणं वाऽधिकं प्रयुनक्ति । पूर्ववदेव परिधयः । पवित्रकरणकाल एकदर्भं पवित्रं कृत्वाऽऽज्यसंस्कारकाले तेनैव पवित्रेणान्तर्हितायामाज्यस्थाल्यामाज्यं संस्कृत्यैकपवित्रेणाऽऽज्यं संस्कृत्येति वाच्ये गुरुनिर्देशः प्रदर्शनार्थः । तेन प्रणीतादिपवित्रकार्यं तेनैव स्यात् । ततः प्राचीनावीतिना ब्राह्मणान्कृतपादशौचानाचान्तान्दत्तेष्वासनेषूदङ्मुखान्प्रागपवर्गान्पित्रे पितामहाय प्रपितामहायेति संकल्प्यैकैकस्य त्रींस्त्रींस्त्रीन्वा प्रागपवर्गमुपवेशयेत् । प्राप्नोतु भवानिति कर्ता ब्रूयात् । प्राप्नवानीतीतरे प्रत्याहुः । यदि सन्ति वैश्वदेवास्तानपि प्राङ्मुखान्पूर्वं पितृभ्य उदगपवर्गं वृद्धक्रमेणोपवेशयति । पित्र्येभ्यो यत्क्रियते तत्सर्वं वैश्वदेवेऽपि प्रथमं कर्तव्यमिति तिलोदकवर्जं यज्ञोपवीतिनैव । एष प्रदेशः प्राचीनावीत्येकपवित्रान्तर्हिते तैजसे मृन्मये वा पात्रेऽप आनीय तिलानोप्य च्छादयति । नास्य प्रचलनम् । अतस्तिलोदकं पात्रान्तरेणोपादायाऽऽसनगतानां हस्तेष्वानयति । अमुष्मै स्वधाऽमुष्मै स्वधेति पित्रर्थेषु पितुर्नाम गृह्णाति । पितामहार्थेषु पितामहस्य प्रपितामहार्थेषु प्रपितामहस्य । एकत्वे तस्यैव हस्ते त्रीण्युदपात्राणि निनयति । त्रयाणां नामानि गृहीत्वा । ततः शुद्धोदकं प्रयच्छति । एतस्मिन्काले गन्धपुष्पधूपदीपाच्छादनादीनां दानं तेभ्यः कर्तव्यम् । ततोऽनुप्रकीर्य तिलानुद्धरिष्याम्यग्नौ च करिष्यामीति ब्राह्मणानामन्त्रयते । काममुद्ध्रियतां काममग्नौ च क्रियतामिति तैः प्रत्युक्तो होमार्थमन्नमुद्धृत्य निधाय यज्ञोपवीती परिधिपरिधानादि प्रपद्यते । एवं शाखान्तरे दृष्टम् । प्रागुपसमाधानादुपवेशनाद्युद्धरणान्तं कार्यमिति स्रुवेण यागस्य होमकर्मणः कर्तव्यत्वादित्येके । परिषेककाले देवसवितरित्यनेन यः

परिषेकस्तं प्रसव्यं परिषिच्यौदुम्बरमिध्ममभ्याधायौदुम्बर्या दर्व्या जुहोत्याघारादिहोमान् ॥ ४ ॥

आज्यभागान्तं कृत्वा प्राचीनावीती पितॄनावाहयत्यायात पितरः सोम्या गम्भीरैः पथिभिः पूर्व्यैः। प्रजामस्मभ्यं ददतो रयिं च दीर्घायुत्वं च शतशारदं चेति ॥ ५ ॥

आज्यभागान्तं कर्म कृत्वा प्राचीनावीती भूत्वा पितॄनावाहयति आयात पितर इत्यनेन ॥ ५ ॥

एतामेव दिशमभ्यपः प्रसिञ्चत्यापो देवीः प्रहिणुतामग्निमेतं यज्ञं पितरो नो जुषन्ताम्। मासीमामूर्जमूतये भजन्ते ते नो रयिꣳ सर्ववीरं नियच्छन्त्विति ॥ ६ ॥

एतामेव दिशं दक्षिणां प्रत्यपः प्रसिञ्चति। यथा दूरं गच्छन्ति तथाऽञ्जलिना सिञ्चति आपो देवीरित्यनेन। दक्षिणाः पितरो दक्षिणावृद्धि पितॄणामिति दर्शनादेवेति दिशं दक्षिणामिति गम्यते। एवकारकरणमावाहनमपि तामेव दिशमाभिमुख्येन क्रियत इति ज्ञापनार्थम् ॥ ६ ॥

यज्ञोपवीती व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा प्राचीनावीती जुहोति सोमाय पितृमते स्वधानमो यमायाङ्गिरस्वते पितृमते स्वधानमो याः प्राचीः संभवन्त्याप उत्तरतश्च याः। अद्भिर्विश्वस्य भुवनस्य धर्त्रीभिरन्तरन्यं पितुर्दधे स्वधानमः। अन्तर्दधे पर्वतैरन्तर्मह्या पृथिव्या दिवा दिग्भिरनन्ताभिरूतिभिरन्तरन्यं पितामहाद्दधे स्वधानमः। अन्तर्दध ऋतुभिरहोरात्रैः सुसंधिभिः। अर्धमासैश्च मासैश्चान्तरन्यं प्रपितामहाद्दधे स्वधानम इति ॥ ७ ॥

अथ यज्ञोपवीती व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा पुनः प्राचीनावीत्याज्येनैव जुहोति। सोमाय पितृमत इति यथोक्तं षोडशाऽऽज्याहुतीः। स्वधानमस्कारस्य प्रदानार्थत्वात्सर्वत्र तद्वत्सु नास्ति स्वाहाकारः ॥ ७ ॥

अथ नामधेयैर्जुहोति अमुष्मै स्वधानमोऽमुष्मै स्वधानम इति। यन्मे माता प्रलुलोभ चरत्यननुव्रता। तन्मे रेतः पिता वृङ्क्तामाभुरन्योपपद्यता स्वधानम इत्येवं द्वितीयां तथा तृतीयां यन्मे

**पितामही यन्मे प्रपितामहीति मन्त्रꣳ संनमति ॥ ( ख० १० ) ॥ ये चेह पितरो ये च नेह याꣳश्च विद्म उ च न प्रविद्म । अग्ने तान्वेत्थ यदि ते जातवेदस्तया प्रत्तꣳ स्वधया मदन्तु स्वधानमः । यद्वः क्रव्यादङ्गमदहल्लोकानयं प्रणयञ्जातवेदाः । तद्वोऽहं पुनरावेशयाम्यरिष्टाः सर्वैरङ्गैः संभवत पितरः स्वधानमः । वहाऽऽज्यं जातवेदः पितृभ्यो यत्रैतान्वेत्थ निहितान्पराके । आज्यस्य कूल्या उप तान्क्षरन्तु सत्या एषामाशिषः सन्तु कामैः स्वधानमः । इत्येवं द्वितीयां तथा तृतीयां पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्य इति मन्त्रꣳ संनमति ॥ ८ ॥**

अथात्र नामधेयैर्जुहोति । इहाथशब्दः पूर्वसंबन्धार्थः । तेन पितृपितामहप्रपितामहनामधेयैश्चतुर्थ्यन्तैर्होतव्यम् । जुहोतिवचनं द्विपितृकस्यापि होमाभ्यावृत्तिनिवृत्त्यर्थं न तस्य द्वाभ्यां नामधेयाभ्यां यथालक्षणं समस्ताद्विचतुर्थ्यन्ताभ्यां होतव्यम् । यन्मे माता यन्मे पितामही यन्मे प्रपितामहीति । अत्रोहप्रदर्शनार्थत्वात्पितृशब्दस्यापि पितामहप्रपितामहशब्दाभ्यामूहः कार्यः । पितामहो वृङ्क्तां प्रपितामहो वृङ्क्तामिति । वहाऽऽज्यमित्यत्रापि पितामहेभ्यो यत्रैतानिति संनामः ॥ ८ ॥

**एवमन्नस्य जुहोति वहान्नमिति मन्त्रꣳ संनमति ॥ ९ ॥**

यथैवाऽऽज्यस्याऽऽहुतयस्तथाऽन्नस्य जुहोति । तत्रैतावान्विशेषः । वहान्नं जातवेद इति मन्त्रं संनमति । अत्रापि प्रदर्शनार्थत्वादन्नकूल्या इत्यूहः । केचित्तन्न मृष्यन्ति श्राद्धस्यौदनस्य कूल्याऽस्तीतिनाऽर्थवादत्वाद्वपाया मेदस इति शब्दान्तरदर्शनादुपस्तरणाभिघारणार्थेनाऽऽज्येन द्रव्यत्वस्य विद्यमानत्वाच्च । अत्रैके वर्णयन्ति । पूर्वानुक्रान्ताः षोडशाऽऽज्याहुतीरन्नस्य जुहोतीति । अपर आनन्तर्याद्वहाऽऽज्यमित्येतासामेव तिसृणामिति । उदीच्यानामपि पाठः । एवं ते पठन्ति । अथाऽऽज्यस्य जुहोति । वहाऽऽज्यं जातवेद इति । तत्राथशब्द आज्यस्य ग्रहणं चैवमन्नस्य जुहोतीत्यत्र तासामेव संप्रत्ययार्थः ॥ ९ ॥

**अथ सौविष्टकृतीं जुहोत्यग्नये कव्यवाहनाय स्विष्टकृते स्वधानम इति ॥ १० ॥**

अथ सौविष्टकृतीमाहुतिं जुहोति अग्नये कव्यवाहनायेत्यनेन । अत्रापि पूर्ववदथशब्दो वारुण्यादिनिवृत्त्यर्थः । एवमन्नस्येत्यनुवर्तनादन्नेनैव सौविष्टकृतीम् । आज्येनेत्येके । ततो यज्ञोपवीती परिषेकादिकर्मशेषं समापयेत् ॥ १० ॥

**अथान्नमाभिमृशति पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्त्वा मुखे जुहोमि ब्राह्मणानां त्वा प्राणापानयोर्जुहोम्यक्षितमसि मा पितॄणां क्षेष्ठा अमुत्रामुष्मिँल्लोके । पृथिवी समा तस्याग्निरुपद्रष्टा दत्तस्याप्रमादाय । पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्त्वा मुखे जुहोमि ब्राह्मणानां त्वा प्राणापानयोर्जुहोम्यक्षितमसि मा पितामहानां क्षेष्ठा अमुत्रामुष्मिल्लोके० । अन्तरिक्षꣳ समं तस्य वायुरुपद्रष्टा दत्तस्याप्रमादाय । पृथिवी ते पात्रं द्यौरपिधानं ब्राह्मणस्त्वा मुखे जुहोमि ब्राह्मणानां त्वा प्राणापानयोर्जुहोम्यक्षितमसि मा प्रपितामहानां क्षेष्ठा अमुत्रामुष्मिँल्लोके । द्यौः समा तस्याऽऽदित्य उपद्रष्टा दत्तस्याप्रमादायेति ब्राह्मणानुपस्पर्शयाति प्राणे निविश्यामृतं जुहोमीति ॥ ( ख० ११ ) ॥ ११ ॥**

अथ प्राचीनावीती ब्राह्मणभोजनार्थमन्नमभिमृशति पृथिवी ते पात्रमित्येतैः । यदाऽग्नौ हुतशेषमन्नमभिमृशतीति बह्वृचानां हुतशेषादपि किंचित्प्रक्षिप्याभमृशेत् । अथशब्दो होमार्थादन्नादस्यान्यत्वख्यापनार्थः । अथ पूर्ववद्ब्राह्मणेभ्यास्तिलोदकं प्रदाय शुद्धोदकं च ततोऽन्नं प्रदायाङ्गुष्ठेनोपस्पर्शयति प्राणे निविश्येत्यनेन प्रतिपूरुषमावर्त्य मन्त्रम् ॥ ११ ॥

**भुञ्जानान्समीक्षते ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वायेति ॥ १२ ॥**

भुञ्जानानां ब्राह्मणानां ब्रह्मणि म इत्यनेन समीक्षते । तृप्तान्ब्राह्मणान् मधु वाता इत्येतत्तृचं यज्ञोपवीती श्रावयेत् । अक्षन्नमीमदन्तेत्येतां स्वधामुक्त्वाऽन्यानि ब्राह्मणानि शाखान्तरे दर्शितानि ॥ १२ ॥

**भुक्तवतोऽनुव्रज्य शेषमनुज्ञाप्योदकुम्भं दर्भमुष्टिं चाऽऽदाय दक्षिणपूर्वमवान्तरदेशं गत्वा दक्षि-**

णाग्रान्दर्भानास्तीर्य तेष्ववाचीनपाणिर्दक्षिणापवर्गांस्त्रीनुदकाञ्जलीन्निनयति मार्जयन्तां पितरः सोम्यासो मार्जयन्तां पितामहाः सोम्यासो मार्जयन्तां प्रपितामहाः सोम्यास इत्यसाववनेनिङ्क्ष्वासाववनेनिङ्क्ष्वेति ॥ १३ ॥

भुक्तवत्सु शेषादन्नात् किंचिदुपादाय निहितशेषेण सह पिण्डान्निधायावशिष्टमाचान्तेषु आशयेष्वन्नं प्रकीर्य तेभ्यस्तिलोदकं पूर्ववत्प्रदाय शुद्धोदकं च । ततोऽक्षतान्प्रदाय यथाशक्ति दक्षिणां दत्त्वाऽक्षय्यमस्त्विति वाचयित्वा तिलोदकशेषं निनीय स्वधाऽस्त्विति ब्रूयादस्तु स्वधेतीतरे । तत उत्थाप्य प्रसाद्योपसंगृह्य तान्भुक्तवतो गच्छतोऽनुप्रव्रज्य शेषमनुज्ञाप्यानुगतः प्रदक्षिणीकृत्य प्रत्येत्योदकुम्भं दर्भमुष्टिं चाऽऽदाय दक्षिणपूर्वमवान्तरदेशं गत्वा तान्दर्भान्दक्षिणपूर्वतोऽग्निं दक्षिणाग्रान्संस्तीर्य दक्षिणपूर्वमवान्तरदेशं गत्वेत्युदीच्यानां पाठात्तेषु दर्भेषु अवाचीनपाणिरध आवृत्तपाणिः पित्र्येण तीर्थेन दक्षिणांस्त्रीनुदकाञ्जलींस्त्रिषु देशेषु निनीय मार्जयन्तामित्येतैः प्रतिमन्त्रम् । असाववनेनिङ्क्ष्वेत्येतैर्नामग्रहणम् ॥ १३ ॥

तेष्ववाचीनपाणिर्दक्षिणापवर्गांस्त्रीन्पिण्डान्ददाति ॥ १४ ॥

तेषु नियतस्थानेषु अवाचीनपाणिर्दक्षिणापवर्गान्पिण्डान्ददाति ॥ १४ ॥

कथम्—

एतत्ते ततासाविति पित्रे पिण्डं ददात्येतत्ते पितामहासाविति पितामहायैतत्ते प्रपितामहासाविति प्रपितामहाय तूष्णीं चतुर्थं स कृताकृतः ॥ १५ ॥

एतत्ते ततासाविति पितुर्नाम गृहीत्वा पित्रे पिण्डं ददाति । एतत्ते पितामहासाविति पितामहाय । एतत्ते प्रपितामहासाविति प्रपितामहाय । सर्वेषु ये च त्वामन्वित्यनुषङ्गः । सर्वेषु चेहानुक्रान्तानुक्रंस्यमानेषु संबुद्ध्या नामग्रहणम् । तत्र तेष्ववाचीनपाणिर्दक्षिणापवर्गमेतत्ते ततासाविति पित्रे पिण्डं ददातीत्येवं लघुना सिद्धे पिण्डान्ददातीति वचनं चतुर्थस्यापि निनयनस्थान एव दानार्थम् । इतरथा त्रीनिति वचनात्तस्यानिनयनं स्याद्धि । तूष्णीं चतुर्थं पिण्डं दद्यात् । स कृताकृतः । स तु कृताकृतो वैकल्पिक इत्यर्थः । तूष्णींग्रहणं मन्त्रनिवृत्त्यर्थम् । अवचनादेव सिद्धिरिति चेत्तन्न । निनयनादीनामविशेषोपदेशान्मन्त्रप्रसङ्गात् । प्रधानस्य तूष्णींवचनात्तद्वशवर्तित्वात्तेषामपि तूष्णींकत्वात् ॥ १५ ॥

**अथ यदि नामधेयानि न विद्यात्स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्य इति पित्रे पिण्डं ददाति स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्य इति पितामहाय स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्य इति प्रपितामहाय ॥ १६ ॥**

अथ यदि पितृणां नामधेयानि न विद्यात्स्वधा० षद्भ्य इत्येतैः पित्रादिभ्यः पिण्डान्दद्यात् । नामधेयानीत्येकशेषनिर्देशस्तेनैकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा नाम्नो विस्मरण एतैरेव दानम् । अथशब्देन च पृथगधिकारः । पूर्वेषां मन्त्राणां व्यतिषज्य क्रिया मा भूदित्येतदर्थम् । कुतः । अस्मिन्पक्षे मार्जयन्तामित्येव निनयनमन्त्रा भवेयुरर्थात् ॥ १६ ॥

**अत्राऽऽञ्जनाभ्यञ्जने वासश्चानुपिण्डं ददाति ॥ १७ ॥**

अत्राऽऽञ्जनमभ्यञ्जनं वासश्च प्रतिपिण्डं ददाति । अथेति वचनं कालनियमार्थम् । कालान्तरे पिण्डपितृयज्ञदर्शनात् । तेन ज्ञायते तत्रोक्तः पिण्डदानोपायो द्विपितृकादीनामिहापि भवतीति । आञ्जनाभ्यञ्जनयोरेव समासवचनं क्रमानियमार्थम् । तयोरनुपिण्डमिति वचनाच्चतुर्थे स्यात्प्राप्तिरित्याशङ्क्येत तन्निवृत्त्यर्थं ददातीत्युच्यते ॥ १७ ॥

**आङ्क्ष्वासावाङ्क्ष्वासाविति त्रिराञ्जनम् ॥१८॥**

आङ्क्ष्वासाविति त्रिराञ्जनमनुपिण्डं ददाति । तूष्णीं चतुर्थम् । त्रिर्ग्रहणं प्रतिपिण्डं तृतीयार्थम् ॥ १८ ॥

**अभ्यङ्क्ष्वासावभ्यङ्क्ष्वासाविति त्रिरभ्यञ्जनम् ॥ १९ ॥**

अभ्यङ्क्ष्वासाविति त्रिरभ्यञ्जनमनुपिण्डं दद्यात् । तूष्णीं चतुर्थम् । तैलमभ्यञ्जनमित्येके । अविदितनामधेयानि लुप्यन्ते । ततादिभिर्वा शब्दैरुपलक्षयेत् ॥ १९ ॥

**एतानि वः पितरो वासांस्यतो नोऽन्यत्पितरो मा यूढ्वमिति दशामूर्णास्तुकां वा छित्त्वा न्यस्यति पूर्वे वयसि ॥ २० ॥**

एतानीत्यात्मनो वाससो दशामूर्णास्तुकां वा कम्बलस्य छित्त्वाऽनुपिण्डे न्यस्यति । पूर्वे आत्मनो वयसि पञ्चाशद्वर्षतायाः। तूष्णीं चतुर्थे॥ २० ॥

**स्वं लोम छित्त्वोत्तरे ॥ २१ ॥**

स्वं लोम छित्त्वोत्तरे वयसि पञ्चाशद्वर्षताया ऊर्ध्वं मन्त्रेणैव न्यस्यति न दशोर्णास्तुकामपि । अनन्तरवचनादेव सिद्धे पूर्वोत्तरग्रहणं वयस्त्रित्वं केषांचिदिहोक्तं तन्मा भूदिहोत्तर आयुषीतरयोर्द्वित्वविषयत्वादिति ॥ २२ ॥

अथ पात्रꣳ संक्षाल्य पुत्रान्पौत्रानभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहानाः । आपो देवीरुभयाꣳस्तर्पयन्तु नदीरिमा उदन्वती-रेतस्विनीः सुतीर्थ्या अमुष्मिँल्लोक उप वः क्षर-न्त्विति प्रसव्यं परिषिच्य न्युब्जपात्रं पाणी व्य-त्यस्य दक्षिणमुत्तरमुत्तरं च दक्षिणं नमो वः पितरो रसायेति नमस्कारैरुपतिष्ठते ॥ २३ ॥

अथ यत्र पिण्डार्थमोदन उद्धृतस्तत्पात्रं संक्षाल्योदकेन सम्यक् प्रक्षाल्य पुत्रानित्य-नेन तेनोदकेन सर्वान्पिण्डानुपयम्य प्रसव्यं परिषिच्य तत्पात्रं न्युब्जं निवीतं कृत्वा पाणी व्यत्यस्य पाण्योरङ्गुलीनां व्यतिषङ्गं कृत्वा दक्षिणमुत्तरमुत्तरं च दक्षिणं बाहिर्भूत-पृष्ठौ पाणी कृत्वेत्येके । एवंभूतेन नमस्कारेणाञ्जलिना नमो वः पितर इत्येतैर्नमस्कारैः पितॄनुपतिष्ठते । षडेते नमस्काराश्चतुर्थ्यन्तास्तेषु सर्वेषु पितरो नमो वो य इत्यादेरनु-षङ्गः प्राक्प्राजापत्याया इत्येके । यथापाठमेव प्राक्प्राजापत्याया नमस्कारोऽन्त्य इत्य-परे । अथशब्दः पिण्डाधिकारनिवृत्त्यर्थः । तेनोक्तं तन्त्रेण सर्वेषां सकृत् परिषेक इति । प्रतिपिण्डमपि केचिदिच्छन्ति । इह पिण्डपितृयज्ञपटले च तुल्यग्रन्थेषु तत्रोक्तं व्याख्यानमिह द्रष्टव्यम् । इहोक्तं च तत्रापि ॥ २३ ॥

तत उदकान्तं गत्वा त्रीनुदकाञ्जलीन्निनयति ॥ ( ख० १२ ) ॥ एष ते तत मधुमाꣳ ऊर्मिः सरस्वान्यावानग्निश्च पृथिवी च तावत्यस्य मात्रा तावानस्य महिमा तावन्तमेनं भूतं ददामि यथाऽ-ग्निरक्षितोऽनुपदस्त एवं मह्यं पित्रेऽक्षितोऽ-नुपदस्तः स्वधा भवतां तꣳ स्वधा-मक्षितं तैः सहोपजीवासावृचस्ते महिमा । एष ते पितामह मधुमाꣳ ऊर्मिः सरस्वान्यावान्वायु-श्चान्तरिक्षं च तावत्यस्य मात्रा तावानस्य महिमा तावन्तमेनं भूतं ददामि यथा वायुरक्षितोऽनुपदस्त एवं मह्यं पितामहायाक्षितोऽनुपदस्तः स्वधा भवतां तꣳ स्वधामक्षितं तैः सहोपजीवासौ यजू-ꣳषि ते महिमा । एष ते प्रपितामह मधुमाꣳ ऊर्मिः

सरस्वान्वायावानादित्यश्च द्यौश्च तावत्यस्य मात्रा तावानस्य महिमा तावन्तमेनं भूतं ददामि यथाऽऽदित्योऽक्षितोऽनुपदस्त एवं मह्यं प्रपितामहायाक्षितोऽनुपदस्तः स्वधा भवतां तꣳ स्वधामक्षितं तैः सहोपजीवासौ सामानि ते महिमेति प्रत्येत्य प्रतिष्ठितमुदपात्रेणोपप्रवर्तयति परायात पितरः सोम्या गम्भीरैः पथिभिः पूर्व्यैः । अथ मासि पुनरायात नो गृहान्हविरत्तुꣳ सुप्रजसः सुवीरा इति ॥ २४ ॥

तत उदकसमीपं गत्वा एष ते तत एष ते पितामह एष ते प्रपितामह इत्येतैः प्रतिमन्त्रं त्रीनुदकाञ्जलीन्दक्षिणापवर्गान्निनयति पित्रादिभ्यः । तत इति वचनं तूष्णीं चतुर्थमित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । प्रत्येत्योदकान्तात्प्रतिष्ठितं स्थालीनिष्कासमुदपात्रेण सहोदकमासिच्य सक्तून्निष्कासस्तस्य सोदकं पात्रं पूरयित्वा परायात इत्यनेन उपप्रवर्तयति पिण्डानां समीपे दक्षिणापवर्गं निनयतीत्यर्थः । प्रत्येत्येतिवचनमुदकाञ्जलिदेश एवापवर्तनं मा भूदिति । एतावत्कृत्वा सर्वेषु दत्तेषु सर्वात्मनः शेषं समवदायाश्नीयादित्येतत्कर्तव्यम् । समाप्तं मासिकम् ॥ २४ ॥

एतेन माघ्यावर्षं व्याख्यातम् ॥ २५ ॥

एतेन मासिकेन माघ्यावर्षं श्राद्धं व्याख्यातम् । माघ्यावर्षः प्रोष्ठपदो मासस्तत्र भवं माघ्यावर्षम् । तत्रापां प्रसेक उदपात्रोपप्रवर्तनं च न स्तः । इदं च मासिके क( सिकवत्क )र्तव्यम् ॥ २९ ॥

तत्र माँसं नियतम् ॥ २६ ॥

तत्र माघ्यावर्षे श्राद्धे मांसं नियतं भवति मासिके चानियतम् ॥ २६ ॥

माꣳसाभावे शाकम् । ( ख० १३ ) ॥ २७ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रे विंशतितमप्रश्ने चतुर्थः पटलः ।

मांसस्याभावे शाकं प्रतिनिधित्वेन नियतं भवति ॥ २७ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तौ विंशतितमप्रश्ने चतुर्थः पटलः ।

अथ विंशतितमप्रश्ने पञ्चमः पटलः ।

---

अष्टकां व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अष्टका नाम नित्यः पितृकार्यसमुदायः । तं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

माघ्याः पौर्णमास्या योऽपरपक्षस्तस्याष्टमीमेकाष्टकेत्याचक्षते ॥ २ ॥

मघाभिः प्रायेणोपयुज्यते सा माघी । माघमासे पौर्णमासीत्यर्थः । तस्याः समीपे योऽपरपक्षस्तस्याष्टमीमेकाष्टका इत्याचक्षते लौकिकाः । एका प्रधानाऽष्टका । यथैकपुरुष इति प्रधानपुरुष उच्यते । किमपेक्ष्य प्राधान्यम् । हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणां याश्चतस्रोऽष्टम्यस्ताः सर्वा अष्टकास्ता अपेक्ष्य । किमर्थमेतद्वचनम् । तस्याः पूर्वेद्युरुत्तरेद्युश्च कर्मविधानार्थम् । यद्येवं तस्य सप्तम्यामनूराधैरित्येव वक्तव्यम् । एवं तर्हि कालसंयोगादष्टकाशब्दः कर्मणि, इदं चाष्टकादीनां प्राधान्यमिति ज्ञापनार्थम् । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । समाख्यासामर्थ्यात्सर्वास्वप्यष्टकेच्छातः कार्या स्यादस्यास्तु प्राधान्यान्नियतैषा । किंच एकाष्टकायां दीक्षेरन् । एकाष्टकायां क्रयः संपद्यत इत्यत्राप्यस्याः संप्रत्ययः ॥ २ ॥

ततः पूर्वेद्युरनूराधयोरपराह्णेऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणाप्रागग्रैर्दर्भैः परिस्तीर्य पवित्रान्तर्हितानि कृत्वा चत्वारि व्रीहिशरावाणि निर्वपतीममपूपं चतुश्शरावं निर्वपामि क्लेशावहं पितॄणाꣳ सांपराये देवेन सवित्रा प्रसूता देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्यो जुष्टं निर्वपामीत्येतेनैव पवित्रेण तूष्णीं प्रोक्षणीः सꣳस्कृत्य तूष्णीं प्रोक्ष्य तूष्णीमवहत्य यथापुरोडाशमेवं चतुर्षु कपालेषु तूष्णीꣳ श्रपयित्वाऽभिघार्योद्वास्य प्रसव्यं परिषिच्यौदुम्बरमिध्ममभ्याधायौदुम्बर्या दर्व्योपस्तीर्याभिघारितं दक्षिणाप्राचीꣳ संततं परं परमवदाय दक्षिणाप्राचीꣳ संततं परं परं जुहोति । उलूखला ग्रावाणो घोषमक्रत हविः कृण्वन्तः परिवत्सरीणाम् ।

एकाष्टके सुप्रजा वीरवन्तो वयꣳ स्याम पतयो रयीणाꣳ स्वधा नमः। अपूपं देव घृतवन्तमग्ने स्वधावन्तं पितृणां तर्पणाय। यथातथं वह हव्यमग्ने पुत्रः पितृभ्य आहुतिं जुहोमि स्वधा नमः अयं चतुःशरावो घृतवानपूपः पयस्वानग्ने रयिमान्पुष्टिमाꣳश्च। प्रतिनन्दन्तु पितरः संविदानाः स्विष्टोऽयꣳ सुहुतो ममास्तु स्वधा नम इति ॥ ३ ॥

एकाष्टकायां पूर्वस्मिन्नहनि सप्तम्यामनूराधेष्विति वचनं मासंसंदेहनिर्णयार्थम्। प्रायिकं चान्ततो विशाखायां ज्येष्ठायां सत्यां भवत्येव। तत्रापराह्ण औपासनमग्निमुपसमाधाय तं दक्षिणाप्रागग्रैर्दर्भैः परिस्तीर्य पात्रप्रयोगकाले चत्वारि कपालानि अन्यानि च पुरोडाशार्थानि द्रव्याणि पात्राण्यधिकानि प्रयुज्य प्राक्पात्रप्रोक्षणादेकपवित्रेणान्तर्हितानि चत्वारि व्रीहिशरावाणि निर्वपति इममपूपमित्यनेन। प्रतिशरावं मन्त्रावृत्तिः। चत्वारि शरावाणि इति भेदेन निदर्शनाद्द्रव्यपृथक्त्वादित्येके। तेषां मन्त्रे चतुःशरावशब्दोऽपूपापेक्षत्वान्न विरुध्यते। अन्ये चतुःशरावपरिमाणान् व्रीहीन्सकृदेव निर्वपन्ति भेदलिङ्गविरोधं मन्यमानाः। अत्रापि पूर्ववद्व्याहृतिपर्यन्तं यज्ञोपवीतिना कार्यम्। प्राचीनावीतिना परम्। मासिकवचनं प्रदर्शनार्थं हि। परिस्तरणवचनं हि हविःसंस्कारकाले प्राचीनावीतिविकल्पार्थम्। परिषेकादिवचनमावाहननिवृत्त्यर्थम्। केचित्प्रसिद्धमोदकाञ्जलिदानाद्यथा मासिक इति सर्वस्यातिदेशमिच्छन्ति। तेषां परिस्तरणादिवचनानि तस्यैव प्रदर्शनार्थानि। तथा सत्यावाहनमपि स्यादेव। श्वोभूतेऽपि शूर्पे पवित्रे संनिधाय निर्वप्तव्यम्। प्रागग्न्युपसमाधानात्प्राग्ब्राह्मणनिवेदनात्स्थापनान्तमन्त्रोद्धरणान्तं च करोति। एतेनैव पवित्रेण तूष्णीं प्रोक्षणीः संस्कृत्य। एवकारकरणं प्रागूर्ध्वं च पवित्रकार्यं यत्तदनेनैवेत्येतदर्थम्। तान्व्रीहींस्तूष्णीं त्रिः प्रोक्ष्य पात्राणि च प्रोक्ष्य कृष्णाजिनास्तरणादिना दर्शपूर्णमासिकेन विधिना तूष्णीं व्रीहीनवहत्य त्रिष्फलीकरणान्ते प्रक्षालनं निनीय पेषणादिना यथापुरोडाशमेवं चतुर्षु कपालेषु तूष्णीं श्रपयित्वा स्रुवं दर्वीं च संमृज्याऽऽज्यं संस्कृत्य पुरोडाशं च तूष्णीमभिघार्योद्वास्य सर्वत्र तूष्णींग्रहणमावृत्प्राप्त्यर्थम्। केचिन्मन्त्रेण निरुप्तत्वान्मन्त्रप्राप्त्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमित्याहुः। ततोऽनुप्रवेशिताश्चेतद्ब्राह्मणा इह्मोपवेशनाद्युद्धरणान्तं कृत्वा परिधाय परिधीन्प्रसव्यं परिषिच्य औदुम्बरमिध्ममभ्याधायेध्माधानलिङ्गादाघारवत्ता स्यादाज्यभागान्तं कृत्वा मासिकातिदेशपक्षे पितॄनावाह्य नीत्वाऽपः

प्रसिञ्चति । मासीमामिति लिङ्गविरोधादेतस्मिन्पक्षे नास्त्यावाहनम् । व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वौदुम्बर्यां दर्व्यामुपस्तीर्य मध्यादारभ्यापूपस्य दक्षिणाप्रागपवर्गाण्यवदानानि यथा भवेयुस्तथा पूर्वेणावदानद्वयेन संततमविच्छिन्नं परं परमवदानद्वयमभिघार्य जुहोति उलूखला ग्रावाण इत्येतैस्त्रिभिः । पूर्वत्रापीयमेव दर्वी ॥ ३ ॥

**अथान्नस्य जुहोतीयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदेका तपसा तप्यमाना या प्रथमा व्यौच्छदिति ॥ ४ ॥**

अथान्नं पूर्वमुद्धृत्य तस्यावदाय जुहोति । इयमेवेत्येताभिः । स्वधानमस्कारेण सर्वत्राष्टकायामनादिष्टेषु होमः । केषु पठितेषु दर्शनं प्रायेण स्वधानमस्कारो हि पितॄणामिति दर्शनात्पितृभ्यः स्वधाकार ओदपात्रादिति श्रुतेः । स्वाहावचनात्स्वाहाकारेण वेति केचित् । अथशब्दः पूर्वाहुतिसंबन्धार्थः । तेनात्रापि दक्षिणाप्राचीत्येवमादि स्यात् । स्वधानमस्कारप्रधानता चास्य प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

**अपूपस्यान्नस्येति समवदाय सर्पिर्मिश्रस्य जुहोत्यग्नये कव्यवाहनाय स्विष्टकृते स्वधा नम इति ॥ ५ ॥**

अपूपस्यान्नस्येति सर्पिर्मिश्रस्य समवदाय सौविष्टकृतीं जुहोति अग्नये कव्यवाहनायेत्यनेन । सर्पिर्मिश्रस्येति वचनमाज्यस्याप्यावेदनार्थम् । उपस्तरणाभिघारणार्थत्व आनर्थक्यान्मन्त्रवचनं द्रव्योपदेशार्थम् । एवं श्वोभूतेऽपि । अत्राथशब्दस्यानुवर्तनाद्वारुण्यादीनामभावः ॥ ५ ॥

**तं घृतवन्तं मधुमन्तमन्नं ... न्तर्श्राद्धाभिमर्शनेनाभिमृश्य पिण्डानामावृता पिण्डान्ददाति ॥ ६ ॥**

अथ परिषेकादिकर्मशेषं समाप्य पुनः प्राचीनावीतमपूपकृताद्यन्नं हुतशेषेणान्नेन मधुना मिश्रितमित्यर्थः । श्राद्धाभिमर्शनेन पृथिवी त इत्येतैरभिमृश्य जात्यपेक्षमेकवचनम् । ततः पिण्डार्थमवच्छिद्य पिण्डानामावृतोदकुम्भं दर्भमुष्टिं चाऽऽदायेत्येवमादिनोपस्थानान्तेन पिण्डं ददाति ॥ ६ ॥

**तेन ब्राह्मणं विद्यावन्तं परिवेवेष्टि ॥ ७ ॥**

अपूपादिनाऽवशिष्टेन ब्राह्मणान् विद्यावतः पूर्वमेवोपवेशितान् परिवेवेष्टि । उपस्पर्शादिना विधिना भोजयति । विद्यावत्त्वमिह भूयोविद्यया । अन्येऽपि गुणा मासिक उक्तास्तेऽपि स्युरेव ॥ ७ ॥

तेभ्यो यथाश्रद्धमन्नं धनं च ददाति ॥ ८ ॥

तेभ्यो भुक्तवद्भ्यो ब्राह्मणेभ्यो यथाश्रद्धमन्नमामं पक्वं धनं च हिरण्यादि दक्षिणां ददाति ॥ ८ ॥

प्रसिद्धमोदकाञ्जलिदानाद्यथा मासिके ॥
( ख० १४ ) ॥ ९ ॥

प्रसिद्धमतिदिष्टमिह ओदकाञ्जलिदानादुदकाञ्जलिनिनयनान्तम् । यथा मासिके तथो पस्पर्शनाद्युदकाञ्जलिदानान्तं पिण्डदानस्य कृतत्वात्तद्वर्जमतिदिश्यते । यद्येवं पिण्डानामावृतेति अनुमासिकेनातिदेशो न प्राप्नोति । नैष दोषः । तदप्यपेक्ष्य यथा मासिक इत्युच्यते । अथवा श्राद्धाभिमर्शनेनेत्यत्र श्राद्धग्रहणेन प्रकृते श्राद्धे याऽऽवृत्सा भविष्यति । अथवा स्मार्तस्यान्नस्य पिण्डदानविरोधाभावान्मासिकस्यैव भविष्यति । शेषमनुज्ञाप्योदकाञ्जलीन्निनीय सर्वतः शेषमवदायाश्नीयात् । समाप्तं पूर्वेद्युः कर्म ॥ ९ ॥

श्वोभूते पितृभ्यो गामालभते ॥ १० ॥

श्वोभूत एकाष्टकायां पितृभ्यो गामालभते ॥ १० ॥

कथम्—

अग्निमुपसमाधाय दक्षिणाप्रागग्रैर्दर्भैः परिस्तीर्येमां पितृभ्यो गामुपाकरोमि तां मे समेताः पितरो जुषन्ताम् । मेदस्वतीं घृतवतीꣳ स्वधावतीꣳ सा मे पितृन्सांपराये धिनोतु स्वधा नम इत्युपाकरणीयाꣳ हुत्वैकेन बर्हिषैकशूलया च वपाश्रपण्यौदुम्बर्योपाकरोति । पितृभ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तां प्रोक्षितां पर्यग्नि कृत्वा तामपरेणाग्निं प्रत्यक्शिरसं दक्षिणापदीꣳ संज्ञपयन्ति ॥ ११ ॥

अत्रापि ब्राह्मणनिवेदनादिस्थापनान्तमतिसर्जनान्तं कृत्वाऽपराह्णेऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणाप्रागग्रैर्दर्भैः परिस्तीर्य पात्रसंसादनकाले चतुरः शूलानधिकां स्वधितिं च प्रयुज्य मासिकवदाज्यसंस्कारान्तं कृत्वा इमां पितृभ्य इत्युपाकरणीयामाहुतिं हुत्वैकेन बर्हिषैकशूलया च वपाश्रपण्यौदुम्बर्योपाकरोति पितृभ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामीत्यनेन । अथैनामुपाकृतामसंस्कृताभिरद्भिः प्रोक्षति पितृभ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामीत्यनेन । अथशब्द उपाकरणसंबन्धार्थः । एनामिति वचनं कार्त्स्न्येनास्याः प्रोक्षणार्थम् । तेनोपरिष्टादधस्ताच्च प्रोक्षितव्यम् । पायनमन्तरतः प्रोक्षणार्थम् । तां प्रोक्षितामुल्मुकेन त्रिः पर्यग्नि कृतामपरेण तमग्निं प्रत्यक्शिरसं दक्षिणपादां निपात्य संज्ञपयन्ति । बहुवचनमनियतकर्तृकत्वार्थम् । प्रोक्षितामिति वचनं पर्यग्निकरणेन प्रोक्षणसंबन्धार्थम् । तेन प्रोक्षणमपि पर्यग्निकरणव-

न्नित्यम् । तेन संबन्धादुपाकरणवदेव यत्नं कुर्वन् संज्ञपयति । प्रोक्षणोपाकरणादेः केषांचिद्भाव इति । अत्र दक्षिणेनाग्निमित्युदीच्यानां पाठः ॥ ११ ॥

**संज्ञप्तायै तूष्णीमद्भिः प्राणानाप्याय्य तूष्णीं वपाꣳ हृदयं मतस्ने उद्धरति ॥ १२ ॥**

संज्ञप्तायास्तस्यास्तूष्णीमद्भिः प्राणानाप्याय्य तूष्णीं वपां हृदयं मतस्ने चोद्धरन्ति । संज्ञप्ताया इति स्वयं संज्ञपननिवृत्त्यर्थम् । चतुर्थी षष्ठ्यर्थे । तूष्णींवचनं यासु(पशु)-वर्तिन्य(?) आवृतः प्राप्तये । तेन वागादिक्रमेणाऽऽप्यायनं तृणान्तर्धानादिना वपोद्धरणं च स्याताम् ॥ १२ ॥

**औदुम्बर्या वपाश्रपण्या वपाꣳ श्रपयत्यौदुम्बरेषु शूलेषु पृथगितराणि ॥ १३ ॥**

औदुम्बर्या वपाश्रपण्याऽस्मिन्नग्नौ वपां श्रपयति । उपर्याज्यमासिच्यौदुम्बरेषु शूलेषु पृथगितराणि हृदयं मतस्ने च श्रपयति । पृथगितराणीत्येके । एकस्मिन्नपि शक्यत्वाच्छ्रपणस्य ॥ १३ ॥

**श्रपयित्वाऽभिघार्योद्वास्य प्रसव्यं परिषिच्यौदुम्बरमिध्ममभ्याधायौदुम्बर्या दर्व्योपस्तीर्णाभिघारितां वपां जुहोति । वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैतान्वेत्थ निहितान्पराके । मेदसः कूल्या उप तान्क्षरन्तु सत्या एषामाशिषः सन्तु कामैः स्वधा नम इति ॥ १४ ॥**

तानि वपादीनि श्रपयित्वा प्रत्येकमभिघार्योद्वास्य । श्रपयित्वेति सर्वेषु शृतेषूद्वासनार्थम् । ततोऽनुप्रवेशिताश्चेद्ब्राह्मणा इहोपवेशनविसर्जनान्तं कृत्वा परिधाय परिधीन्प्रसव्यं परिषिच्यौदुम्बरमिध्ममभ्याधाय पूर्वेद्युर्वद्व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा औदुम्बर्या दर्व्योपस्तीर्णाभिघारितां वपां जुहोति वह वपामित्यनेन ॥ १४ ॥

**सर्वहुतां वपां जुहोति शेषमुत्कृष्य ब्राह्मणान्भोजयेत् ॥ १५ ॥**

सर्वहुतां वपां जुहोति । शेषं वा तस्या उत्कृष्यैव किंचिदवशिष्य ब्राह्मणान्प्राशयेत् । भोजनकाल उपस्तीर्णाभिघारितां वपामित्येव सर्वहुतत्वे सिद्धे सर्वहुतां वपां जुहोतीति वचनं यथाऽन्यत्र सर्वं हूयते तथैव होमार्थम् । तेन हिरण्यशकलयोरप्यवधानमपि स्यात्सर्वोत्तरविधित्सार्थमेवं पुनर्वचनं हिरण्यशल्काक्धानस्य प्रमाणाभावात् ।

शेषं वा कुर्यादित्येव सिद्धे ब्राह्मणान्प्राशयेदिति वचनं तेन होमनिवृत्त्यर्थम्। शेषं व्याकृत्येत्युदीच्यानां पाठः । तेषां सर्वहुतत्वमेव वपायाः प्रयोजनं च सर्वहुतवचनस्य हिरण्यशल्कावधानमेव। अयं च सूत्रार्थः । शेषं वपाहृदयमतस्तेभ्योऽवशिष्टं व्याकृत्य विभज्यावच्छिद्य द्वयोर(यम)ग्नौ श्रपयित्वा ब्राह्मणान्भोजयेत् । ब्राह्मणभोजने व्यञ्जनं कुर्यादित्यर्थः ॥ १९ ॥

**उपस्थितेऽन्न ओदनस्य माꣳसानामिति समवदाय सर्पिर्मिश्रस्य जुहोति। एकाष्टकां पश्यति दोहमानामन्नं माꣳसवद्घृतवत्स्वधावत्। तद्ब्राह्मणैरतिपूतमन्नं तमक्षितं तन्मे अस्तु स्वधा नमः। एकाष्टका तपसा तप्यमाना संवत्सरस्य पत्नी दुदुहे प्रपीना। तं दोहमुपजीवाथ पितरः संविदानाः स्विष्टोऽयꣳ सुहुतो ममास्तु स्वधा नमः। संवत्सरस्य प्रतिमामिति ॥ १६ ॥**

उपस्थिते ब्राह्मणभोजनार्थेऽन्ने तस्यौदनस्य मांसस्य हृदयादीनां समवदाय सर्पिर्मिश्रस्य जुहोति। एकाष्टकामेकाष्टका संवत्सरस्य प्रतिमामित्येताभिस्तिसृभिः। उपस्थितवचनात्पृथग्घोमार्थं श्रपणमिह नास्ति सर्पिर्मिश्रस्येत्यस्यावदानार्थम् । अथवा पात्रान्तर उभयं प्रक्षिप्याऽऽज्येन संयुज्य पुनरवदाय जुहुयादित्येवमर्थम् ॥ १६ ॥

**हुत्वाऽन्नस्य माꣳसानामिति समवदाय सर्पिर्मिश्रस्य जुहोत्यग्नये कव्यवाहनाय स्विष्टकृते स्वधा नम इति ॥ १७ ॥**

हुत्वैता आहुतीरन्नस्य मांसानां च समवदाय पूर्ववत्सर्पिर्मिश्रस्य जुहोति सौविष्टकृतीमग्नये कव्यवाहनायेत्यनेन। आहुतीर्हुत्वेति वचनं पूर्वासामाहुतीनां च तुल्यत्वख्यापनार्थं वारुण्यादिनिवृत्त्यर्थम्। तेन संवत्सरस्य प्रतिमामित्यस्यापि स्वधानमस्कारप्रधानता। ओदनस्येति वचनं सर्वत्र होमेऽन्नग्रहण ओदनस्यैव ग्रहणं न व्यञ्जनस्येति ख्यापनार्थम् ॥ १७ ॥

**प्रसिद्धमोदकाञ्जलिदानाद्यथा मासिके ॥ १८ ॥**

श्राद्धाभिमर्शनाद्युदकाञ्जलिदानान्तं मासिकवदविकृतमित्यर्थः ॥ १८ ॥

**अन्नधनदाने त्वत्रानियते ॥ १९ ॥**

अत्रान्नधनदाने अनियते स्याताम् । तयोरप्यनिषेधान्नियतत्वप्रतिषेधाद्विकल्पः। पूर्वेद्युःकर्मणोऽतिदेशाभावादिदमेव विधिप्रतिषेधयोर्विधायकमित्येके। अन्नशब्दस्तुशब्द-

श्चैवं समर्थितौ स्याताम् । तस्मादिदमत्र प्रयोजनमिहाष्टकास्वन्यत्र विहितो विशेषोऽन्यत्रापि भवतीति । तेनेहैकपवित्रत्वमन्वष्टक्ये स्वधानमस्कारप्रधानता । अन्नधनदानयोरनियतत्वं सिद्धं भवति ॥ १९ ॥

**श्वोभूते माꣳसशेषेण पितृभ्योऽन्नꣳ सꣳस्कृत्य त्वमग्ने अयासि प्रजापत इति जुहोति प्रसिद्धमोदकाञ्जलिदानाद्यथा मासिके ॥ ( ख० १५ ) ॥ २० ॥**

**इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रे विंशतितमप्रश्ने पञ्चमः पटलः ।**

श्वोभूतेऽन्वष्टक्यं नाम कर्म । तस्या एव गोमांसशेषेण पितृभ्योऽन्नं संस्कृत्य निवेदनादि मासिकवद्व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा प्राचीनावीती भूत्वा त्वमग्ने अयासि प्रजापत इत्येताभ्यां स्वधानमस्कारप्रधानाभ्यां मांसस्यान्नस्य जुहोति । स्विष्टकृदादि मासिकवदुदकाञ्जलिदानान्तं कर्तव्यम् । प्रसिद्धमोदकाञ्जलिदानाद्यथा मासिक इति सर्वातिदेशः । एवमावाहनमन्त्रस्य नियतत्वं नास्ति । अपां प्रसेकः पूर्वयोरेवाऽऽवाहनतुल्यत्वादेषां कर्मणाम् । समाप्तमष्टकाकर्म । मन्त्रा अपि यथाकालं मासिकवत्कर्तव्याः । प्रतिषेधाभावात् । अथाष्टकाया असंभवे यां जना इत्यनयाऽञ्जलिं(ली) रात्रौ दर्विहोम आपस्तम्बेनोक्तः । बह्वृचानां तु अथ श्वोभूतेऽष्टकापशुना स्थालीपाकेन वेति विकल्पेन स्थालीपाकमुक्त्वाऽप्यनडुहो यवसमाहरेदग्निना वा कक्षमुपोषेदेषाऽष्टकेति न त्वेवानष्टकः स्यादिति । अत्र द्वौ विकल्पावुक्तौ । बौधायनीये चोदकुम्भदानादि तु सर्वमसंभव उत्प्रेक्ष्यम् ॥ २० ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तौ विंशतितमप्रश्ने पञ्चमः पटलः ।

---

अथ विंशतितमप्रश्ने षष्ठः पटलः ।

---

**अथातः श्रवणाकर्म ॥ १ ॥**

अथातःशब्दावुक्तार्थौ । श्रवणाकर्मेत्यन्वर्थकसंज्ञा । श्रावण्यां कर्तव्यत्वात् । तदिदानीमधिक्रियते । श्रौतस्मार्ताग्निविषयत्वान्नित्यत्वाच्च ॥ १ ॥

**तद्या पौर्णमासी श्रवणेन युज्यात्तस्यामुपरिष्टात्सायमग्निहोत्रस्य दक्षिणाग्निमुपसमादधात्यौपासनमनाहिताग्नेः ॥ २ ॥**

तत्र या पौर्णमासी श्रवणेन नक्षत्रेण संयुज्यते श्रवणेन योगमर्हतीति श्रावणी पौर्णमासीत्यर्थः । तस्यामुपरिष्टात्सायमग्निहोत्रस्य दक्षिणाग्निमनाहिताग्निरौपासनमुपसमादधाति । अनाहिताग्नेरौपासनं श्रावण्यां पौर्णमास्यामित्येतावता लघुना सिद्धे तद्या पौर्णमासीत्यादिगुरुनिर्देशस्य प्रयोजनं यथावस्थितायामेव पौर्णमास्यामन्वाहितेष्वग्निष्विदं कार्यं न पौर्णमास्या उत्कर्षापकर्षे सामर्थ्यादित्येतदर्थम् । औपासनमनाहिताग्नेरिति दक्षिणाग्नौ विधानादन्यत्रापि विधीयते । औपासनस्यापि उपरिष्टात्सायं होमस्योपसमाधानमग्निहोत्रस्य स्थानीयत्वात् ॥ २ ॥

**अथोपकल्पयतेऽक्षतधाना अक्षतलाजान्सक्तून्किꣳशुकान्याञ्जनाभ्यञ्जने आज्यमिति ॥ ३ ॥**

अथ वक्ष्यमाणानि द्रव्याण्युपकल्पयते । अखण्डिता धाना अक्षताः । यवानां ता भवेयुः । लाजास्तथा व्रीहीणां लाजास्तथाऽन्यत्र दृष्टत्वात् । सक्तवो व्रीहीणां यवानां वा । किंशुकानि पलाशपुष्पाणि । आञ्जनाभ्यञ्जने लोकप्रसिद्धे एव । आज्यमसंस्कृतमेव । उपकल्पनवचनं लौकिकोपादानार्थमिति उत्तरत्र प्रयोजनवतोराञ्जनाभ्यञ्जनयोरप्यत्रैव संनिधानार्थम् ॥ ३ ॥

**दर्व्यामुपस्तीर्यैतेषामेवान्नानाꣳ समवदाय सर्पिर्मिश्रस्य जुहोति नमोऽग्नये पार्थिवाय पार्थिवानामधिपतये स्वाहा । नमो वायवे विभुमत आन्तरिक्षाणामधिपतये स्वाहा । नमः सूर्याय रोहिताय दिव्यानामधिपतये स्वाहा । नमो विष्णवे गौराय दिश्यानामधिपतये स्वाहेति किंशुकान्याज्येन संयुज्य जुहोति । जग्धो मशको जग्धा विचष्टिर्जग्धो व्यध्वरः । जग्धो व्यध्वरो जग्धा विचष्टिर्जग्धो मशकः । जग्धा विचष्टिर्जग्धो मशको जग्धो व्यध्वर इति ॥ ४ ॥**

औपासनं परिस्तीर्य परिस्तीर्णत्वादपरिस्तीर्य दक्षिणाग्निं दर्वीमाज्यं चोपस्तरणाभिघारणार्थं संस्कृत्यौपासनं परिषिच्य तूष्णीं च दक्षिणाग्निं सर्वतः परिषिच्य दर्व्यामुपस्तीर्य तेषामेव धानादीनां त्रयाणामन्नानां समवदाय सर्पिर्मिश्रस्य लौकिकेन सर्पिषा मिश्रितस्याभिघारितस्य जुहोति नमोऽग्नय इत्येतैश्चतुर्भिः प्रतिमन्त्रम् । पात्रान्तरे वाऽन्नत्रयं प्रक्षिप्य तेनाऽऽज्येन मिश्रयित्वा पुनरवदाय जुहोति । अन्नग्रहणं किंशुकनाभ्यञ्जननिवृत्त्यर्थम् । एवकारकरणं बलिहरणमप्येतैरेवान्नैः सर्पिर्मिश्रैः स्यादित्ये-

तदर्थम् । किंशुकान्याज्येन लौकिकेन संयुज्य जुहोति जग्धो मशक इत्येतैस्त्रिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रम् । त्रयः पर्याया एकैको मन्त्रः । पूर्वत्रेह च प्रतिमन्त्रं समिदभ्याधानम् ॥ ४ ॥

**उदकुम्भं दर्भमुष्टिं चाऽऽदाय प्राङ्मुखो निष्क्रम्य प्राचो दर्भान्सꣳस्तीर्य तेषु चतुरो बलीन् हराति ये पार्थिवाः सर्पास्तेभ्य इमं बलिꣳ हरामि । य आन्तरिक्षा ये दिव्या ये दिश्या इत्यत्राऽऽञ्जनाभ्यञ्जने दत्त्वोपतिष्ठते नमो अस्तु सर्पेभ्य इत्येतैर्मन्त्रैः ॥ ५ ॥**

पूर्ववत्परिषेकं कृत्वोदकुम्भं दर्भमुष्टिं चाऽऽदाय प्राग्विहारादौपासनप्रदेशाद्वोपनिष्क्रम्य गृहेष्वेव प्रागग्रान्दर्भानुपस्तीर्य तेषु तैरेवाग्नैश्चतुरः सर्पेभ्यो बलीन्हरन्ति । ये पार्थिवा य आन्तरिक्षा ये दिव्या ये दिश्या इत्येतैर्बलिहरणधर्मेण । तेषु सर्पास्तेभ्य इमं बलिꣳ हरामीत्यनुषङ्गः । अत्रैषु बलिषु सकृदाञ्जनाभ्यञ्जने दत्त्वा सर्वानुपतिष्ठन्ते नमो अस्तु सर्पेभ्य इत्येतैर्मन्त्रैस्त्रिभिः ॥ ५ ॥

**उदकुम्भमादाय त्रिः प्रदक्षिणमावसथं परिषिञ्चन्परिक्रामेद्यावता कामयेतैतावता मे सर्पा नावक्रामेयुरित्यपश्वेतपदा जहि पूर्वेण चापरेण च । सप्त च मानुषीरिमास्तिस्रश्च राजबान्धवैः । नवैः श्वेतस्याभ्याचारेणाहिर्जघान कंचन । श्वेताय वैदर्वाय नमो नमः श्वेताय वैदर्वायेति ॥ ६ ॥**

उदकुम्भमादाय त्रिः प्रदक्षिणमावसथं स्वगृहं परिषिच्य यावतोद्देशेन कामयेत यावता मम समीपे सर्पा नावक्रामेयुर्न गच्छेयुरिति तावतो देशेन सह परिक्रामेदपश्वेतपदेत्येतैर्मन्त्रैः सकृदुक्तैः ॥ ६ ॥

**अथोपतिष्ठते समीची नामासि प्राची दिगित्येतैर्मन्त्रैः प्रतिदिशम् ॥ ७ ॥**

अथ सर्पानुपतिष्ठते समीचीत्येतैः षड्भिः पर्यायैः । प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं सर्पबलिस्थानस्य पुरस्तात् स्थित्वा दक्षिणतः पश्चादुत्तरतश्चावस्थायाऽऽद्यैश्चतुर्भिर्मन्त्रैस्तमेव देशमभिमुख उपस्थाय प्रतिनिवृत्य पश्चात्प्राङ्मुखमुत्तमाभ्यामूर्ध्वाभिमुखोऽधोमुखश्चोपतिष्ठते । अथशब्दो बलिदेश एवोपस्थानार्थः ॥ ७ ॥

**नित्यमत ऊर्ध्वं बलिꣳ हरत्यामार्गशीर्ष्याः ॥ ८ ॥**

नित्यं प्रतिदिवसमत ऊर्ध्वमेतेनावगतेन विधिनैतान् सर्वबलीन् हरति आ मार्गशीर्ष्याः पौर्णमास्याः। आङ्मर्यादायाम् । प्रागाग्रहायणीकर्मण इत्यर्थः ॥ ८ ॥

**नात्र किंशुकहोमः ॥ ९ ॥**

अस्मिन्नित्ये बलिहरणे किंशुकहोमो न स्यात् । एतेन गम्यते पूर्वहोमा न स्युः॥९॥

**न परिषेचनं विद्यते ॥ १० ॥**

उदकुम्भेन परिषेकश्चात्र न विद्यते । अथवोभयमेकं वाक्यम् । न किंशुकहोमोऽत्र विद्यते न परिषेचनं विद्यत इति । तेन पूर्वत्र क्रियापदं नाध्याहर्तव्यम् । एवं किमर्थम् । द्वयोर्नञोः प्रतिषेधयोरतुल्यत्वख्यापनार्थम् । तेन प्राप्तप्रतिषेधो वा होमप्रतिषेधश्च स्यात्तेन सर्वेषां होमानामिह प्राप्तिर्बलिहरणमात्रं वा कर्तव्यमिति गम्यते । यदापस्तम्बेनोक्तम् । एवमत ऊर्ध्वं प्र(य)दर्श (श)नीयस्य सक्तूनां चैतान् बलीन्हरेदिति। बह्वृचानामपि नास्ति प्रत्यहं होमो बलिहरणमात्रमेव। इदं वाऽपरं विधानमस्ति तेषां प्रसंख्यायैव तावतो बलींस्तदहरेवोपहरन्तीति । तत्र प्रयोगः—अन्नहोमान् हुत्वा बलीन्दत्त्वाऽऽञ्जनाभ्यञ्जने दत्त्वोपस्थातव्यमिति ॥ १० ॥

**निरवदास्यन्निरवदास्यन्नित्यन्ततो बलीन्हरति ( ख० १६ )॥ ११ ॥**

**इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रे विंशतितमप्रश्ने षष्ठः पटलः ।**

मार्गशीर्ष्यां चतुर्दश्यां रात्रावन्ततो बलिहरणं तेभ्य इमं बलिं निरवदास्यन् निरवदास्यन्नित्येतेनैवमुदाहरति। केचित्तु यावदुक्तेन हरणमिच्छन्ति। समाप्तं श्रवणाकर्म॥ ११॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तौ विंशतितमप्रश्ने षष्ठः पटलः ।

---

अथ विंशतितमप्रश्ने सप्तमः पटलः ।

---

**आग्रहायणीं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥**

आग्रहायणी मार्गशीर्षी पौर्णमासी तस्यां या क्रिया साऽपि तद्योगादाग्रहायणीत्युच्यते । प्रत्यवरोहिणीति वा तस्या नामधेयं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

**मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यामग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्य पयसि स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽभिघार्योद्वास्य व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा जुहोति । इडायै**

सुप्तं घृतवच्चराचरं जातवेदो हविरिदं जुषस्व । ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषाँ सप्तानामिह रन्तिरस्तु पुष्टिः स्वाहा । यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमिवाऽऽयतीम् । संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली स्वाहा । शिवा पशुभ्यो दारेभ्यः शिवा नक्तं शिवा दिवा । संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गलीः स्वाहा । पौर्णमासी पूरयन्त्यायान्त्यपरापरान् । मासार्धमासान्विभजन्ती सा नः पूर्णाऽभिरक्षतु स्वाहेति ॥ २ ॥

मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यां रात्रावग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्येत्यादि व्याख्यातं व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा ततः स्थालीपाकस्यावदाय चतस्र आहुतीर्जुहोति इडाया इत्येताभिश्चतसृभिः ॥ २ ॥

अथ सौविष्टकृतीं जुहोति स्विष्टमग्ने अभि तत्पृणाहि विश्वादेव पृतना अभिष्य । उरुं नः पन्थां प्रदिशन्विभाहि ज्योतिष्मद्धेह्यजरं न आयुरिति ॥ ३ ॥

अथ स्थालीपाकस्यैवावदाय सौविष्टकृतीं जुहोति स्विष्टमग्न इत्यनया । अथशब्द आनन्तर्यार्थः पूर्वसंबन्धार्थश्च । आनन्तर्याद्वारुण्यादिनिवृत्तिः । पूर्वसंबन्धात्स्थालीपाकादेव स्विष्टकृत् ॥ ३ ॥

ततः पाणी प्रक्षाल्य भूमिमालभते । प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु । प्रत्यङ्गेषु प्रतितिष्ठाम्यात्मन्प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टे । प्रतिद्यावापृथिव्योः प्रतितिष्ठामि यज्ञे । त्रया देवा एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः । बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे । देवा देवैरवन्तु मेति ॥ ४ ॥

ततः कृत्वा परिषेकविसर्गादि पाणी प्रक्षाल्य भूमिमालभते प्रतिक्षत्र इत्यादिमन्त्रैः । तत इति वचनं पूर्वैश्च ( र्वस्य ) वक्ष्यमाणैश्च संबन्धार्थम् । तेन रात्रावेव होम इति गम्यते । अथवाऽऽलम्भनस्यैव होमानन्तर्यार्थम् । तेनाऽऽलम्भनान्तं कृत्वा व्यापारान्तर-

मप्यवश्यं कार्यम् । कृत्वोपवेशनादि कर्तुमालभते । अन्य आहुरादावेव होमस्तदनन्तरमेवाऽऽलम्भो रात्रावुपवेशनादि । ततश्च प्रावसायं होमानन्तरं निरवदास्यन्बलिहरणमिति । अथाऽऽहुः—मार्गशीर्ष्यामित्यादिविधिं च मन्यन्ते । तत्र दिवा होमो विरुध्यते । अस्तमिते पायसस्य जुहुयुरिति शास्त्रान्तरे दर्शनात् । कर्ममध्ये कर्म क्रिया च विरुध्यते सत्यां गतौ । तस्मात्स्नानविधानादिति ॥ ४ ॥

**तेषां दक्षिणा गृहपतिरुपविशत्युत्तरा उत्तरे प्रजोत्पत्त्यानुपूर्व्येण तेषां ये मन्त्रविदस्ते मन्त्राञ्जपन्ति ॥ ५ ॥**

तेषां गृह्याणाममात्यानां यो गृहपतिः स दक्षिणत उपविशति । तेषामिपि ( ति ) प्रकृतवाचिना समर्थ ( सर्व)नाम्ना निर्देशात्पूर्वमपि होमकालादूगृह्याः संनिहिता इति गम्यते । शास्त्रान्तरे दृष्टत्वात् । इह प्रसिद्धत्वादपरेणाग्निमुपवेशनम् । उत्तरा उत्तरे । ततो गृहपतेरुत्तरत उपविशन्ति । कथम् । प्रजोत्पत्त्यानुपूर्व्येण । तस्या आनुपूर्व्येण जननक्रमेणेत्यर्थः । पत्युरुत्तरतो भार्या । ततो वृद्धक्रमेण पुत्रपौत्राः । तत्र यथावृद्धमिति सिद्धे प्रजोत्पत्त्यानुपूर्व्येणेतिवचनं गृह्याः सर्वे पुत्रपौत्रादय एवेत्येतदर्थम् । तेषाममात्यानां ये मन्त्रविद उपनीतास्ते मन्त्रान्स्योनादीन्वक्ष्यमाणाञ्जपन्ति । अनुपनीतास्त्रियश्च तूष्णीमेव कर्म कुर्वन्ति ॥ ५ ॥

**स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छा नः शर्मसप्रथाः । बडित्था पर्वतानामिति द्वाभ्यां दक्षिणैः पार्श्वैः संविशन्ति ॥ ६ ॥**

स्योना पृथिवि बडित्था पर्वतानामिति द्वाभ्यां ते सर्वे यथासनं दक्षिणैः पार्श्वैः प्राक्शिरस उदङ्मुखाः संविशन्ति ॥ ६ ॥

**उदायुषेत्युत्तिष्ठन्ति ॥ ७ ॥**

शयनादुदायुषेत्यनेनोत्तिष्ठन्ते ॥ ७ ॥

**उदस्थाममृता आभूमेत्युत्थाय जपन्ति ॥ ८ ॥**

उत्थायानन्तरमुदस्थामिति जपन्ति । उत्थायेति वचनमुत्थानाङ्गत्वाय । तेनोत्तरयोरुत्थानयोर्भवति ॥ ८ ॥

**एवꣳ रात्रेस्त्रिः संजिहते ॥ ९ ॥**

एवमस्यां रात्रौ त्रिः संविशन्ति । त्रिः संजिहते । उत्तिष्ठन्ति । एवं त्रिरित्येव सिद्धे रात्रेरिति वचनं पूर्वाभ्यां संवेशनोत्थानाभ्यां सहैव त्रित्वं न तत ऊर्ध्वमित्येतदर्थम् । इदं च प्रयोजनं न धर्ममात्रं श्रपयित्वाऽनन्तरमुपतिष्ठन्ति । उत्थाय जपित्वाऽऽचम्य संविशन्ति ॥ ९ ॥

**ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहꣳ स्वस्त्ययन-मृद्धिमिति वाचयित्वाऽथैताꣳ रात्रिं वसन्ति ॥ ( ख० १७ ) ॥ १० ॥**

**इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रे विंशतितमप्रश्ने सप्तमः पटलः ।**

ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य विशन्ति स्त्रिय उत्थायाऽऽचम्य परिवेषणान्नेनोपस्थिताग्निहोमादिपुण्याहादिवाचनान्तं कृत्वैतां रात्रिं सर्वे वसन्ति । अथेत्युपरिशय्याप्रतिषेधो नाऽऽस्तरणप्रतिषेधः । एतामिति द्वितीयानिर्देशनान्न पूर्वधर्ममात्रं स्वपनमिति गम्यते । समाप्तमाग्रहायणीकर्म ॥ १० ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तौ विंशतितमप्रश्ने सप्तमः पटलः ।

====

अथ विंशतितमप्रश्नेऽष्टमः पटलः ।

---:०:---

**अथात उपाकरणोत्सर्जने व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥**

अनन्तरं काण्डोपाकरणकाण्डविसर्गाभ्यां मध्ये काण्डोपाकरणोत्सर्जने व्याख्यास्यामः । अभ्यर्हितत्वादुपाकरणस्य पूर्वनिपातः । किमर्थं युगपत्प्रतिज्ञानं क्रियते । श्रवणापक्षे तैषी पक्षस्येति पृथग्वचनादेव सिद्ध उभयोः संयुक्तत्वख्यापनार्थम् । तेनासंभवादकृत उपाकरण उत्सर्गस्याप्यभावः । पारायणे चोत्सर्गस्य भावादुपाकरणमपि स्यात् । केचिदपूर्वाध्ययनार्थे उपाकरणोत्सर्जने मन्यन्ते । तेषां गृहीतस्यापि स्मरणार्थेऽभ्यासे न स्यातामुपाकरणोत्सर्जने । तत्र काण्डं प्रथममुपाकृत्याध्ययनमुपाकुर्यात् । असमाप्ते काण्ड उत्सर्गकाल आगत उत्सृज्याध्यायं विरम्य पुनरुपाकृत्याध्यायं काण्डं यथाकालमुपाकृत्याधीत्य काण्डं यथाकालमुत्सृज्य विरमितव्यमर्थात् । प्रथमोपाकरणेऽध्यायमुपाकृत्य काण्डमुपाकर्तव्यमर्थात् ॥ १ ॥

**श्रवणापक्ष ओषधीषु जातासु हस्तेन पौर्णमास्यां वाऽध्यायोपाकर्म ॥ २ ॥**

श्रावण्याः पौर्णमास्याः पक्षः श्रावणपूर्वपक्ष इत्यर्थः । तस्मिन्वृष्टे देवे जातास्वोषधीषु हस्तेन पौर्णमास्यां वा श्रावण्यामध्यायोपाकर्म भवति । यत्राध्यायः क्रियत आरभ्यते तदध्यायोपाकर्म । जातास्वोषधीष्विति संदिग्धे काले लिङ्गेन निर्णयः । अथवा जातास्वेवोत्कृष्यावकृष्यासु इति प्रोष्ठपद आषाढे वा मासि कार्यम् ॥ २ ॥

अग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा पञ्च काण्डर्षीञ्जुहोति प्रजापतये काण्डर्षये स्वाहा सोमाय काण्डर्षये स्वाहाऽग्नये काण्डर्षये स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः काण्डर्षिभ्यः स्वाहा स्वयंभुवे काण्डर्षये स्वाहेति काण्डर्षयः काण्डनामानि वा सावित्रीमृग्वेदं यजुर्वेदꣳ सामवेदमथर्ववेदꣳ सदसस्पतिमिति हुत्वा त्रीनादितोऽनुवाकानधीयन्ते(ते) ॥ ३ ॥

अग्निमुपसमाधाय शिष्यैरन्वारब्धो व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा चतुरः पञ्च वा काण्डर्षीञ्जुहोति । व्याख्याताः काण्डर्षयः । काण्डनामानि वा । तानि चत्वारि पञ्च वा । प्राजापत्यं सौम्यमाग्नेयं वैश्वदेवं स्वायंभुवमिति । सावित्र्यादिपदैश्च सर्वैश्चतुर्थ्यन्तैर्होमः । सदसस्पतिमितीतिकरणान्तत्वात्काण्डोपाकारणविसर्गयोश्च दर्शनात्प्रतीकग्रहणं वा स्यात् । सावित्रीमिति चैकामृचं मन्यन्ते । तेषामृग्वेदादिभिरपि सर्वे वा उच्यन्ते । तन्नास्माकम् । हुत्वैता आहुतीस्त्रीन्वेदस्याऽऽदितोऽनुवाकानधीयते । आचार्यशिष्याः, बहुवचनात् । वाचयत्यनारब्धवेदान्कृतारम्भांश्च । होमाधिकारे पुनर्हुत्वेतिवचनमध्येतॄणां सर्वेषां होमेऽस्त्यधिकार इति ख्यापनार्थम् । तेनोक्तमन्वारम्भणं सर्वेषां शिष्याणाम् ॥ ३ ॥

काण्डादीन्वा सर्वाञ्जयादि प्रतिपद्यते स्विष्टकृदन्तं कृत्वा त्र्यहमेकाहं वा क्षम्य यथाध्यायमध्येतव्यमिति वदन्ति ॥ ४ ॥

अथ काण्डादीनधीयते सर्वांश्चतुरः पञ्च वा । जयादिकर्म प्रतिपद्यते । आदिशब्दः प्रकारवाची । तेन वारुण्यादि प्रतिपद्यते । प्राक्स्विष्टकृदन्तं कृत्वा जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृतो जुहोति । स्विष्टकृदन्तं कृत्वा कर्मशेषं समाप्य त्र्यहमेकाहं वा क्षम्याध्ययनाद्विरम्य यथाध्यायं यथाऽधीत्याध्यायो व्यवस्थितस्तथा कृतान्तादारभ्याध्ययनमध्येतव्यम् । इति वदन्त्याचार्याः । त्र्यहानध्यायवचनमेकाहविकल्पार्थम् । तस्य धर्मेष्ववचनात् । यथाध्यायमितिवचनमधीतानां पुनरादित आरम्भनिवृत्त्यर्थम् । वदन्तीतिवचनमेवमेवाऽऽचार्या इति ख्यापनार्थम् । समाप्तमध्यायोपाकर्म ॥ ४ ॥

तैषीपक्षस्य रोहिण्यां पौर्णमास्यां वोत्सर्गः ॥ ५ ॥

तैषीपक्षस्य तैषमासस्य पूर्वपक्षस्य रोहिण्यां च समाप्य त्र्यहमेकाहं वा क्षम्याध्ययनाद्विरम्य यथाध्यायं यथाऽधीत्य पौर्णमास्यां वाऽध्ययनस्य चोत्सर्गो भवति । माघ्यामपि पौर्णमास्यामेके विदधिरे । तदप्येतेन विकल्प्यते ॥ ५ ॥

सगणः प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य यत्राऽऽपः सुखाः सुखावगाहास्तदवगाह्याघमर्षणेन त्रीन्प्राणायामान्कृत्वा सपवित्रैः पाणिभिरापो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इति चैतेनानुवाकेन स्नात्वा दर्भानन्योन्यस्मै संप्रयच्छन्तो दित्सन्त इवान्योन्यम् ॥ ६ ॥

सशिष्यगणोपाध्यायः प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य यत्राऽऽपः सुखा निर्मलाः सुखस्पर्शाः सुखावगाहाः सुखेनावगाह्या जलग्राहरहितास्तदवगाह्याघमर्षणसूक्तेन ऋतं चेत्येतेन तृचेन त्रीन्प्राणायामान्धारयित्वा त्रिर्वचनमेकप्राणायामो यावत्कृत्व उक्तेन कृतो भवति तावत्तावत्कृत्वा सपवित्रैः पाणिभिरापो हिष्ठेति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमान इति चैतेनानुवाकेन स्नात्वा दर्भानन्योन्यस्मै संप्रयच्छन्तो दित्सन्त इवेति दातुमिच्छन्त इवान्योन्यं प्रति । अथवा आदित्सन्त इवेति पाठः । आदित्सन्तो मुष्णन्त इवान्योन्यम् ॥ ६ ॥

ततः शुचौ देशे प्राचीनप्रवणे प्रागग्रैर्दर्भैरुदगपवर्गाण्यासनानि कल्पयन्ति ॥ ( ख० १८ ) ॥ ७ ॥

ततो दर्भदानानन्तरं विशेषेण शुचौ देशे प्राचीनप्रवणे प्रागग्रैर्दर्भैः सर्व उदगपवर्गाणि त्रयोविंशतिरासनानि कल्पयन्ति । ब्रह्मादिभ्योऽङ्गिरःपर्यन्तेभ्यः ॥ ७ ॥

ब्रह्मणे प्रजापतये बृहस्पतयेऽग्नये वायवे सूर्याय चन्द्रमसे नक्षत्रेभ्य इन्द्राय राज्ञे यमाय राज्ञे वरुणाय राज्ञे सोमाय राज्ञे वैश्रवणाय राज्ञे वसुभ्यो रुद्रेभ्य आदित्येभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यः साध्येभ्य ऋभुभ्यो भृगुभ्यो मरुद्भ्योऽथर्वभ्योऽङ्गिरोभ्य इति देवगणानाम् ॥ ८ ॥

ब्रह्मणे कल्पयामि प्रजापतये कल्पयामीत्येवं सर्वत्र । एतानि देवगणानामासनानि । देवगणग्रहणं दैवतेन तीर्थेन तर्पणार्थम् ॥ ८ ॥

विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः । अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्तर्षयो निवीतिन उत्तरत उदीचीनप्रवण उदगग्रैर्दर्भैः प्रागपवर्गाण्यासनानि कल्पयन्ति ॥ ९ ॥

विश्वामित्रादयः सर्वे सप्तर्षयो भवन्ति । किमर्थमिदम् । एतेषां वचनमासनकल्पनार्थमासनं कल्पयामीति । यद्येवं नार्थः । उत्तरत्रैषां संकीर्तनादेव सिद्धत्वात् । एवं तर्हि सप्तर्षीनुपस्थायेत्यत्रैतेषां संप्रत्ययार्थं मानवेन तीर्थेन तर्पणार्थं च । निवीतिन उत्तरतः कश्यपायेति निवीतिन उदगग्रैर्दर्भैः प्रागपवर्गाण्यासनानि कल्पयन्ति विश्वामित्रादिभ्यः सप्तभ्यः । वसिष्ठकश्यपयोर्मध्येऽरुन्धत्या अष्टममासनं कल्पयन्ति ॥ ९ ॥

**विश्वामित्राय जमदग्नये भरद्वाजाय गौतमायात्रये वसिष्ठाय कश्यपाय वसिष्ठकश्यपयोरन्तरालेऽरुन्धत्यै कल्पयन्ति दक्षिणतः प्राचीनप्रवणेऽगस्त्याय ॥ १० ॥**

दक्षिणतो देवगणानां प्राचीनप्रवणे देशे वसिष्ठान्तरालेऽगस्त्याय कल्पयन्ति ॥ १० ॥

**तत एकवेद्यां तेभ्यः कृष्णद्वैपायनाय जातूकर्ण्याय तरुक्षाय तृणबिन्दवे वर्मिणे वरूथिने वाजिने वाजश्रवसे सत्यश्रवसे सुश्रवसे सुतश्रश्रवसे सोमशुष्मायणाय सत्त्ववते बृहदुक्थाय वामदेवाय वाजिरत्नाय हर्यज्वायनायोदमयाय गोतमाय ऋणंजयाय ऋतंजयाय कृतंजयाय धनंजयाय बभ्रवे त्र्यरुणाय त्रिवर्षाय त्रिधातवे शिबिंताय पराशराय विष्णवे रुद्राय स्कन्दाय काशीश्वराय ज्वराय धर्मायार्थाय कामाय क्रोधाय वसिष्ठायेन्द्राय त्वष्ट्रे कर्त्रे धर्त्रे धात्रे मृत्यवे सवित्रे सावित्र्यै वेदेभ्यश्च पृथक्पृथगृग्वेदाय यजुर्वेदाय सामवेदायाथर्ववेदायेतिहासपुराणायेति ॥ ११ ॥**

ततोऽगस्त्यासनादारभ्योदगपवर्गं प्रागग्रैर्दर्भैरेकवेद्यां तेभ्य आसनानि कल्पयन्ति । के पुनस्ते । कृष्णद्वैपायनादय इतिहासपुराणान्ता एकपञ्चाशत्तेभ्योऽपि निवीतिन एव कल्पयन्ति । अधिकारात् । अथवा पराशरान्तेभ्यो निवीतवत्त्वान्निनीय कृष्णद्वैपायनादिभ्यो यज्ञोपवीतिनः कल्पयन्ति । देवत्वादेकस्यां च वेद्यां देवगणैस्तेभ्यः कल्पनं तेनैकवेद्य एतदन्तत्वादेकवेद्यत्वादिति सर्वत्रान्यत्र । अत्रान्येऽवशिष्टा देवेनैव ॥ ११ ॥

**दक्षिणतः प्राचीनावीतिनो दक्षिणाप्रवणे दक्षिणाग्रैर्दर्भैः प्रत्यगपवर्गाण्यासनानि कल्पयन्ति ॥**

( ख० १९ ) ॥ वैशंपायनाय पलिङ्गवे तित्तिरायोखायाऽऽत्रेयाय पदकाराय कौण्डिन्याय वृत्तिकाराय सूत्रकारेभ्यः सत्याषाढाय प्रवचनकर्तृभ्य आचार्येभ्य ऋषिभ्यो वानप्रस्थेभ्य ऊर्ध्वरेतोभ्य एकपत्नीभ्य इति ॥ १२ ॥

दक्षिणत एकवेद्यां तेभ्यो दक्षिणाप्रवणे देशे दक्षिणाग्रैर्दर्भैरासनानि प्रत्यगपवर्गाणि प्राचीनावीतिनः कल्पयन्ति वैशंपायनादिभ्यश्चतुर्दशभ्यः ॥ १२ ॥

कल्पयित्वा—

यथास्वं पितृभ्यो मातामहेभ्यश्च कल्पयन्त्यमुष्मै कल्पयाम्यमुष्मै कल्पयामीत्यासनेन ॥ १३ ॥

यथास्वं पितृभ्यो मातामहेभ्यश्चाऽऽसनानि कल्पयन्ति । अमुष्मै कल्पयामीति पित्रादिभ्यः । मात्रादिभ्योऽमुष्यै कल्पयामीति कल्पयित्वा । एवं मातामहादीनां तत्पत्नीभ्यश्च कल्पयन्ति । पिण्डपितृयज्ञवर्गीयपित्रादीनां नाम्नामज्ञाने सामान्यशास्त्रैः पित्रादिभ्यः कल्पयेयुः । अमुष्मै कल्पयामीत्यासनेन ॥ १३ ॥

अमुं तर्पयाम्यमुं तर्पयामीत्युदकेन ॥ १४ ॥

येभ्य आसनानि कल्पितानि तानमुं तर्पयामीत्युदकेन तर्पयन्ति । तेष्वासनेषूदकमासिञ्चतीत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि ॥ १४ ॥

अमुष्मै नमोऽमुष्मै नम इति गन्धपुष्पधूपदीपैरमुष्मै स्वाहाऽमुष्मै स्वाहेत्यन्नेनामुं तर्पयामीति फलोदकेनामुष्मै नमोऽमुष्मै नम इत्युपस्थाय ॥ १५ ॥

अमुष्मै नम इति गन्धादिभिरर्चयन्ति । द्रव्यपृथक्त्वेऽभ्यावृत्तिभि. । अमुष्मै स्वाहेत्यन्नेनार्चयन्ति । अमुं तर्पयामीति फलोदकेन तर्पयन्ति । अमुष्मै नम इति उपस्थानं कर्तव्यम् ॥ १९ ॥

अपरेण वेदिमग्निमुपसमाधाय व्याहृतिपर्यन्तं कृत्वा पञ्च काण्डर्षीञ्जुहोति काण्डनामानि वा सावित्रीमृग्वेदं यजुर्वेदꣳ सामवेदमथर्ववेदꣳ सदसस्पतिमिति हुत्वा प्रथमेनानुवाकेनाधीयते काण्डादीन्वा सर्वाञ्जयादि प्रतिपद्यते स्विष्टकृदन्तं कृत्वा त्र्यहमेकाहं वा क्षम्य यथाध्यायमध्येतव्यमिति वदन्ति ॥ १६ ॥

अपरेण वेदिं तर्पणदेशेऽग्निमुपसमाधायेत्यादि व्याख्यातम् ॥ १६ ॥

**काण्डात्काण्डाद्या शतेनेति द्वाभ्यामुदकान्ते दूर्वा रोपयन्त्युदधिमूर्मिमन्तं कृत्वा प्राचीमुदीचीं वा दिशमातमितोराजिं धावन्ति ॥ १७ ॥**

समाप्य कर्मशेषं कण्डात्काण्डाद्या शतेनेति द्वाभ्यामुदकान्ते दूर्वा रोपयन्ति । येन खन्यते तेन स्थापयन्ति । एकवचनादेकैकैव दूर्वा सर्वेषां मन्त्रेण निर्देशनाद्बह्व्यो वा दूर्वाः । उदधिं जलाशयं विलोडनादूर्मिमन्तं कृत्वा प्राचीमुदीचीं वा दिशं बहिर्जलाशयादातमितोराजिं शीघ्रप्रगमनं धावन्ति ॥ १७ ॥

**प्रत्येत्यापूपैः सक्तुभिरोदनेनेति ब्राह्मणाꣳश्च तर्पयन्ति ॥ १८ ॥**

तत आजिसरणात्प्रत्येत्य ग्रामं प्रविश्यान्नहोमान्हुत्वाऽपूपैः सक्तुभिरोदनेनेति ब्राह्मणाꣳश्च तर्पयन्ति । अथवोत्सर्गदेशात्प्रत्येत्य ग्रामं प्रविश्याकृत्वैवान्नहोममपूपादिभिर्ब्राह्मणाꣳश्च तर्पयन्ति । अपूपादिग्रहणात् पुण्याहवाचनाभावादन्नाभावाच्च नास्त्यन्नहोम इत्येके ॥ १८ ॥

**एवं पारायणसमाप्तौ काण्डात्काण्डादिति दूर्वारोपणोदधिधावनवर्जं नित्यमेवꣳ स्नात्वाऽद्भिर्देवानृषीन् पितॄꣳश्च तर्पयन्ति ॥ ( ख० २० ) ॥ १९ ॥**

**इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रे विंशतितमप्रश्नेऽष्टमः पटलः प्रश्नश्च समाप्तः ।**

एवं पारायणसमाप्तौ विसर्जनस्य भावादुपाकरणमप्यादावस्तीत्युक्तं दूर्वारोपणोदधिवनवर्जमिति । नित्यमेव०तर्पयन्ति । नित्यमेवाद्भिर्ब्रह्मयज्ञादनन्तरमेतानेव देवानृषीन्पितॄꣳश्च तर्पयन्ति । एकवेद्यन्तानामपि ऋषित्वाद्दर्षिषु देवेषु वाऽन्तर्भावादप्स्वेव तर्पणम् । द्विरावृत्तिः प्रश्नसमाप्त्यर्था । समाप्त उत्सर्गः । समाप्तं गृह्यसूत्रम् ॥ १९ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यसूत्रव्याख्यायां मातृदत्ताचार्यविरचितायां वृत्तौ विंशतितमप्रश्नेऽष्टमः पटलः प्रश्नश्च ।

# अथ सत्याषाढविरचितहिरण्यकेशिगृह्यशेषसूत्रम् ।

तत्र प्रथमः पटलः ।

अथात आचाराव्याख्यास्यामः । आचाराल्लभते धर्ममाचाराल्लभते धनमाचाराल्लभते सुखमाचारादेव मोक्षं प्राप्नुयात् । उत्थाय पश्चिमे यामे शान्तमानसोऽपनिद्रः सति विरोधे तं त्यक्त्वा नो चेत्तत्र सँस्थितः समौ प्राणापानौ धृत्वा दिवाकरं समुत्थाप्य दिवाकरेण प्रोत्फुल्लिते पद्मे मानसं हंसं समाश्रयेत् । अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं परापरं ज्योतीरूपं समालोक्य दिव्यं दिव्येन चक्षुषा यथालाभमुषःकाले स्थित्वा स्तोत्रैरनेकधा स्तुत्वा सोपानत्को बहिर्यायात्सजलाशयं विरलम् । अस्थिविण्मूत्रभस्मकीटादिकं नाऽऽक्रामन् द्विजः स्थिरमनाः शुचिस्थाने द्रव्यजातं निधाय वालुकाक्रिमिदूर्वादिना विमुक्तां मृत्तिकामादाय रथ्याया दूरतः स्थाप्य धौतं जलान्तिकेऽध्वनो दूरं गत्वा ततो मौनी दाक्षिणकर्णोपवीतवान् निवीतं पृष्ठतः कृत्वा संवृतमस्तको मूर्धानमस्पृशन् रहस्ये विसृजेन्मलम् । वस्त्रच्छन्नोर्ध्वकायः नासाग्रन्यस्तनेत्रो दिवासंध्यासु सौम्यास्यः । रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः । महावातेऽक्षिरोगे दिग्भ्रमे गुप्तस्थाने यथासुखमुखो भूत्वा मृगचोरभयादिषु अयज्ञाङ्गतृणच्छन्ने भूतले मलं विसृजेत् । केशवस्याहां भूदेवी जगद्धात्री वसुंधरा । विश्वंभरा क्षमा यस्मात्तामाच्छाद्य मलं त्यजेदिति । मुनिदेवालयारामवल्मीकजलभस्मगोमयदूर्वासस्यक्षेत्रसरःपर्वताश्मभूगर्तेषु नोत्सृजेन्मलमूत्रे ॥ १ ॥

नभोविण्मूत्रदिक्चन्द्राग्न्यादित्यगोविप्रस्त्रीदेवताभिमुखो मूत्रपुरीषे न विसृजेत् । पथिकविश्रान्त्युपयोगिच्छायायां न विसृजेत् । स्वां तु च्छायामवमेहेत्(?) । न सोपानन्मूत्रपुरीषे कुर्यात् । कृष्टे पथ्यप्सु च । तथा ष्ठीवनमैथुनयोः कर्माप्सु वर्जयेत् । अयज्ञाङ्गैस्तृणैः पायुमलमुत्सृज्य अधोदृष्टिश्च वामपाणिना शिश्नं गृहीत्वा किमप्यस्पृशन् शौचस्थानं समागम्य शौचं कमण्डलुकैस्तोयैराचरेद्वामपाणिना । एका लिङ्गे तिस्रस्तस्मिन्हस्ते । द्वयोर्द्वे च । पञ्चापाने । वामहस्ते दश । उभयोः सप्त । तिस्रस्तिस्रश्चरणयोः । लिङ्गे त्रिपर्वमाना स्यात् । अन्यत्राऽऽमलकोपमा । स्त्रीशूद्राणां गन्धलेपादिक्षयकरं कुर्यात् । ब्रह्मचार्यादीनां द्विगुणत्रिगुणादि । दिवा यद्विहितं शौचं निशि तदर्धम् । तदर्धमातुरे । तदर्धमध्वनि । पथिदेवालयारामवल्मीकमूषिकबहिश्चरसंबन्धिनी मृत्तिका न ग्राह्या । शौचाचारविहीनस्य समस्ताः क्रिया निष्फलाः । सूकरास्थिपुष्पितस्त्रीश्वकाकान्नावलोकयेत् ॥ २ ॥

पश्चाद्देशान्तरगत उपवीतवानाचामेत् । अन्तर्जानुः शुचौ देश उदङ्मुख उपविष्टः । न प्रह्वो न तिष्ठन्न प्राग्वासाः । ब्राह्मेण तीर्थेन शनै शनैः पिबेत् । कुशपूतं तोयं पिबेत् । कुशपूतमुपस्पृशेत् । कुशाग्रमिश्रितं तोयं सोमपानसमं दिने दिने । कनिष्ठाप्रदेशिन्यङ्गुष्ठमूलानि करस्याग्रं च क्रमात्प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थानि । दक्षिणं करं गोकर्णाकृतिवत्कृत्वा जलं गोकर्णाकृतिना त्रिः पिबेद्ब्रह्मतीर्थेन । समस्ताङ्गुलिसाहित्यमेव गोकर्णाकृतिः । तेन पीतं सोमपानसमम् । असाहित्यं सुरासमम् । अङ्गुष्ठमूलेनाऽऽस्यं द्विरुन्मृज्य प्रदेशिन्यादितिसृभिः सहिताभिः सकृदुपस्पृशेदास्यम् । अर्धं तोयं गृहीत्वा दक्षिणेन प्रोक्षणं सव्यहस्ते पादयोः शिरसि च । तदनन्तरं खान्युपस्पृशेत् । अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां नासिके । अङ्गुष्ठमध्यमाभ्यां चक्षुषी । श्रोत्रे अङ्गुष्ठानामिकाभ्याम् । अङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां नाभिम् । तथा तलेन हृदयम् । शिरः समस्ताङ्गुलिभिः स्पृशेत् । अङ्गुल्यग्रैरंसौ द्वौ । द्विजः शुद्धिमवाप्नुयात् । काष्ठाब्जवेणुकालाबुचर्माश्मनारीकेलैर्नाऽऽचामेत् । वामहस्तेन च नाऽऽचामेत् । यद्याचामेत्सदाऽशुचिरेव स्यात् । कटिदोरान्वितो यः श्रौतस्मार्तानुष्ठानं करोति तत्सर्वं निष्फलं भवति । नरकं चैव गच्छति । इत्याचमनविधिः ॥ ३ ॥

अव्यग्रः प्राङ्मुखो निषण्णो दन्तधावनं कुर्यात् । सार्द्रं दन्तकाष्ठं समं छिन्नं सत्वक्पर्वकं कषायं तिक्तं कटुकं कण्टकान्वितम् । सुगन्धिवृक्षगुल्मान्क्षीरिणो वा भक्षयेत् । दन्तधावनं कीटाद्यदूषितं शुचिं वितस्तिमात्रम् । ककुभाशोकजम्ब्वाम्रकपित्थबकुलोद्भवं गृहमेधिनामतिमुख्यम् । अपामार्गं प्रशस्तम् । तालहिन्तालगुवाककेतकीमहद्वटखर्जूरनारिकेलाः सप्तैते तृणराजकाः। एतेषु द(तैर्द)न्तधावनं प्रमादादपि च नाऽऽचरेत्। यद्याचरेच्चण्डालयोनिः स्यात्। शाल्मल्यश्वत्थकिंशुकबिल्वकरञ्जबकुलश्लेष्मातकबिभीतकशमीबन्धूकाम्राकप्लक्षनिर्गुण्डीसूचीमुखवटकण्टकवदपामार्गान्वर्जयेत् । कार्पासं वा भस्म पूतिगन्धं च वर्जयेत् । भानावभ्युदिते विकृतिं विना दन्तधावनं न कुर्यात् । कुर्याच्चेन्मुनयो मन्त्रा वेदा देवाः पितरस्तत्पराङ्मुखा भवन्ति । पूर्वाभिमुखो धृतिशरीरारोग्यवान् । दक्षिणास्यो रोगी । पश्चिमास्यो निर्धनः । उत्तरास्यो भोगी स्यात् । गवां नाश इत्येके । तत्र—आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजाः पशुवसूनि च । ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वं नो देहि वनस्पते ॥ इतीमं मन्त्रं समुच्चार्य समाहरेद्दन्तकाष्ठम् ॥ ४ ॥

अष्टम्यां चतुर्दश्यां द्वादश्यां त्रिजन्मसु च तैलं मांसं व्यवायं दन्तकाष्ठं च वर्जयेत् । प्रतिपत्पर्वषष्ठीनवमीदशमीद्वादशीषु दन्तकाष्ठसंयोगे दहत्यासप्तमं

कुलम् । निषिद्धदिवसे विप्रः कुर्यादाम्रपत्रैर्दन्तधावनम् । पुनराचम्याहरहः स्नानं देवर्षिपितृतर्पणं स्वाध्यायोऽतिथिकार्यं च षट्कर्माणि दिनेदिने । रवावनुदित उषस्युषसि सिन्धुसंगमकासारतटाकनदनदीषु स्नानं प्राजापत्येन तुल्यं महापातकनाशनम् । सतिलैः कुशैः प्रतिकृतिं कृत्वा यममुद्दिश्य दक्षिणाभिमुखो निमज्जति । देवान् पूर्वाभिमुखो मुनीनुत्तराभिमुखः पितॄन्दक्षिणाभिमुखो जलमध्ये प्रतर्पयेत् । उत्तीर्यापसव्येन यथाविधि वस्त्रं पीडयेत् । ये के चास्मत्कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः । ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकमिति ॥ ५ ॥

कुशान्सव्यहस्ते धृत्वाऽऽचमनक्रियां मन्त्रैः । जलावगाहे वारुणम् । भस्मनाऽऽग्नेयम् । गोरजसा वायव्यम् । आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतैर्मन्त्रैर्ब्राह्मस्नानम् । नाभेरधः प्रक्षालनमूर्ध्वं चाऽऽर्द्रवाससा शरीरसंमार्जनं कापिलम् । अव्ययानन्दचित्स्वरूपविष्णुचिन्तनं मानसम् । यत्सातपवर्षं तद्दिव्यस्नानम् । शरीरस्यासामर्थ्याद्देशकालयोर्वैषम्यात्स्नानान्येतानि तुल्यानि । श्रेष्ठं मानसमुच्यते । भेषजासक्ते सरुजे राजचोराद्युपद्रवे मन्त्रस्नानमापो हि ष्ठेत्यादिभिर्मन्त्रैर्विधीयते—

भुवि मूर्ध्नि तथाऽऽकाशे मूर्ध्न्याकाशे तथा भुवि ।
आकाशे भुवि मूर्ध्नि स्यान्मन्त्रस्नानविधिः क्रमात् ॥ इति ॥ ६ ॥

सदशमखण्डं श्वेतं धौतवस्त्रद्वयं स्नाने दाने जपे होमे देवपूजने भोजने धार्यम् । रक्तं नीलं मलिनं दशाहीनं च वर्जयेत् । मौनाभावे स्नानं हरति तेजः । जुह्वतोऽग्निः श्रियं हरति । भुञ्जानो मृत्युमाप्नोति तस्मान्मौनं चरेत्त्रिषु । विशिखोऽनुपवीती यच्च करोति तन्निरर्थकम् । स्नानदानादिकं कर्माऽऽसुरं भवति । दिनमेकमपि यज्ञोपवीतेन विना स्थितः शूद्रत्वमाप्नोति मृतः सूकरतां व्रजेत् । कायस्थमेव धार्यम् । कदाचन नोद्धरेत् । तस्य सकृदुद्धरणेन प्रायश्चित्ती भवेत् । बटोरेकमुपवीतम् । गृहस्थारण्यवासिनोर्द्वे वस्त्राभावे तृतीयमुत्तरीयार्थं धार्यम् । एकमेव यतीनां स्यादित्येके ॥ ७ ॥

शुद्धक्षेत्रोत्थं कार्पासं समादाय जीवभर्तृकया ब्राह्मण्या वा सूत्रं कारितं त्रिगुणं त्रिगुणीकृत्यैको ग्रन्थिस्तस्येष्यते । कायमानेन तत्कृत्वा न खर्वं न चाऽऽयतम् । प्रथमस्तन्तुरोंकारो द्वितीयोऽग्निस्तृतीयो नागदेवत्यश्चतुर्थो वायुदेवताकः पञ्चमः पितृदेवताकः षष्ठः प्राजापत्यः सप्तमो विष्णुदेवत्योऽष्टमः सूर्यः सर्वदेवत्यो नवम इति । एते नव तन्तवः । एतन्नाभिजानाति यदा तदा स्याद्-

शुचिर्नरः । परवारिषु सप्त पिण्डानुद्धरेत् । कूपात्त्रीन्पिण्डानुद्धृत्य । आदित्याभिमुखो भूत्वा स्नायात् । नदीमुखो नद्यां स्नायात् । अन्यां नदीं न प्रशंसेत् । धनुःसहस्राण्यष्टौ गतिर्यस्याः सा नदी । नद्यां विद्यमानायामन्यवारिषु न स्नायात् । गयागङ्गाकुरुक्षेत्रादितीर्थानि । एतानि संस्मृत्य जलाशये त्रिर्निमज्जेत् । पद्भ्यां न जलं ताडयेत् । नाशुद्धो जलं प्रविशेत् । असृक्शकृन्मूत्रष्ठीवनरेतांस्यप्सु न निक्षिपेत् । तदभावे गृहे कुर्यात्स्नानं प्रतिदिनम् । अष्टपञ्चनवभिः कुम्भैर्गायत्र्या चाभिमन्त्रितैः । एकवासाः कर्माणि न कुर्यात् । एकवाससा जलं न विशेत् । आचम्य तीरस्थः क्षालयेन्मलं देहजम् । जपो होमो दानं यागः स्वाध्यायः पितृकर्म चोर्ध्वपुण्ड्रं विना तत्सर्वं भस्मी भवति । अनाचारोऽशुचिर्वा पापं मनसाऽऽचरन्नूर्ध्वपुण्ड्राङ्कितः शुचिरेव भवेत् । द्वारवत्युद्भवगोपीचन्दनोर्ध्वपुण्ड्रधारी नित्यं नित्यं पापं हन्ति ॥ ८ ॥

जपहोमदानवैश्वदेवशिवार्चनश्राद्धेषु तिर्यग्भस्मना त्रिपुण्ड्रधारणात्सर्वमक्षयं भवति । जाह्नवीतीरसंभूततिलकचन्दनधारिणं दृष्ट्वा ब्रह्महा शुध्येत् । गोपीचन्दनधारी सूर्यरूपं बिभर्ति । केवलं तमोनाशाय । शालग्रामशिलालग्नं कुङ्कुमं चन्दनं यस्तु देहे धारयते स मुक्तो भवति । स्नानदानजपहोमसंध्यातर्पणपूजनेषु पवित्रपाणिः स्यात् । अन्यथा चाऽऽसुरं भवेत् । अग्रं चतुरङ्गुलं ग्रन्थिरेकाङ्गुलो वलयं द्व्यङ्गुलमिति पवित्रस्य लक्षणम् । अग्रं ब्रह्मदेवत्यं ग्रन्थिर्विष्णुदेवत्यो वलयं चैश्वरं पवित्रस्याधिदेवताः । पथिजातचितिजातकुशान् । श्मशानपितृतर्पणास्तरणासनपिण्डसंबन्धिनः कुशान्वर्जयेत् । कुशमूलकुशमध्यकुशाग्रेषु क्रमेण ब्रह्मविष्णुमहेश्वरास्तिष्ठन्ति । तस्मान्नित्यं धारयेत् । कुशपाणिः सदा तिष्ठेद्दम्भवर्जितः । नित्यं हन्ति पापान्यनलस्तूलराशिमिव । कुशपूतं तोयं पिबेत्कुशपूतमुपस्पृशेत् कुशाग्रमिश्रितं सोमपानसमम् ॥ ९ ॥

स्थिरमनाः प्राङ्मुखः समे पीठ उपविश्य पादौ हस्तौ च प्रक्षाल्य जानुमध्यकरो द्विराचम्य ततः संध्यामुपासीत । आसने समासीनः प्राणायामान्समाचरेत् ।

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिर्जपेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥ इति ।

स्वस्वशाखोक्तविधिना संध्यावन्दनमाचरेत् । संध्याहीनो नित्यमशुचिः स्यात् । सर्वकर्मस्वनर्हः । इहैव जन्मनि शूद्रः सन्ब्राह्मण्याद्धीयते । सूर्येन-

क्षत्रवर्जितो योऽहोरात्रयोः संधिः सा संध्या समाख्याता ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । दृष्टनक्षत्रोत्तमा । लुप्ततारा मध्यमा । दृष्टसूर्या चाधमा । प्रातःसंध्या त्रिधा । माध्याह्निकसंध्या घटिकात्रयमुक्ता । श्रेष्ठाऽर्धार्कमण्डला । अस्तमितसूर्या मध्यमा । दृष्टनक्षत्रा चाधमा । सायंसंध्याऽपि त्रिधा । स्वस्थः सन्नेकाहमप्यनुपास्यश्चेत्पतितो भवति । गर्तप्रस्रवणादिषु दशगुणा बहिःसंध्या । प्रसिद्धतीर्थेषु शतम् । जाह्नवीजले सहस्रम् । गृहेषु संध्या प्रकृतिः । गोष्ठे शतगुणम् । नद्यां सहस्रम् । शिवसंनिधावनन्तम् । प्राणानायम्य संप्रोक्ष्य कराभ्यामुदकमादाय गायत्र्याऽभिमन्त्रितं सूर्याभिमुखस्तिष्ठंस्त्रिरूर्ध्वं संध्ययोः क्षिपेत् । प्रातः प्राङ्मुखस्तिष्ठन्ना सूर्यदर्शनात्सावित्रीं जपेत् । आतारकोदयात्सायं प्रत्यङ्मुख आसीनः सावित्रीं जपेत् । तत्कालजनितं दशभिः शतेनाहोरात्रकृतं पापं सहस्रेण वर्षजं किल्बिषं गायत्री हन्ति ॥ १० ॥

गृहे जाप्यमेकगुणम् । नद्यां द्विगुणम् । गोष्ठे शतगुणम् । अग्न्यगारे शताधिकम् । शुद्धक्षेत्रतीर्थेषु देवतासंनिधौ दशकोटीनां सहस्रम् । अनन्तं शिवसंनिधौ । दारिद्र्यं वंशासने । व्याधिसंभवः पाषाणे । धरण्यां दुःखसमृद्धिः । दारुकासने दौर्भाग्यम् । तृणासने यशोहानिः । चित्तविभ्रमः पल्लवे । ज्ञानसिद्धिः कृष्णाजिने । व्याघ्रचर्मणि मोक्षः । श्रीर्वस्त्रासने । रोगनाशो वेत्रासने । कौशेयं पुष्टिकरम् । कम्बलं दुःखमोचनम् । एकगुणमङ्गुलिजपेन । रेखास्वष्टगुणम् । रौप्यैर्दशगुणम् । शङ्खैः शतगुणम् । प्रवालैः सहस्रम् । मौक्तिकैर्लक्षम् । पद्माक्षैः कोटिः । सुवर्णैः शतकोटिः । अनन्तं मानसम् । रुद्राक्षैः संख्या न विद्यते । ततः सूर्यमुपासीत—आ सत्येन मित्रस्य चेमं मे वरुणेत्यादिभिरथ दिगुपस्थानम्—नमः प्राच्यै दिश इत्येतैर्यथालिङ्गम् । गायत्रीं विसृज्य गुरूनभिवाद्य समाचम्य समादाय तीर्थतोयम् । आत्मनो मन्दिरं गच्छेत् । स्वशाखोक्तविधानेन नित्यहोमं कुर्यात् । ब्रह्मयज्ञेन विधिवत्कृत्वा तर्पणमाचरेत् । देवा एकैकमञ्जलिम् । प्रजापत्यादयो द्वौ द्वौ । पितरस्त्रींस्त्रीनर्हन्ति । स्त्रियस्त्वेकैकमञ्जलिमित्येके । पितृवन्मातॄणां कार्यम् ॥ ११ ॥

एवं मातामहानाम् । पिता माता सपत्नी जननी मातामहो मातृमाता स्वभार्या सुतो भ्राता पितृव्यः तत्सुता सपरिग्रहा मातुलः स्वसा श्वशुरो दौहित्रो दुहिता भागिनेयकः स्नुषा पितृष्वसा मातृष्वसा जामाता भावुकः शालकः सगोत्रजनितान्क्रमेण विधिवत्तर्पयेत् । आवाहने स्नाने तर्पण उद्वासने द्वितीया

कार्या । नमस्कारेऽन्नदाने चतुर्थी कार्या । आसने षष्ठी । संबुद्धिः शेषे । विना रजतरुक्माभ्यां दर्भैश्च विना ताम्रपात्रेण विना न पितॄणां तृप्तिः । भृगुरविसप्तमीत्रयोदशीमृताहेषु तिलैस्तर्पणं न कुर्यात् । तीर्थे तिथिविशेषे प्रेतकार्ये च निषिद्धेऽपि दिने कुर्यात्—

नरकेषु सहस्रेषु यातनासु च ये स्थिताः ।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया ॥
येऽबान्धवा बान्धवा ये येऽन्यजन्मनि बान्धवाः ।
ते तृप्तिमखिला यान्तु मया दत्तेन चाम्बुना ॥ इति ॥ १२ ॥

ततो देवगृहं गत्वा पूजासंभारवानुपविश्याऽऽसने शुद्धे देवमर्चयेत्—

आरोग्यं भास्करादिच्छेद्धनमिच्छेद्धुताशनात् ।
ऐश्वर्यमीश्वरादिच्छेन्मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात् ॥ इति ।

आवाहनासनपाद्यार्घ्यस्नानोद्वर्तनवस्त्रोपवीतगन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्याचमनफलताम्बूलप्रदक्षिणैरुपचारैः षोडशभिरिष्टदेवं समर्चयेत् । आवाहनेन शतक्रतुफलं लभेत् । आसनेन शक्रत्वं लभते । पाद्येन पातकं हन्यात् । अर्घ्येण पापानि । स्नानेन सर्वभयम् । वस्त्रेणाऽऽयुष्यवर्धनम् । यज्ञोपवीतेन ब्रह्मलोकावाप्तिः । गन्धर्वत्वं गन्धेन । पुष्पैः पुण्यमवाप्नुयात् । धूपः पापानि दहति । मृत्युविनाशनो दीपः । नैवेद्यं विविधं सर्वकामप्राप्त्यै । शुचितां व्रजेदाचमनेन । फलेन स्वर्गम् । ताम्बूलेन रूपम् । प्रदक्षिणेन सत्यलोकम् ॥ १३ ॥

पुरुषसूक्तेन गायत्र्या वा षोडशोपचारैस्तल्लिङ्गैरपि मन्त्रैर्नमोन्तैः । प्रणवेनैककालं त्रिकालं वा । रेवासमुद्भवे लिङ्गे भूतेशमर्चयेत् । शालग्रामे मणौ यन्त्रे स्थण्डिले प्रतिमायां हरेः पूजा कार्या । न तु केवलभूतले । हरेस्तुलसीदलैरर्चनं यः कुर्यात्स सꣳसारं पुनर्न याति । मुक्तिभागी स्यात् । मुनिपुष्पकृतमालया जनार्दनं येऽर्चयन्ति तेषां देवेन्द्रोऽपि करसंपुटं करोति । कर्णविलम्बितां मुनिपुष्पमालां दृष्ट्वा दशसु जन्मसु दैत्यारिः प्रीतो भवति । अगस्त्यकुसुमैः पत्रैस्त्रिꣳशद्वर्षाणि पञ्च पितरो हृष्टा भवन्ति । गवामयुतदानेन यत्फलं कार्तिके मुनिपुष्पेणैकेन तत्फलं लभते । सर्वाणि पुष्पाणि विहाय कार्तिके केवलं मुनिपुष्पैर्भक्त्या योऽर्चयेद्वाजपेयफलं लभेत् । तुलसीदलवासितं शालग्रामशिलातोयं यः पिबेत्तस्य पुनः स्तन्यपानं न विद्यते । कोटिजन्माघनाशनं विष्णुपादोदकमवश्यं पेयम् । भूमौ बिन्दुनिपातनात्तदेवाष्टगुणं पापं भवेत् ।

हस्तेन पिबेन्मातृगमनवत् । रूपं हृदि नाम मुखे हरेर्नैवेद्यमुदरे पादोदकं च मस्तके तुलसी यस्य कर्णे सोऽच्युतो भवति ॥ १४ ॥

ततो गुरून्वृद्धाञ्श्रोत्रियांश्चाभिवादयेत् । अभिवादनहीनस्य चत्वारि न वर्धन्ते प्रज्ञाऽऽयुर्यशो बलम् । यज्ञशालायां सभायां देवतायतने च प्रत्येकं न नमस्कुर्यात् । कुर्याच्चेत्किल्बिषं प्राप्नोति । मध्याह्नपर्यन्तं तालपर्णासनासीनो वेदाध्ययनं चरेत् । अथवा शिष्येभ्यः प्रयच्छेत् । देवार्चनयज्ञदानादिकर्मसु वेद एव ब्राह्मणस्य निःश्रेयसकरः । द्विजो वेदानधीत्य योऽन्यत्र कुरुते श्रमं सान्वयः स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति । वेदानामनभ्यासेन लङ्घनादाचारस्याऽऽलस्यादन्नदोषाच्च विप्रान्मृत्युर्जिघांसति ॥ १५ ॥

ततो माध्याह्निकविधिं कृत्वा भुञ्जीत । प्राप्ते मुहूर्तपञ्चके माध्याह्निकं कृत्वा भुञ्जानस्य सफला वेदोक्ताः क्रिया न निवर्तन्ते । प्रमादादकृतानि कर्माणि शर्वर्याः प्रथमे यामे तानि कर्माणि कुर्यात् । कृतकृत्यः पोष्यवर्गजनोपेतो भुञ्जीत । मातृपितृगुरुभ्रातृपुत्रदाराभ्यागतातिथयः पोष्यवर्ग इति । अज्ञातकुलगोत्रोऽध्वगः श्रान्तः संप्राप्तो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंग्रहः । सर्वेषामेव दानानामन्नदानं परम् । अन्नदानं महापुण्यफलप्रदम् । तथा तोयदानं च । यस्य गृहाद्भग्नाशोऽतिथिर्निवर्तते स तस्य दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति । आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते दक्षिणामुखो यशस्यं प्रत्यङ्मुखः श्रियं भुङ्क्ते ऋतमुदङ्मुखः । यातुधानाः पिशाचाः क्रूराश्चैव राक्षसा अन्नस्य रसं हरन्ति मण्डलेन विना । विप्राणां चतुरश्रम् । त्रिकोणं क्षत्रियाणाम् । वैश्यानां वर्तुलम् । शूद्रस्यार्धचन्द्रकामिति । गोमयेन मण्डलं कृत्वा भोक्तव्यम् । पलाशपद्मकुटजमधूककदलीदलैः पुष्टिकरं श्रीकरमायुष्करम् । कासश्वासज्वरहरं कदलीपत्रभोजनम् ॥ १६ ॥

घृतसूपव्यञ्जनोपेतमन्नं मन्त्रतो दक्षिणहस्तेनापोशनं कृत्वा प्राणाय तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठैर्जुहुयात् । अपानाय मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैः । व्यानाय कनिष्ठिकानामिकाङ्गुष्ठैः । उदानाय कनिष्ठिकां विना सर्वैः । समानाय सर्वाङ्गुलिभिः । प्राण आत्मा स्थितः । अपाने स्थिता भूतयोनयः । पातालवासिनो नागा व्याने संस्थिताः । देवा उदाने संस्थिताः । समाने पितरः स्थिताः । अन्नप्रदक्षिणेन शिष्टं तोयं न पिबेत् । पिबेच्चेच्चान्द्रायणं चरेत् । वाग्यतो भूम्यां पादौ प्रतिष्ठाप्य भोक्तव्यम् । कवले कवलेऽतिरात्रफलमश्नुते । प्राणाहुतिसमय एव हस्तेन पात्रस्पर्शः । तदूर्ध्वं न कर्तव्यः कदाचन । पात्रं स्पृष्ट्वा यो भुङ्क्ते

स यात्यधोगतिम् । सायं प्रातरेवम् । पादेन पात्रं स्पृष्ट्वा भोक्तव्यम् । नान्तरा भोजनम् । अग्निहोत्रसमो विधिः । आसने पादमारोप्य प्रत्यक्षलवणं मुखेन धमने चान्नं गोमांससभक्षणतुल्यम् ॥ १७ ॥

गोघृतं गोक्षीरं दधि तक्रं सक्तु चापक्वं तैलपक्वं शूद्रादपि न दुष्यति । भस्मनाऽग्निना स्तम्भेन सलिलेनान्तरा द्वारदेशे वा पङ्क्तिदोषो न भवति । गण्डूषसमये तर्जन्या दन्तचालनं न कुर्याच्चेद्रौरवं नरकं व्रजेत् । एवं भोजनानन्तरमाचमनं कुर्यात् । आचान्तोऽपि यावत्पात्रमनुद्धृतं स्यात्तावत्पर्यन्तमशुचिः स्यात् । यावन्मण्डलशुद्धिर्न स्यात्तावत्पर्यन्तमशुचिः स्यादुद्धृतेऽपि । सुपूगं सुपत्रं सुवासनसमन्वितं दत्त्वा सुरेभ्यो विप्रेभ्यस्ततस्ताम्बूलं भक्षयेत् । एकपूगं सुखारोग्यम् । द्विपूगं निष्फलम् । त्रिपूगं श्रेष्ठम् । अधिकं नैव दुष्यति । पर्णमूले व्याधिः । पर्णाग्रे पापम् । शिरा बुद्धिविनाशिनी । तस्मात्तान्वर्जयेत् । दिवास्वापं मैथुनं च न कुर्वीत । यदि कुर्यात्क्रमेणाऽऽयुःपुण्ययोर्हानिः । आसायं सिद्धान्तचिन्तनं कुर्यात् । ततः सायंतनीं संध्यां विदध्यात् । होमानन्तरं देवार्चनाविधिं चरेत् । रात्रौ भोजनं कुर्यात् । बलवीर्यविवर्धनम् । अलक्ष्मीपरिहारार्थं यत्किंचित्पुष्पानुलेपनं कुर्यात् । शयीत शुद्धशय्यायां भार्यया सह निषिद्धदिवसेषु वर्जयित्वा । स्वगृहे प्राक्शिराः सुप्यात् (स्वप्यात्) । श्वशुरगृहे दक्षिणाशिराः । प्रवासे प्रत्यक्शिराः । कदाचिन्नोदक्छिराः । एवं विज्ञाय कर्तव्या दिनचर्या । पुनः प्रातरुत्थाय यथोक्तमखिलं चरेत् । एवं क्रियाकाण्डमाचरतो धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिर्भवति सिद्धिर्भवति ॥ १८ ॥

इति सत्याषाढविरचितहिरण्यकेशिगृह्यशेषसूत्रे प्रथमप्रश्ने
प्रथमः पटलः ।

---

अथ प्रथमप्रश्ने द्वितीयः पटलः ।

अथातः शौचविधिं व्याख्यास्यामः । ग्रामाद्दूरतो गत्वा यज्ञोपवीतं शिरसि दक्षिणकर्णे वा कृत्वा मृत्तिकां गृह्णाति । काष्ठमन्तर्धाय मध्य उपविशेत् । अहन्युत्तरत उपेयान्निशायां दक्षिणत उभयोः संध्ययोरुदङ्मुखः नाग्निं नापो न नग्नो वृक्षमूले पर्वतमूले चतुष्पथेऽन्यगारे गवां मध्ये गोष्ठे दहनपुलिनवर्जनमन्तर्जले देवगृहे वल्मीके मूषकस्थले प्रत्यग्निं प्रति सूर्यं प्रत्यगारं प्रति गां प्रति ब्राह्मणं च । एकां लिङ्गे मृदं दद्यात्सव्ये पाणौ मृदस्त्रयः । उभयोर्द्विमृदं दद्यान्मूत्रवच्छौचमिष्यते । पञ्चापाने दशैकस्मिन्नुभयोः सप्त मृत्तिकाः । एतच्छौचं गृहस्थस्य द्विगुणं ब्रह्मचारिणः । त्रिगुणं तु वनस्थस्य यतीनां तु

चतुर्गुणम् । आचार्यगुरुदाराभिगमने नाभिभाषते । संस्थिते न म्रियते योनिसंस्कारादिति विज्ञायते ॥ १ ॥

अथात आचमनविधिं व्याख्यास्यामः । प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा बद्धशिखो यज्ञोपवीती नोष्णाभिर्न क्षाराभिर्न विवर्णाभिर्न दुर्गन्धरसाभिर्न सफेनाभिर्न चैकहस्ताभिर्न दूषिताभिर्न बहिर्जानुर्न विरलाङ्गुलिभिर्न बुद्बुदाभिर्न तिष्ठन्न हसन्न जल्पन्न विलोकयन्न प्रह्वो न प्रणतो न रोचयन् । ब्राह्मणस्य दक्षिणे हस्ते पञ्च तीर्थानि भवन्ति । अङ्गुलिमूले देवतीर्थमङ्गुल्यग्र आर्षं तीर्थं मध्येऽग्नितीर्थमङ्गुष्ठतर्जन्योर्मध्ये पैतृकतीर्थमङ्गुष्ठतलेऽतिहृत्य पश्चाल्लेखं तद्ब्रह्मतीर्थम् । माषमग्नं तु तन्मात्रं प्रतिगृह्य त्रिः पिबेदपो गोकर्णवद्धस्तेन त्रिराचामेत् । प्रथमं यत्पिबति तेन ऋग्वेदं प्रीणाति यद्द्वितीयं तेन यजुर्वेदं प्रीणाति यत्तृतीयं तेन सामवेदं प्रीणाति प्रथमं यत्परिमृजति तेनाथर्ववेदं प्रीणाति यद्द्वितीयं तेनेतिहासपुराणानि यन्मुखं तेनाग्निं यत्सव्यं पाणिमभ्युक्षति तेन नक्षत्राणि यत्पादमभ्युक्षति तेन विष्णुं यच्चक्षुषी तेन चन्द्रादित्यौ यन्नासिके तेन प्राणापानौ यच्छ्रोत्रं तेन दिशो यद्बाहू तेनेन्द्रं यद्हृदयं तेन रुद्रं यन्नाभिं तेन पृथिवीं यदङ्गुष्ठयोः स्रवन्त्यपः कुबेरादयः सर्वा देवताः प्रीणन्त्यग्निर्वायुः प्रजापतिरर्कचन्द्रौ मघवानिति वैदिकाः । अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां चक्षुषी समुपस्पृशेत् । प्रदेशिन्यङ्गुष्ठाभ्यां तु नासिके अङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां तु श्रोत्रे अङ्गुष्ठमध्यमाभ्यां तु बाहू चतुरङ्गुलिभिर्हृदयमङ्गुष्ठेन नाभिं सर्वैर्मूर्धानं समुपस्पृशेदेतेन विधिना युक्ता न लिप्यन्ते कदाचनेति ॥ २ ॥

अथातः संध्योपासनविधिं व्याख्यास्यामः । तीर्थं गत्वाऽप्रयतोऽभिषिक्तः प्रयतो वाऽनभिषिक्तः प्रक्षालितपादपाणिरप आचम्य सुरभिमत्याऽब्लिङ्गाभिर्वारुणीभिर्हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिर्व्याहृतिभिरन्यैश्च पवित्रैरात्मानं प्रोक्ष्य प्रयतो भवति । अथाप्युदाहरन्ति—

अपोवगाहनं स्नानं विहितं सार्ववर्णिकम् ।
मन्त्रवत्प्रोक्षणं चापि द्विजातीनां विशिष्यते ॥ इति ।

सर्वकर्मणामेवाऽऽरम्भेषु प्राक्संध्योपासनकालाच्चैतेनैव पवित्रसमूहेनाऽऽत्मानं प्रोक्ष्य (आपः पुनन्तु० अग्निश्च० सूर्यश्च० इति संध्यास्वप्रमर्षणं भवति । गायत्र्याऽर्घ्यम् । अथवा हंसेति मन्त्रेण प्रथमसंध्यामिति ) प्रयतो भवति । अथाप्युदाहरन्ति— दर्भेष्वासीनो दर्भान्धारयमाणः सोदकेन पाणिना प्रत्यङ्मुखः सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्तयेत् । प्राणायामशो वा शतकृत्वः । उभयतः-

प्रणवां ससप्तव्याहृतिकां मनसा वा दशकृत्वः। त्रिभिश्च प्राणायामैस्तान्तो ब्रह्महृदयेन। वारुणीभ्यां रात्रिमुपतिष्ठत इमं मे वरुण इत्यादिभिश्च। एवमेव प्रातः प्राङ्मुखास्तिष्ठन्। मैत्रीभ्यामहरुपतिष्ठते—मित्रस्य चर्षणीधृत इत्यादिभिश्च। सुपूर्वामपि पूर्वामुपक्रम्योदित आदित्ये समाप्नुयात्। अनस्तमित उपक्रम्य सुपश्चादपि पश्चिमाम्। संध्ययोश्च संपत्तावहोरात्रयोश्च संततिः। अपिचात्र प्रजापतिगीतौ श्लोकौ भवतः—

अनागतां तु ये पूर्वामनतीतां तु पश्चिमाम्।
संध्यां नोपासते विप्राः कथं ते ब्राह्मणाः स्मृताः॥
सायं प्रातः सदा संध्यां ये विप्रा न ह्युपासते।
कामं तान्धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत्॥ इति।

तत्र सायमतिक्रमे रात्र्युपवास प्रातरतिक्रमेऽहरुपवासः। स्थानासनफलमवाप्नोति। अथाप्युदारन्ति—

यदुपस्थकृतं पापं पद्भ्यां वा यत्कृतं भवेत्।
बाहुभ्यां मनसा वाऽपि वाचा वा यत्कृतं भवेत्॥
सायं संध्यामुपस्थाय तेन तस्मात्प्रमुच्यते।

रात्र्या चापि संधीयते। न चैनं वरुणो गृह्णाति। एवमेव प्रातरुपस्थाय रात्रिकृतात्पापात्प्रमुच्यते। अह्ना चापि संधीयते। मित्रश्चैनं गोपायति आदित्यश्चैनं स्वर्गमुन्नयतीति कठब्राह्मणम्। स एवमेवाहरहरहोरात्रयोः संधिषूपतिष्ठमानो ब्रह्मपूतो ब्रह्मभूतो ब्राह्मणः शास्त्रमनुवर्तमानो ब्रह्मलोकमभिजयतीति विज्ञायते॥ ३॥

अथ वै भवति—'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्तस्मिन्प्रजातिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्स इमामपश्यत्तां वराहो भूत्वाऽचरत्तां विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्ट् साऽप्रथत सा पृथिव्यभवत्। तत्पृथिव्यै पृथिवित्वं तस्यामश्राम्यदिति तदु हैक औपासनमेवौपासने स्त्रिया एव संस्कारार्थमौपासनो नित्यो धार्योऽनुगतो मन्थ्यः श्रोत्रियागाराद्वाऽऽहार्यो द्वादशाहं विच्छिन्नः पुनराधेयोऽथ यदि द्वादशाहं विच्छिन्नः पुनराधेयः स्याद्या प्रकृतिस्तत आहरणमित्युक्तमेतत्संतिष्ठते॥ ४॥

अथ गृहस्थस्यौपासनम्। षण्मासानाजुहुवुर्यथोपपादमाहृत्याग्निं प्रतिष्ठाप्य परिस्तीर्य द्वादशाहप्रायश्चित्तं हुत्वा तदानीमेव संपरिस्तीर्याऽऽप्रणीताभ्यः कृत्वा श्रपयित्वाऽभिघार्योदश्चद्वास्य प्रतिष्ठितमभिघार्याऽऽज्यभागान्तं कृत्वा मेक्षणे-

नोपघातं पक्वाज्जुहोति—अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहाऽग्नयेऽन्नवते स्वाहाऽग्नयेऽन्नादाय स्वाहाऽग्नयेऽन्नपतये स्वाहाऽग्नये पवमानाय स्वाहाऽग्नये पावकाय स्वाहाऽग्नये शुचये स्वाहाऽग्नये ज्योतिष्मते स्वाहाऽग्नये व्रतपतये स्वाहाऽग्नये पथिकृते स्वाहाऽग्नये तन्तुमते स्वाहाऽग्नये वैश्वानराय स्वाहा सूर्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहा ब्रह्मणे स्वाहा भूः स्वाहा भुवः स्वाहा सुवः स्वाहा भूर्भुवः सुवः स्वाहा अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इत्युत्तरार्धपूर्वार्धे । अत्रैके जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति यथापुरस्तात् ॥ ५ ॥

अथास्तमित आदित्ये व्रीहिभिर्यवैर्वा हस्तेनैते आहुती जुहोति—अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा इति सायम् । सूर्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहा इति प्रातरप्याग्निहोत्रहविषामन्यतमेनं जुहुयात् । पर्वणि पर्वणि चाग्नेयस्थालीपाकेन यजेत । उपवास एव कालान्तरे भोजनमतृप्तिश्चान्नस्य च । एवमेव सायं होमेन प्रतिपद्यते । संतिष्ठत औपासनतन्त्रम् ॥ ६ ॥

अथ हस्तौ प्रक्षाल्य कमण्डलुं मृत्पिण्डं च प्रतिगृह्य तीर्थं गत्वा त्रिः पादौ प्रक्षालयते त्रिरात्मानम् । अथ ह्येके ब्रुवते श्मशानमापो देवगृहं गोष्ठं यत्र ब्राह्मणा अप्रक्षाल्य पादौ तत्र प्रवेष्टव्यमिति । अथाद्भिः प्रतिपद्यते—हिरण्यशृङ्गं वरुणं प्रपद्ये तीर्थं मे देहि याचितः । यन्मया भुक्तमसाधूनां पापेभ्यश्च प्रतिग्रहः । यन्मे मनसा वाचा कर्मणा वा दुष्कृतं कृतम् । तन्म इन्द्रो वरुणो बृहस्पतिः सविता च पुनन्तु पुनः पुनरिति । अथाञ्जलिनाऽप उपहन्ति—सुमित्रा न आप ओषधयः सन्त्विति । तां दिशं निरुक्षति यस्यामस्य दिशि द्वेष्यो भवति—दुर्मित्रास्तस्मै भूयासुर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति । अथाप उपस्पृश्य त्रिः प्रदक्षिणमुदकमावर्तयति—'यदपां क्रूरं यदमेध्यं यदशान्तं तदपगच्छतात्' । इति । अप्सु निमज्ज्योन्मज्ज्य । नाप्सु सतः प्रयमणं विद्यते न वासः पल्पूलनं नोपस्पर्शनम् । यद्युपरुद्धाः स्युरेतेनोपतिष्ठते—नमोऽग्नयेऽप्सुमते नम इन्द्राय नमो वरुणाय नमो वारुण्यै नमोऽद्भ्य इति । उत्तीर्याऽऽचान्तः पुनराचामेत् । आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम् । पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम् । यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम । सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहꣳ स्वाहेति । पवित्रे कृत्वाऽद्भिर्मार्जयति—आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतेनानुवाकेन मार्जयित्वाऽन्तर्जलगतोऽघमर्षणेन त्रीन् प्राणायामान् धारयित्वोत्तीर्य वासः पीडयित्वा प्रक्षालितोपवाताक्लिष्टानि वासाꣳसि

परिधाय दर्भेष्वासीनो दर्भान् धारयमाणः प्राङ्मुखः सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्तयेत् । शतकृत्वोऽपरिमितकृत्वो वा दशावरम् । अथाऽऽदित्यमुपतिष्ठते—आ सत्येन । उद्वयं तमसस्परि । उदु त्यं चित्रम् । तच्चक्षुर्देवहितम् । य उदगादिति । अथाप्युदाहरन्ति—देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति ॥ ७ ॥

अथातो मृत्तिकास्नानविधिं व्याख्यास्यामः । ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थः परिव्राजको वा । न प्रातर्मृत्तिकास्नानमित्येके । सिन्धौ नदीतीरे पुष्करिण्यां वा 'अश्वक्रान्ते सहस्रपरमा देवी इति भूमिं दूर्वामभिमन्त्र्य, उद्धृताऽसि इति नदीतटे लोष्टमादाय, काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती इति द्वाभ्यां दूर्वामादाय मृत्तिके हन मे पापम्, इति दूर्वां लोष्टे प्रतिष्ठाप्य यत इन्द्र भयामहे, स्वस्ति दा विशस्पतिः, स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, त्रातारमिन्द्रं, आपान्तमन्युः, परं मृत्यो अनु परेहि इति षड्भिः प्रतिमन्त्रं प्रदक्षिणं प्रतिदिशं लोष्टमुत्सृज्य गन्धद्वारामिति लोष्टमादाय, उदु त्यं जातवेदसमिति लोष्टमादित्यं दर्शयित्वा श्रीर्मे भजत्वलक्ष्मीर्मे नश्यतु इति शिरः प्रदक्षिणीकृत्य सहस्रशीर्षा, इति शिर आलिप्य विष्णुमुखा, इति मुखम्, ओजो ग्रीवा इति ग्रीवाम्, महाँ इन्द्रो वज्रबाहुः, इति बाहू, सोमानं स्वरणम्, इति कक्षौ, शरीरं यज्ञशमलम्, इति शरीरम्, नाभिर्मे चित्तम्, इति नाभिम्, आपान्तमन्युरिति कटिम्, विष्णो रराटमसि, इति पृष्ठम्, वरुणस्य स्कम्भनमसि इति मेढ्रम्, आनन्दनन्दौ इत्यण्डौ, ऊरुवोरोजः, इत्यूरू ऊरू अरत्नी इति जानुनी जङ्घाभ्यामिति जङ्घयोः, चरणं पवित्रम्, इति चरणौ, इदं विष्णुः, त्रीणि पदा इति द्वाभ्यां पादौ, सजोषा इन्द्र इति शेषं दूर्वासहितं लोष्टं शिरसि निधाय हिरण्यशृङ्गम्, इति तीर्थं गत्वा सुमित्रा न आप ओषधय इत्यात्मानमभिषिञ्चेत् । उदकाञ्जलिमादाय लोष्टदेशे निनीय दुर्मित्रास्तस्मै भूयासुरिति प्रथमम् । योऽस्मान्द्वेष्टि इति द्वितीयम् । यं च वयं द्विष्म इति तृतीयम् । हिरण्य शृङ्गम्, इति चतुर्थम् । आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिः हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्यनुवाकेन च मार्जयित्वा नमोऽग्नयेऽप्सुमत इति नमस्कृत्य यदपां क्रूरमित्यद्भिः त्रिराहृत्य इमं मे गङ्गे इत्यभिमन्त्र्य ऋतं च इत्यघमर्षणसूक्तेनापोऽवगाह्य एष भूतस्येति मार्जयित्वा आर्द्रं ज्वलति इति पीत्वा अकार्यकारी इति पुनरवगाह्य देवानृषीन्पितॄंस्तर्पयित्वा—

ये के चास्मत्कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः ।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीडनोदकम् ॥

इति वस्त्रं निष्पीड्य शुची वो हव्या इति वस्त्रं प्रोक्ष्य देवस्य त्वा इति वस्त्रमादाय अवधूतमित्यवधूय उदु त्यं चित्रम्, इति वस्त्रमादित्यं दर्शयित्वा आवहन्ती वितन्वाना इति वासः परिधाय द्विराचम्योत्क्रामन्तु—

> भूतप्रेतपिशाचाद्याः सर्वे ते भूमिभारकाः ।
> सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे ॥

इतिदर्भासनं प्रतिष्ठाप्योपविश्य त्रिः प्राणानायम्याष्टोत्तरशतं गायत्रीं जपेत् । ब्राह्मणः पूतो भवति । ब्रह्महत्यागोवधगुरुतल्पसुरापानसुवर्णस्तेयादिसर्वपापप्रणाशनमिति विज्ञायते ॥ ८ ॥

अथातो महापुरुषस्याहरहः परिचर्याविधिं व्याख्यास्यामः । स्नातः शुचिः शुचौ समे देशे गोमयेनोपलिप्य देवस्य प्रतिकृतिं कृत्वाऽक्षतपुष्पैर्यथालाभमर्चयित्वा सह पुष्पोदकेन महापुरुषमावाहयेत्—ॐ भूः पुरुषमावाहयामि ॐ भुवः पुरुषमावाहयामि ॐ सुवः पुरुषमावाहयामि ॐ भूर्भुवः सुवः पुरुषमावाहयामि, इत्यावाह्य आयातु भगवान्महापुरुषः इति कुशैरासनं दद्यात् । भगवतोऽयं कूर्चो दर्भमयस्त्रिवृद्धरितः सुवर्णस्तं जुषस्वेति । अथ सावित्र्या पात्रमद्भिः प्रक्षाल्य तिरः पवित्रमप आनीय पुनस्तेनैवापोऽभिमन्त्र्य सपवित्रेणाऽऽदित्यं दर्शयेत् । ओमित्यातमितोः । तासां 'त्रीणि पदा विचक्रमे' इति पाद्यं ददाति । अथ व्याहृतिभिर्निर्माल्यं व्यपोह्य इदं विष्णुर्विचक्रम इत्यर्घ्यं दद्यात् । दिवो वा विष्ण्वावित्याचमनीयम् । अथैनं स्नापयति–आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जनः इत्येतेनानुवाकेन ब्रह्म जज्ञानं वामदेव्यर्चा यजुः पवित्रेणेति । अथाद्भिस्तर्पयति—केशवं तर्पयामीति द्वादशनामधेयैर्व्याहृतिभिः प्रदक्षिणमुदकं परिषिच्य प्रणवेन वासो ददाति सावित्र्या यज्ञोपवीतम् । इदं विष्णुर्विचक्रम इत्याचमनीयम् । गन्धद्वारामिति गन्धम् । इरावतीत्यक्षतम् । तद्विष्णोरिति पुष्पम् । सावित्र्या धूपम् । उद्दीप्यस्वेति दीपम् । देवस्य त्वा इति हविर्निवेदयामि, इत्यूहेन निवेदनम् । अथास्मै द्वादश नामभिः पुष्पाणि दद्यात् । त्रीणि पदा विचक्रम इति प्रतिपदं दद्यात् । सुमृडीका भवन्तु न इत्यन्तेन । अथैनां वैष्णवीभिर्ऋग्यजुःसामाथर्वभिः स्तुतिभिस्तुन्वन्ति । व्याहृतिभिः पुरुषमुद्वासयेत् । ॐ भूः पुरुषमुद्वासयामीत्यादिभिः प्रयातु भगवान्महापुरुषः क्षेमाय विजयाय पुनः संदर्शनाय चेति । प्रतिमास्थानेष्वावाहनोद्वासनवर्जमहरहस्त्वाच्क्षत इति विज्ञायते ॥ ९ ॥

अथातो महादेवस्याहरहः परिचर्याविधिं व्याख्यास्यामः । स्नातः शुचिः समे शुचौ देशे गोमयेनोपलिप्य देवस्य प्रतिकृतिं कृत्वाऽक्षतपुष्पैर्यथालाभमर्चयित्वा सह पुष्पोदकेन महादेवमावाहयेत्—ॐ भूर्महादेवमावाहयामीत्यादि आयातु भगवान्महादेव इति । यो रुद्रो अग्नौ इति यजुषा पात्रमभिमन्त्र्य प्रक्षाल्य तिरः पवित्रमप आनीय पुनस्तेनैवाभिमन्त्र्य सह पवित्रेणाऽऽदित्यं दर्शयेत्—ओमित्यातमितोः । तासां पाद्यमिति पाद्यं ददाति । अथ व्याहृतिभिर्निर्माल्यं व्यपोह्याघ्र्याचमनीयं दत्त्वाऽभिषिञ्चति—आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतेनानुवाकेन ब्रह्म जज्ञानं, कद्रुद्राय, कुचरुद्रम्,(?) वामदेव्यम् , आपो वा इदम् इति च । अथ व्याहृतिभिः प्रदक्षिणमुदकं परिषिच्य पवित्रं पादमूले निधायाद्भिस्तर्पयति—भवं देवं तर्पयामीत्यष्टाभिः । ॐ नमो भगवते रुद्राय त्र्यम्बकाय इति वस्त्रयज्ञोपवीते दद्यात् । भवाय देवाय नम इत्यष्टाभिः पुष्पाणि दद्यात् । कुचरुद्रेण गन्धपुष्पधूपदीपान्ददाति । देवस्य त्वा इति हविषो निवेदयेत् । त्र्यम्बकमिति परिषेकं दद्यात् । अमृतोपस्तरणमसीति प्रतिपदं कृत्वा हविरविरुद्धं सर्वं स्वादु वस्तु कन्दमूलफलानि दद्यात् । मुहूर्तमनवेक्षमाण आसीनो हविरुद्वासयामीति निवेद्यमुद्वास्यामृतापिधानमसीति प्रतिपदं कृत्वा त्र्यम्बकमित्याचमनीयं दद्यात् । सर्वोपकरणैरर्चयित्वा भवाय देवाय नम इत्यादिभिः ‘ अमुष्मै नमोऽमुष्मै नमः ’ इति गन्धादीन्ददाति । रौद्रीभिर्ऋग्यजुःसामाथर्वभिः स्तुतिभिः स्तुन्वन्त्यार्षैर्मन्त्रब्राह्मणैश्च नमस्कृत्य ‘ प्रयातु भगवान् महादेव ’ इति विसर्जयति । लिङ्गस्थानेष्वावाहनोद्वासनवर्जमहरहः स्वस्त्ययनमित्याचक्षत इति विज्ञायते ॥ १० ॥

अथातः पञ्चाङ्गरुद्राणां महान्यासपूर्वकं जपहोमार्चनाभिषेकविधिं व्याख्यास्यामः । या ते रुद्रेति शिखायाम् । अस्मिन्महत्यर्णव इति शिरसि । सहस्राणीति ललाटे । हꣳसः शुचिषदिति भ्रुवोर्मध्ये । त्र्यम्बकं यजामह इति नेत्रयोः । नमः स्रुत्याय चेति कर्णयोः । मा नस्तोक इति नासिकायाम् । अवतत्येति मुखे । नीलग्रीवौ द्वौ कण्ठे । नमस्ते अस्त्वायुधायेति बाह्वोः । या ते हेतिरित्युपबाह्वोः । ये तीर्थानीति हस्तयोः । सद्यो जातमिति पञ्चानुवाकान्पञ्चस्वङ्गुलीषु । नमो वः किरिकेभ्य इति हृदये । नमो गणेभ्य इति पृष्ठे । नमो हिरण्यबाहव इति पार्श्वयोः । विज्यं धनुरिति जठरे । हिरण्यगर्भ इति नाभौ । मीढुष्टमेति कट्याम् । ये भूतानामिति गुह्ये । ये अन्नेष्वित्यण्डयोः । सशिरा जातवेदा इत्यपाने । मा नो महान्तमित्यूर्वोः । एष

ते रुद्र इति जान्वोः । सꣳसृष्टजिदिति जङ्घयोः । विश्वं भूतमिति गुल्फयोः । ये पथामिति पादयोः । अध्यवोचदिति कवचम् । नमो बिल्मिन इत्युपकवचम् । नमो अस्तु नीलग्रीवायेति तृतीयनेत्रम् । प्रमुञ्च धन्वन इत्यस्त्रम् । य एतावन्तश्चेति दिग्बन्ध इति । ओं नमो भगवते रुद्रायेति नमस्कारं न्यसेत् ।

ओंकारं मूर्ध्नि विन्यस्य नकारं नासिकाग्रतः ।
मोकारं तु ललाटे स्याद्भकारं मुखमध्यतः ॥
गकारं कण्ठदेशे च वकारं हृदि विन्यसेत् ।
तेकारं दक्षिणे हस्ते रुकारं वामतो न्यसेत् ॥
द्राकारं नाभिदेशे तु यकारं पादयोर्न्यसेत् ॥ इति ।
सद्यं च पादयोर्न्यस्य वामं न्यस्योरुमध्यतः ।
अघोरं हृदि विन्यस्य मुखे तत्पुरुषं न्यसेत् ॥
ईशानं मूर्ध्नि विन्यस्य हꣳसो नाम सदाशिवः ।
एवं न्यासविधिं कृत्वा ततः संपुटमारभेत् ॥

त्रातारमिन्द्रं० त्वं नो अग्ने० सुगं नः पन्थां० असुन्वन्तं० तत्त्वा यामि० आ नो नियुद्भिः० वयꣳ सोम० तमीशानं० अस्मे रुद्रा० स्योना पृथिवि० इत्येतत्संपुटमिन्द्रादिदिक्षु विन्यस्यैवमेवाऽऽत्मानि रौद्रीकरणं कृत्वा त्वगस्थिगतैः सर्वपापैः प्रमुच्यते । सर्वभूतेष्वपराजितो भवति । ततो भूतप्रेतपिशाचब्रह्मराक्षसयक्षयमदूतशाकिनीडाकिनीसर्पश्वापदतस्कराद्युपद्रवाद्युपघाताः सर्वे ग्रहा ज्वलन्तं पश्यन्त्विति । मनो ज्योतिरबोध्यग्निरग्निर्मूर्धा मूर्धानं मर्माणि ते जातवेदा इति गुह्यनाभिहृदयकण्ठमुखशिराꣳस्यभिमन्त्र्याऽऽत्मरक्षा कर्तव्येति । शिवसंकल्पꣳ हृदयम् । पुरुषसूक्तꣳ शिरः । उत्तरनारायणꣳ शिखा । अप्रतिरथं कवचम् । प्रतिपुरुषमिति नेत्रम् । शतरुद्रीयमित्यस्त्रम् । भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्ध इति । पञ्चाङ्गं सकृज्जपेदष्टाङ्गं प्रणम्येति विज्ञायते । सद्योजातादिरूपपञ्चाङ्गं सकृज्जपेत् । हिरण्यगर्भः, यः प्राणतः, ब्रह्म जज्ञानं, मही द्यौः, उपश्वासय, अग्ने नय, या ते अग्ने, इमं यमप्रस्तरमित्यष्टाङ्गम् । अथाऽऽत्मानं श्रीरुद्ररूपं ध्यायेत्—

शुद्धस्फटिकसंकाशं त्रिनेत्रं पञ्चवक्त्रकम् ।
गङ्गाधरं दशभुजं सर्पाभरणभूषितम् ॥
नीलग्रीवं शशाङ्काभं नागयज्ञोपवीतिनम् ।
व्याघ्रचर्मोत्तरीयं च वरेण्यमभयप्रदम् ॥

कमण्डल्वक्षसूत्राद्यैरन्वितं शूलपाणिनम् ।
ज्वलन्तं पिङ्गलजटं शिखामुद्योतकारिणम् ॥
अमृतेनाऽऽप्लुतं हृष्टमुमादेहार्धधारिणम् ।
दिव्यसिंहासनासीनं दिव्यभोगसमन्वितम् ॥
दिग्देवतासमायुक्तं सुरासुरनमस्कृतम् ।
नित्यं च शाश्वतꣳ शुद्धं ध्रुवमक्षरमव्ययम् ॥
सर्वव्यापिनमीशानं रुद्रं वै विश्वरूपिणम् ।
एवं ध्यात्वा व्रतं सम्यक्ततो यजनमारभेत् ॥ इति ॥ ११ ॥

अथातो रुद्रस्नानार्चनाभिषेकविधिं व्याख्यास्यामः । आदित एव तीर्थे स्नात्वोदेत्याहतं वासः परिधाय शुचिः प्रयतो ब्रह्मचारी शुक्लवासा ईशानस्य प्रतिकृतिं कृत्वा तस्य दक्षिणतः प्रत्यग्देशे तन्मुखः स्थित्वाऽऽत्मनि देवताः स्थापयेत्—प्रजनने ब्रह्मा तिष्ठतु । पादयोर्विष्णुस्तिष्ठतु । हस्तयोर्हरस्तिष्ठतु । बाह्वो रुद्रस्तिष्ठतु । हृदये शिवस्तिष्ठतु । उदरे पृथिवी तिष्ठतु । जठरे अग्निस्तिष्ठतु । कण्ठे वसवस्तिष्ठन्तु । वक्त्रे सरस्वती तिष्ठतु । नासिकयोर्वायुस्तिष्ठतु । नयनयोश्चन्द्रादित्यौ तिष्ठेताम् । कर्णयोरश्विनौ तिष्ठेताम् । ललाटे रुद्रास्तिष्ठन्तु । पृष्ठे पिनाकी तिष्ठतु । पुरतः शूली तिष्ठतु । पार्श्वयोः शिवाशंकरौ तिष्ठेताम् । सर्वतो वायुस्तिष्ठतु । ततो बहिः सर्वतोऽग्निर्ज्वालामालापरिवृतस्तिष्ठतु । सर्वेष्वङ्गेषु सर्वा देवतास्तिष्ठन्तु । माꣳ रक्षन्तु । अग्निर्मे वाचि श्रित इति यथालिङ्गमङ्गानि सꣳस्पृश्याऽऽत्मानं गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यैर्मानसैराराधयेत् । अथैनं प्रसाधयेत्—

आराधितो मनुष्यैस्त्वं सिद्धैर्देवासुरादिभिः ।
आराधयामि भक्त्या त्वां मां गृहाण परमेश्वर ॥

इति । त्र्यम्बकमिति च । ( एवमात्मपूजानन्तरं बाह्यपूजां विदध्यात्— )

आ त्वा वहन्तु हरयः सचेतसः श्वेतैरश्वैः सह केतुमद्भिः ।
वाताजितैर्बलवद्भिर्मनोजवैरायाहि शीघ्रं मम हव्याय शर्वोम् ॥

इत्यावाहयेति । स्थापिते तु नाऽऽवाहनम् । अथाऽऽसनं ददाति सद्यो जातमिति । भवे भव इति पाद्यम् । भवोद्भवाय नम इत्यर्घ्यम् । वामदेवाय नम इत्याचमनीयम् । अथैनं स्नापयति—आपो हि ष्ठा इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्यनुवाकेन मार्जयित्वा सर्वो वै रुद्रः० कया नश्चित्र० आपो वा इदꣳ सर्वमित्येतैश्च । वामदेवाय नम इति वस्त्रम् । ज्येष्ठाय नम इत्युपवीतम् । रुद्राय नम इत्याचमनीयम् । प्रणवेन भूषणम् ।

कालाय नम इति गन्धम् । कलविकरणाय नम इत्यक्षतान् । बलविकरणाय नम इति पुष्पम् । बलप्रमथनाय नम इति धूपम् । सर्वभूतदमनाय नम इति दीपम् । मनोन्मनाय नम इति (खाद्य) नैवेद्यं ददाति । अथास्मा अष्टभिर्मन्त्रैरष्टौ पुष्पाणि ददाति भवाय देवाय नम इति । अथास्य रुद्रतनूरुपतिष्ठते–अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्य इति । अथ रुद्रगायत्रीं जपेत्–तत्पुरुषाय विद्महे इति शतकृत्वोऽपरिमितकृत्वो वा दशवारं वा । अथैनमाशिषमाशास्ते—ईशानः सर्वविद्यानामिति । अथास्य मूर्धनि कलशधारया संततमभिषिञ्चन् नमस्ते रुद्र मन्यव इत्येकादशानुवाकाञ्जपेत् । सर्वो वै रुद्र, इमा रुद्रायेति द्वादशर्चमन्यांश्च रौद्रमन्त्राञ्जपेत् । जपानन्तरमग्नाविष्णू सजोषसे मा इत्येकादशानुवाकानामेकैकमनुवाकं जपेत् । एतत्पापक्षयार्थी व्याधिमोचनार्थी श्रीकामः शान्तिकाम आयुष्काम आरोग्यकामश्च कुर्यात् । एवं कुर्वन्नेतत्सर्वमाप्नोति पायसादिमहाहविर्निवेदयति । अथ दक्षिणां ददाति । दश गा एकादश । तदभाव एकां गां दद्यादिति विज्ञायते ॥ १२ ॥

अथ शालीनयायावराणामात्मयाजिनां प्राणाहुतीर्व्याख्यास्यामः । सर्वावश्यकावसाने सम्मृष्टोपलिप्ते देशे प्राङ्मुख उपविश्य तद्भूतमाह्रियमाणं भूर्भुवः सुवरोमित्युपस्थाय वाचं यच्छेत् । न्यस्तमन्नं महाव्याहृतिभिः प्रदक्षिणमुदकं परिषिच्य सव्येन पाणिनाऽविमुञ्चन्नमृतोऽपस्तरणमसीति पुरस्तादपः पीत्वा पञ्चान्नेन प्राणाहुतीर्जुहोति प्राणे निविष्टोऽमृतं जुहोमि शिवो माऽऽविशाप्रदाहाय प्राणाय स्वाहेति पञ्चान्नेन प्राणाहुतीर्हुत्वा तूष्णीं भूयो व्रतयेत्प्रजापतिं मनसा ध्यायन्नन्तरा वाचं [न] विसृजेद्यदन्तरा वाचं विसृजेद्भूर्भुवः सुवरोमिति जपित्वा पुनरेव भुञ्जीत । त्वक्केशनखकीटाखुपुरीषाणि दृष्ट्वा तद्देशपिण्डमुद्धृत्याद्भिरभ्युक्ष्य भस्मावकीर्य पुनरद्भिः प्रोक्ष्य वाचा च प्रशस्तमुपभुञ्जीत । अथाप्युदाहरन्ति—

आसीनः प्राङ्मुखोऽश्नीयाद्वाग्यतोऽन्नमकुत्सयन् ।
अस्कन्दयंस्तन्मनाश्च भुक्त्वा चाग्निमुपस्पृशेत् ॥ इति ।

शूद्ररजस्वलापतितदर्शने नेत्रे प्रक्षाल्य भुञ्जीत । सर्वभक्ष्यापूपकन्दमूलफलमांसादीनि दन्तैर्नावद्येत् । नातिसुहितोऽमृतापिधानमसीत्युपरिष्टादपः पीत्वाऽऽचान्तो हृदयदेशमभिमृशति—प्राणानां ग्रन्थिरसि रुद्रो मा विशान्तकस्तेनान्नेनाऽऽप्यायस्वेति । पुनराचम्य दक्षिणे पादाङ्गुष्ठे पाणी निस्रावयति—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठं च समाश्रितः ।
ईशः सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणाति विश्वभुक् ॥ इति ।

हुतानुमन्त्रणमूर्ध्वहस्तः समाचरेत् । श्रद्धायां प्राणे निविश्यामृतꣳ हुतं प्राणमन्नेनाऽऽप्यायस्वेति पञ्च । ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वायेत्यात्मानम् । अक्षरेण चाऽऽत्मानं योजयेत् । सर्वक्रतुयाजिनामात्मयाजी विशिष्यते । अथाप्युदाहरन्ति—

यथा हि तूलमैषीकमग्नौ प्रोतं प्रदीप्यते ।
तद्वत्सर्वाणि पापानि दह्यन्ते ह्यात्मयाजिनः ॥

केवलाघो भवति केवलादी । मोघमन्नं विन्दत इति । स एवमेवाहरहः सायं प्रातर्जुहुयात् । अद्भिर्वा सायम् । अथाप्युदाहरन्ति—

अग्रे भोजयेदतिथीनन्तर्वत्नीरनन्तरम् ।
बालवृद्धाꣳस्तथा दीनान्व्याधिताꣳश्च विशेषतः ॥
अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते यथाविधि ।
भुज्यमानो न जानाति न स भुङ्क्ते स भुज्यते ॥
पितृदैवतभृत्यानां मातापित्रोर्गुरोस्तथा ।
वाग्यतो विघसमश्नीयादेवं धर्मो विधीयते ॥ इति ।

अथाप्युदाहरन्ति—

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनः ।
द्वात्रिꣳशच्च गृहस्थस्यापरिमितं ब्रह्मचारिणः ॥
आहिताग्निरनड्वाꣳश्च ब्रह्मचारी च ते त्रयः ।
अश्नन्त एव सिध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नताम् ॥ इति ।
गृहस्थो ब्रह्मचारी वा योऽनश्नꣳस्तु तपश्चरेत् ।
प्राणाग्निहोत्रलोपेन ह्यवकीर्णी भवेत्तु सः ॥

अन्यत्र प्रायश्चित्तात्प्रायश्चित्ते तदेव विधानम् । अथाप्युदाहरन्ति—

अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च ।
सदोपवासी भवति यो न भुङ्क्ते कदाचन ॥ इति ।
प्राणाग्निहोत्रमन्त्राꣳस्तु निरुद्धे भोजने जपेत् ॥
त्रेताग्निहोत्रमन्त्राꣳस्तु द्रव्यालाभे यथा जपेत् ॥ इति ।

एवमाचरन्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १३ ॥

अथातः पवित्रातिपवित्रस्याघमर्षणस्य कल्पं व्याख्यास्यामः । संध्यायां तीर्थं गत्वा स्नातः शुचिवासा उदकान्ते स्थण्डिलमुद्धृत्य सकृत्क्लिन्नेन वाससा सकृत्पूर्णेन पाणिनाऽऽदित्याभिमुखोऽघमर्षणं स्वाध्यायमधीयीत । प्रातः शतं मध्याह्ने शतमपराह्णे शतमपरिमितं वा । उदितेषु नक्षत्रेषु प्रसृतियावकं प्राश्नीयात् । ज्ञानकृतेभ्योऽज्ञानकृतेभ्यश्चोपपातकेभ्यः सप्तरात्रात्प्रमुच्यते । द्वादशरात्राद्भ्रूणहननं गुरुतल्पगमनं सुवर्णस्तैन्यं सुरापानमिति च वर्जयित्वा । एकविंशतिरात्रात्तान्यपि तरति तान्यपि जयति । सर्वं तरति सर्वं जयति सर्वक्रतुफलमवाप्नोति सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति सर्वेषु वेदेषु चीर्णव्रतो भवति सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवत्याचक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति कर्माणि चास्य सिध्यन्तीति ॥ १४ ॥

प्रजाकामस्योपदेशः । प्रजननिमित्ता समाख्येत्यश्विनावूचतुः—

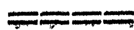
आयुषा तपसा युक्तः स्वाध्यायेज्यापरायणः ।
प्रजामुत्पादयेद्युक्तः स्वे स्वे वंशे जितेन्द्रियः ॥
ब्राह्मणस्यर्णसंयोगस्त्रिभिर्भवति जन्मतः ।
तान्विमुच्याऽऽत्मवान्भवति विमुक्तो धर्मसंशयात् ॥
स्वाध्यायेन ऋषीन्पूज्य सोमेन च पुरंदरम् ।
प्रजया च पितॄन्पूर्वाननृणो दिवि मोदते ॥
पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणामृतमश्नुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण नाकमेवाधिरोहति ॥ इति ।

विज्ञायते च—जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इत्येवमृणसंयोगं वेदो दर्शयति । सत्पुत्रमुत्पाद्याऽऽत्मानं तारयति ।

सप्तावरान्सप्त पूर्वान्षडन्यानात्मसप्तमान् ।
सत्पुत्रमधिगच्छन्नस्तारयत्येनसो भयात् ॥

तस्मात्प्रजासंतानमुत्पाद्य फलमवाप्नोति । तस्माद्यत्नवान्प्रजामुत्पादयेदौषधमन्त्रसंयोगेन । तस्योपदेशः श्रुतिसामान्येनोपदिश्यते । सर्ववर्णेभ्यः फलवत्त्वादिति फलवत्त्वादिति ॥ १५ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यशेषसूत्रे प्रथमप्रश्ने द्वितीयः पटलः ।



प्रथमप्रश्ने तृतीयः पटलः ।

---

## ( अथ संस्कारकाण्डारम्भः । )

अथातो गणपतिपूजनं ( पूजाविधिं ) व्याख्यास्यामः । अभ्युदयादौ सिद्धिकाम ऋद्धिकामः पशुकामो वा भगवतो गणेशस्य बलिं हरेत् । अथ गणपतिमावाहयति--

विघ्नविघ्नेश्वराऽऽगच्छ विघ्नेत्येव नमस्कृत ।
अविघ्नाय भवान्सम्यक् सदाऽस्माकं भव प्रभो ॥ इति ।

अथ दूर्वाक्षतसुमनोमिश्रमर्घ्यं ददाति--इमा आपः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमाः पूताः पूततमाः पुण्याः पुण्यतमा मेध्या मेध्यतमा जुष्टा जुष्टतमा अमृता अमृतरसाः पाद्या अर्घ्या अर्हणीया अभिषेचनीया आचमनीया मार्जनीयाश्च प्रतिगृह्णन्तां प्रतिगृह्णातु भगवान्गणेशो गणेशाय नम इति ।

अथ तूष्णीं वा गन्धपुष्पधूपदीपैरभ्यर्च्योपतिष्ठते---भूपतये नमो भुवनपतये नमो भूतानां पतये नम इति । अपूपं करम्भमोदकं सक्तून्पायसमित्यथास्मा उपहराति--विघ्नाय स्वाहा । विनायकाय स्वाहा । वीराय स्वाहा । शूराय स्वाहा । उग्राय स्वाहा । भीमाय स्वाहा । हस्तिमुखाय स्वाहा । वरदाय स्वाहा । विघ्नपार्षदेभ्यः स्वाहा । विघ्नपार्षदीभ्यः स्वाहेति । अथ गणपतिं प्रदक्षिणं कृत्वा प्रणम्याभिवाद्य गणपतिं विसर्जयति--

कृतं यदि मया प्राप्तं श्रद्धया वा गणेश्वर ।
उत्तिष्ठ सगणः साधो याहि भद्रं प्रसीदतोम् ( साधयोम् ) इति ॥१॥

अथ कुम्भस्थापनविधिं व्याख्यास्यामः । मही द्यौरिति भूमिमभिमन्त्र्य, ओषधयः संवदन्त इति धान्यराशिं ( प्रस्थपरिमितं वा ) कृत्वाऽऽजिघ्र कलशमिति सौवर्णमयं रौप्यमयमौदुम्बरमयं मृन्मयं वा कलशं सुदृढं निधाय, इमं मे गङ्ग इति तीर्थजलेनाऽऽपूर्य गन्धद्वारामिति गन्धं प्रक्षिप्य पुष्पावतीः प्रसूवतीरिति पुष्पम् । ओषधीरिति मातर इति तं भूषयित्वा काण्डात्काण्डादिति दूर्वाम् । अश्वत्थे वो निषदनमिति पञ्च पल्लवान् । याः फलिनीर्येति फलम् । अग्नेरेतश्चन्द्रमिति हिरण्यम् । बृहस्पते जुषस्व न इति रत्नानि । युवा सुवासा इति वस्त्रयुगम् । पूर्णा दर्वीति पूर्णपात्रं तण्डुलपूरितं कुम्भस्याऽऽननेऽपि दद्यात् । अथ कलशं पूजयेदिमं मे वरुण तत्त्वा यामीति च ॥ २ ॥

अथातः पुण्याहदेवता व्याख्यास्यामः । विवाहस्याग्निः प्रीयतामौपासनस्याग्निसूर्यप्रजापतयः प्रीयन्तां स्थालीपाकस्याग्निर्गर्भाधानस्य ब्रह्मा पुंसवनस्य प्रजापतिः सीमन्तस्य धाता विष्णुबलेः सविता जातकर्मणो मृत्युर्नामकरणस्य सविता तस्यान्ते प्रजापतिरुपनिष्क्रमणस्य सविता तस्यान्ते चित्रा-ण्यन्नप्राशनस्य सविता चौलस्य केशिनस्तस्यान्ते प्रजापतिरुपनयनस्येन्द्रः श्रद्धामेधे पुनरुपनयनस्याग्निः । अथ यदि ब्रह्मचार्यव्रत्यमिव चरेत्तस्मिन्नध्यायहोमे सविता समावर्तनस्य श्रीरिन्द्रो वा शूलगवस्येशानः प्रत्यवरोहणस्य सवितोपाकर्मव्रतेषु च सविता वास्तुहोमस्य वास्तोष्पतिरन्ते प्रजापतिरद्भुतहोमस्येन्द्रोऽन्ते प्रजापतिरायुष्यहोमस्याग्निरायुष्मान् नक्षत्रहोमस्य नक्षत्रेष्टिसूक्तमष्टमीप्रदोषस्येशान आग्रयणहोमस्याऽऽग्रयणदेवता सर्पबलेः सर्पा आदित्यपुरोगा ग्रहाः प्रीयन्तामथैकोद्दिष्टस्यान्ते प्रजापतिस्तटाकादीनां वरुणो देवता यक्षिबलेर्यक्षि (क्षी) ग्रहशान्तिहोमस्याऽऽदित्यादिनवग्रहाः । एवमन्येषां होमानां याज्यापुरोनुवाक्ययोर्देवता तस्यासौ प्रीयतामिति । सूतकान्ते प्रेतकर्मान्ते प्रथमोदक्यान्ते च प्रजापतिः कूश्माण्डहोमस्याग्न्यादयश्चान्द्रायणहोमस्याग्न्यादयोऽग्न्याधेयेऽग्निष्टोमे चेन्द्रः । एवमनादिष्टकर्मसु प्रजापतिः ॥ ३ ॥

अथातः पुण्याहवाचनं व्याख्यास्यामः । शुचौ देशे दूर्वान्धारयमाणाश्चत्वारो ब्राह्मणा अरिक्ताः प्राङ्मुखा युग्मास्तिष्ठन्ति । अथैनमुदाहरन्ति—

'पुण्येऽहनि तु संप्राप्ते विवाहे चौलके तथा ।
व्रतबन्धे च यज्ञादौ तथा च व्रतकर्मणि ॥
गृहारम्भे धनप्राप्तौ तीर्थाभिगमने तथा ।
नवग्रहमखे शान्तावद्भुतानां तथैव च ॥
गृहप्रवेशने चैव ग्रामस्याभिनिवेशने ।
गजबन्धे तुरङ्गाणां दासादीनां च संग्रहे ॥
अन्यस्मिन्नपि सर्वस्मिञ् शुभे कर्मणि सत्तमैः ।
वाचनीया द्विजाः सम्यग्वेदशास्त्रपरायणाः ॥
न तत्र कुनखी काणो हीनाङ्गो विकलस्तथा ।
क्षयरोगी च कुष्ठी च श्यामदन्तोऽभिशापकः ॥
वन्ध्यश्च विधुरो वाग्मी क्रूरस्तु खलसेवकः ।
बकवृत्तिश्च दम्भी च हैतुको ज्ञानदुर्बलः ॥
सहोपपत्तिरुन्मत्तो व्यसनी सोमविक्रयी ।

कन्याविक्रयकृद्वाजिविक्रयी पिशुनोऽनृतः ॥
लोकदुष्टः पराधीनो राजद्रोहपरायणः ।
एते चान्येऽपि विप्राश्च न वाच्याः स्वस्तिवाचने ॥
ताम्बूलमक्षता द्रव्यं दूर्वाः पुष्पाणि चन्दनम् ।
कुङ्कुमं स्रक्शमीपत्राण्यक्षताः कुङ्कुमान्विताः ॥
पुण्यतीर्थोदकं सम्यङ्निधाय कलशे शुभे ।
सुवर्णं तदभावे तु द्रव्यमात्रं निधापयेत् ॥
पूगफलादिपुण्यानि फलानि तु विशेषतः ।
साक्षते भाजने पुण्ये दीपान्नीराजनात्मकान् ॥
संगृह्य विधिवद्धीमान्वाचयेत्स्वस्तिवाचनम् ।
उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा यजमानः समाहितः ॥
निषण्णो मङ्गले पीठे तथाऽन्येऽपि द्विजातयः ।
सदूर्वापाणयः सर्वे शुचयः शुचिवाससः ॥
गणेशं कुलदेवीं च नमस्कृत्य प्रयत्नवान् ।
कालज्ञानं ततः कुर्यादनुज्ञातो द्विजातिभिः ॥
प्रारब्धकृत्यमुद्दिश्य पिधाय कलशं सुधीः ।
मङ्गलद्रव्ययुक्तेन भाजनेन समाहितः ॥
उद्धृत्य सविधानं तु कलशं हेमपूरितम् ।
पद्मासनसमाविष्टो नमस्कुर्यात् प्रयत्नतः ॥

दीर्घमायुरस्तु। शिवा आपः सन्तु । सौमनस्यमस्तु । अक्षतं चारिष्टं चास्तु। गन्धाः पान्तु । सौमङ्गल्यं चास्तु । अक्षताः पान्तु । आयुष्यमस्तु । पुष्पाणि पान्तु । सौश्रियमस्तु । ताम्बूलानि पान्तु । ऐश्वर्यमस्तु । दक्षिणाः पान्तु । बहु देयं चास्तु । दीर्घमायुः श्रेयः शान्तिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु । श्रीर्यशो विद्या विनयो वित्तं बहुपुत्रं चाऽऽयुष्यं चास्तु। यं कृत्वा सर्ववेदयज्ञक्रियाकरणकर्मारम्भाः शुभाः शोभनाः प्रवर्तन्ते । तमहमोंकारमादिं कृत्वा ऋग्यजुःसामाशीर्वचनं बहुऋषिमतं संविज्ञातं भवद्भिरनुज्ञातः पुण्यं पुण्याहं वाचयिष्य इति यजमानः पृच्छति । वाच्यतामिति तैर्वक्तव्यम् । भद्रं कर्णेभिः, द्रविणोदा, सविता, नवो नवो, उच्चा दिवि, आप उन्दन्तु, यस्त्वा हृदा, यस्मै त्वꣳ, सं त्वा सिञ्चामि, भद्रं भद्रं, व्यसु षु वाजिनं, को अद्य युङ्क्ते सखाय, आशिषामहे, इति त्रैविद्यवृद्धानां ब्राह्मणानां मनः समाधीयताम् । समाहितमनसः स्मः । प्रसीदन्तु भवन्तः । प्रसन्नाः स्मः । इति यजमानेनोक्ते सति तैर्वक्तव्यम् । ततः

शान्तिरस्तु। पुष्टिरस्तु । तुष्टिरस्तु । ऋद्धिरस्तु। वृद्धिरस्तु। अविघ्नमस्तु । आयुष्यमस्तु । आरोग्यमस्तु । शिवं कर्मास्तु । कर्मसमृद्धिरस्तु । अहरहरभिवृद्धिरस्तु । धनधान्यसमृद्धिरस्तु । वेदसमृद्धिरस्तु । शास्त्रसंपदस्तु । पुत्रसंपदस्तु। इष्टसंपदस्तु । ( बहिर्देशे ) सर्वारिष्टनिरसनमस्तु । यत्पापं तत् प्रतिहतमस्तु । ( मध्ये ) यच्छ्रेयस्तदस्तु । उत्तरे कर्मण्यविघ्नमस्तु । उत्तरोत्तरं श्रीरस्तु । उत्तरोत्तरमहरहरभिवृद्धिरस्तु। उत्तरोत्तराः क्रियाः शुभाः शोभनाः संपद्यन्ताम् । तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रसंपदस्तु । तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रग्रहलग्नाधिदेवताः प्रीयन्ताम् । तिथिकरणे मुहूर्तनक्षत्रे सग्रहे सदैवते प्रीयेताम्। दुर्गापाञ्चाल्यौ प्रीयेताम् । अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम् ।इन्द्रपुरोगा मरुद्गणाः प्रीयन्ताम्। आदित्यपुरोगाः सर्वे ग्रहाः प्रीयन्ताम्। ब्रह्मपुरोगाः सर्वे वेदाः प्रीयन्ताम्। विष्णुपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम् । माहेश्वरीपुरोगा उमामातरः प्रीयन्ताम् । अरुन्धतीपुरोगा एकपत्न्यः प्रीयन्ताम्। वासिष्ठपुरोगा ऋषिगणाः प्रीयन्ताम्। ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च प्रीयन्ताम् । श्रीसरस्वत्यौ प्रीयेताम् । श्रद्धामेधे प्रीयेताम् । भगवती कात्यायनी प्रीयताम् । भगवती महालक्ष्मीः प्रीयताम् । भगवती शान्तिकरी प्रीयताम् । भगवती पुष्टिकरी प्रीयताम् । भगवती तुष्टिकरी प्रीयताम् । भगवती ऋद्धिकरी प्रीयताम् । भगवती वृद्धिकरी प्रीयताम् । भगवन्तौ विघ्नविनायकौ प्रीयेताम् । भगवान्स्वामी महासेनः सपत्नीकः ससुतः सपार्षदः सर्वस्थानगतः प्रीयताम् । हरिहराहिरण्यगर्भाः प्रीयन्ताम्। सर्वाः कुलदेवताः प्रीयन्ताम् । सर्वा ग्रामदेवताः प्रीयन्ताम् । (बहिः) शाम्यन्तु घोराणि। शाम्यन्तु पापानि। शाम्यन्त्वीतयः। हता ब्रह्मद्विषः । हताः परिपन्थिनः । हताश्च कर्मणो विघ्नकर्तारः । शत्रवः पराभवं यान्तु । ( अन्तः ) शिवानि वर्धन्ताम् । शिवा आपः सन्तु । शिवा ऋतवः सन्तु । शिवा ओषधयः सन्तु । शिवा वनस्पतयः सन्तु । शिवा अग्नयः सन्तु । शिवा आहुतयः सन्तु । शिवा अतिथयः सन्तु । अहोरात्रे शिवे स्याताम् । निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलिन्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम् । ऋषयश्छन्दांस्याचार्या वेदा देवा यज्ञाश्च प्रीयन्ताम् । आदित्यसोमाङ्गारकबुधबृहस्पतिशुक्रशनिराहुकेतवो ग्रहाः प्रीयन्ताम् । भगवान्नारायणः प्रीयताम् । भगवान्स्वामी महासेनः प्रीयताम् । पुण्याहकालान्वाचयिष्य इति यजमानेन वक्तव्यम्। वाच्यतामिति विप्रैर्वक्तव्यम् । उद्गातेव० याज्यया यजति० (यत्पुण्यं तानि वा एतानि, भद्रो नो अग्निः) मन्त्रब्राह्मणे पठित्वा पुण्याहमिति यजमानो वदति त्रिवारम् । ॐ पुण्याहमिति त्रिवारं विप्रा ब्रूयुरुत्तरम् । स्वस्तये वायुं० आदित्य उदयनीयः० स्वस्ति न इन्द्रो० अष्टौ देवा वसवः०

भद्रं मनः कृणुष्व० इति मन्त्रब्राह्मणे पठित्वा स्वस्त्ययस्त्विवति भवन्तो ब्रुवन्त्विवति त्रिवारं यजमानो वदति । तेऽपि त्रिवारं स्वस्ति ब्रूयुः । ऋध्याम स्तोमं० सर्वामृद्धि-मृध्नुयामिति ऋध्यास्म हव्यैः० त्रीणि त्रीणि वै० भद्रो भद्रया सचमान इति मन्त्रब्राह्मणपाठान्ते यजमान ऋद्धिं भवन्तो ब्रुवन्त्विवति त्रिवारं यजमानो वदति । ऋध्यतामिति त्रिवारं विप्राः । ततः श्रिये जातः० श्रिय एवैनं० यस्मिन्ब्रह्मा० अहे बुध्निय० आयन्त इव सूर्यमिति मन्त्रब्राह्मणान्ते श्रीर-स्त्विवति यजमानो वदति त्रिवारम् । प्रतिवचनं तथैव त्रिवारम् । यद्देवत्यं भवति तस्य नाम गृह्णात्यसौ प्रीयतामिति । अथ पात्रे जलं विसृजेत्—वा-स्तोष्पत इति चतसृभिः । अथवा व्याहृतिभिर्भूमौ वा जलं विसृज्योपविश्य सुरभिमत्याऽब्लिङ्गाभिर्वारुणीभिर्हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिर्व्याहृतिभिरिति मार्जयित्वा पत्नीं च प्रोक्षतीति विज्ञायते ॥ ४ ॥

अथातो मातृकापूजाविधिं व्याख्यास्यामः—

कर्मादिषु च सर्वेषु मातरः सगणाधिपाः ।
पूजनीयाः प्रयत्नेन पूजिताः पूजयन्ति ताः ॥
प्रतिमासु च शुभ्रासु लिखिता वा पटादिषु ।
अपिवाऽक्षतपुञ्जेषु नैवेद्यैश्च पृथग्विधैः ॥
गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया ।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः ॥
धृतिः पुष्टिस्तथा तुष्टिरात्मदेवतया सह ।
गणेशेनाधिका ह्येता वृद्धौ पूज्याश्चतुर्दश ॥ इति ॥ ५ ॥

अथातो नान्दीमुखं व्याख्यास्यामः । आदित एव द्वौ विप्रौ निमन्त्र्य चतु-रवरांश्च पित्रर्थानथ ( श्मश्रुकर्माभ्यञ्जनस्नानैः ) यथोपपादं संपूज्याग्निमुपस-माधाय संपरिस्तीर्याऽऽज्यं विलाप्योत्पूय दध्ना घृतेन संयुत्य स्रुवं संमृज्य देवार्थौ विप्रावुपवेश्यालंकृत्यानुदेश्य द्विः पवित्र एव यवोदकं निधाय पुष्पफ-लाक्षतमिश्रं भोजनस्थानेष्वासनेषु यवान् सिकताश्च संप्रकीर्य पित्रर्थानुपवेश्य तां सपवित्रेषु पाणिषु 'नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्ताम्' इत्यनेन मन्त्रेण त्वान्तरेणोपहृत्य यवोदकं दत्त्वा द्विरथालंकृत्यैतमेव दत्त्वाऽग्नौकरणमनुज्ञा-प्यालंकृत्य पृषदाज्यात्स्रुवेणोपहृत्य 'नान्दीमुखेभ्यः पितृभ्यः स्वाहा' इत्ये-वदग्नौ कृत्वाऽन्नमुपस्तीर्णाभिघारितं पात्रेषूद्धृत्य पृषदाज्येन संसृज्य दर्भेषु दयित्वा दर्भैः प्रतिच्छाद्य 'नान्दीमुखार्थानां पितॄणां क्षेष्ठा अमुत्रामुष्मिँल्लोके' मन्त्रमूह्याभिमृश्य विप्रेभ्यो द्विरुपस्तीर्याभिमृष्टस्यान्नस्य द्विरवदाय द्विरभि-

घार्य यथावद्भोजयेत् । पितृसामान्यवाचिस्वधायुक्तानि ब्रह्माण्यभिश्राव्य भुक्तवत्स्वाचान्तेषूपलिप्या(प्याऽऽ)शयेषु दध्योदनं संप्रकीर्य संक्षालनेन प्रदक्षिणं द्विः परिषिच्य पूर्ववद्यवोदकं दत्त्वा दक्षिणां प्रदाय नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्ताम्, इति वाचयित्वाऽभिवाद्य स्वधायै स्थाने सर्वैः समानं दक्षिणं जानुं निपात्य सव्यमुद्धृत्य जपति— 'इडा देवहूः' इति जपित्वा— 'नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्ताम्' इत्यपो निनीय ब्राह्मणानुत्थाप्य प्रसाद्य संस्साद्य प्रदक्षिणीकृत्य शेषमनुज्ञाप्य देवतां च विसृज्य दक्षिणेनाग्निं प्रागग्रेषु दर्भेषु नान्दीमुखेभ्यः पितृभ्यो दद्यात्—'नान्दीमुखाभ्यो मातृभ्यः स्वाहा। नान्दीमुखेभ्यः पितृभ्यः स्वाहा। नान्दीमुखेभ्यो मातामहेभ्यः स्वाहा'। इति संक्षालनेन प्रदक्षिणं परिषिच्य, ऊर्जं वहन्ती, इति भाविजयाद्यर्थेन कालहोमान्पृषदाज्येन पूर्ववद्धोमं केचिदिच्छन्ति। उपास्मै गायतामिति मन्त्रैरुपगायेयुरिति विज्ञायते ॥ उक्तमेतन्नान्दीमुखम् ॥ ६ ॥

अथातोऽङ्कुरारोपणविधिं व्याख्यास्यामः । ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वा शुचौ समे देशे गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलमुपलिप्याक्षतान्संप्रकीर्याद्भिरभ्युक्ष्य पञ्च पालिकाः सौवर्णा राजतास्ताम्रा मृन्मयीर्वा यथासंभवं गृह्णाति ।

मध्ये चतुर्मुखं विद्यात्पूर्वे वज्रिणमेव च ।
दक्षिणे तु यमं विद्यात्पश्चिमे वरुणं तथा ॥
उत्तरे शशिनं विद्यात्पालिकास्थापनं क्रमात् ।
वल्मीकमृत्तिकां हृत्वा गोमयं च तथैव च ॥
एतानि प्रक्षिपेत्तासु पालिकासु यथाक्रमम् ।
दूर्वामश्वत्थपत्रं च शिरीषं बिल्वपत्रकम् ॥
तासां मूलेषु बध्नीयाच्छ्वेतसूत्रेण वेष्टयेत् ।

मध्यमायां व्याहृतिभिर्ब्रह्माणमावाहयति—'ॐ भूर्ब्रह्माणमावाहयामि । ॐ भुवः प्रजापतिमावाहयामि । ॐ सुवश्चतुर्मुखमावाहयामि । ॐ भूर्भुवः सुवर्हिरण्यगर्भमावाहयामि' इति । एताभिरेव प्राच्याम्—'इन्द्रं वज्रिणं शचीपतिं शतक्रतुम्' इति । एताभिरेव दक्षिणस्याम्---यमं वैवस्वतं पितृपतिं धर्मराजमिति । एताभिरेव प्रतीच्याम्—वरुणं प्रचेतसं सुरूपिणमपांपतिमिति । एताभिरेवोदीच्याम्—शशिनं निशाकरं चन्द्रं सोममिति । अथैतान् स्नापयति—आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति

चतसृभिः पवमानः सुवर्जनः, इत्येतेनानुवाकेन मार्जयित्वाऽथैनान् गन्धपुष्प-धूपदीपैरभ्यर्चयति--अमुष्मै नमोऽमुष्मै नम इति । अथैनानुपतिष्ठते—

दिशां पतीन्नमस्यामि सर्वकामफलप्रदान् ।
कुर्वन्तु सफलं कर्म कुर्वन्तु सततं शुभम् ।। इति ।

व्रीहियवमाषतिलमुद्गसर्षपान् मिश्रीकृत्य क्षीरेण प्रक्षाल्यौषधिसूक्तेन 'या जाता' इत्यनुवाकेनाभिमन्त्र्य यथाक्रमं निवपति—'ब्रह्म जज्ञानं० पिता विराजाम्' इति द्वाभ्यां मध्यमायाम् । यत इन्द्र भयामहे० स्वस्तिदा विश-स्पतिः० इति द्वाभ्यां प्राच्याम् । योऽस्य कौष्ठ्य० यमं गाय० इति द्वाभ्यां दक्षिणस्याम् । इमं मे वरुण० तत्त्वा यामि० इति द्वाभ्यां प्रतीच्याम् । सोमो धेनुं० आप्यायस्व० इति द्वाभ्यामुत्तरस्याम् । यथाक्रमं शुद्धाभिः सिकताभिः प्रच्छादयेत् । पञ्चगव्येन यथाक्रमं सेचयति । प्रणवेनैव सापिधानं कृत्वा यावत्कर्म तावत्सुरक्षितं गोपायेत् । समाप्ते कर्मणि ब्राह्मणान्पञ्च भोजयेत् । व्याहृतिभिर्देवता यथाक्रममुद्वासयेत् ।

आ सप्तमात्प्रजाकाम आषष्ठात्पुत्रनाशनम् ।
पञ्चमे भक्तिकामानां विष्णोः सर्वात्मनस्तथा ।।
चतुर्थे चाङ्कुरं विद्यात्पापीयाञ्जायते तु सः ।
त्र्यहे वा सर्वकामानां सद्यो वाऽप्यङ्कुरार्पणम्।।इति ।। ७ ।।

अथात उदकशान्तिं व्याख्यास्यामः । जन्मनक्षत्रे पुण्ये नक्षत्रे विवाहचौलोपनयनसमावर्तनसीमन्ताग्न्याधेयान्यन्यानि मङ्गलकार्याणि ग्रहोपरागे ग्रहोत्पाते वा द्विपात्सु चतुष्पात्सु च भयं विन्देताथ शान्तिमारभेत । युग्मान् ब्राह्मणान् सुप्रक्षालितपाणिपादानप आचाम्य प्रतिदिशमासनेपूपवेश्य गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलमुपलिप्य दर्भेषु प्राङ्मुख उपविश्य दर्भान् दूर्वाश्च धारयमाणः पवित्रपाणिः स्थण्डिलं कृत्वा प्रोक्ष्य लक्षणमुल्लिख्याद्भिरभ्युक्ष्य दूर्वाभिर्दर्भै-रवकीर्य धूपयित्वा गन्धोदकेनाभ्युक्ष्य पुष्पैरवकीर्य ब्रह्मपात्रं सूत्रेण परिवेष्ट्य तेषु ब्रह्मपात्रं निदधाति— ब्रह्म जज्ञानमिति । अथ तिरः पवित्रमप आनयति—तत्सवितुर्वरेण्यम्, इति । यवाक्षततण्डुलानावपति—ॐ भूर्भुवः सुवरोमिति । अथ पुष्पैर्दूर्वाभिः फलैरवकीर्य दूर्वाभिर्दर्भैः प्रतिच्छाद्याभिमृशति—शं नो देवीरभिष्टय इति । अन्वारब्धेषु जपति—तत्सवितुर्वरेण्यम्, इत्येतां पच्छोऽर्धर्चशोऽनवानमुक्त्वा वेदादीञ्जपति— रक्षोघ्नम्—कृणुष्व पाजः प्रसितिमित्येतमनुवाकम् ।' मदे चिदस्य' इत्यर्धर्चमवोद्धृत्य 'इन्द्रं

वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ' इत्येतमनुवाकम् । ' यत इन्द्र भयामहे ' ' स्वस्तिदा विशस्पतिः ' इति द्वाभ्याम् । ' महाꣳ इन्द्रो० सजोषा इन्द्र० इति द्वाभ्याम् । ये देवाः पुरःसदः इति पञ्चभिः पर्यायैः । अग्नये रक्षोघ्न इति पञ्च अग्निरायुष्मानिति पञ्च या वामिन्द्रावरुणा इति चतस्रो यो वामिन्द्रावरुणावित्यष्टौ । अग्ने यशस्विन्निति चतस्रः । राष्ट्रभृतम्—ऋताषाडृतधामा इत्येतमनुवाकम् । नमो अस्तु सर्पेभ्य इति तिसृभिरनुच्छन्दसं पञ्च चोडाः । अयं पुरो हरिकेश इति पञ्चभिः पर्यायैरप्रतिरथम् । आशुः शिशान इत्येतमनुवाकम् । शं च मे मयश्च मे इत्येतमनुवाकम् । विहव्यम्—ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु इत्येतमनुवाकम् । मृगारम्—अग्नेर्मन्व इत्येतमनुवाकम् । सर्पाहुतीः—समीची नामासि प्राची दिक्, इति षड्भिः पर्यायैः । गन्धर्वाहुतीः—हेतयो नाम स्थ तेषां वः पुरोगृहा इति षड्भिः । अज्यानीः—' शतायुधाय' इति पञ्च । भूतं भव्यं भविष्यत्, इत्येतमनुवाकम् । अथर्वशिरसम्—'इन्द्रो दधीचो अस्थभिः ' इत्येतमनुवाकम् । प्रत्याङ्गिरसम्—चक्षुषो हेते मनसो हेते इति प्रतिपद्य भ्रातृव्यं पारयामसीत्यन्तम् । प्राणो रक्षति विश्वमेजत्, इत्येतमनुवाकम् । ' सिꣳहे व्याघ्र उतया पृदाकौ ' इत्येतमनुवाकम् । अहमस्मीत्येतमनुवाकम् । ' ता सूर्याचन्द्रमसा ' इत्येतमनुवाकम् । अग्निर्नः पातु० ऋध्यास्म० नवो नवो० इत्येतैस्त्रिभिर नुवाकैरुत्तमैरुपहोमैश्च सुरभिमत्याऽब्लिङ्गाभिर्वारुणीभिर्हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिर्व्याहृतिभिः । ' तच्छंयोरावृणीमहे' इत्येतमनुवाकम् । ' नमो ब्रह्मणे ' इति परिधानीयां त्रिरन्वाहेति विज्ञायते । प्रणवेनोत्थाप्य व्याहृतिभिः प्रोक्षति । अथ दक्षिणां ददाति—पुरस्तादुपविष्टाय हिरण्यं ददाति दक्षिणतो रजतं पश्चात्काꣳस्यमुत्तरतो वासो ददाति । अथ ग्रहगृहीतानां ज्वरगृहीतानां भूतोपसृष्टानां मित्रबन्धुसुहृज्जातिसखिसंबन्धिबान्धवानां राज्ञां च राजपुरोहितानां च बालवृद्धान्तर्वत्नीपापिरोगिदीर्घरोगिकृशातुरान्प्रोक्षति । हस्त्यश्वोष्ट्रगोमहिष्यजाविकभृत्यांश्च धनधान्यानि च प्रोक्षति । एवमेकरात्रं त्रिरात्रं पञ्चरात्रं सप्तरात्रं नवरात्रमित्यपपुनर्मृत्युं जयतीति शालीकिः । तस्मात्पवित्रेण शान्त्युदकं करोति आपो वै शान्ताः शान्ति-( शान्ताभि )रेवास्य शुचꣳ शमयतीति ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

अथातः प्रतिसरबन्धं व्याख्यास्यामः । यस्मिन्दिने नान्दीमुखं कुर्यात्तस्यां रात्र्यां प्रदोषान्ते प्रतिसरमारभेत । शुचौ समे देशे गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलमुपलिप्य युग्मान्ब्राह्मणान्सुप्रक्षालितपाणिपादानप आचाम्य

प्रतिदिशमासनेषूपवेश्य पश्चात्प्राङ्मुख आचार्य उपविशति । तस्य दक्षिणं बाहुमन्वितरः । अथ हस्तमात्रं सैकतं( व्रीहिभिर्यवैर्वा ) स्थण्डिलं कृत्वोल्लिख्याद्भिरभ्युक्ष्य स्थण्डिलस्य मध्ये प्रागग्रान्दर्भान्संस्तीर्य तेषूपरि कुम्भं निधाय व्याहृतिभिः शुद्धोदकैः पूरयित्वा दूर्वाक्षतफलैरवकीर्य गन्धपुष्पधूपदीपैरुदकुम्भमभ्यर्च्य दूर्वाभिर्दर्भैः प्रतिच्छाद्योत्तरतः शालितण्डुलस्योपरि प्रतिसरसूत्रं गन्धानुलिप्तं निधायाऽऽचार्यमुखास्त्रीन्प्राणायामान्धारयित्वोदकुम्भमन्वारभ्य सावित्रीं जपन्ति—' तत्सवितुर्वरेण्यम् ' इत्येतां पच्छोऽर्धर्चशोऽनवानमुक्त्वा वेदादीञ्जपन्ति । राक्षोघ्नम्—कृणुष्व पाज इत्येतमनुवाकम् । अग्ने यशस्विन्, इति चतस्रः । आप्यं हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इत्येतमनुवाकम् । पवमानः सुवर्जन इत्येतमनुवाकम् । वरुणसूक्तम्—' उदुत्तमं वरुण पाशम् ' इति षडृचम् । रुद्रसूक्तम्–परिणो रुद्रस्य हेतिः, इति षडृचम् । ब्रह्मसूक्तम्—' ब्रह्म जज्ञानम् ' इति षडृचम् । विष्णुसूक्तम्—' विष्णोर्नु कम् ' इति षडृचम् । पञ्च दुर्गाः—जातवेदस इति । श्रीसूक्तम्—हिरण्यवर्णां हरिणीम्, इति पञ्चदशर्चम् । नमो ब्रह्मण इति परिधानीयां त्रिरन्वाहेति ब्राह्मणम् । प्रणवेनोत्थाप्य व्याहृतिभिः सुरभिमत्याऽब्लिङ्गाभिः प्रोक्ष्य प्रतिसरसूत्रमादाय वासुकिं ध्यात्वा[1] त्र्यम्बकेन त्रिरूर्ध्वं भस्मना संमृज्य ' अग्निरायुष्मान् ' इति पञ्चाभिस्तस्य दक्षिणहस्तं गृहीत्वा— ' बृहत्साम ' इति बद्ध्वा स्त्रीणां वामहस्तं हरिद्राकुङ्कुमाक्तेन घृतसूक्तेन ' यो ब्रह्म ब्रह्मणः ' इत्यष्टर्चेन रक्षां कुर्यादिति विज्ञायते ॥ ९ ॥

अथातो ग्रहातिथ्यबलिकर्मोपहारान्व्याख्यास्यामः—

अश्रद्दधानमशुचिमजपं त्यक्तमङ्गलम् ।
ग्रहा नयन्ति सुव्यक्तं पुरुषं यमसादनम् ॥
ग्रहाणामुग्रचेष्टानां नक्षत्रपथचारिणाम् ।
उपचारान्प्रवक्ष्यामि शान्त्यर्थं तु यथाविधि ॥

मासि मास्यृतावयने चन्द्रग्रहे सूर्यग्रहे विषुवे शुभाशुभे जन्मनक्षत्रे वा तद्ग्रहाणामातिथ्यं संवत्सरादपि प्रयुञ्जानः सर्वान्कामानवाप्नोतीति । उक्तमेकाग्निविधानम् । एको वा विषमस्थः स्यात्सर्व एवार्चनीया भवन्ति ।

भास्कराङ्गारकौ रक्तौ श्वेतौ शुक्रनिशाकरौ ।
सोमपुत्रो गुरुश्चैव तावुभौ पीतकौ स्मृतौ ॥

---

१ ख. ध्यात्वाऽङ्गुष्ठोपकनिष्ठिकाभ्यां त्र्यम्बकेन ।

कृष्णं शनैश्चरं विद्याद्राहुं केतुं तथैव च ।
ग्रहवर्णानि पुष्पाणि प्राज्ञस्तत्रोपकल्पयेत् ॥
बलीꣳश्चैवोपहाराꣳश्च गन्धमाल्ये तथैव च ।
यथाक्रमेणोपहरेत्सर्वेषामनुपूर्वशः ॥ इति ।

अर्कसमिधमादित्याय खादिरमङ्गारकायौदुम्बरं शुक्राय पालाशं सामो-याऽऽपामार्गं बुधायाऽऽश्वत्थं बृहस्पतये शमीमयं शनैश्चराय राहवे दूर्वाः केतवे कुशा इति । सर्वेषामलाभे पालाशीर्वा । ब्राह्मणान्भोजयित्वा पुण्याहꣳ स्वस्त्ययनमृद्धिं वाचयित्वा यथाविध्यग्निं प्रतिष्ठाप्य हवीꣳषि कल्पयति । अथो-पोत्थायाग्रेणाग्निं तण्डुलैः स्थण्डिलं कृत्वा ग्रहदेवता आवाहयति ।

मध्ये तु भास्करं विद्याल्लोहितं दक्षिणेन तु ।
पूर्वे तु भार्गवं विद्यात्पूर्वदक्षिणतः शशी ॥
पूर्वोत्तरे बुधं विद्यादुत्तरे तु गुरुं तथा ।
पश्चिमे तु शनिं विद्याद्राहुं पश्चिमदक्षिणे[1] ॥
पश्चिमोत्तरतः केतुं ग्रहस्थानं विधीयते ।
दक्षिणोत्तरभागे तु साधिप्रत्यधिदेवताः ॥

वृत्तमादित्याय त्रिकोणमङ्गारकाय पञ्चकोणं शुक्राय चतुरश्रꣳ सोमाय बाणं बुधाय दीर्घचतुरश्रं बृहस्पतये धनुः शनैश्चराय राहवे शूर्पं केतवे ध्वजमिति ।

अर्कः शुक्रो बुधः पूर्वो गुरुरुत्तरतोमुखः ।
पश्चिमे तु शनिश्चन्द्रः शेषा दक्षिणतोमुखाः ॥
यवा आढक्यस्तण्डुलाः श्यामाका मुद्ग एव च ।
चणकास्तिलमाषाश्च कुलित्थाश्च क्रमात्क्षिपेत् ॥
अग्नीश्वरौ भास्करस्य भूक्षेत्रेशौ कुजस्य हि ।
इन्द्राणीन्द्रौ सितस्याथ ह्यापो गौरी निशापतेः ॥
विष्णुर्विष्णुर्बुधस्येन्द्रमरुत्वान्ब्रह्म वै गुरोः ।
शनेः प्रजापतियमौ राहोः सर्पस्तु निर्ऋतिः ॥
केतोर्ब्रह्मा च चित्रश्च स्वस्वमन्त्रैः स्वनामभिः ।
लोकपालान्दुर्गाविघ्नक्षेत्रवास्तुत्रिय(त्र्य)म्बकान् ॥
अभयंकरमृत्यू च ह्यग्निं वैश्वानरं क्रमात् ।
आवाहयेद्व्याहृतिभिर्यजेद्द्व्यष्टोपचारकैः ॥

---

१ क. दक्षिणपश्चिम इति पाठः ।

परिधानप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वा—आ सत्येनेत्यादित्याय । अग्निर्मूर्धा इत्यङ्गारकाय । प्र वः शुक्राय इति शुक्राय । आप्यायस्व इति सोमाय । उद्बुध्यस्व इति बुधाय । बृहस्पते अतियदर्यो अर्हात् इति बृहस्पतये । शं नो देवीरभिष्टय इति शनैश्चराय । कया नश्चित्र आभुवत् इति राहवे । केतुं कृण्वन् इति केतवे । ([1]पुरोनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति सदेवत्वायेति ब्राह्मणम् । यत्रैकाऽऽम्नाता स्यात्तां द्विरभ्यावर्तयेत्—तत्सवितुर्वरेण्यम् । इत्यनुद्रुत्याऽऽम्नातया जुहोति वा । ) नवानां ग्रहाणां पक्वं हुत्वा घृतान्वक्तानां समिधामष्टसहस्रमष्टशतमष्टाविꣳशतिं वा जुहुयात् । प्रत्यृचं हविषो जुहुयात् । प्रत्यृचमाज्यस्य जुहुयात् । प्रत्यृचं गुडौदनमादित्याय हविष्यमन्नमङ्गारकाय घृतौदनं शुक्राय घृतपायसं सोमाय क्षीरौदनं बुधाय दध्योदनं बृहस्पतये तिलपिष्टमिश्रमाषौदनं शनैश्चराय राहोर्माꣳसौदनं केतोश्चित्रौदनमिति । सर्वेषामलाभे हविष्यं वा । यदाऽष्टसहस्रं तदाऽधिप्रत्यधिदेवतानामष्टाविꣳशतिं यदाऽष्टशतं तदाऽष्टावष्टौ यदा त्रिꣳशतिं तदा तिस्रस्तिस्र आहुतीर्जुहुयात् । एवमेव लोकपालादीनाम् । अग्निं दूतं येषामीश इत्यादित्याय । स्योना पृथिवि क्षेत्रस्य पते इत्यङ्गारकाय । इन्द्राणी इन्द्रं वो विश्वत इति शुक्राय । अप्सु मे सोमो अब्रवीत् गौरीर्मिमाय इति सोमाय विष्णोर्नुकं विष्णो रराटम्, इति बुधाय । इन्द्रमरुत्व० ब्रह्म जज्ञानम्, इति बृहस्पतये । प्रजापते इमं यमप्रस्तरम्, इति शनैश्चराय । आऽयं गौः, यत्ते देवी इति राहवे । ब्रह्मा देवानाम्, सचित्रचित्रम्, इति केतवे । त्रातारमिन्द्रम्, अग्निर्दा द्रविणम्, यमो दाधार पृथिवीम्, असुन्वन्तम्, सधमादो द्युम्निनीः, आ नो नियुद्भिः, सोमो धेनुम्, सहस्राणि सहस्रधा इति लोकपालानाम् । जातवेदसे, गणानां त्वा, क्षेत्रस्य पतिना वयम्, वास्तोष्पते, त्र्यम्बकं यजामहे, यत इन्द्रभयामहे स्वस्तिदा विशस्पतिः, ये ते सहस्रमयुतं पाशाः, मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या इति दुर्गादीनाम् । एवमेव हुत्वाऽऽज्यमिश्रतिलव्रीहिभिर्व्याहृतिभिर्हुत्वा सर्वस्मात्सकृत्सकृदवदाय द्विरभिघार्य—स्विष्टकृतमर्यमणम्, इति पुरोनुवाक्यामनूच्य—सोमꣳ राजानम्, इति याज्यया जुहोति । अत्रैके जयाभ्यातानान्राष्ट्रभृत इत्युपजुह्वति यथापुरस्तात् । सर्वेभ्यो ग्रहेभ्यो बलिं दत्त्वा मूर्धानं दिवो अरतिम्, इति पूर्णाहुतिं हुत्वाऽग्रेणाग्निं ग्रहानभ्यर्चयति । आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः पवमानः

---

१ धनुश्चिह्नान्तर्गतः पाठः क्षेपक इव भाति ।

सुवर्जन इत्येतेनानुवाकेन मार्जयित्वा स्वस्वनामभिस्तर्पयित्वा स्वेन स्वेन मन्त्रेण गन्धपुष्पधूपदीपैरभ्यर्च्य बलिमुपहृत्य लाजापूपपृथुकाद्युपहारांश्च दत्त्वा नमस्कृत्य प्रवाह्य जघनेनाग्निमुपविश्याद्भिर्मार्जयति—आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्देवस्य त्वा इति तिसृभिः शंयुवाकेन च । अथ दक्षिणां ददाति—कपिलां धेनुमादित्याय रक्तमनड्वाहमङ्गारकाय रजतं शुक्राय शङ्खं सोमाय काञ्चनं बुधाय वासो बृहस्पतये कृष्णां गां शनैश्चराय राहवे छागं केतवे कुञ्जरमिति । सर्वेषामलाभे हिरण्यं वा । येन वा तुष्येदाचार्यः[1] । अथाप्युदाहरन्ति—

यथा समुत्थितं घोरं यन्त्रेण प्रतिहन्यते ।
एवं समुत्थितं घोरं शीघ्रं शान्ति नयेत्सदा ॥
यथा शस्त्रप्रहरणात्कवचं स्यान्निवारणम् ।
एवं दैवोपघातानां शान्तिर्भवति वारणम् ॥
अहिंसकस्य दानस्य धर्मार्जितधनस्य च ।
नित्यं च नियमस्थस्य सदा सानुग्रहा ग्रहाः ॥
ग्रहा गावो नरेन्द्राश्च ब्राह्मणाश्च विशेषतः ।
पूजिताः पूजयन्त्येते निर्दहन्त्यवमानिताः ॥
ईश्वरं भास्करं विद्यात्स्कन्दमङ्गारकं तथा ।
शुक्रं शचीपतिं विद्यादुमां चैव निशाकरम् ॥
बुधं नारायणं विद्याद्ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ।
यमं शनैश्चरं विद्याद्राहुं कालं तथैव च ॥
केतुमग्निमयं विद्यादेवं देवा यथा ग्रहाः ।
देवता ग्रहरूपेण दर्शयन्ति शुभाशुभम् ॥ इति ॥ १० ॥

अथात ऋतुशान्ति व्याख्यास्यामः । तिथिवारनक्षत्रयोगकरणलग्नदोषशान्त्यर्थं चतुर्थे वा पञ्चमेऽह्नि वा शान्तिस्नानं प्रकुर्वीत देवालये गृहे वा प्रस्थाष्टभिर्धान्यैस्तदर्धं तण्डुलैस्तदर्धं तिलैश्चोपर्युपरि चतुरश्रमरत्निमात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलं कृत्वा तन्मध्ये नलिनमुल्लिख्य तस्मिंस्तन्तुवेष्टितं कुम्भं निधाय तूष्णीं संस्कृताभिरद्भिः प्रोक्ष्य ब्रह्म जज्ञानम्, इति कुम्भं निधाय सपवित्रेण आपो वा इदं सर्वम्, इत्येतेनानुवाकेन अब्लिङ्गाभिश्च कुम्भमुदकैः पूरयित्वा गन्धादिभिरलंकृत्य कूर्चमन्तर्धाय ।

---

1 क. आचार्याय धेनुं ददाति ।

गजाश्वरथवल्मीकमृद्रमाहृत्य गोकुलात् ।
चतुष्पथाद्राजगृहात्तुलसीबिल्वमूलयोः ॥
देवालयात्पर्वताद्वा गृह्णीयात्पञ्च मृत्तिकाः ।
पालाशोदुम्बराश्वत्थवटप्लक्षकयज्ञिषु ॥
जम्बूबिल्वकपित्थाम्रशिरीशेषु च पल्लवान् ।
तेषां त्वचश्च पञ्चैव गृह्णीयात्संभवेषु वै ॥

इत्युक्तरीत्या पञ्च मृत्तिकाः पल्लवान् पञ्च त्वचश्च तत्तन्मन्त्रैर्निक्षिप्य नव रत्नानीषत्काञ्चनं नववस्त्रेणाऽऽच्छाद्य चूतपल्लवैर्बिल्वपल्लवैर्वा मन्त्रै(समन्त्रकै) रवकीर्य नारिकेलफलेनापिधाय दर्भैर्दूर्वादिना प्रतिच्छाद्यालंकृत्य संपरिवेष्ट्य वस्त्रेण पुरुषं पुण्डरीकाक्षं ध्यात्वा कुम्भे वरुणं संपूज्य श्रोत्रियान्विप्रान् षडष्टौ वा वरुणपूर्वकमभ्यर्च्याऽऽचार्यं चाभ्यर्चयेत् । त ऋत्विजः कुम्भमन्वारभ्य वैष्णवीं गायत्रीमष्टसहस्रमष्टशतं वा वदन्तो वेदादीन्, आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतमनुवाकं वरुणसूक्तं श्रीसूक्तं पुरुषसूक्तं पञ्चशान्तिमृचां प्राचीमित्येतमनुवाकं च जपेयुः । नमो ब्रह्मण इति परिधानीयां त्रिरन्वाहेति ब्राह्मणम् । प्रणवेनोत्थाप्य—आभिर्गीर्भिरिति जपेयुः । अथालंकृतेऽङ्गण उरुविष्टर आसीनां देवस्य त्वेति त्रिभिः प्रोक्ष्य ऋतं च सत्यं चेति त्रिभिर्मन्त्रैर्ऋत्विजः स्नापयेयुः ।

गायत्र्याऽऽगृह्य गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ।
आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णेति वै दधि ॥
तथा शुक्रमसीत्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम् ।

इति पञ्चगव्यं विधाय ततो नारीं पञ्चगव्यं प्राशयेत् । अथ शुचौ समे देशे गोमयेन चतुरश्रं हस्तमात्रं कुण्डं स्थण्डिलं कृत्वोपलिप्य लौकिकमग्निं श्रोत्रियागाराद्वाऽऽहृत्य स्वगृह्योक्तेन विधानेनाग्निमुखात्कृत्वा पालाशसमिद्भिरष्टोत्तरं विष्णुसूक्तेन जुहुयात् । तथा ब्रह्मसूक्तेनान्नं रुद्रसूक्तेनाऽऽज्यम् । एतानि सूक्तान्यष्टादशकृत्वः प्रत्येकमावर्तयेत्तदानीमष्टोत्तरशतं संपद्यते । अथर्तुनक्षत्रस्य समिदन्नाज्याहुतीः प्रत्येकमष्टाविंशतिकृत्वस्तन्मन्त्रेण जुहुयात् । मन्त्रौ चतुर्दशकृत्व आवर्तयेत् । अथ त्र्यम्बकेन तिलहोममष्टोत्तरशतं जुहुयात् । अथाऽऽज्याहुतीर्घृतसूक्तेनाष्टौ जुहुयात् । स्विष्टकृत्प्रभृत्युक्तमा धेनुवरप्रदानात् ।

अथ ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददात्याचार्याय विशेषतः । एवं यदि शान्तिं कुर्या-त्ततो नारी दोषान्मुच्यते सर्वारिष्टशान्तिरस्त्विति विज्ञायते ॥ ११ ॥

अथातो नारायणबलिं व्याख्यास्यामः । दक्षिणोत्तरायणयोरपरपक्षस्य द्वादश्यां क्रियते । पूर्वेद्युर्द्वादश षड्वा ब्राह्मणान्निमन्त्रयते योनिगोत्रश्रुतवृत्तसं-पन्नान् । अथापरेद्युर्देवगृहे नदीतीरे वाऽग्निमुखात्कृत्वा ( वाऽग्निं प्रतिष्ठाप्य ) संपरिस्तीर्य आ प्रणीताभ्यः कृत्वोपोत्थायाग्रेणाग्निं दैवतमावाहयति— पुरुषसूक्ते द्वे ऋचौ जपित्वा व्याहृतिभिः पुरुषमावाहयति । अथैनं स्नापयति पुरुषसूक्तेन । अथैनं गन्धपुष्पधूपदीपैरष्टाक्षरेणार्चयित्वाऽद्भिस्तर्पयति— केशवं तर्पयामीति द्वादशनामभिः । शेषमग्निमुखं कृत्वा पक्वाज्जुहुयात्—विष्णोर्नु कमिति पुरोनुवाक्यामनूच्य परोमात्रया इति याज्यया जुहोति अथाऽऽज्या-हुतीरुपजुहोति—केशवाय स्वाहेत्येतैरेव नामधेयैः । अथ गुडपायसघृतमिश्रमन्नं निवेदयति—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां विष्णवे महापुरुषाय हविर्निवेदयामीति सप्तव्याहृतिभिः स्वाहाकारेण जपति । व्याहृतिभिराचमनीयम् । अथ ब्राह्मणानाहूय सदर्भोपक्लृप्तेष्वासनेषूपवेश्याथै-नान्वस्त्रगन्धपुष्पधूपदीपैर्माल्यैरभ्यर्च्याथाभ्यनुज्ञातास्तिलघृतमिश्रं हविः समु-दायुत्य हस्ते जुहुयात् पितृभ्यः स्वधा नमो नारायणाय स्वाहेत्यादित्रयोविंश-तिर्मन्त्रा ऊह्याः । अथाग्नये कव्यवाहनाय स्विष्टकृते स्वधा नमो नारायणाय स्वाहेति । अथ ब्राह्मणानन्नेन परितोष्याऽऽचम्य तेषां यथाशक्ति दक्षिणां ददाति । प्रदक्षिणीकृत्य शेषमनुज्ञाप्य दक्षिणेनाग्निं प्रागग्रान्दर्भान्संस्तीर्य तेषु बलिं ददाति—विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः साध्येभ्यो देवेभ्यो नमः सर्वेभ्यो देवेभ्यो नमः सर्वाभ्यो देवताभ्यो नमो विष्णवे नमो नारायणाय नमः सहस्रशीर्षाय नमो यज्ञात्मने नमो यज्ञपुरुषाय नमो विश्वात्मने नमः सर्वात्मने नमः सर्वेश्वराय नम इति । स्विष्टकृदादि धेनुवरदानात् । सर्वान् पितॄन्समधि-गच्छति पुत्राञ्जयतीति विज्ञायते ॥ १२ ॥

अथ प्रजार्थिहोमः । पूर्वपक्षे पुण्ये नक्षत्रेऽमावास्यायां विषुवेऽयने वा नदीतीरेऽश्वत्थच्छायायां वा गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलं कृत्वा ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वा प्राच्यां दिशि ब्रह्माणं प्रतिष्ठाप्य पार्श्वयोर्धातारं विधातारं दक्षिणतो धातारमुत्तरतो विधातारम् । ततस्तानर्चयेत्पूर्वं ब्रह्माणं प्रजापतिं परमेष्ठिनं हिरण्यगर्भमावाहयामी त्यावाह्य सावित्र्या पाद्यं ददाति सावित्र्या निवेदयेदेतैरेव नामधेयैः शुक्लाभं ब्रह्मणे

मुद्गान्नं धातुः पीतान्नं विधातुः। ततः सावित्र्या अप आचम्य प्रणवेनाष्टशतं हुत्वा ब्रह्माणमुपतिष्ठते—नमो वाचे नमो वाचस्पतये नमो ब्रह्मणे बृहते करोमीत्येवं नमो धात्रे नमो विधात्रे इति । अग्निमुपतिष्ठते नमोऽग्नये सप्तार्चिः सप्तजिह्वः सप्तधाऽग्निः प्रतिष्ठितः । सप्तैव विश्वा भूतानि को ह्यग्निः प्रतितिष्ठति । तत्त्वमसि विश्वमसि योनिरसीति । अथ स्त्रियमाहूय सावित्र्या पलाशपर्णैरष्टोत्तरसहस्रैः स्नापयित्वा पुरुषसूक्तेन जुहुयात्तत्संपातेन मूर्ध्नि जुहुयात् । प्रणवेन नमस्कुर्यात् । अध्वर्युं ( आचार्य ) वस्त्रकुण्डलाभ्यामलंकरोति । ततः सा गर्भिणी भवतीति विज्ञायते ॥ १३ ॥

अथ वै भवति—जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति प्रजातन्तुं मा व्यवत्सेत्सीरित्ये· तस्माद्ब्राह्मणादाहिताग्नेर्दशवर्षाणामूर्ध्वं यदि प्रजा नोत्पद्यते कथं तत्र कुर्यादिति । पुनरेव कुमारीं संस्कृत्य दशमेऽहन्येकादशाहे द्वादशाहे वाऽरण्योरग्नीन्समारोप्यौदवसाय मथित्वाऽग्नीन्विहृत्योद्वासयन्नेष्येद्वा । तदानीमेवारण्योरग्नीन्समारोप्यैपासने ब्रह्मौदनं श्रपयित्वोपवसथहाविःप्रभृति सिद्धमग्न्याधेयं कुर्वन्ति । तस्मिन्संस्थिते पवित्रेष्ट्या यजेत । तस्यां संस्थितायां तन्तुमतीं निर्वपेत् । तस्याँ संस्थितायां त्रैधातवीयां निर्वपेत् । अपिवैन्द्राग्नेन पशुना यजेत । पुनराधेयं वा कुर्वीत । अथ यद्येको बह्वीर्जाया: प्रयुञ्जान एवमेवैतत् कुर्यात् । तस्मादेको बह्वीर्जाया विन्दत इति ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥

अथातो विष्णुबलिं व्याख्यास्यामः । विष्णवे बलिरष्टमे मासि पूर्वपक्षस्य सप्तम्यां द्वादश्यां रोहिण्यां श्रोणायां वा । ब्रह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वाऽथ सस्थण्डिलसंस्काराद्यग्निं प्रतिष्ठाप्य दैवतमावाहयति—ॐ भूः पुरुषमावाहयामि । ॐ भुवः पुरुषमावाहयामि । ॐ सुवः पुरुषमावाहयामि । ॐ भूर्भुवः सुवः पुरुषमावाहयामीत्यावाह्य परिसमूहनाद्यग्निमुखात्कृत्वा दैवतमर्चयति—आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतेनानुवाकेन मार्जयित्वाऽथाद्भिस्तर्पयति—केशवं तर्पयामि नारायणं माधवं गोविन्दं विष्णुं मधुसूदनं त्रिविक्रमं वामनं श्रीधरं हृषीकेशं पद्मनाभं दामोदरं तर्पयामीति । एतैरेव नामधेयैर्गन्धपुष्पधूपदीपैरमुष्मै नमोऽमुष्मै नम इत्यभ्यर्च्य । अथ विष्णव आहुतीर्जुहोति—विष्णोर्नु कं० तदस्य प्रियं० प्र तद्विष्णुः० परो मात्रया० विचक्रमे० त्रिर्देव० इति । अत्रैके जयाभ्यातानाराष्ट्रभृत इत्युप-

जुह्वति यथापुरस्तात् । सिद्धमाधेनुवरप्रदानात् । अथ गुडपायसं घृतमिश्रमन्नं निवेदयाति—अमुष्मै स्वाहा नम इति द्वादशभिर्यथालिङ्गम् । वैष्णवीभिर्ऋग्यजुःसामाथर्वभिः स्तोत्रैः स्तुतिभिः स्तुन्वन्ति । व्याहृतिभिः पुरुषमुद्वासया मीत्युद्वास्यान्नशेषं पत्नीं प्राशयेत् । पुमानस्मै जायत इति विज्ञायते ॥ १५ ॥-

अथातः पुत्रप्रतिग्रहकल्पं व्याख्याम्यामः । शुक्रशोणितसंभवो मातृ(ता)-पितृनिमित्तकस्तस्य प्रदानपरित्यागविक्रयेषु मातापितरौ प्रभवतो न त्वेवैकं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा स हि संतानाय पूर्वेषां न स्त्री पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वाऽन्यत्रानुज्ञानाद्भर्तुः । पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन्नुपकल्पयते—द्वे वाससी द्वे कुण्डले अङ्गुलीयकं चाऽऽचार्यं च वेदपारगं कुशमयं बर्हिः पर्णमयमिध्ममिति । अथ बन्धूनाहूय मध्ये राजनि चाऽऽवेद्य परिषदि चागारमध्ये ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वा विधिवदग्निं प्रतिष्ठाप्याऽऽप्रणीतान्तं कृत्वा दातुः समक्षं गत्वा पुत्रं मे देहीति भिक्षेत ददामीतीतर आह । तं परिगृह्णाति—धर्माय त्वा गृह्णामि संतत्यै त्वा गृह्णामीति । अथैनं वस्त्राभ्यां कुण्डलाभ्यामङ्गुलीयकेन चालंकृत्य शेषादग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोति—यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमान इति पुरोनुवाक्यामनूच्य यस्मै त्वं सुकृते जातवेद इति याज्यया जुहोति । अथ व्याहृतीर्हुत्वा स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । अथ दक्षिणां ददात्येते च वाससी एते कुण्डले एतच्चाङ्गुलीयकम् । यद्येवं कृत्वौरसः पुत्र उत्पद्यते तुरीयभागेष भवतीति विज्ञायते ॥ १६ ॥

अथातो यज्ञोपवीतविधिं व्याख्यास्यामः । जीर्णे छेदे विनाशे वा हस्तपादान्प्रक्षाल्याऽऽचम्य ब्राह्मणकन्यकया वा ब्राह्मणविधवया वा शुचिस्नातया कृताचमनीयया निर्मितं सूत्रं गृहीत्वा ग्रामात्प्राचीं वोदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य चतुरङ्गुलमात्रं षण्णवतिसूत्रं परिमण्डलं वा द्वितीयमेवं तृतीयमद्भिः प्रक्षाल्य आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतेनानुवाकेन मार्जयित्वा देवागारे गवां गोष्ठे नदीतीरे शुचौ देशे वा यत्र यत्र शुचिर्देशः स्यात् । बिल्वखादिरपलाशोदुम्बराश्वत्थवेण्वादियाज्ञिकवृक्षशाखायामवलम्ब्य सजीवं बध्नाति—पितृभ्यो नम इति प्रथममपसव्यम् । संपन्ने हस्ते गृहीत्वा प्रतिष्ठापयति—ॐ भूः प्रतिष्ठापयामि, ॐ भुवः प्रतिष्ठापयामि, ॐ सुवः प्रतिष्ठापयामि, ॐ भूर्भुवः सुवः प्रतिष्ठापयामीति प्रतिष्ठाप्यापसव्यकृतं जपति—भूर्भुवः सुवः । ओजो बलम्,

इत्येतमनुवाकम् । अथ सावित्र्या त्रिगुणीकृत्य भूरग्निं च इति दक्षिणावृत्ति-मभिमन्त्रयेत् । भुवो वायुम्, इति मध्यमावृत्तिम् । सुवरादित्यं च इत्युत्तराम् । भूर्भुवः सुवश्चन्द्रमसमितित्रिधावृत्तिं च । अथ सूत्रान्तेन बध्नाति--यथा नः श्रेयसः करत्, इति चतुर्भिर्मध्ये द्विगुणा भवति । तां भूः प्रतिष्ठापयामीति पुनः प्रतिष्ठाप्योशन्तस्त्वा हवामह इत्यृचं जपित्वा प्रदक्षिणतो दृढं करोति । त्रयाणां ब्रह्मेश्वरविष्णूनां प्रमाणं कृत्वा–

( तन्तुद्विगुणितं सूत्रं विष्णुना त्रिगुणीकृतम् ।
चतुर्वेदस्य चत्वारि त्रिवेदस्य त्रिकं भवेत् ॥
द्वे स्यातां वै द्विवेदस्य एकमेवैकवेदिनः । )
यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्रियं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

इति मन्त्रेण दक्षिणबाहुमुद्धृत्य कण्ठे धारयेत् ॥ १७ ॥

अथोपनीतस्याऽऽव्रतानि भवन्ति । नान्यस्योच्छिष्टं भुञ्जीतान्यत्र पितृज्येष्ठा-भ्याम् । न स्त्रिया सह भुञ्जीत । मधुमांसश्राद्धसूतकान्नमनिर्दशाहं संधिनी-क्षीरं छत्राकनिर्यासौ विलयनं गणान्नं गणिकान्नमित्येतेषु पुनः संस्कारः । प्रतिषिद्धदेशगमनामित्येकेषाम् । अथाप्युदाहरन्ति—

सौराष्ट्रं सिन्धुसौवीरमवन्तीं दक्षिणापथम् ।
एतानि ब्राह्मणो गत्वा पुनः संस्कारमर्हति ॥ इति ।

अथ पुनः संस्कारान्व्याख्यास्यामः । अग्निमुखं कृत्वा पालाशीं समिध-माज्येनाङ्क्त्वाऽभ्याधापयन्वाचयति—पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः समिन्धतां पुनर्ब्राह्मणो वसुनीथ यज्ञैः । घृतेन त्वं तनुवो वर्धयस्व सत्याः सन्तु यज-मानस्य कामाः स्वाहेति । अथ व्रात्यप्रायश्चित्तं जुहोति—यन्म आत्मनो मिन्दाऽभूत्० पुनरग्निश्चक्षुरदात्० इति द्वाभ्याम् । अथ पक्वाज्जुहोति—सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वा० इति । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—येन देवाः पवित्रेणेति तिसृभिरनुच्छन्दसम् । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । अथापरः--अग्निमुखात्कृत्वा पालाशीं समिधमभ्याधाय व्रात्यप्रायश्चित्तं जुहोति । अथ स्विष्टकृदादि वरदानान्तम् । अथापरः—ब्राह्मणवचनादेव सावित्र्या शतकृत्वो घृतमभिमन्त्र्य प्राश्य कृतप्रायश्चित्तो भवति । गुरोर्वो-च्छिष्टं भुञ्जीत । अथाप्युदाहरन्ति—वपनं दक्षिणादानं मेखलादण्डमजिनं

भैक्षाचर्या व्रतानि चैतानि निवर्तन्ते पुनःसंस्कारकर्मणीति । एते पुनःसंस्कारा व्याख्याताः ॥ १८ ॥

अथ जडबधिरमूकानां संस्कारं व्याख्यास्यामः । ऋतुर्यथाकामी स्यात् । पुण्ये नक्षत्रे ब्राह्मणान्भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वा केशानोप्य स्नातं शुचिवाससं बद्धशिखं यज्ञोपवीतिनमप आचमय्य देवयजनमुदानयति । अग्निमुखात्कृत्वा याज्ञिकीं समिधमाधायाऽऽज्येन तूष्णीमभिघारयति । तूष्णीमश्मानं स्थापयति। यथालाभं तूष्णीं वासः परिधापयति । तूष्णीं मेखलां परिव्ययति मन्त्रवद्ग्रन्थिं करोति । तूष्णीमजिनं प्रतिमुञ्चति । तूष्णीं दण्डं प्रयच्छति । याज्ञिकस्य वृक्षस्य नाम प्रयच्छति । अथैनं दक्षिणे हस्ते गृह्णाति— यस्मिन्भूतं च भव्यं चेति । अथैनं देवताभ्यः परिददाति—देवेभ्यस्त्वेति । अथैनमुपनयति—देवस्य त्वेति । सर्वत्र नामग्रहणवर्जम् । आचार्य एव प्रधानहोमं जुहोति । हुतशेषं गायत्र्याऽभिमन्त्र्य प्राशयेदित्येके । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । तूष्णीं सर्वान्मन्त्रानाचार्य एव जपेदित्येके । षण्ढजडक्लीबान्धव्यसनिव्याधितोन्मत्तहीनाङ्गबधिराधिकाङ्गामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिदीर्घरोगिणश्चैतेन व्याख्याताः । सद्यो मधुपर्कं ददाति । सद्योऽर्कं विवहेदित्येके । तिसृषु व्युष्टासु मधुपर्कवदाव्रतात्तूष्णीम् । अथाग्निमुत्सृजति—आयुर्दा अग्ने हविषो जुषाण इति । पिता वा भ्राता वाऽऽत्मनि समारोपयेदित्येके ॥ १९ ॥

अथ गृहस्थो द्वे भार्ये विन्देत कथं तत्र कुर्यादिति । यस्मिन्काले विन्देतोभावग्निं परिचरेत् । अपराग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्याऽऽज्यं विलाप्योत्पूय स्रुक्स्रुवं निष्टप्य संमृज्य स्रुचि चतुर्गृहीतं गृहीत्वाऽन्वारब्धायां यजमानो जुहोति—नमस्त ऋषे गद । अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वा । मा न इन्द्राभितस्त्वदृष्वारिष्टासः । एवा ब्रह्मन् तवेद[म]स्तु स्वाहा । इति । अथ समारोपयति—अयं ते योनिर्ऋत्विय इति । अथ पूर्वाग्निमुपसमाधाय—आ जुह्वान० उद्बुध्यस्वाग्ने० इति समिधमाधाय संपरिस्तीर्याऽऽज्यं विलाप्योत्पूय स्रुक्स्रुवं निष्टप्य संमृज्य स्रुचि चतुर्गृहीतं गृहीत्वा द्वयोर्भार्ययोरन्वारब्धयोर्यजमानो जुहोति—यो ब्रह्मा ब्रह्मण, अग्ने पुरीष्य इति याज्यया जुहोति । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—पुरीष्यस्त्वमग्ने० इत्यन्तादनुवाकस्य । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । अथाग्रेणाग्निं दर्भस्तम्बेषु हुतशेषं निदधाति—ब्रह्म जज्ञानं० पिता विराजा० इति द्वाभ्याम् । प्रसिद्धमौपासने पार्वणानि कुर्यात्संनितिष्ठत औपासनतन्त्रः ॥ २० ॥

अथातोऽर्कोद्वाहं व्याख्यास्यामः । मूकान्धबधिरादीनां जडानां च तृतीयविवाहितानां च । पूर्वपक्षे पुण्ये नक्षत्रे पूर्वाह्णे ब्रह्मसमूहे ग्रामात् प्राची

वोदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य यत्रैको बालोऽर्को भवति तस्योत्तरतो गोमयेनोपलिप्य स्वयं स्नात्वाऽर्कं च स्नापयित्वा पादौ प्रक्षाल्याऽऽचम्यालंकृत्य पुण्याहं वाचयित्वा तन्त्रेण नान्दीमुखं कृत्वा स्वस्तिसूक्तं वाचयित्वा यत्किंचिद्धिरण्यं गृहीत्वा आ सत्येन० इति जपित्वा ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वाऽलंकृत्यार्कं स्पृष्ट्वाऽऽदित्यमुपतिष्ठते—सूर्यो देवीमिति पञ्चभिः । अथ वस्त्रं माङ्गल्यसूत्रं चार्के बद्ध्वा पुण्याहं वाचयेदत्राऽऽदित्यो देवता । विधिनाऽग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्याऽऽज्यं सꣳस्कृत्य स्रुक्स्रुवं संमृज्याऽऽदित्यं ध्यायन्नर्कवृक्षं गृह्णाति—हस्तः प्रयच्छत्वमृतम्, इति । अथाग्निं प्रदक्षिणं करोति—परि त्वाऽग्ने पुरं वयम्, इति । अथार्कमूलं स्पृष्ट्वाऽऽदित्यमीक्षते—अभिवृतं शकुनैर्विश्वरूपमिति । अथ व्याहृतीर्हुत्वा स्रुचि चतुर्गृहीतं गृहीत्वा जुहोति—उद्वयं तमसस्परि० उदु त्यं० चित्रं० इति । अपरं चतुर्गृहीतं गृहीत्वा मनस्वतीं जुहोति—मनो ज्योतिरिति । अपरं चतुर्गृहीतं गृहीत्वा लाजैर्द्विरावृत्य जुहोतीत्येके न लाजहोम इत्यपरे । अथ स्रुवेण व्याहृतीर्हुत्वा समाप्याऽऽदित्यं व्रतऋग्भ्यामुपतिष्ठते अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशत्० त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना० इति द्वाभ्याम् । अथ गोक्षीरमर्कं स्पृष्ट्वाऽऽयुष्यसूक्तमुक्त्वा प्राश्याऽऽचम्य पुनरादित्यमुपतिष्ठते—अचित्ती यच्चकृमा० इति । अर्काधिदैवतमुद्वास्यार्कमुत्पाट्य व्राहीभिरग्नौ दग्ध्वा स्नात्वा यत्किंचिद्धिरण्यं श्रोत्रियाय दत्त्वा शुद्धो भवति । सद्य एव कदलीविवाहं कुर्यात् । कदलीं छित्त्वा त्रिरात्रमशुभिर्भवति । अथाप्युदाहरन्ति—

अर्कोद्वाहो जडादीनामुच्यते तु यवीयसः ।
विवाहार्थं मुनिश्रेष्ठैः समुत्पाट्य दहेत्तदा ॥
व्याहृतीभिस्तदा दत्त्वा यथाशक्ति हिरण्यकम् ।
स्नात्वा सद्यः शुचिर्भूयादुद्वाहे च तृतीयके ॥
तृतीया स्त्री म्रियेच्छीघ्रं तस्मादेवं चरेद्बुधः ।
रम्भोद्वाहं तथा कुर्याच्छित्त्वा तत्रैव मानवः ॥
त्रिरात्रं सूतकं भूयादिति वैखानसोऽब्रवीत् ॥ २१ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यशेषसूत्रे प्रथमप्रश्ने तृतीयः पटलः ।

---

अथ चतुर्थः पटलः ।

---

अथातो गृह्यशेषं व्याख्यास्यामः । पवित्रकरणं प्रोक्षणीसꣳस्करणं प्रणीताप्रणयनं स्रुक्स्रुवसंमार्जनमिति दर्शपूर्णमासवत्तूष्णीम् । अथाग्निं परिस्तीर्य

दक्षिणेनाग्निं ब्रह्मायतने दर्भान्संस्तीर्योत्तरेणाग्निं प्रागग्रान्दर्भान्संस्तीर्य तेषु पात्राणि सादयित्वा तूष्णीं संस्कृताभिरद्भिरुत्तानानि पात्राणि कृत्वा विस्रस्येध्मं त्रिः सर्वाभिः प्रोक्ष्य दर्भेषु दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेशयति दर्शपूर्णमासवत्तूष्णीम् । अरत्निमात्राः परिधय आर्द्रा वा सत्वक्काः । प्रादेशमात्राण्येकविंशतिरिध्मदारूणि भवन्तीति ब्राह्मणम् । अथ यदि शम्याः परिदधाति शमीमय्यः शम्याकृतयो वाऽरत्निमात्रा बाहुमात्रा वा । अथेध्ममभ्यज्य परिसमिधं शिनष्टि स्वाहाकारेणाभ्याधायाऽऽघारावाघार्याऽऽज्यभागौ प्रतिमुखं प्रबाहुग्जुहोति प्रसिद्धमग्निमुखात्कृत्वा स्रुवेण दर्व्यामुपस्तीर्य पूर्वार्धादवदायापरार्धादवद्यत्यभिघारयति प्रत्यनक्ति । यदि पञ्चावत्ती स्याद्दर्व्यामुपस्तीर्य मध्यात्पूर्वार्धादवदायापरार्धादवद्यत्यभिघारयति प्रत्यनक्ति । स्रुवं निमृज्य यथादेवतं पुरोनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति । अथोपस्तीर्य सकृदुत्तरार्धात् स्विष्टकृतमवद्यति द्विरभिघारयति न प्रत्यनक्ति । तमन्तःपरिधि सादयित्वा यथाम्नातमाज्याहुतीर्जुहोति । व्याहृतिभिरनाम्नातेषु । अथ स्विष्टकृतमादायोत्तरार्धपूर्वार्धे जुहोति पूर्वेण वाऽत्रैतं मेक्षणमनु प्रहरति । अथैनत्संस्रावेणाभिजुहोति । दर्व्यामप आनीय संक्षालनमन्तःपरिधि निनयति । निर्णिज्य स्रुचं निष्टप्याद्भिः पूरयित्वा बहिःपरिधि निनयति । ( अत्रैके सौविष्टकृतं समामनन्ति । अथ समिधमाधाय जयाञ्जुहोति— चित्तं च स्वाहेति । त्रयोदश स्रुवाहुतीर्हुत्वाऽभ्यातानाञ्जुहोति—अग्निर्भूतानामधिपतिरिति सप्तदश स्रुवाहुतीर्हुत्वा प्राचीनावीती जुहोति जपति वेत्येके । पितरः पितामहा इति । अथ राष्ट्रभृतो जुहोति—ऋताषाडृतधामाऽग्निर्गन्धर्वः स इदं ब्रह्म क्षत्त्रं पातु तस्मै स्वाहा तस्यौषधयोऽप्सरस ऊर्जो नाम ता इदं ब्रह्म क्षत्त्रं पान्तु ताभ्यः स्वाहेति । एवमेवान्तादनुवाकस्यान्यत्र भुवनस्य पते, स नो भुवनस्य पत इति । अथ प्राजापत्यां जुहोति—प्रजापते इति । अथ सौविष्टकृतं जुहोति——यदस्य कर्मण इति । स्रुवेण परिधीननक्ति । अथ परिस्तरात्समुल्लिप्याऽऽज्यस्थाल्यां प्रस्तरवद्बर्हिरङ्क्त्वा तृणं प्रच्छिद्याग्नावनुप्रहृत्य तूष्णीं तृणं चाथ शम्या अपोह्य परिधीननुप्रहरति । मध्यमं परिधिमनुप्रहृत्याथेतरावुपसमस्यति अथैनान्संस्रावेणाभिजुहोति । अथाग्रेणाग्निं यथासमाम्नातं हुतशेषं दत्त्वा शेषं कुर्यादन्यत्र विवाहशेषात् । तथैव परिषिञ्चति— अन्वसंस्थाः प्रासावीः, इति मन्त्रान्तान्संनमयति । अथ प्रणीताभ्यो दिशो व्युन्नयति दर्शपूर्णमासवत्तूष्णीम् । ब्रह्माणं विसृज्य शेषं प्राश्नाति——आयुरसि

विश्वायुरसि, इति । प्राश्याप आचम्य जठरमभिमृशति---यत इन्द्र भयामहे, स्वस्तिदा विशस्पतिः, इति द्वाभ्याम् । शेषमभिघारितं ब्राह्मणाय दद्यात् । न पत्न्या हविषां भक्षणमन्यत्रोच्छिष्टमभिसंपाताभिहुतानां पिण्डदानस्य शेषं च नैव देवताहुतशेषमन्यत्र ब्रह्मौदनात् ॥ १ ॥

उपनयनादिरग्नि( र्विवाहाग्नि )स्तमौपासनमित्याचक्षते । दारकाले दायाद्यकाले वा नित्यो धार्यः । अनुगते प्रायश्चित्तं व्याख्यातम् । तस्मिन्पाकयज्ञसꣳस्थानि दैवानि कर्माणि क्रियन्ते । उपस्थानादिसमानमन्यत्र प्रजासꣳस्कारात् । प्रजासꣳस्कारार्थमन्यत्र शुचौ देशे स्थण्डिलं कृत्वोल्लिखेन्मध्ये प्राचीनमेवं दक्षिणत एवमुत्तरतो मध्यादुदीचीनमेवं पश्चादेवं पुरस्तात् । औपासनादेकदेशं प्रणवेनाऽऽहृत्य व्याहृतिभिर्निरुप्यापि वा श्रोत्रियागारात् । एवमौपासनमुपसमाधाय---'मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निं यो नो अग्निः पितरः' इति द्वाभ्यामात्मन्यग्निं गृहीत्वोपस्थानादि समानमा पात्रासादनात् । कथमु खलु पात्रासादनानामानुपूर्व्यं भवति—आज्यस्थालीं स्रुवं च जुहूं च दर्वीं च प्रणीताप्रणयनं प्रोक्षणीपात्रं चरुस्थालीं मेक्षणं चेध्माबर्हिरिध्मप्रव्रश्चनान्येवमेवान्यानि द्वंद्वं न्यञ्चि न हीने नातिरिक्ते सादयति । समानं कर्म स्रुक्संमार्जनात् । स्रुक्स्रुवं च संमृज्य स्रुचि चतुर्गृहीतं गृहीत्वा पूर्णाहुतिं जुहोति—सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वा इति । औपासनादग्निप्रणयनं विद्यते । अथ परिधानप्रभृति समानम् । अथाप्युदाहरन्ति---असꣳस्कृताभिरद्भिः प्रोक्षणीभिरप्रोक्षितपात्रैर्होमश्चासंमार्जनैः स्रुक्स्रुवैर्नाधिश्रितपक्वैराज्येन न प्रचरितव्यं यदि प्रचरेद्यातुधाना असुरा रक्षाꣳसि पिशाचा यज्ञं ग्राहयेयुरिति विज्ञायते ॥ २ ॥

अथातोऽपूर्वं व्याख्यास्यामः । परिसमुह्य पर्युक्ष्य परिस्तीर्य परिषिच्योपसमाधायालंकृत्य यावदाम्नातमाहुतीर्जुहोत्याद्यन्तयोर्व्याहृतिभिराज्याहुतिः परिधानं प्रणीताप्रणयनं ब्रह्मोपवेशनं च न विद्यते, विद्यते वा पूर्वैर्मन्त्रैरुपाꣳशूक्त्वोत्सृजत इत्युच्चैरेवमेवोपकल्पयतीति विज्ञायते । पाकयज्ञसꣳस्थानां न तिष्ठद्धोमो विद्यते, विज्ञायते चान्यत्र विहाराद्भूपतेः सर्वास्ताः पाकयज्ञसꣳस्था इति । अथ सꣳस्थायामाद्यन्तयोः परिषेचनं यथापुरस्तात् । विज्ञायते—नासमित्के जुहुयाद्यदसमित्के जुहुयाद्यथाऽजिह्वेऽन्नं दद्यात्तादृक्तस्मात्समिद्वत्येव होतव्यमिति । अनादिष्ट उपसमाधाय होतव्यमनादिष्ट उपहत्यैव होतव्यमिति । मेक्षणेनामुष्मै स्वाहाऽमुष्मै स्वाहेति दैवतं जुहोति । अथाप्युदाहरन्ति—

ओषध्यः सक्तवः पुष्पं काष्ठं मूलं फलं तृणम् ।
एतद्धस्तेन होतव्यं नान्यत्किंचिदचोदनात् ॥ इति ।

ओषध्यादिवद्बलिहरणं प्राक्परिषेचनाद्धुतशेषप्रदानं प्राशनं चैवमेव मूर्ध्नि सःस्रावहोमः प्रदक्षिणं चान्यत्रोपनयनात् । उपनयने सावित्रीमुक्त्वा प्राश्नाति न पक्वात् । सावित्रीमर्थायार्थाया(?)ग्निं प्रणयति । अपवृत्ते कर्मणि लौकिकः संपद्यते । अथ यद्युत्करेऽग्न्युपस्थानादि समानं निवर्तते पूर्णाहुतिः समानमत ऊर्ध्वम् ॥ ३ ॥

अथातः स्थण्डिलविधिं व्याख्यास्यामः । सिकताश्चतुरङ्गुलं प्राचीनमुद्धृत्य पश्चाङ्गुलिप्रमाणं पश्चिमत ऊर्ध्वमङ्गुलिविशेषं दक्षिणत ऊर्ध्वमङ्गुलिविहीन-मुत्तरतः पश्चप्रस्थं सिकताः शुचयः शुक्ला अनार्द्रा अरत्निमात्रं समचतुरश्रं प्राक्प्रवणं स्थण्डिलं करोति । न लोष्टेन न काष्ठेन न शर्करैर्न नखैः । काष्ठेन व्याधितः स्यात् । लोष्टेन कुलनाशनम् । शर्करैः पुत्रनाशः स्यान्नखै-र्बन्धुविनाशनम् । तस्मात्सुवर्णरजतताम्रशकलेन व्रीहिभिर्यवैर्वा दर्भैस्तदङ्गुष्ठेन च महानाम्न्या चोपसंगृह्य तस्य मध्यतः प्राचीनं संततमृजुमुल्लिखेत् । तस्य दक्षिणतः प्राचीनं संततमृजुमुल्लिखेत् । तस्योत्तरतः प्राचीनं संततमृजुमुल्लिखेत् । तस्य मध्यत उदीचीनं संततमृजुमुल्लिखेत् । तस्याः पश्चादुदीचीनं संततमृजुमु-ल्लिखेत् । तस्य पुरस्तादुदीचीनं संततमृजुमुल्लिखेत् । एष स्थण्डिलविधिर्भवति । न कपालो न धूमो न ज्वालो न विस्फुटो न नम्रमुखो द्रप्सः पतितं मुखज्व-लितं च वर्जयेत् ॥ ४ ॥

अथातः सिकतादोषं व्याख्यास्यामः । भस्मकेशतुषकपालशर्करतृणास्थि-पिपीलिकैरार्द्रसिकतानि वर्जयेत् । भस्मना यजमानक्षयः केशेन स्त्रीमरणं तुषेण पुत्रघ्नं कपालैरर्थनाशनं शर्करैर्बन्धुवियोगस्तृणेन कर्मक्षयोऽस्थिना ग्रामविनाशः पिपीलिकै राष्ट्रविनाश आर्द्रसिकतैर्व्याधिभयं भवतीति विज्ञायते ॥ ५ ॥

सर्वत्र दर्विहोमानामष्टोत्तरशतं दर्भाः । ( ४ ) चत्वारि हस्तपवित्रे (५२) द्विपश्चाशदासनं ( १६ ) षोडश परिस्तरणं ( ९ ) पात्राणां पञ्च ( १७ ) सप्तदश ब्रह्मासनं ( ४ ) प्रणीताप्रणयनं द्वे द्वे ( २ ) आज्यपवित्रे द्वे ( २ ) अभिद्योतने द्वे ( २ ) दर्भाग्रे द्वे ( ४ ) पर्यग्निकरणे स्रुवसंमार्जनं चतुर्भ्य इति । बाहुमात्रास्तिस्रः शम्याः परिधीन्कृत्वा मध्यमाङ्गुलिरनामिका कनिष्ठिकेति स्थविष्ठो मध्यमोऽणीयान्द्राघीयान्दक्षिणतोऽणिष्ठो ह्रसिष्ठ उत्तरतोऽङ्गुष्ठपर्वमात्र-

मष्टादश याज्ञिकाः काष्ठा ( द्विप्रादेशमात्राः ) प्रादेशमात्रं पवित्रं दर्भतरुणकाभ्यामङ्गुष्ठपर्वमात्रं प्रोक्षणीमाज्यस्थालीं प्रस्थचतुर्भागं पूर्णप्रस्थद्विभागं प्रणीताप्रणयनं चरुस्थालीं प्रस्थमाहुतिप्रमाणं चतुरङ्गुलमवदानप्रमाणमङ्गुष्ठपर्वमात्रं दर्वीप्रमाणमेकविंशत्यङ्गुष्ठं तस्या द्व्यङ्गुष्ठमुन्नतं पश्चाङ्गुष्ठं बिलमेवमेव स्रुक्प्रादेशमुच्छ्रितं चतुरङ्गुलं वा किंचिद्दक्षिणत उन्नतो भवति । मेक्षणमिति होमदर्वीप्रमाणमिति विज्ञायते ॥ ६ ॥

अथ शुचौ समे देशे गोमयेन गोचर्ममात्रं स्थण्डिलं कृत्वा प्रादेशमात्रमुच्छ्रितं चतुरङ्गुलं वा किंचिद्दक्षिणत उन्नतो भवति । प्राचीनप्रवणं किंकामस्योदीचीनप्रवणं किंकामस्य प्रागुदक्प्रवणं किंकामस्य समं किंकामस्य । प्राचीनप्रवणं ब्रह्मवर्चसकामस्योदीचीनप्रवणमन्नाद्यकामस्य प्रागुदक्प्रवणं प्रजाकामस्य समं प्रतिष्ठाकामस्य । उपलिप्तं वैश्वदेवत्यमुद्धत्यं नाकदेवत्यमवोक्षणं पितृदेवत्यं सैकतं सिन्धुदेवत्यमुल्लेखनं यमदेवत्यं निरसनं रुद्रदेवत्यं स्पर्शनं वरुणदेवत्यमग्निविधानं विष्णुदेवत्यं विहरणं वामदेवत्यं कर्म गायत्र्याः परिस्तरणदर्भाज्यस्थालीस्रुवजुहूनां पृथिवीदेवत्यं स्रुक्सोमदेवत्यमाज्यं वसुदेवत्यं पवित्रं विष्णुदेवत्यश्चरुः प्रजापतिदेवत्यं मेक्षणमग्निदेवत्यं संमार्जनं रुद्रदेवत्यं कूर्चं प्रजापतिदेवत्यमुदकुम्भमब्देवत्यं प्रणीता वरुणदेवत्यमश्मा महेन्द्रदेवत्यं वासः सोमदेवत्यं कर्ता बृहस्पतिदेवत्यं धूममातिथिदेवत्यमिध्ममग्निदेवत्यं मध्यमपरिधिर्यजमानदेवत्यं दक्षिणपरिधिरिन्द्रदेवत्यमुत्तरपरिधिर्वरुणदेवत्यमूर्ध्वसमिधौ सूर्यदेवत्यमिन्द्राग्नियमनिर्ऋतिवरुणवायुसोमेशाना अष्टदिग्देवत्यं व्यजनं वायुदेवत्यं गन्धमश्विनिदेवत्यं पुष्पं गन्धर्वदेवत्यं धूपमिन्द्रदेवत्यं दीपं भानुदेवत्यं प्रयाजानूयाजमृतुदेवत्यं पक्वं प्रधानदेवत्यमुपहोमा यथालिङ्गदेवत्यं यत्र यत्र होमे मन्त्रविधानं तत्र तल्लिङ्गदेवत्यं परिषद्ब्रह्मदेवत्यं सदस्याः सर्वदेवत्यमन्येषामनुक्तानां प्रजापतिदेवत्यं योऽस्य दैवतं मन्त्रतः कर्मतो वाऽभिज्ञाय जुहोति सोऽश्नुते श्रियमायुष्यमारोग्यं स्वर्ग्यं च भवति । अथाप्युदाहरन्ति—

अग्निहीनमनाद्दष्टिर्मन्त्रहीनं तु ऋत्विजः ।
आज्यहीनं कुलं हन्ति स्वरहीनं तु पत्नयः ॥
यजमानं दक्षिणाहीनमन्नहीनं तु राष्ट्रकम् ।
सर्वहीनं सदस्यानि नास्ति यज्ञसमो रिपुः ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन किंचिद्द्रव्यं समाचरेत् ।
श्रियः कामश्चरेत्सर्वं समृद्धं सहदक्षिणम् ॥

एवमृषिविधानोक्तं मुनीनां तत्त्ववेदिनाम् ।
सर्ववेदाह्निकं होमं सर्वलोकेषु पूजितम् ॥ ७ ॥

अथ वै भवति-जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति । ब्रह्मचर्यं व्या[1]ख्यातम् । आ समावर्तनादेवैतद्भवति—नाचीर्णव्रतो ब्रह्मचारी भवति, इति तदाश्रमो व्याख्यातः । अत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं येनानृणो भवति । स्वदार इत्येकम् । मन्त्रवत्प्रयोग इत्येकम् । ऋतावित्यपरम् । अथाधिब्रह्मचर्यम्-विवाहे त्रिरात्रम् । ऋतौ रात्रिम् । अमावास्यायां पौर्णमास्यां श्राद्धं दत्त्वा भुक्त्वा चैकरात्रम् । परस्त्रीषु दिवा च यावज्जीवम् । अग्न्याधेये द्वादशरात्रम् । आग्रयणेष्टिपशुबन्धानामुपवसथेष्वेकरात्रम् । एवमेव सर्वेषु वेदकर्मसु । चातुर्मास्येषु संवत्सरम् । यथाप्रयोगमन्येषु यज्ञक्रतुष्वन्यत्रर्तौ । दीर्घसत्रेषु धर्मव्रतेषु च । तदेतद्धर्म्यं पुण्यं पुत्र्यमायुष्यं स्वर्ग्यं यशस्यमानृण्यमिति व्याख्यातं ब्रह्मचर्यम् । यज्ञेन देवेभ्य इति यज्ञं व्याख्यास्यामः । एकविंशतिसंस्थो यज्ञ ऋग्यजुःसामात्मकश्छन्दोभिश्चितो ग्राम्यारण्यपश्वोषधीभिर्हविष्मान् दक्षिणाभिरायुष्मान् । स चतुर्धा ज्ञेय उपास्यश्च—स्वाध्याययज्ञो जपयज्ञः कर्मयज्ञो मानसश्चेति । तेषां परस्पराद्दशगुणोत्तरो वीर्येण । ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थयतीनामविशेषेण प्रत्येकशः । सर्व एवैते गृहस्थस्याप्रतिषिद्धाः क्रियात्मकत्वात् । नाक्रियो ब्राह्मणो नासंस्कारो द्विजो नाविद्वान्विप्रो नैतैर्हीनः श्रोत्रियो नाश्रोत्रियस्य यज्ञ इति । तस्मादाचारः प्रमाणं संस्था आचारः क्रियासंततिरिति नित्या(त्यं)भावात् । तस्माद्यः कश्चन क्रियावान्सतामनुमताचारस्य श्रोत्रिय एव विज्ञेयः । अथाप्युदाहरन्ति—

निषेके गर्भसंस्कारे जातकर्मक्रियासु च ।
विधिवत्संस्कृता मन्त्रैश्चीर्णव्रतसमापनाः ॥
श्रोत्रिया इति ते ज्ञेयाः शाखापाराश्च ये द्विजाः ।
विधिवद्गृह्य ये पाणिमृतौ चीर्णव्रतावुभौ ॥
मन्त्रवत्संप्रयोगे तौ ब्राह्मण्यं गर्भमादधुः ॥ इति ।

तस्मादाचारः प्रमाणम् ॥ ८ ॥

अथ वै भवति—सर्वेण वै यज्ञेन देवाः सुवर्गं लोकमायन्निति स एष हुतादिरासहस्रसंवत्सरान्तः सर्वो यज्ञो यो हि यद्वेद स्वाध्यायजपकर्ममानसेषु तेनैवास्य तद्गुणेनेष्टं भवतीति तदेतन्मन्त्रब्राह्मणं व्याख्यातम् । अथ वै

---

[1] व्याख्यास्यामः ।

भवति—देवा वै वृष्टिं नाविन्दन्तां मिथुनेऽपश्यन्नित्येतद्विज्ञाय दारानाहृत्य सर्वयज्ञभाजो भवन्तीति व्याख्यातो यज्ञः । प्रजया पितृभ्य इत्यथास्य प्रजा भवन्ति–यानुत्पादयते यानुपनयते यानध्यापतये यान्याजयत इति सर्वाऽस्यैषा प्रजा भवतीति प्रजा व्याख्याता । एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासीत्याहिताग्निरित्येवैष उक्तो भवति । अथाप्युदाहरन्ति—

पुदिति नरकस्याऽऽख्या दुःखं च नरकं विदुः ।
पुदि त्राणात्ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च ॥
न मांसपेशलः पुत्रो नाविद्वान्नाप्यकर्मकृत् ।
स्वयं न याति यत्स्वर्गं किं पुनः पितरं तरेत् ॥ इति ।

विज्ञायते—अहं तदस्मि मदसि त्वमेतन्ममासि योनिस्तव योनिरस्मि । ममैव सन्वह हव्यान्यग्ने पुत्रः पित्रे लोककृज्जातवेद इति । एतस्मात् गार्हपत्य उक्तो भवति गार्हपत्यादाहवनीयस्तस्मादग्न्याधेयेनानृण आहवनीयादिति प्रणीतस्तस्मात्पशुबन्धयाज्यनृणः शालामुखीयादाग्नीध्रीय अग्नीध्रीयादपरे धिष्णियाः । ( ष्ण्याः ) । विभूरसि प्रवाहण इत्येते विहरणोपस्थानीया एषाऽस्य दैवी प्रजा भवति, इति तस्मात्सोमयाज्यनृणः । तस्माद्गृहस्थस्य सर्व एवैते यज्ञास्तस्माद्गृहाश्रे ( च्छ्रे ) य इति । अथास्य श्रेयोवाप्तिरापूर्यमाणपक्ष इति पूर्वपक्ष एवैष उक्तो भवति सोमेनाऽऽपूर्यमाणेन व्याख्यातः । अहोरात्राणि वा वृद्धिमन्ति ह्रासवन्ति च भवन्ति । यत्राह्नां वृद्धिर्भवति स एवैष उक्तो भवतीति । अथ हैकेषां विज्ञायते—अह्नः पञ्चसु कालेषु कुर्वीतेत्युदगयन इत्येवेदमुक्तं भवति । संवत्सरो वै देवानामहोरात्रं तस्यैतदुदगयनमहर्दक्षिणायनं रात्रिस्तस्याह्नः पञ्चसु कालेषु कुर्वीतेति तस्य प्रातःसङ्गवौ शिशिरवसन्तौ मध्यंदिनं ग्रीष्मोऽपराह्णसायाह्ने वर्षाशरदौ प्रातःसङ्गवे सायमिति विवाहं न कुर्वन्ति । काममितराणि । अथान्यत्रापि कुर्वन्भवति पुण्ये नक्षत्र इति । देवनक्षत्राणि वा अन्यानि यमनक्षत्राण्यन्यानि । यानि देवनक्षत्राणि तेषु कुर्वीत यत्कारीत्येवेदमुक्तं भवति ॥ ९ ॥

विष्णुश्च ह वै सोमश्च ब्रह्मवाद्यमवदेतामहं ब्राह्मणानां प्रतिष्ठेति विष्णुरब्रवीदहं प्रतिष्ठेति सोमस्तौ प्रजापतिं प्रश्नयेतां सोऽब्रवीत्प्रजापतिश्छन्दांसि विष्णुमधिगच्छन्ति नक्षत्राणि सोमं तावुभौ ब्रह्मण्याविति सोऽब्रवीत्पूजितौ पूजयन्तौ स्तुतौ स्तुन्वन्तौ प्रियौ प्रियन्तौ ब्रह्मण्यौ ब्रह्मवित्तौ वरप्रतिष्ठा-

तारौ भवत इति । यन्मां ब्राह्मणा वक्ष्यन्ति यज्ञेषु सोऽहमिति विष्णुरब्रवीत्तस्माद्विष्णुर्यज्ञो यज्ञो वै (विष्णुः) ब्राह्मणानां प्रतिष्ठेति । विज्ञायते च—ब्राह्मणा वै छन्दाꣳसीत्येतस्मात् । यन्मां ब्राह्मणा वक्ष्यन्ति नक्षत्रेषु सोऽहमिति सोमोऽब्रवीत्तस्माद्ब्राह्मणानाꣳ सोमो राजा तस्माद्विज्ञायते च—ब्राह्मणो वा अष्टाविꣳशो नक्षत्राणां तत्तस्य वचः पुण्यमिति । तावुभौ ब्रह्मण्यौ ब्रह्मवित्तौ ब्राह्मणानां प्रतिष्ठातारौ ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितौ । य एवं विद्वान्ब्राह्मणपुरस्कृतानि कर्माणि करोति, यज्ञस्य समृद्ध्या इति । युग्ममयुग्ममिति समं विषमं चैतेन दैवं पित्र्यं च व्याख्यातम् । वेदकर्माणि प्रयोक्ष्यन्नादित एव तीर्थे स्नात्वोदेत्याहतं वासः परिधायाप आचम्यैकविꣳशत्या दर्भपिञ्जूलैरात्मानं पवयित्वा यस्य कुर्वन्भवति तं पवयाति—पवित्रं वै दर्भाः पवित्रं विष्णुः स प्रतिष्ठा सोमस्य प्रतिष्ठित्या इति विज्ञायते । एकविꣳशत्या पवयाति एकविꣳशो वै यज्ञ एकविꣳशः पुरुष एकविꣳशतिश्छन्दाꣳस्येकविꣳशतिर्वै देवलोकाश्छन्दोभिरेवैनं यज्ञेन यजमानमेकविꣳशे प्रतिष्ठाप्य पूतं मेध्यं यज्ञियं पवयति । सप्तभिः पवयाति सप्त च्छन्दाꣳसि च्छन्दोभिरेवैनं पवयाति । सप्तभिः पवयति सप्तैवास्यैते पुरुषाः संततिमनुसंतन्वन्ति त्रयः प्राञ्चस्त्रयः प्रत्यञ्च आत्मा सप्तम एतावन्त एवैनान्पवयाति । त्रेधा विभक्तैः पवयाति त्रय इमे लोका एभिरेवैनं लोकैः पवयति, इति ब्राह्मणम् । अथाप आचम्य बाह्याभ्यन्तरतः पूतो मेध्यो यज्ञियो भूत्वा वेदकर्माणि प्रयोक्ष्यन्पूर्वेद्युरेव युग्मान्ब्राणान् भोजयेदिति नान्दीमुखा एवैता उक्ता भवन्ति । तेषु भुक्तवत्सु स्वधायै स्थाने—मधु मनिष्ये मधु जनिष्य इत्येतद्यजुर्जपित्वा नान्दीमुखाः पितरः प्रीयन्तामित्यपो निनयति स्वधैवैषोक्ता भवाति । नैकाह्ना पित्र्यं दैवं च (कर्म) कुर्वन्ति । अथैतद्विज्ञायते—यस्यैकाह्ना पित्र्यं दैवं च कुर्वन्ति प्रजा हास्य प्रमायुका भवति तस्मात् पितृभ्यः पूर्वेद्युः क्रियते यत् पितृभ्यः पूर्वेद्युः करोति पितृभ्य एव तद्यज्ञं निष्क्रीय यजमानः प्रतनुत इति ॥ १० ॥

अथापरेद्युर्देवानामिति। अथापरेद्युर्ब्राह्मणानन्नेन परिवेषयेदिति दैवतं भवाति यद्देवत्यं भवाति तस्य पुण्याहं वाचयिष्यन्नाम गृह्णात्यसौ प्रीयतामिति । पुण्याहं वाचायिष्यन् ब्राह्मणान्संपूजयति । अरिक्तपाणयः प्राङ्मुखा युग्मास्तिष्ठन्ति । तेषां दाक्षिणत उदङ्मुखोऽपिहितमुदकुम्भं धारयन्वाचयिता तिष्ठाति । तस्य दक्षिणं बाहुमन्वितरस्तिष्ठति। अथैतान्संपूजयाति—मनः समाधीयतामिति। समाहितमन-

सः स्म इतीतरेषां प्रतिवचनम् । मनो वै चन्द्रमा ब्राह्मणा नक्षत्राणि तस्माद्ब्राह्मणेषु मनः समादधाति । प्रसीदन्तु भवन्त इति । प्रसन्नाः स्म इतीतरेषां प्रतिवचनम् । तथैवास्य प्रसन्ना भवन्ति । शान्तिरस्तु । पुष्टिरस्तु । तुष्टिरस्तु । ऋद्धिरस्तु । अविघ्नमस्तु । आयुष्यमस्तु । आरोग्यमस्तु । शिवं कर्मास्तु । इत्याशिषमेवैतामाशास्ते । अथैवेतरेषां प्रतिवचनम् । ओमिति ब्रह्म । ओमितीदꣳ सर्वम् ( इति ) तस्मादोमिति संधाय पुण्याहं भवन्तो ब्रुवन्त्वित्येतेनाहश्च नक्षत्रं च पूते भवतस्ते एवैनं पूते पुनीतः । ओं स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु इत्येतेन गोब्राह्मणस्याऽऽशीरुक्ता भवति । त एवैनमाशिषा समर्धयन्ति । ऋद्धिं भवन्तो ब्रुवन्तु इत्यनेन ऋग्यजुःसाम्नामृद्धिरुक्ता । तैरेव ऋद्धिमान्भवति । श्रीरस्त्विति भवन्तो ब्रुवन्त्विति तैरेव श्रियमेवाऽऽप्नोति । य एवं विद्वान्पुण्याहं वाचयति नास्य कर्मोपहतं भवति । यत्कर्म करोत्यपरेणाग्निं प्रदक्षिणमुपचारो यज्ञोपवीती दैवानि कर्माणि क्रियन्ते विपरीतं पित्र्येषु ॥ ११ ॥

अथ शुचौ समे देश इति कथं विज्ञायते गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलमुपलिप्तं भवति तच्छुचिर्भवति । तस्य मध्यत उद्धृत्यावोक्ष्यारत्निमात्रं समचतुरश्रं सैकतं स्थण्डिलं करोति । तत्रोल्लेखनादिकर्म प्रतिपद्यते । दर्भेषु दक्षिणतो ब्राह्मण उपविशति । स यद्युपविशत्यादिशो व्युन्नयन्नाशास्ते । यद्यु वै नोपविशति दर्भेषु दक्षिणतः प्रागग्रं कूर्चं निधाय—ॐ भूर्भुवः सुवरों ब्रह्मन्ब्रह्मासि नमस्ते ब्रह्मण इत्युपतिष्ठते ब्रह्मैवात्राऽऽसीनो भवति तस्मै वरं ददाति ब्राह्मणं वा भोजयेदिति । एतेन सशिरस्को यज्ञः—यो वै यज्ञस्य शिरो वेद शीर्षण्वान्मेध्यो भवति, इति । उत्तरत उदपात्रं ब्राह्मणमिध्माबर्हिरिति—एतद्वै यज्ञस्य शिरो य एवं वेद शीर्षण्वान्मेध्यो भवतीति ब्राह्मणम् । अथ शम्याः परिदधाति—शम्या वा परिधयो वेति विज्ञायते । नापरिधाय जुहुयात् । क्षमामपहत्या इति । सर्वत्र परिसमूहनपर्युक्षणपरिस्तरणपरिधानोप समाधानालंकरणमित्यादरादाचार्याः । सर्वत्रालंकृत्य ये तत्र ब्राह्मणाः सन्तिताननुज्ञाप्य कुर्विति यत्कारी स्यात्समृद्धमेवास्य तत् ॥ १२ ॥

[ सर्वत्र दर्विहोमेष्वाघारवत्सु पुरोनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति सदेवत्वायेति ब्राह्मणम् । यत्रैकाऽऽम्नाता स्यात्तां द्विरभ्यावर्तयेत् । तत्सवितुर्वरेण्यमित्यनुद्रुत्याऽऽम्नातया जुहोत्यथवा भूर्भुवः सुवरोमित्यनुद्रुत्य तत्सवितुर्वरेण्यमिति जुहोति । अनाम्नातेषु तदेतत्सर्वप्रायश्चित्तम् । सꣳस्कारेषु पाकयज्ञेषु नित्येषु काम्येषु च पक्वहोमं कुर्यादित्येके शाखिनः समामनन्ति । एतेन होमदान-

प्राशनानि व्याख्यातानि भवन्ति । पक्वाज्जुहोति पक्वाद्ददाति पक्वात्प्राश्नातीति पाकयज्ञास्तस्माद्धुतप्रहुताहुतेषु पक्वः कार्य इति । एकविंशतिदारुमिध्मं करोति यज्ञस्य सरूपत्वाय । अभिघारयति—'तेजसैवैनꣳ समर्धयति" इति ब्राह्मणम् । अरत्निमात्रीं दर्वीं बाहुमात्रीमित्यपरम् । अथ वै भवति निर्ऋतिगृहीता वै दर्वी यद्दर्व्या जुहुयान्निर्ऋत्या अस्य यज्ञं ग्राहयेदिति दर्व्याऽन्नस्य जुहोति । स्रुवेणाऽऽज्यस्य वैकङ्कती स्रुगाकृतिर्भवतीति विज्ञायते । अथाप्युदाहरन्ति—

यथा सुभूमिजो वृक्षः सुमूलः सुप्रतिष्ठितः ।
बहुशाखः सुपुष्पश्च फलवानुपयुज्यते ॥
देवदानवगन्धर्वैर्ऋषिभिः पितृभिस्तथा ।
पक्षिभिः षट्पदैश्चापि मशकैश्च पिपीलिकैः ॥
एवं हि पाकयज्ञेषु सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम् ।
हुतः सुभूमिर्विज्ञेयो मूलं प्रहुत उच्यते ॥
आहुतोऽत्र प्रतिष्ठानं यज्ञवृक्षो महोच्छ्रयः ।
बह्व्यस्तस्य स्मृताः शाखाः सुपुष्पाः सुफलोपगाः ॥
मन्त्रब्राह्मणतत्त्वज्ञैः सुदृष्टास्ता उपासकैः ।
एवं हि यज्ञवृक्षस्य योऽभिज्ञः श्रोत्रियः स्मृतः ॥
दारस्याऽऽहरणं कुर्यात्कर्मेत्येवं विपश्चितः ।
सुभूमिं च सुमूलं च सुप्रतिष्ठानमेव च ॥
वृक्षं पुण्यफलोपेतं बहुशाखं स पश्यति ।
ज्ञानं सुभूमिराचारो मूलं श्रद्धा प्रतिष्ठितिः ॥
क्षमाऽहिंसा दमः शाखाः सत्यं पुष्पफलोपगम् ।
ज्ञानोपभोग्यं बुद्धानां गृहिणां यज्ञपादपम् ॥
अकामहतया बुद्ध्या त्यक्ताहंकारलोभया ।
निश्चयाध्यवसायाभ्यां चक्षुर्भ्यां स तु पश्यति ॥
तस्यैको वज्रसंकाशः क्रोधः परशुरुच्यते ।
तेनैवमाच्छिनन्मोहात्त्याज्यः क्रोधो गृहेष्वतः ॥
गृहा मूलं हि यज्ञानां गृहा ह्यानृण्यकारणम् ।
गृहा ह्याश्रमपूजार्थं स्थित्यर्थं च गृहाः स्मृताः ॥
पाकयज्ञा हविर्यज्ञाः सोमयज्ञाश्च ते त्रयः ।
स्थिता मूलेषु वृक्षेषु प्रमादी तेषु सीदति, इति ॥ १२[1] ॥ ]

१ अयं खण्डः क. पुस्तके नास्ति ।

अथ राजन्यवैश्ययोरुपनयनं प्रसिद्धम् । एतावदेव नाना । आचार्य एव पक्काज्जुहोति । ब्रह्मसूत्रमवोद्धृत्य त्रिष्टुग्भी राजन्यस्य जिघर्म्यग्निम्, आ त्वा जिघर्मि, आयुर्दा अग्ने हविषो जुषाण इति । जगतीभिर्वैश्यस्य—जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविः, त्वामग्ने मानुषीरीडते विशः, सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वा इति । वैश्यस्य रथकारस्यैतावदेव नानाऽऽचार्य एव पक्काज्जुहोति तत्सवितुर्वरेण्यमिति । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—क्षेत्रियै त्वा निर्ऋत्यै त्वेति षड्भिरनुच्छन्दसम् । नात्र जगतीभिर्वैश्यस्य जुहोति । अथाग्रेणाग्निं हुतशेषं दत्त्वा विरमेत् । ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पन्नो ब्राह्मणवदेवैतावदेव नाना तस्य—क्षेत्रियै त्वा॰ इति व्याहृतिभिश्चेत्युपहोमः । क्षत्रियवदम्बष्ठस्य क्षेत्रियै त्वा॰ इत्येवोपहोमः । क्षत्रियाद्वैश्यायामुत्पन्नः क्षत्रियवदेव क्षेत्रियै त्वा सावित्र्या चोपहोमः । वैश्याच्छूद्रायामुत्पन्नस्तूष्णीं वैश्यवत् । गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यः—तत्सवितुर्वरेण्यं॰ आ सत्येन॰ युञ्जते मनः॰ इति सावित्र्यो यथाक्रमं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानाम् । उक्तं समावर्तनम् । समावर्तनप्रभृति स्नातकः पूर्वेण ग्रामान्निष्क्रमणप्रवेशनान्युत्तरेण वा बहिर्वाचं विसृजेदन्यत्र हस्तं दत्त्वा प्रसिद्धं स्नात्वा देवर्षिपितृंस्तर्पयित्वा दर्भेषु प्राङ्मुख उपविश्य दर्भान्दूर्वांश्च धारयमाणस्त्रीन् प्राणायामान्धारयित्वा सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्तयेच्छतकृत्वोऽपरिमितकृत्वो वा दशवारं वेदानधीत्य प्रश्नमनुवाकं वाऽधीयीति यावत्तरसमिति(?) विज्ञायते, ततो गृहानेति यत्किंश्चिद्ददाति सा दाक्षिणेति ब्राह्मणम् । अथ प्रसिद्धो विवाहः पाकयज्ञश्च । विवाहप्रभृति यावज्जीवमौपासनं परिगृह्णीयात् । अथ दैवतान्यर्चयति वैश्वदेवं करोति प्रसिद्धं बलिहरणम् । अथ वै भवति—पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति संतिष्ठन्ते देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इत्येतदानुपूर्व्यं भवति । अथ देवयज्ञः—देवेभ्यः स्वाहा व्याहृतीभिश्चेति । अपि समिधं तद्देवयज्ञः संतिष्ठते । अथ पितृयज्ञः—ब्राह्मणान्भोजयेत् पित्र्यानपि वा दक्षिणेनाग्निं दक्षिणाग्रान्दर्भान्संस्तीर्य गन्धपुष्पधूपदीपैरभ्यर्च्यालंकृत्य तेषु पिण्डं ददाति—पितृभ्यः स्वधा नम इति । अप्यपस्तत्पितृयज्ञः संतिष्ठत इति । अथ भूतयज्ञः—उत्तरेणाग्निं प्रागग्रान्दर्भान्संस्तीर्य गन्धपुष्पधूपदीपैरलंकृत्य तेषु बलिमुपहरति—भूतेभ्यो नम इत्यापुष्पेभ्यस्तद्भूतयज्ञः संतिष्ठते । अथ मनुष्ययज्ञः—ब्राह्मणेभ्योऽन्नं दद्यादौदनपात्रात्तन्मनुष्ययज्ञः संतिष्ठते । अथ ब्रह्मयज्ञ उक्तः । कथमु खलु नित्यानामनुक्रम इति । संध्योपासनमग्न्युपस्थानं नित्यस्वाध्यायगृहकर्मस्नानादित्योपस्थानतर्पणजपयज्ञगृहदेवतार्चनवैश्वदेवपञ्चमहायज्ञात्मयज्ञ-

संध्योपासनाग्निहोत्रात्मयज्ञसंवेशनानीत्येतान्युदितहोमिनोऽजस्राग्निहोत्रिणोऽनुदितहोमिनोऽग्निहोत्रं संध्योपासनामिति क्रमः । एतानि नित्यान्युपव्युषमारभ्याऽऽसंवेशनात् प्रसिद्धम् । सायं प्रातः सपत्नीकः प्रीतिं वर्धयेत् । तस्याः पत्न्याः पूर्वरात्रावुपसंवेशनमाऽर्धरात्रादधः शयनमा ब्राह्ममुहूर्तादथोऽयं नित्यान्यारभते । इति व्याख्यातमुपनयनम् ॥ १४ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यशेषसूत्रे प्रथमप्रश्ने चतुर्थः पटलः ॥

---

( अथेदानीं शान्तिपटल आरभ्यते । )

---

अथ पञ्चमः पटलः ।

अथातो गोप्रसवशान्तिं व्याख्यास्यामः । जननादेकादशे द्वादशे वा पुण्ये नक्षत्रे पुण्यनद्यादौ देवालये गोष्ठे वा । अथ वा गृहस्येशानभागे गोमयेनोपलिप्तभूमौ श्वेतरजोभिः कर्णिकायुक्तं पङ्कजं कृत्वा तत्र प्रस्थमात्रान्व्रीहीन्प्रक्षिप्य तेषु रक्तवस्त्रं प्रसारितं नवं वैणवं शूर्पं संस्थाप्य तत्र तिलान्विकीर्य तस्मिन्शूर्पे प्राङ्मुखं शिशुं निधाय द्वितीयशूर्पेणाऽऽच्छाद्य रक्तसूत्रेण शूर्पद्वयं वेष्टयित्वा शूर्पसंनिधौ गामानीय गोमुखसांनिध्यं कृत्वा गोमुखात्प्रसवं विभाव्य । अथाऽऽचार्यः शिशुं प्रोक्षेत्–प्र तद्विष्णुः० परो मात्रया० इति द्वाभ्याम् । अथ शुद्धोदकेन च स्नापयित्वा–आपो हि ष्ठेति तिसृभिः० इति । अथ गां वामाङ्गेषु सर्वाङ्गेषु वा स्पृशेत्—गोभ्यः अग्रे दिमाः अश्वी० । इति । अथ पिता शिशुमादाय मात्रे दद्यात् । माता पित्रे पिता मात्रे वेत्येके । अथ पिता तूष्णीं पुत्रस्य मुखमीक्षते–अङ्गादङ्गादिति शिशुमूर्धनि त्रिरवघ्राय पुण्याहं स्वस्त्ययनमृद्धिमिति वाचयित्वाऽथ गामाचार्याय दद्यात् । अथ गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलं कृत्वा श्रोत्रियागाराद्ग्निमाहृत्य ( अग्निमुखान्ते–ग्रहपूजां वा विधाय ) अथाग्नेः पूर्वतो व्रीहिमयं स्थण्डिलं कृत्वा मध्येऽष्टदलं कृत्वा विधिना कुम्भं संस्थाप्य तस्मिन्नितरः पवित्रमन्तर्धाय–आपो वा इदमित्युदकमासिच्य सर्वौषधीः पञ्चरत्नकुशदूर्वागन्धाक्षतान्निक्षिप्य वस्त्रयुग्मेन संवेष्ट्य कुम्भमलंकृत्य कुम्भाभ्यन्तरे जलमध्य एव क्रमेण देवता आवाहयेत्—सद्योजातमिति मध्ये वामदेवाय नम इति पूर्वे अघोरेभ्य इति दक्षिणे तत्पुरुषायेति पश्चिमे ईशानः सर्वविद्यानामित्युत्तरे पञ्चास्यरुद्रं संपूज्य कुम्भमुखे बिल्वपल्लवनिर्मितं मण्ड-

लाकारं कृत्वा तदुपरि पूर्णपात्रं निधाय तत्राष्टदलं कृत्वा सौवर्णकृता वरुणविष्णुयक्ष्मदेवता आवाह्य पूजयेत् । अथर्त्विज आचार्यश्च कुम्भमन्वारभ्य—नमस्ते रुद्र मन्यव इति प्रश्नं, अग्नाविष्णू इत्येकादशानुवाकान्, शतायुधायेति पञ्चाज्यानीः, आशुः शिशान इत्यनुवाकं कृणुष्व पाज इत्यनुवाकं दधिक्राव्ण इति सुरभिमतीं, आपो हि ष्ठेति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्यनुवाकमृचां प्राचीमित्यनुवाकं चाभिमृश्य जपेत् । आज्यभागान्तेऽथ प्रधानहोमः कार्यः । अथ ग्रहहोमं हुत्वाऽथ दधिमध्वाज्यानि सꣳसृज्य प्रधानहोमः—अव ते हेडो वरुण० उदुत्तमं वरुण० यत्किंचेदं० कितवासो० इमं मे वरुण० तत्त्वा यामि० इति षडृचात्मकं वरुणसूक्तमष्टादशावृत्त्याऽष्टोत्तरशतसंख्या भवन्ति । विष्णोर्नु कं० तदस्य प्रियं० प्र तद्विष्णुः० परो मात्रया० विचक्रमे० त्रिर्देव० इति षडृचात्मकं विष्णुसूक्तं, अस्य सूक्तस्याष्टादशावृत्त्याऽष्टोत्तरशतसंख्या भवन्ति । अक्षीभ्यां ते० ग्रीवाभ्य० आन्त्रेभ्यस्ते० ऊरुभ्यां ते० मेहनाद्वनं० अङ्गादङ्गाल्लोम्नो० इति षडृचात्मकं यक्ष्मसूक्तमष्टादशावृत्त्याऽष्टोत्तरशतसंख्या भवन्ति । अथ स्विष्टकृदादि ( वरदानान्ते ) बलिं पूर्णाहुतिमभिषेकं प्रणीताप्रणयनविमोकान्ते ब्रह्माणं संपूज्य विसृजते देवताः । मूलाश्लेषाज्येष्ठान्यतमनक्षत्रेष्वतिगण्डे वैधृतौ पातेऽमाविष्टयुपरागादिषु च जनने गोप्रसवशान्तिं विधाय तत्तच्छान्तिं कुर्यादिति विज्ञायते ॥ १ ॥

अथातो मूलनक्षत्रजननशान्तिं व्याख्यास्यामः । अभुक्तमूलोत्पत्तौ वर्षाष्टकान्ते भुक्तमूलोत्पत्तावव्यवहितागामिमूलर्क्षे एकादशाहे द्वादशाहे वाऽन्यतमे वा शुभनक्षत्रे गोमुखप्रसवशान्तिं विधाय मूलशान्तिमारभते । गोमयेन गोचर्ममात्रं स्थण्डिलं कृत्वा तन्मध्ये हस्तमात्रं स्थण्डिलं विधाय श्रोत्रियागारादग्निमाहृत्य प्रतिष्ठित्य स्थण्डिलस्य पूर्वभागे वेदिद्वयं प्रकल्प्य तत्र दक्षिणवेद्यां ग्रहमखोक्तविधानेन ग्रहानावाह्य संपूज्य तदीशान्यां कलशं सꣳस्थाप्य पूजयेत् । उत्तरवेद्यां चतुर्विꣳशतिदलान्वितं सकर्णिकं पङ्कजं निर्माय सितासितरक्तपीतरजोभी रञ्जितं कृत्वा मध्यकर्णिकायां द्रोणपरिमितान्व्रीहींस्तदर्धतण्डुलांस्तदर्धतिलाꣳश्चान्योन्योपरि प्रसार्य चतुरश्रं विधाय तत्राव्रणं तन्तुवेष्टितं कलशं विधिना प्रतिष्ठाप्य मध्ये सद्योजातादीन्पञ्च रुद्रान्क्रमेण प्रस्थाप्य पूजयेत् । कुम्भमुखे शतौषधिपञ्चपल्लवनिर्मितं मण्डलाकारं कृत्वा पूर्णपात्रं निधाय तस्मिन्सौवर्णकृता निर्ऋतीन्द्रापा देवताः प्रागादिचतुर्विꣳशतिभूमिस्थदलेषु प्रदक्षिणमुत्तराषाढाद्यनूराधान्ता नक्षत्रदेवताश्चाऽऽवाह्य पूजयेत् । तदुत्तरतः शत-

च्छिद्रकलशं संस्थाप्य तत्र वरुणमावाह्य पूजयेत् । नात्र जलपूरणम् । अथर्त्विगाचार्याः कुम्भमन्वारभ्य जपेयुः–नमस्ते रुद्र इति प्रश्नं, अग्नाविष्णू इत्येकादशानुवाकान्, शतायुधायेति पञ्च, आशुः शिशान इत्यनुवाकं, कृणुष्व पाज इत्यनुवाकं ममाग्न इत्यनुवाकं, आपो हि ष्ठेति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः, पवमानः सुवर्जन इत्यनुवाकौ श्रीसूक्तं नारायणमुत्तरनारायणं च । अथाऽऽग्निमुखात्कृत्वा ग्रहान्हुत्वाऽथ कृसरान्नेन मूलं प्रजामिति पुरोनुवाक्यामनूच्य–अहर्नो अत्रेति याज्यया जुहोति । अथाष्टोत्तरसहस्रमष्टोत्तरशतं वा जुहुयात् । इन्द्रो ज्येष्ठामनु इति पुरोनुवाक्यामनूच्य पुरंदराय वृषभायेति याज्यया जुहोति । अष्टोत्तरशतमष्टाविंशतिं वा । या दिव्या आपः पयसेति पुरोनुवाक्यामनूच्य याश्च कूप्या याश्चेति याज्यया जुहोति । अष्टोत्तरशतमष्टाविंशतिं वा । अथाऽऽज्येनोपहोमाञ्जुहोति–प्रजापतये स्वाहा मूलाय स्वाहा प्रजायै स्वाहा इन्द्राय स्वाहा ज्येष्ठाय स्वाहा ज्यैष्ठ्यायै स्वाहाऽभिजित्यै स्वाहा अद्भ्यः स्वाहाऽऽषाढाभ्यः स्वाहा समुद्राय स्वाहा कामाय स्वाहाऽभिजित्यै स्वाहेति । अथ हैके ब्रुवते तत्तत्सूक्तेन वा जुहोतीति । अथ स्विष्टकृदादि बलिं दत्त्वा पूर्णाहुतिं हुत्वाऽभिषिच्य ( वरदानान्तं ) सिद्धमाधेनुवरप्रदानात् । एवं ज्येष्ठाश्लेषैकनक्षत्रजनने च शान्तिं मूलवत्कुर्यादिति विज्ञायते ॥ २ ॥

अथैकेषां विज्ञायते—

आश्लेषायां तु जातानां शान्तिं वक्ष्याम्यतः परम् ।
जातस्य द्वादशाहे च शान्तिहोमं समाचरेत् ॥
असंभवे तु जन्मर्क्षमन्यस्मिन्वा शुभे दिने ।
स्नातोऽभ्यङ्गादिभिस्तास्मिन्वरयेत्तु द्विजोत्तमान् ॥
विभवे पञ्च कुम्भाँस्तु द्वयं वा तदलाभतः ।
देवतास्थापने चैकमेकं रुद्राभिमन्त्रणे ॥
मूलर्क्षोक्तप्रकारेण कुम्भे निक्षिप्य पूजयेत् ।
गोमयालेपिते देशे वालुकापरिशोभिते ॥
पङ्कजं कारयेत्तत्र चतुर्विंशतिपत्रकैः ।
तण्डुलैः कारयेद्यद्वा रक्तपीतसितासितैः ॥
कर्णिकायां न्यसेद्व्रीहीन्स्थापयेत्तेषु कुम्भकम् ।
आजिघ्रेति[च] मन्त्रेण कलशस्थापनं शुभम् ॥
इमं म इति मन्त्रेण पूरयेत्तीर्थवारिणा ।

कुम्भं सुवस्त्रगन्धाद्यैस्तत्तन्मन्त्रैश्च पूजयेत् ॥
याः फलिनीरित्यनया क्षिपेद्रत्नौषधादिकान् ।

ततः पूजा—कुम्भोपरिस्थपात्रेषु आश्लेषाप्रतिमां यजेत् ॥

निष्कनिष्कार्धपादैर्वा कारयित्वा स्वशक्तितः ।
तत्पूर्वोत्तरनक्षत्रे दक्षिणोत्तरयोर्यजेत् ॥
ऐन्द्रादीशानपर्यन्तामितरर्क्षाणि पूजयेत् ।
मूलोक्तेन विधानेन कुम्भयोरभिमन्त्रणम् ॥
रुद्रार्चा रुद्रकुम्भे तु पूर्ववच्छेषमाचरेत् ।
नमोऽस्तु सर्पेभ्य इति पूजामन्त्रः प्रचोदितः ॥
सर्पो रक्तस्त्रिनेत्रश्च द्विभुजः पीतवक्त्रकः ।
फलकासिधरस्तीक्ष्णो दिव्याभरणभूषितः ॥

ततो होमः— एवं ध्यात्वा ततोऽभ्यर्च्य होमकर्म समारभेत् ।
कर्तुः शाखोक्तमार्गेण आचार्यस्याथवाऽऽचरेत् ॥
मुखान्तं[1] कर्म निर्माय हविरादाय शास्त्रतः ।
इद९ सर्पेभ्यो जुहुयात्साधिप्रत्यधिदैवतम् ॥
अष्टोत्तरशतं वाऽथ ह्यष्टाविंशतिमेव च ।
मूलनक्षत्रवच्छेषहोमं तत्र समारभेत् ॥
पूर्णाहुत्यन्तकर्माणि कृत्वा संपातकं तथा ।

ततोऽभिषेकः—कुम्भाज्जलं तु प्रक्षिप्य त्वभिषेकमथाऽऽरभेत् ॥
दारपुत्रसमेतस्य यजमानस्य पूर्ववत् ।
अभिषिञ्चेत्तदाऽऽचार्य ऋत्विग्भिः सहितस्ततः ॥
अभिमन्त्रितकुम्भाद्भिरभिषेचनमाचरेत् ।
तथा पौराणमन्त्रैश्च पल्लवैरभिषेचयेत् ॥
आश्लेषाऋक्षजातस्य मातापित्रोर्धनस्य च ।
भ्रातृज्ञातिकुलस्थानां दोषं सर्वं व्यपोहतु ॥
योऽसौ वागीश्वरो नाम चाधिदेवो बृहस्पतिः ।
मातापित्रोः शिशोश्चैव गण्डान्तं च व्यपोहतु ॥
त्रातारः सर्वभूतानां रक्षन्तु पितरः सदा ।
सर्पनक्षत्रजातस्य वित्तं च जातिबान्धवान् ॥

---

१ अभिमुखान्तं ।

एवं कृतेऽभिषेके तु सर्पशान्तिर्भवेद्ध्रुवम् ॥
ततः शुक्लाम्बरधरो यजमानः सुभूषितः ।
दक्षिणाभिस्ततो विप्रान्कूलवच्च प्रतोषयेत् ॥
शुक्लवस्त्रयश्च विप्रेभ्यः सर्वाकुर्यादाशिषं गृही ।
इत्युक्तेन विधानेन सर्वा( र्पा )रिष्टं व्यपोहति ॥
सर्वे कामाश्च सिध्यन्ति वेदोक्तायुर्भविष्यति ।
इत्युक्तं सर्पशान्त्यर्थं सारमागमचोदितम् ॥
मानवानां हितार्थाय मनुना सर्वकामिकम् ।
सर्पाधीश नमस्तुभ्यं नागानां च गणाधिप ॥
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं सर्वा( र्पा )रिष्टप्रशान्तये ।
मूलनक्षत्रवत्कुर्यात्सर्पगण्डे स्वनामतः ॥
सर्व( र्प )दोषोपशान्तय इति विज्ञायते ॥ ३ ॥

अथातो नक्षत्रगण्डान्तजन्मशान्तिं व्याख्यास्यामः—

गण्डशान्तिं प्रवक्ष्यामि सोममन्त्रेण भक्तिमान् ।
कांस्यपात्रं प्रकुर्वीत पलैः षोडशभिर्नवम् ॥
अष्टभिश्च चतुर्भिर्वा द्वाभ्यां वा शोभनं तथा ।
तन्मध्ये पायसं शङ्के नवनीतेन पूरिते ॥
राजतं चन्द्रवर्मेति सितपुष्पसहस्रकैः ।
दैवज्ञः क्षौमवासाश्च शुक्लमाल्याम्बरार्चितः ॥
सोमोऽहमिति संचिंत्य पूजां कुर्यादतन्द्रितः ।
जपेत्साहस्रकं मन्त्रं श्रद्दधानः समाहितः ॥
आप्यायस्वेति मन्त्रेण पूजां कुर्यात्समाहितः ।
दद्याद्वै दक्षिणामिष्टां गण्डदोषप्रशान्तये ॥
शुक्लं वागीश्वरं चैव ताम्रपात्रसमन्वितम् ।
गण्डदोषोपशान्त्यर्थं दद्याद्वेदविदे शुचिः ॥ इति ॥ ४ ॥

अथैकनक्षत्रजननशान्तिं व्याख्यास्यामः—

एकस्मिन्नेव नक्षत्रे भ्रात्रोर्वा पितृपुत्रयोः ।
प्रसूतिश्च तयोर्मृत्युर्भवेदेकस्य निश्चयः ॥
तद्दोषनाशाय तदा प्रशस्तां शान्तिं च कुर्यादभिषेचनं च ।
संपूज्य ऋक्षप्रतिमां तदग्रे दानं च कुर्याद्विभवानुरूपम् ॥

तत्र शान्तिं प्रवक्ष्यामि सर्वाचार्यमतेन तु ।
शुभर्क्षे शुभवारे च चन्द्रताराबलान्विते ॥
रिक्ताविष्टिविवर्ज्ये तु प्रारभेद्दिवसे सुधीः ।
आचार्यं वरयेत्पूर्वं चतुरोऽथ द्विजोत्तमान् ॥
पुण्याहं वाचयित्वा तु शान्तिकर्म समाचरेत् ।
आग्नेयीशानदिग्भागे नक्षत्रप्रतिमां ततः ॥
तन्नक्षत्रोक्तमन्त्रेण चार्चयेत्कलशोपरि ।
रक्तवस्त्रेण संच्छाद्य वस्त्रयुग्मेन वेष्टयेत् ॥
स्वशाखोक्तेन मार्गेण कुर्यादग्निमुखं ततः ।
अनेनैव तु मन्त्रेण हुनेदष्टोत्तरं शतम् ॥
प्रत्येकं समिदन्नाज्यैः प्रायश्चित्तान्तमेव च ।
अभिषेकं ततः कुर्यादाचार्यः पितृपुत्रयोः ॥
वस्त्रालंकारगोदानैराचार्यं पूजयेत्पुनः ।
ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां दत्त्वा माषत्रयसुवर्णकम् ॥
देवताप्रतिमादानं धान्यवस्त्रादिभिः सह ।
यानशय्यासनादींश्च दद्यात्तद्दोषशान्तये ॥
भोजयेद्ब्राह्मणान्सर्वान्वित्तशाठ्यविवर्जितः । इति ॥ ५ ॥

अथातस्त्रिकप्रसवशान्तिं व्याख्यास्यामः—

सुतत्रये सुता चेत्स्यात्तत्त्रये वा सुतो यदि ।
मातापित्रोः कुलस्यापि तदाऽरिष्टं महद्भयम्[1] ॥
ज्येष्ठनाशो धने हानिर्दुःखं वा सुमहद्भवेत् ।
तत्र शान्तिं प्रकुर्वीत वित्तशाठ्यविवर्जितः ॥
जातस्यैकादशाहे वा द्वादशाहे शुभे दिने ।
आचार्यमृत्विजो वृत्वा ग्रहयज्ञपुरःसरम् ॥
सह वा ग्रहयज्ञः स्याद्यथावित्तानुसारतः ।
ब्रह्मविष्णुमहेशेन्द्रप्रतिमाः स्वर्णतः कृताः ॥
पूजयेद्धान्यराशिस्थकलशोपरि शक्तितः ।
पञ्चमे कलशे रुद्रं पूजयेद्रुद्रसंख्यया ॥
रुद्रसूक्तानि चत्वारि शान्तिसूक्तानि सर्वशः ।

---

१ महद्भवेत् ।

द्विज एको जपेद्धोमकाले शुचिसमाहितः ॥
आचार्यो जुहुयात्तत्र समिदाज्यतिलाँश्चरुम् ।
अष्टोत्तरसहस्रं वा शतं वा विंशतिं तु वा ॥
देवताभ्यश्चतुर्वक्त्रादिभ्यो ग्रहपुरःसरम् ।
ब्रह्मादिमन्त्रैरिन्द्रस्य यत इन्द्र भयामहे ॥
ततः स्विष्टकृतं हुत्वा बलिं पूर्णाहुतिं ततः ।
अभिषेकं कुटुम्बस्य कृत्वाऽऽचार्यं प्रपूजयेत् ॥
हिरण्यं धेनुरेका च ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा ततः ।
प्रतिमा गुरवे देया उपस्कारसमन्विता ॥
कांस्याज्यवीक्षणं कृत्वा शान्तिपाठं तु कारयेत् ।
ब्राह्मणान्भोजयेच्छक्त्या दीनानाथांश्च तर्पयेत् ॥
एवं शान्तिविधानेन सर्वारिष्टं प्रलीयते ॥ ६ ॥

अथातो नक्षत्रगण्डान्तलक्षणं व्याख्यास्यामः--

अश्विनीमघमूलादौ त्रिपट्कनवनाडिकाः ।
रेवतीसार्पशाक्रान्ते मासाश्च ऋतुसायकाः ॥
अश्विनीमघमूलादौ नाडिकाद्वितयं तथा ।
रेवतीसार्पशाक्रान्ते नाडिकाद्वितयं तथा ॥
अश्विनीमघमूलानां पूर्वार्धे बाध्यते पिता ।
पूषादिशाक्रपश्चार्धे जननी बाध्यते शिशोः ॥
पितृहा तु दिवाजातो रात्रिजातस्तु मातृहा ।
आत्मधक् संध्ययोर्जातो नास्ति गण्डो निरामयः ॥
सर्वेषां गण्डजातानां परित्यागो विधीयते ।
वर्जयेद्दर्शनं तावत्तच्च षाण्मासिकं भवेत् ॥ इति ॥ ७ ॥

अथातस्तिथिलग्नगण्डान्तशान्तिं व्याख्यास्यामः—

अभुक्तेतरजातस्य सूतकान्त्यदिनेऽपि वा ।
शान्तिं शुभेऽह्नि वा कुर्यात्तावत्पुत्रं न लोकयेत् ॥
तिथिगण्डे त्वनड्वाहं नक्षत्रे धेनुरुच्यते ।
काञ्चनं लग्नगण्डे तु गण्डदोषो विनश्यति ॥
आद्यभागे पितुर्गण्डत्रयाणामभिषेचनम् ।
इतरत्र शिशोर्मातुरभिषेकं च कारयेत् ॥

उत्तरे तिलपात्रं स्यात्तिष्ये गोदानमुच्यते ।
अजाप्रदानं त्वाष्ट्रे च पूर्वाषाढे च काञ्चनम् ॥
उत्तरातिष्यचित्रासु पूर्वाषाढोद्भवस्य च ।
कुर्याच्छान्तिं प्रयत्नेन नक्षत्राकारजां बुधः ॥
सुवर्णेन च रौप्येण यथावित्तानुसारतः ।
नक्षत्राधिपते रूपं कृत्वा वस्त्रद्वयेन [ च ] ॥
वरुणस्यार्चनं कार्यं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ।
शतौषधानि रत्नानि मृत्त्वक्पल्लवसंयुतान् ॥
पूजान्ते समिदन्नाज्यैर्होमं तिलयवैस्तथा ।
ततः पूर्णाहुतिं हुत्वा वेदाध्यायिकुटुम्बिने ॥
उत्तराप्रथमे पादे तिलपात्रं तथैव च ।
तिष्ये तु गां सवत्सां च सुशीलां च पयस्विनीम् ॥
अजां चित्रासु वै दद्यात्पूर्वाषाढे तु काञ्चनम् ।
यवांश्च व्रीहिमाषांश्च तिलमुद्गांश्च दापयेत् ॥
यथावित्तानुसारेण कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् ।
पितुरायुष्यवृद्ध्यर्थं शान्तिरत्र विधीयते ॥
एवं यः कुरुते सम्यक्शान्तिकर्म समाहितः ।
न दोषैर्लिप्यते नूनं पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
आयुरारोग्यमैश्वर्यं संप्राप्नोति दिने दिने ।
धनधान्यसमृद्धिं च पुत्रपौत्रसमृद्धिमान् ॥ इति ॥ ८ ॥

अथ कृष्णचतुर्दशीजननशान्तिं व्याख्यास्यामः—

कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां प्रसूतेः षड्विधं फलम् ।
चतुर्दशीं च षड्भागां कुर्यादादौ शुभं स्मृतम् ॥
द्वितीये पितरं हन्ति तृतीये मातरं तथा ।
चतुर्थे मातुलं हन्ति पञ्चमे वंशनाशनम् ॥
षष्ठे तु धनहानिः स्यादात्मनो वंशनाशनम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शान्तिं कुर्याद्विधानतः ॥
आचार्यं वरयेद्धीमान्पुत्रदारसमन्वितम् ।
स्वकर्मनिरतं शान्तं श्रोत्रियं वेदपारगम् ॥
सर्वालंकारसंयुक्तं सर्वलक्षणसंयुतम् ।

ब्राह्मणानृत्विजश्चैव स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ॥
रुद्रोऽधिदेवता तस्याः कर्षमात्रसुवर्णतः ।
तदर्धेन च वा कुर्याद्वित्तशाठ्येन वर्जितः ॥
प्रतिमां कारयेच्छंभोः सर्वलक्षणसंयुताम् ।
वृषभेण समासीनं वरदाभयपाणिकम् ॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं श्वेतमाल्याम्बरान्वितम् ।
त्र्यम्बकेति च मन्त्रेण पूजां कुर्याद्विधानतः ॥
स्थापयेच्चतुरः कुम्भांश्चतुर्दिक्षु यथाक्रमम् ।
पुण्यतीर्थजलोपेतान्धान्यस्योपरि विन्यसेत् ॥
शतौषधानि निक्षिप्य श्वेतवस्त्रैश्च वेष्टयेत् ।
शुभानि चैव पुष्पाणि श्वेतानि परिवेष्टयेत् ॥
सर्वे समुद्राः सरितस्तीर्थानि जलदा नदाः ।
आयान्तु यजमानस्य दुरितक्षयकारकाः ॥
आवाह्य वारुणैर्मन्त्रैरुक्तक्रमविधानतः ।
इमं मे वरुणेत्यनया तत्त्वा यामीत्यृचा तथा ॥
त्वं नो अग्ने च मन्त्रेण स त्वं न इति च क्रमात् ।
आग्नेयकुम्भमारभ्य पूजां कुर्याद्यथाक्रमम् ॥
रुद्रमश्वं वसोर्धारामग्नेर्मन्वे शतायुधम् ।
हिरण्यवर्णापवमानौ ऋचां प्राची यथाक्रमात् ॥
जप्त्वा पुरुषसूक्तं च पञ्चरुद्रं क्रमाज्जपेत् ।
ईश्वरस्याभिषेकं च ग्रहपूजां च कारयेत् ॥
पूजाकर्म च निर्वर्त्य होमं कुर्याद्विधानतः ।
गेहस्येशानदिग्भागे कुण्डं कुर्याद्विधानतः ॥
विस्तारायामखातं च अरत्निद्वयसंयुतम् ।
कुण्डकण्ठं परित्यज्य समन्तादङ्गुलिक्रमात् ॥
मेखलोच्छ्रायविस्तारे चतुस्त्रिद्व्यङ्गुलक्रमात् ।
पश्चिमे मध्यभागे तु योनिं कुर्याद्विधानतः ॥
योनिं षडङ्गुलां तिर्यग्द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यकाम् ।
अश्वत्थदलसंकाशां किंचिन्निम्नायतां शुभाम् ॥
कुर्यादाधारपर्यन्तं स्वगृह्योक्तविधानतः ।

समिदाज्यचरूंश्चैव तिलमाषांश्च सर्षपैः ॥
अश्वत्थप्लक्षपालाशसमिध्मैः खादिरैः शुभैः ।
अष्टोत्तरसहस्रं वा ह्यष्टोत्तरशतं तु वा ॥
अष्टाविंश्शातिमेतैश्च होमं कुर्यात्पृथक्पृथक् ।
त्र्यम्बकेति च मन्त्रेण तिलान्व्याहृतिभिः क्रमात् ॥
ग्रहहोमं ततः कृत्वा पूर्वोक्तेन विधानतः ।
ततः स्विष्टकृतं हुत्वा होमशेषं समापयेत् ॥
सर्वालंकारयुक्तानां त्रयाणामभिषेचनम् ।
चतुर्भिः कलशैरद्भिर्बृहत्कुम्भसमन्वितम् ॥
धौताम्बराणि धृत्वाऽथ कुर्यादाज्यावलोकनम् ।
पूर्णाहुतिं च जुहुयाद्यजमानः समाहितः ॥
तत्सर्वं परया भक्त्या हीश्वराय निवेदयेत् ।
सर्वालंकारसंयुक्तां सवत्सां गां पयस्विनीम् ॥
प्रतिमां वस्त्रयुग्मं च आचार्याय निवेदयेत् ।
अन्येषां चैव सर्वेषां कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् ॥
तस्मादनेन विधिना वित्तशाठ्यविवर्जितः ।
एवं यः कुरुते शान्तिं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
सर्वान्कामानवाप्नोति चिरंजीवी सुखी भवेत् । इति ॥ ९ ॥

अथातो ग्रहणजननशान्तिं व्याख्यामः—

ग्रहणे चन्द्रसूर्यस्य प्रसूतिर्यदि जायते ।
व्याधिपीडा भवेत्स्त्रीणामादौ तु ऋतुदर्शनात् ॥
इत्थं संजायते यस्तु तस्य मृत्युर्न संशयः ।
व्याधिपीडा च दारिद्र्यं शोकश्च सततं भवेत् ॥
शान्तिं तेषां प्रवक्ष्यामि नराणां हितकाम्यया ।
यस्मिन्नृक्षे विशेषेण ग्रहणं संप्रजायते ॥
तदृक्षाधिपते रूपं सुवर्णेन प्रकल्पयेत् ।
यथाशक्त्यनुसारेण वित्तशाठ्यं न कारयेत् ॥
सूर्यग्रहे सूर्यरूपं सुवर्णेन स्वशक्तितः ।
चन्द्रं चन्द्रग्रहे धीमान्रजतेन विशेषतः ॥
राहुरूपं प्रकुर्वीत नागेनैव[1] विचक्षणः ।

[1] सीसकेन ।

शुचौ देशे प्रयत्नेन गोमयेन प्रलेपयेत् ॥
तस्योपरि न्यसेद्धीमान्नववस्त्रं सुशोभनम् ।
त्रयाणां चैव रूपाणां स्थापनं तत्र कारयेत् ॥
रक्ताक्षता रक्तगन्धा रक्तपुष्पाम्बराणि च ।
सूर्यग्रहे प्रदातव्यं सूर्यप्रीतिकरं च यत् ॥
राहवे चैव दातव्यं कृष्णपुष्पाम्बराणि च ।
दद्यान्नक्षत्रनाथाय[1] श्वेतगन्धानुलेपनम् ॥
सूर्यं संपूजयेद्धीमाना सत्येन च मन्त्रतः ।
चन्द्रग्रहे च पालाशैः समिद्भिर्जुहुयान्नरः ॥
दूर्वाभिर्जुहुयाद्धीमान्राहोः संप्रीणनाय च ।
समिद्भिर्ब्रह्मवृक्षोत्थैर्भेशाय जुहुयाद्बुधः ॥
आज्येन चरुणा चैव तिलैश्च जुहुयात्ततः ।
पञ्चगव्यैः पञ्चरत्नैः पञ्चत्वक्पञ्चपल्लवैः ॥
जलैरोषधिकल्कैश्च सहितैः कलशोदकैः ।
अभिषेकं प्रकुर्वीत यजमाने प्रयत्नतः ॥
आपो हि ष्ठादिभिस्त्रिभिर्हिरण्येति चतसृभिः ।
पवमानानुवाकेन तथा वरुणसूक्तकैः ॥
इमं मे गङ्गे पितरस्तत्त्वा यामीति मन्त्रकैः ।
अभिषेके निवृत्ते तु यजमानः समाहितः ॥
आचार्यं पूजयेत्पश्चात्सुशान्तो विजितेन्द्रियः ।
तस्मै दद्यात्प्रयत्नेन भक्त्या प्रतिकृतित्रयम् ॥
दक्षिणाभिश्च संयुक्तं यथाशक्त्यनुसारतः ।
ब्राह्मणान्भोजयित्वा तु प्रणिपत्य क्षमापयेत् ॥
तेभ्योऽपि दक्षिणां दद्याद्यजमानः समाहितः ।
अनेन विधिना शान्तिं कृत्वा सम्यग्विशेषतः ॥
अकालमृत्युं शोकं च व्याधिपीडां न चाऽऽप्नुयात् ।
सौख्यं सौमनसं नित्यं सौभाग्यं लभते नरः ॥
इत्थं ग्रहणजातानां सर्वारिष्टविनाशनम् । इति ॥ १० ॥

---

१ नक्षत्राधिपतये ।

अथातः सिनीवालीकुह्वोर्जन्मनि शान्तिं व्याख्यास्यामः—

सिनीवाल्यां प्रसूता स्याद्यस्य भार्या पशुस्तथा ।
गवाश्वं महिषी चैव शक्रस्यापि श्रियं हरेत् ॥
ये च सन्ति द्विजाश्चान्ये स्वप्रसादोपजीविनः ।
वर्जयेत्तानशेषाँस्तु पशुपक्षिमृगादिकान् ॥
कुहूप्रसूतिरत्यर्थं सर्वदोषकरी नृणाम् ।
यस्य प्रसूतिरत्र स्यात्तस्याऽऽयुर्धननाशनम् ॥
सर्वगण्डसमस्तत्र दोषस्तु प्रबलो भवेत् ।
नारीं विनाऽवशेषाणां परित्यागो विधीयते ॥
परित्यागात्तत्र शान्तिं कुर्याद्धीमान्विचक्षणः ।
तत्फलं तत्क्षणार्धेन पुनरेव विलीयते ॥
न त्यजेत्पण्डितो मोहादर्थादज्ञानतोऽपि वा ।
तद्योगं नाशयेदाशु स्वयं वा नाशमृच्छति ॥
कल्पोक्तशान्तिः कर्तव्या शीघ्रं दोषापनुत्तये ।
रुद्रः शक्रश्च पितरः पूज्याः स्युर्देवताः क्रमात् ॥
कर्षमात्रसुवर्णेन तदर्धार्धेन वा पुनः ।
अथवा शक्तितः कुर्याद्वित्तशाठ्यविवर्जितः ॥
प्रतिमां कारयेच्छंभोश्चतुर्भुजसमन्विताम् ।
त्रिशूलखड्गवरदाभयहस्तां यथाक्रमात् ॥
श्वेतवर्णां श्वेतपुष्पां श्वेताम्बरवृषस्थिताम् ।
त्र्यम्बकेति च मन्त्रेण पूजां कुर्याद्यथाविधि ॥
इन्द्रश्चतुर्भुजो वज्राङ्कुशचापसुसायकी ।
रक्तवर्णो गजारूढो यत इन्द्रेति मन्त्रतः ॥
पितरः कृष्णवर्णाश्च चतुर्हस्ता विमानगाः ।
यष्ट्यक्षसूत्रकमण्डल्वभयानां च धारिणः ॥
ये चेह इति मन्त्रेण पूजां कुर्यादनन्तरम् ।
आग्नेयीं दिशमारभ्य कुम्भान्कोणेषु विन्यसेत् ॥
तन्मध्ये स्थापयेत्कुम्भं शतच्छिद्रसमन्वितम् ।
तेष्वेव पञ्चगव्यादींस्तत्तन्मन्त्रैश्च निक्षिपेत् ॥
कल्पोक्तशान्तिः कर्तव्या शीघ्रमेव प्रयत्नतः ।

गोदानं वस्त्रदानं च सुवर्णं चौर्णकं शुभम् ॥
दश दानानि चोक्तानि क्षीरमाज्यं गुडस्तथा ।
आज्यावेक्षणमेतानि यजुर्मन्त्रेण कारयेत् ॥
समिदाज्यचरोर्होमं तिलमाषैश्च सर्षपैः ।
अश्वत्थप्लक्षपालाशसमिध्मैः खादिरैः शुभैः ।
अष्टोत्तरशतं मुख्यं प्रत्येकं जुहुयाद्द्विजः ।
त्र्यम्बकेति च मन्त्रेण तिलान्व्याहृतिभिः पुनः ॥
चतुर्भिः कलशैर्युक्तं बृहत्कुम्भसमन्वितम् ।
शान्तिवत्कलशैः कार्यमभिषेकं च मन्त्रतः ॥
पितृमातृशिशूनां च अभिषिञ्चेत्तु वारुणैः ।
शंकरस्याभिषेकं च कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् ॥
अन्येषां चैव सर्वेषां ब्राह्मणानां च तर्पणम् ।
यथाशक्ति तदा कार्यं द्विजवाचनकं तथा । इति ॥ ११ ॥

अथातो दर्शशान्तिं व्याख्यास्यामः—

अथातो दर्शजातस्य मातापित्रोर्दरिद्रता ।
तद्दोषपरिहारार्थं शान्तिं वक्ष्यामि सांप्रतम् ॥
पुण्याहं वाचयित्वाऽऽदौ ऋतुसंकल्पपूर्वकम् ।
कुण्डं च मण्डपं कुर्यात्तद्देशे स्थापयेद्घटम् ॥
तत्कुम्भे निक्षिपेद्द्रव्यं दधिक्षीरघृतादिकम् ।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थसचूता निम्बकास्तथा ॥
एतेषां वृक्षमूलानां त्वगादीन्पल्लवाँस्तथा ।
पञ्च रत्नानि निक्षिप्य वस्त्रयुग्मेन वेष्टयेत् ॥
सर्वे समुद्राः सरितस्तीर्थानि जलदा नदाः ।
आयान्तु यजमानस्य दुरितक्षयकारकाः ॥
आपो हि ष्ठा तृचेनाथ कया नश्चित्र इत्यृचा ।
यत्किंचेदमृचा चैव रुद्रप्रश्नं च त्र्यम्बकम् ॥
अग्नाविष्णू जपेद्धीमानग्नेः पूर्वप्रदेशके ।
हारिद्रं रक्तकं चैव कृष्णं श्वेतं च नीलकम् ॥
एतेषां तण्डुलैश्चैव सर्वतोभद्रमुद्धरेत् ।
दर्शस्य देवतायाश्च सोमसूर्यस्वरूपकाः ॥

प्रतिमाः स्वर्णजा नित्यं राजतीं ताम्रजां तथा ।
सर्वतोभद्रमध्ये च स्थापयेद्दर्शदैवतम् ॥
ग्रहवर्णं वस्त्रयुग्मं तद्वर्णं गन्धपुष्पकम् ।
आप्यायस्वेति मन्त्रेण सविता पश्चात्तमेव च ॥
उपचारैः समाराध्य ततो होमं समाचरेत् ।
अथ वह्निं प्रतिष्ठाप्य ऋतुसंकल्पमीदृशम् ॥
आयुरारोग्यसिध्यर्थं सर्वारिष्टप्रशान्तये ।
पुत्रस्य दर्शजननदोषनिर्हरणाय च ॥
मातापित्रोः कुमारस्य सर्वारिष्टप्रशान्तये ।
तेषामायुः श्रियं लब्धुं शान्तिहोमं करोम्यहम् ॥
समिधश्च चरुद्रव्यं क्रमेण जुहुयाद्द्विजः ।
हुनेत्सवितृमन्त्रेण सोमो धेनुं च मन्त्रतः ॥
एतैर्मन्त्रैश्च प्रत्येकं हुनेदष्टोत्तरं शतम् ।
दर्शस्य देवताहोममष्टाविंशतिसंख्यया ॥
होममेवं तु कृत्वाऽथ विध्याचाराभिषेचनम् ।
आपो हि ष्ठा हिरण्येति यद्देवा वरुणेत्यृचः ॥
एतैर्मन्त्रैरभिषेकं मातापित्रोः शिशोस्तथा ।
ततः स्विष्टकृदादि स्याद्धोमशेषं समापयेत् ॥
हिरण्यं रजतं चैव कृष्णा धेनुश्च दक्षिणा ।
अन्येभ्योऽपि यथाशक्ति दातव्या दक्षिणा तथा ॥
ब्राह्मणान्भोजयेत्तत्र कारयेत्स्वस्तिवाचनम् ॥ इति ॥ १२ ॥
अथातः संप्रवक्ष्यामि जन्मकाले विशेषतः ।
गण्डान्तानां च नामानि महादोषकराणि च ॥
दिनक्षये व्यतीपाते व्याघाते विष्टिवैधृतौ ।
शूले गण्डे च परिघे वज्रे च यमघण्टके ॥
कालगण्डे मृत्युयोगे दग्धयोगे सुदारुणे ।
तस्मिन् गण्डदिने प्राप्ते प्रसूतिर्यदि जायते ॥
अतिदोषकरी प्रोक्ता तत्र पापयुते सति ।
विचार्य तत्र दैवज्ञं शान्तिं कुर्याद्यथाविधि ॥
यजनं देवतानां च ग्रहाणां चैव पूजनम् ।

दीपं शिवालये भक्त्या घृतेन परिदापयेत् ॥
अभिषेकं शंकराय चाश्वत्थस्य प्रदक्षिणम् ।
आयुर्वृद्धिकरं जाप्यं सर्वारिष्टविनाशनम् ॥
गुरुदैवताविप्राणां पूजनं गोत्रवर्धनम् ।
पुष्ट्यायुस्तुष्टिशान्त्यर्थमभीष्टफलसिद्धये ॥
सर्वारिष्टविनाशाय शान्तियज्ञं समारभेत् ।
शिवाय विधिवद्भक्त्या दीपदानं करोति यः ॥
अखण्डं गोघृतेनैव स वै मृत्युं जयेन्नरः ।
विष्णुमूर्तिं महापुण्यमश्वत्थं श्रीकरं सदा ॥
प्रदक्षिणं नरो भक्त्या कृत्वा मृत्युंजयं जपेत् ।
सर्वसंपत्समृद्ध्यर्थं नित्यं कल्याणवृद्धये ॥
अभीष्टफलसिद्ध्यर्थं कुर्याद्ब्राह्मणभोजनम् ।
अभिषेकं शिव शान्तिं कृत्वा चैव नरोत्तमः ॥
अकालमृत्युं निर्जित्य दीर्घायुर्जायते नरः ।
गाणपत्यं पुरुषसूक्तं सौरं मृत्युंजयं शुभम् ॥
रुद्रप्रश्नं शान्तिपाठं जाप्य मृत्युंजयी भवेत् ।
मूले वा सर्पगण्डे वा कुर्यादेतानि यत्नतः ॥
आयुर्वृद्धिफलार्थाय गण्डदोषप्रशान्तये इति ॥ १३ ॥

अथातः सूर्यसंक्रान्तिव्यतीपातवैधृतियोगेषु जन्मानि शान्तिं व्याख्यास्यामः—

अथातः संप्रवक्ष्यामि जन्मकाले विशेषतः ।
वैधृतौ हि व्यतीपाते महादोषोऽभिजायते ॥
कुमारजन्मकाले तु व्यतीपातश्च वैधृतिः ।
संक्रान्तिश्च रवेस्तत्र जातो दारिद्र्यकारकः ॥
दरिद्राणां महादुःखं व्याधिपीडा महद्भयम् ।
अश्रियं मृत्युमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥
स्त्रीणां च शोको दुःखं च सर्वनाशकरं भवेत् ।
शान्तिर्वा पुष्कला चेत्स्यात्तत्र दोषो न कश्चन ॥
गोमुखप्रसवं कुर्याच्छान्तिं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
जपाभिषेकदानैश्च होमानपि विशेषतः ॥

नवग्रहमखं कुर्यात्तस्य दोषोपशान्तये ।
प्रथमं गोमुखाज्जन्म ततः शान्तिं समाचरेत् ॥
गृहस्य पूर्वदिग्भागे गोमयेनानुलेपयेत् ।
अलंकृतं स्वदेशे तु व्रीहिराशिं प्रकल्पयेत् ॥
पञ्चद्रोणामितं धान्यं तदर्धं तण्डुलेन च ।
तदर्धं तु तिलैः कुर्यादन्योन्योपरि कल्पयेत् ॥
तृतीयराशौ द्रव्यस्य अष्टपत्रं लिखेद्बुधः ।
पुण्याहं वाचयित्वा तु आचार्यं वृणुयात्पुरा ॥
आचारवन्तं धर्मज्ञं कुलीनं च कुटुम्बिनम् ।
मन्त्रतत्त्वार्थतत्त्वज्ञं शान्तिकर्मणि कोविदम् ॥
पञ्चाङ्गभूषणं दद्यात्पट्टवस्त्राङ्गुलीयकम् ।
राशौ प्रतिष्ठितं कुम्भमव्रणं सुमनोहरम् ॥
तीर्थोदकेन संपूर्य समृदोषधिपल्लवम् ।
पञ्चगव्यं पञ्चरत्नं वस्त्रयुग्मेन वेष्टयेत् ॥
तस्योपरि न्यसेत्पात्रं सूक्ष्मवस्त्रेण संयुतम् ।
प्रतिमां स्थापयेद्धीमान्साधिप्रत्यधिदेवताम् ॥
चन्द्रादित्याकृती पार्श्वे मध्ये वैधृतिमर्चयेत् ।
एवमेव व्यतीपातशान्तौ संक्रमणस्य च ॥
भानोरुत्तरतो रुद्रमग्निं दक्षिणतो यजेत् ।
निष्कमात्रेण चार्धेन पादेनापि स्वशक्तितः ॥
प्रतिमाः कारयेद्धीमाँस्तत्तल्लक्षणलक्षिताः ।
प्रतिमापूजनार्थाय वस्त्रयुग्मं निवेदयेत् ॥
अधिदेवो भवेत्सूर्यश्चन्द्रः प्रत्याधिदैवतम् ।
तत्तद्व्याहृतिपूर्वेण तत्तन्मन्त्रेण पूजयेत् ॥
ऽयम्बकेति च मन्त्रेण प्रधानप्रतिमां यजेत् ।
उदु त्यमिति मन्त्रेण सूर्यपूजां समाचरेत् ॥
आप्यायस्वेति मन्त्रेण सोमपूजां समाचरेत् ।
उपचारैः षोडशभिर्यद्वा पञ्चोपचारकैः ॥
अर्चितं गन्धपुष्पाद्यैर्गुडनैवेद्यमर्पयेत् ।
मृत्युंजयेन मन्त्रेण प्रधानप्रतिमां स्पृशन् ॥

अष्टोत्तरसहस्रं वा अष्टोत्तरशतं तु वा ।
अष्टाविंशतिं वा चाथ प्रजप्याथ स्वशक्तितः ॥
सौरं षडृचसूक्तं च सोमार्थं सोममन्त्रतः ।
ऋचां प्राची मृगारी च पावमान्यो यजुस्तथा ॥
जपेच्च पौरुषं सूक्तं च त्र्यम्बकमतः परम् ।
कुम्भं स्पृष्ट्वा चतुर्दिक्षु जपं कुर्युस्तथर्त्विजः ॥
कुम्भस्य पश्चिमे देशे स्थण्डिलेऽग्निं प्रकल्पयेत् ।
स्वगृह्योक्तविधानेन कारयेत्संस्कृतानलम् ॥
त्र्यम्बकेति च मन्त्रेण समिदाज्यचरून्हुनेत् ।
अष्टोत्तरसहस्रं वा त्वष्टोत्तरशतं तु वा ॥
अष्टाविंशतिहोमं वा स्वस्वशक्त्यनुसारतः ।
मृत्युंजयेन मन्त्रेण तिलहोमं समाचरेत् ॥
ततः स्विष्टकृतं हुत्वा ह्यभिषेकं च कारयेत् ।
आपो हि ष्ठेति तिसृभिर्हिरण्येति चतसृभिः ॥
पवमानानुवाकेन अक्षीभ्यामिति मन्त्रतः ।
त्र्यम्बकेणोदित्य(दुत्यमिति)आप्यायस्वेति मन्त्रतः ॥
देवस्य त्वेति मन्त्रेण त्वभिषेकं समाचरेत् ।
अभिषेकाप्लुतं वस्त्रमाचार्याय प्रदापयेत् ॥
श्वेतवस्त्रधरो भूत्वा भूषणाद्यैरलंकृतः ।
यजमानः स्त्रिया युक्त आज्यावेक्षणमाचरेत् ॥
आचार्यं पूजयेत्पश्चाद्वस्त्रहेमाङ्गुलीयकैः ।
गोदानं वस्त्रदानं च स्वर्णदानं विशेषतः ॥
तद्दोषशमनार्थाय आचार्याय प्रदापयेत् ।
प्रच्छादनपटं दद्यात्ततः शान्तिर्भविष्यति ॥
जापकेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दक्षिणाभिश्च तोषयेत् ।
दीनान्धकृपणेभ्यश्च प्रदद्याद्भूरिदक्षिणाः ॥
ब्राह्मणाञ्छतसंख्याकान्मिष्टान्नैर्भोजयेच्च तान् ।
बन्धुभिः सह भुञ्जीत यथाविभवसारतः ॥
एवं यः कुरुते मर्त्यो नैव दुःखमवाप्नुयात् ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं मातापित्रोः शिशोरपि ॥

सर्वदुःखनिवृत्त्यर्थं पुत्रपौत्रप्रवर्धनम् ।
सर्वान्कामानवाप्नोति शान्तिं कुर्वन्द्विजोत्तमः ॥ इति ॥ १४ ॥

अथ प्रसववैकृतजननशान्तिः—

अकालप्रसवा नार्यः कालातीतप्रजास्तथा ।
विकृतप्रसवाश्चैव धूमप्रसवनास्तथा ॥
अमानुषाँश्च खण्डाँश्च अज्ञातव्यञ्जनाँस्तथा ।
हीनाङ्गानाधिकाङ्गांश्च जनयन्ति यदि स्त्रियः ॥
पशवः पक्षिणश्चैव तथैव च सरीसृपाः ।
विनाशं तस्य देशस्य कुलस्य च विनिर्दिशेत् ॥
निर्वासयेत्तान्नृपतिः स्वराष्ट्रात्स्त्रियश्च पूज्याश्च ततो द्विजेन्द्राः ।
चिकित्सनैर्ब्राह्मणतर्पणैश्च ततोऽस्य शान्तिं समुपैति पापात् ॥
इति प्रसववैकृतजननशान्तिः ॥ १५ ॥

अथातो सदन्तजननशान्तिं व्याख्यास्यामः—

दन्तजन्मानि बालानां लक्षणं तन्निबोध मे ।
उपरि प्रथमं यस्य जायन्ते च शिशोर्द्विजाः[1] ॥
दन्तैर्वा सह यस्य स्याज्जन्म भार्गवसत्तम ।
मातरं पितरं वाऽथ खादेदात्मानमेव वा ॥
तत्र शान्तिं प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ।
गजपृष्ठगतं बालं तैस्तथा स्थापयेद्द्विजः ॥
तदभावे[2] तु धर्मज्ञः काञ्चने तु वरासने ।
सर्वौषधैः सर्वगन्धैर्बीजैः पुष्पैः फलैस्तथा ॥
पञ्चगव्येन रत्नैश्च मृत्तिकाभिश्च भार्गव ।
स्थालीपाकेन धातारं पूजयेत्तदनन्तरम् ॥
सप्ताहं चात्र कर्तव्यं तथा ब्राह्मणभोजनम् ।
अष्टमेऽहनि विप्राणां तथा देया च दक्षिणा ॥
काञ्चनं रजतं गां च भुवं चाऽऽत्मानमेव वा ।
दन्तजन्मनि सामान्ये शृणु स्थानमतः परम् ॥
भद्रासने निवेश्यैनं मूर्ध्नि मूलफलैस्तथा ।
सर्वौषधैः सर्वबीजैः सर्वगन्धैस्तथैव च ॥

---

१ द्विजा दन्ताः । २ तदभावे गजाभावे ।

स्नापयेत्पूजयेच्चात्र वह्निं सोमं समीरणम्[1] ।
पर्वतांश्च तथा ख्यातान्देवदेवं च केशवम् ॥
एतेषामेव जुहुयाद्घृतमग्नौ यथाविधि ।
ब्राह्मणानां च दातव्या यथाशक्त्यथ दक्षिणा ॥
ततः स्वलंकृतं बालमासने तूपवेशयेत् ।
पूज्याश्च विधिना नार्यो ब्राह्मणा सुहृदस्तथा इति ॥ १६ ॥

**अथ पञ्चमारिष्टजननशान्तिं व्याख्यास्यामः—**

जातस्य पञ्चमे लग्ने सूर्यादिग्रहसँस्थिते ।
पित्रादीनामरिष्टं तु कुर्वन्ति च यथाक्रमम् ॥
रविश्च पितरं हन्ति मातरं च शशी तथा ।
भ्रातरं भूमिपुत्रस्तु मातुलं चन्द्रजस्तथा ॥
गुरुर्मातामहं तद्वद्भृगुस्तद्वत्पितामहम् ।
शनी राहुः शिशुं हन्ति शिखी भ्रातरमेव च ॥
तद्दोषपरिहारार्थं शान्तिं वक्ष्याम्यशेषतः ।
जातस्य द्वादशाहे वा जन्मर्क्षे वा शुभे दिने ॥
पुण्याहवाचनं कृत्वाऽऽचार्यं[तु] वरयेत्ततः ।
गृहस्यैशानदिग्भागे गोमयेनोपलेपयेत् ॥
व्रीहींस्तत्र विनिक्षिप्य यथावित्तानुसारतः ।
तस्योपरि न्यसेत्कुम्भमव्रणं तन्तुवेष्टितम् ॥
आजिघ्रेति हि मन्त्रेण कलशस्थापनं भवेत् ।
शुद्धोदकेन संपूर्य नदीरावाहयेत्ततः ॥
पञ्चगव्यं पञ्चरत्नं पञ्चत्वक्पञ्चपल्लवान् ।
सर्वौषधीः सर्वमृदस्तत्तन्मन्त्रेण निक्षिपेत् ॥
तत्तद्वर्णमयं वस्त्रं कुम्भोपरि निधाय च ।
प्रधानस्यार्धमानेन अधिप्रत्यधिदेवते ॥
अधिप्रत्यधिदेवौ च दक्षिणोत्तरपार्श्वयोः ।
ग्रहतिथ्यो(यज्ञो)क्तविधिना आवाहनपुरःसरम् ॥
उपचारैः षोडशभिस्तत्तन्मन्त्रैर्यथाविधि ।
श्रीसूक्तं रुद्रसूक्तं च ग्रहमन्त्रान्स्पृशञ्जपेत् ॥

---

१ समीरणो वायुः ।

अष्टोत्तरशतं कुर्यादष्टाविंशतिमेव वा ।
ततो होमं प्रकुर्वीत आचार्यो ब्राह्मणैः सह ॥
स्वगृह्योक्तविधानेन कुर्यादग्निमुखं ततः ।
तत्तत्समिद्भिश्चर्वाज्यैरष्टोत्तरशतं हुनेत् ॥
अष्टोत्तरसहस्रं वा अष्टाविंशतिमेव वा ।
होमशेषं समाप्याथ अभिषेकं तु कारयेत् ॥
मातापित्रोः शिशोश्चैव आचार्यो ब्राह्मणैः सह ।
ग्रहमन्त्रैर्हिरण्याद्यैः पावमानीभिरेव च ॥
श्रीसूक्तेन पुराणोक्तैरभिषेकं तु कारयेत् ।
ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लमाल्यानुलेपनः ॥
आचार्यं पूजयेत्पश्चात्प्रतिमां वस्त्रसंयुताम् ।
दद्यात्सदक्षिणां गां च आचार्याय प्रदापयेत् ॥
ऋत्विजोऽपि यथाशक्ति दक्षिणाभिः प्रतोषयेत् ।
ब्राह्मणान्भोजयेत्पश्चात्स्वयं भुञ्जीत बन्धुभिः ॥
एवं शान्तिं प्रकुर्वीत तस्य दोषो विनश्यति ।
सर्वारिष्टविनाशः स्याद्वेदोक्तायुर्भविष्यति ॥

इति पञ्चमारिष्टजननशान्तिः ॥ १७ ॥

अथातो यमलोत्पत्तिविधानं व्याख्यास्यामः—

त्रिविधा यमलोत्पत्तिर्जायते योषितामिह ।
सुतौ च सुतकन्ये च कन्ये एव तथा पुनः ॥
एकलिङ्गौ विनाशाय द्विलिङ्गौ मध्यमौ स्मृतौ ।
पित्रोर्विरोधिनौ ज्ञेयौ तत्र शान्तिर्विधीयते ॥
हेममूर्ती विधातव्ये दस्रयोश्च द्विजोत्तम ।
पलेन वा तदर्धेन तदर्धार्धेन वा पुनः ॥
ब्रह्मवृक्षस्य पत्रे च स्थापयेद्रक्तवाससि ।
स्वस्तिके तण्डुलानां च न्यस्ते पीठे द्विजोत्तम ॥
पूजयेद्रक्तपुष्पैश्च चन्दनेनानुलेपयेत् ।
दशाङ्गेनैव धूपेन धूपयेत्प्रयतः पुमान् ॥
दीपैर्नीराजयेच्चैव नैवेद्यं परिकल्पयेत् ।
यस्मै त्वꣳ सुकृते मन्त्रेणाक्षतैरर्चयेत्ततः ॥

अनेनैव तु मन्त्रेण होमं कुर्यादतन्द्रितः ।
अष्टोत्तरसहस्रं च पायसेन ससर्पिषा ॥
शान्तिपाठं जपेद्विद्वान्सूर्यसूक्तं जपेत्ततः ।
विष्णुसूक्तं तथा गाथां वैश्वदेवं जपेद्बुधः ॥
अश्वदानं ततो दद्यादाचार्याय कुटुम्बिने ।
तयोर्मूर्तिः प्रदातव्या यजमानेन धीमता ॥

तत्र दानमन्त्रः—

अश्वरूपौ महाबाहू आश्विनौ दिव्यचक्षुषौ ।
अनेन वाजिदानेन प्रीयेतां मे यशस्विनौ ॥

इति वाजिदानमन्त्रः—

आचार्यः प्रथमो वेधा विष्णुस्तु सविता भगः ।
दस्रमूर्तिप्रदानेन प्रीयतामश्विनौ भगः ॥

इति मूर्तिप्रतिपादनम् ।

ततोऽभिषेचनं कार्यं दंपत्योर्विधिवद्बुधैः ।
आचार्यान्भोजयेत्पश्चाद्दक्षिणाभिश्च तोषयेत् ॥
सालंकारैश्च वस्त्रैश्च प्रार्थयेद्वचनैः शुभैः ।
एवं कृते विधाने च यमलोत्पत्तिशान्तिकम् ॥
जायते नात्र संदेहः सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ इति ॥ १८ ॥

अथातो यमलकल्पं व्याख्यास्यामः । पत्नी गौर्वा यमलौ विजायेयाताम् । तस्य संस्कारः प्राङ्नामकरणात्कार्यः । ब्राह्मणाननुज्ञाप्य चतुर्णां क्षीरवृक्षाणां कषायानाहरेयुः प्लक्षन्यग्रोधाश्वत्थोदुम्बराणां चतुर उदकुम्भान् पूरयित्वा चतस्र विधवा ब्रह्मचारिणो वा हिरण्यमन्तर्धाय स्नापयेयुः शतधारेण वा कृत्वाऽभिषिञ्चति । अथ भूतबलिं करोति । आचार्यमलंकृत्य गोमिथुनं दद्यात् । पुंसो यवमयं गोमूत्रं स्त्रियो हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे इत्यष्टभिर्हुत्वा कार्यो मारुतश्चरुर्न तस्य भयं विद्यत इति विज्ञायते ॥ १९ ॥

अथ संवत्सरे संवत्सरे षट्सु मासेषु चतुर्षु चतुर्षु ऋतावृतौ मासि मासि वा कुमारस्य जन्मनक्षत्रे क्रियेत । ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं वाचयित्वाऽग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोति—अग्निर्मूर्धा० भुवः० इति द्वाभ्याम् । अथ नक्षत्रदेवताभ्यो जुहोति–यथानक्षत्रम् । अनु नोऽद्यानुमतीरिति तृतीयम् ।

अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति नक्षत्रदेवताभ्यो यथानक्षत्रम् । चन्द्रमसे स्वाहा । प्रतीदृश्यायै स्वाहा । अहोरात्रेभ्यः स्वाहा । अर्धमासेभ्यः स्वाहा । मासेभ्यः स्वाहा । इति मासि मासि । ऋतुभ्यः स्वाहेत्यृतावृतौ । संवत्सराय स्वाहेति संवत्सरे । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । अन्नशेषं सगणः प्राश्नाति । अथ संवत्सरे पर्यवेते प्रसिद्धमग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोत्याग्नेयं प्रधानदेवत्यम् । यथानक्षत्रं द्वितीयम् । अनुनोऽद्यानुमतिरन्विदनुमते त्वमिति तृतीयम् । नवो नवो भवति जायमानो० यमादित्या अꣳशुमाप्याययन्ति० इत्यन्तादनुवाकस्य। अथ पूर्ववदाज्याहुतीरुपजुहोति नक्षत्रदेवताभ्यो यथानक्षत्रम् । चन्द्रमसे स्वाहा । प्रतीदृश्यायै स्वाहेत्येतैः स्वाहाकारैरन्तादनुवाकस्य । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । नक्षत्रहोमो व्याख्यातः ॥ २० ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यशेषसूत्रे प्रथमप्रश्ने पञ्चमः पटलः ।

=====

अथ षष्ठः पटलः ।

—:०:—

अथ नवग्रहपूजाविधिः—

त्रैलोक्यदीपकं देवं गुणरूपं त्रयीमयम् ।
स्थापयामि महाभक्त्या भास्करं ग्रहनायकम् ॥

मध्ये वर्तुलाकारमण्डले प्रत्यङ्मुखं कलिङ्गदेशजं काश्यपगोत्रजं विश्वामित्रार्षं विशाखानक्षत्रजं त्रिष्टुप्छन्दसं कपिलाग्निकं पद्मासनं पद्मवर्णं द्विभुजं रक्तवस्त्रं रक्तगन्धं माणिक्यरत्नाभरणभूषितं किरीटिनं रक्तच्छत्रध्वजपताकिनं छन्दोमयहरितसप्ताश्वं सप्तरज्जुकमेकचक्रं रक्तं रथमारुह्य दिव्यं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वाणं ग्रहमण्डले प्रविष्टमधिदेवताग्निं प्रत्यधिदेवतारुद्रम् ।

वन्दे रविं द्युमणिमम्बुरुहे निषण्णं
दोर्भ्यां दधानमरुणाम्बुरुहे ग्रहेन्द्रम् ।
माणिक्यभूषमरुणांशुकगन्धमाल्यै-
र्भ्राजन्तमर्कममितद्युतिमब्जमित्रम् ॥
कपिले सर्वदेवानां पूजनीया सुरोहिणी ।
सर्वदेवमयी यस्मादतः शान्तिं प्रयच्छ मे ॥
जपाकुसुमसंकाशं काश्यपेयं महाद्युतिम् ।
तमोहरं कल्मषघ्नं भास्करं प्रणमाम्यहम् ॥

दिवाकरं दीप्तसहस्ररश्मिं तेजोमजं जगतः कर्मसाक्षि[ण]म् ।
मित्रं भानुं सूर्यमादिं ग्रहाणां रविं सदा शरणमहं प्रपद्ये ॥
रक्तस्रगम्बरालेपं गदाशक्त्यसिशूलिनम् ।
चतुर्भुजं मेषगमं भारद्वाजं धरासुतम् ॥
रक्तकाञ्चनसंकाशं रक्तकिञ्जल्कसंनिभम् ।
स्थापयामि महारौद्रं रुद्रमूर्तिं महाबलम् ॥

सूर्यस्य दक्षिणदिग्भागे त्रिकोणाकारमण्डले दक्षिणाभिमुखमवन्ति(न्ती)-देशजं भारद्वाजगोत्रं जामदग्न्यार्षं गायत्रीछन्दसं धूमकेत्वग्निकं खड्गशक्तिशूल-गदाधरं चतुर्भुजं रक्ताम्बरधरं रक्तविद्रुमरत्नाभरणभूषितं किरीटिनं रक्त-च्छत्रज्वलत्पताकिनं रक्तमेषवाहनमग्निजरक्ताष्टाश्वं काञ्चनं रथमारुह्य दिव्यं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वाणं ग्रहमण्डले प्रविष्टमधिदेवताभूमिं प्रत्यधिदेवताक्षेत्रपालम् ।

रक्तस्रगान्धवासाः करविधृतगदाशक्तिखड्गत्रिशूलो
भारद्वाजस्त्रिनेत्रो वसुमातितनयो लोहिताङ्गः शुभाङ्गः ।
मेषव्याघ्रध्वजोऽर्कद्युतिसदृशमहाकुण्डलाश्लिष्टकर्णः
पायाद्भास्वत्किरीटाङ्गदवलयलसद्विद्रुमालंकृतो नः ॥
धर्मस्त्वं वृषरूपेण जगदानन्दकारक ।
अष्टमूर्तेरधिष्ठान अतः शान्तिं प्रयच्छ मे ॥
धरणीगर्भसंभूतं विद्युत्काञ्चनसंनिभम् ।
कुमारं शक्तिहस्तं च लोहिताङ्गं नमाम्यहम् ॥
महेश्वरस्याऽऽननस्वेदबिन्दोर्भूमौ जातं रक्तमाल्याम्बराढ्यम् ।
सुदीधितिं लोहिताङ्गं कुमारमङ्गारकं सदा शरणमहं प्रपद्ये ॥
शुक्रं शुक्लतनुं श्वेतवस्त्राढ्यं दैत्यमन्त्रिणम् ।
भार्गवं दण्डवरदकमण्डलक्षसूत्रिणम् ॥
कुन्दपुष्पसमानाभं मुक्ताफलसमप्रभम् ।
स्थापयामि महाशान्तं भृगुं दैत्यगुरुं प्रभुम् ॥

सूर्यस्य पूर्वदिग्भागे पञ्चकोणाकारमण्डले प्राङ्मुखं भोजकटकदेशजं भार्ग-वगोत्रजं शौनकार्षं तिष्यनक्षत्रजं त्रिष्टुप्छन्दसं हाटकाग्निकं श्वेतमक्षसूत्रदण्डकम-ण्डलुवरदचतुर्भुजं श्वेताम्बरगन्धमाल्यवज्ररत्नाभरणभूषितं किरीटिनं श्वेतच्छ-त्रध्वजपताकिनं श्वेताश्ववाहनं भूसंभवश्वेतदशाश्वं श्वेतं रथमारुह्य दिव्यं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वाणं ग्रहमण्डले प्रविष्टमधिदेवतेन्द्राणिं प्रत्यधिदेवतेन्द्रम् ।

वन्दे विराजितसितांशुकगन्धमाल्य-
मच्छाश्वगं तनुविराजितवज्ररत्नम् ॥
दोर्भिः सदण्डगुणमण्डितमक्षसूत्रं
बिभ्राणमासुरगुरुं भृगुपुत्रमीड्यम् ॥
विष्णुस्त्वमश्वरूपेण यस्मादमृतसंभवः ।
विष्णोरर्कस्य वाहः स्यादतः शान्तिं प्रयच्छ मे ॥
हिमकुन्दतुषाराभं दैत्यानां परमं गुरुम् ।
सर्वशास्त्रप्रदातारं भार्गवं प्रणमाम्यहम् ॥
वर्षप्रवं चिन्तितार्थानुकूलं नयप्रधानं विनयोपपन्नम् ।
तं भार्गवं योगविशुद्धसत्त्वं शुक्रं सदा शरणमहं प्रपद्ये ॥
श्वेतवस्त्रधरं श्वेतदशाश्वं रथवाहनम् ।
द्विभुजं साभयगदमात्रेयं सामृतं विधुम् ॥
शान्तं नक्षत्रनाथं च रोहिणीवल्लभं प्रभुम् ।
कुन्दपुष्पोज्ज्वलाकारं स्थापयामि निशाकरम् ।

सूर्यस्याऽऽग्नेयदिग्भागे चतुरश्राकारमण्डले प्रत्यङ्मुखं यमुनादेशजमात्रेयगोत्रजमात्रेयार्षं कृत्तिकानक्षत्रजं गायत्रीच्छन्दसं पिङ्गलाग्निकमभयगदाधरं द्विभुजं श्वेताम्बरगन्धमाल्यमुक्ताभरणभूषितं किरीटिनं श्वेतच्छत्रध्वजपताकिनं वारिसंभूतदशाश्वं त्रिचक्रं श्वेतरथमारुह्य दिव्यं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वाणं ग्रहमण्डले प्रविष्टमधिदेवतापं प्रत्यधिदेवतागौरीम् ।

श्वेताम्बरस्रगनुलेपनमत्रिनेत्र-
जातं दशाश्वरथवाहनमोषधीशम् ॥
दोर्भ्यां धृताभयगदं वरदं सुधांशुं
श्रीमत्सुमौक्तिकधरं प्रणमामि चद्रम् ॥
पुण्यस्त्वं शङ्ख पुण्यानां मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
विष्णुना विधृतो नित्यमतः शान्तिं प्रयच्छ मे ॥
दधिशङ्खतुषाराभं क्षीरोदार्णवसंभवम् ।
नमामि शशिनं भक्त्या शंभोर्मुकुटभूषणम् ॥
यः कालहेतोः क्षयवृद्धिमेति यं देवताः पितरो वा पिबन्ति ।
तं वै वरेण्यं ब्रह्मेन्द्रादिवन्द्यं सोमं सदा शरणमहं प्रपद्ये ॥
पीतस्रग्गन्धवस्त्राढ्यं स्वर्णाभं च चतुर्भुजम् ।

शक्तिचर्मासिगादिनमात्रेयं सिंहगं बुधम् ॥
चाम्पेयपुष्पसंकाशं विशुद्धकनकप्रभम् ।
स्थापयामि महासौम्यं बुधं सोमात्मजं प्रभुम् ॥

सूर्यस्येशानदिग्भागे बाणाकारमण्डले प्राङ्मुखं मगधदेशजमात्रेयगोत्रजं भारद्वाजार्षं श्रविष्ठानक्षत्रजं त्रिष्टुप्छन्दसं जाठराग्निकं शक्तिखड्गचर्मगदाधरं चतुर्भुजं पीताम्बरगन्धमाल्यमरकतरत्नाभरणभूषितं किरीटिनं पीतच्छत्रध्वजपताकिनं पीतसिंहवाहनं वाय्वग्निजपीताष्टाश्वं पीतं रथमारुह्य दिव्यं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वाणं ग्रहमण्डले प्रविष्टमधिदेवताविष्णुं प्रत्यधिदेवताविष्णुम् ।

वन्दे बुधं मरकतोज्ज्वलदेहकान्तिं
पीताम्बरस्रगनुलेपनभूषिताङ्गम् ॥
शक्तिं च दोर्भिरसिचर्मगदा दधानं
सिंहध्वजं शशिसुतं बुधमत्रिवंशम् ॥
हिरण्यगर्भगर्भस्थं हेम बीजं विभावसोः ।
अनन्तपुण्यफलदमतः शान्तिं प्रयच्छ मे ॥
प्रियङ्गुकलिकाभासं रूपेणाप्रतिमं बुधम् ।
सौम्यं सौम्यगुणोपेतं नमामि शशिनः सुतम् ॥
विशुद्धबुद्धिं श्रुतिकालबोधं
सद्व्याहारं सोमवंशप्रदीपम् ।
सुदीधितिं छान्दसं विश्वरूपं
बुधं सदा शरणमहं प्रपद्ये ॥
आङ्गिरसं देवगुरुं पीतस्रग्गन्धवाससम् ।
दण्डिनं वरदं पीतं साक्षसूत्रकमण्डलुम् ॥
कुन्द्रपुष्पसमानाभं तप्तकाञ्चनसंनिभम् ।
स्थापयामि महाभक्त्या प्रसन्नवदनं गुरुम् ॥

सूर्यस्योत्तरदिग्भागे दीर्घचतुरश्रमण्डले उदङ्मुखं सिन्धुदेशजमाङ्गिरसगोत्रजं वसिष्ठार्षमुत्तराफल्गुनीनक्षत्रजं त्रिष्टुप्छन्दसं शिख्यग्निकं पीतमक्षसूत्रदण्डकमण्डलुवरदचतुर्भुजं पीताम्बरगन्धमाल्यपुष्परागरत्नाभरणभूषितं किरीटिनं पीतच्छत्रध्वजपताकिनं विश्वरूपाख्यपाण्डुराष्टाश्वं काञ्चनं रथमारुह्य दिव्यं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वाणं ग्रहमण्डले प्रविष्टमधिदेवतेन्द्रं प्रत्यधिदेवताब्रह्माणम् ।

पीताम्बरं तनुलसद्धृतपुष्परागं
केयूरहारमणिकुण्डलमण्डिताङ्गम् ।
दण्डं कमण्डलुवराक्षगुणान्दधानं
माङ्गीरसं सुरगुरुं हयगं नमामि ॥
पीतवस्त्रयुगं यस्माद्वासुदेवस्य वल्लभम् ।
प्रदानादस्य मे विष्णुः प्रीतो भवतु सर्वदा ॥
देवतानामृषीणां च गुरुं काञ्चनसंनिभम् ।
सुवन्द्यं त्रिषु लोकेषु प्रणमामि बृहस्पतिम् ॥
बुद्ध्यात्मनो यस्य न कश्चिदन्यो
मतिं देवा उपजीवन्ति यस्य ॥
प्रजापतेरात्मजं धर्मनित्यं
बृहस्पतिं सदा शरणमहं प्रपद्ये ॥
इन्द्रनीलनिभं मन्दं काश्यपिं चित्रभूषणम् ।
चापबाणधरं चर्मशूलिनं गृध्रवाहनम् ॥
इन्द्रनीलसमानाभं नीलोत्पलसमप्रभम् ।
स्थापयामि महारौद्रं सूर्यपुत्रं शनैश्चरम् ॥

सूर्यस्य पश्चिमदिग्भागे धनुराकारमण्डल उदङ्मुखं काश्यपगोत्रजं भृग्वार्षेयं रेवतीनक्षत्रजं सौराष्ट्रजं गायत्रीच्छन्दसं महातेजोग्निकं नीलं चर्मबाणधनुःशूलचतुर्भुजं नीलाम्बरगन्धमाल्यनीलरत्नाभरणभूषितं किरीटिनं नीलच्छत्रध्वजपताकिनं नीलगृध्रवाहनमाकाशजजम्बालाष्टाश्वं नीलं रथमारुह्य दिव्यं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वाणं ग्रहमण्डले प्रविष्टमधिदेवताप्रजापतिं प्रत्यधिदेवतायमम् ।

दोर्भिर्धनुर्विशिखचर्मधरं त्रिशूलं
भास्वत्किरीटमुकुटोज्ज्वलितेन्द्रनीलम् ॥
नीलातपत्रकुसुमांशुकगन्धभूषं
गृध्रस्थितं रविसुतं प्रणतोऽस्मि मन्दम् ॥
गवामङ्गेषु तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश ।
यस्मात्तस्माच्छिवं मे स्यादतः शान्तिं प्रयच्छ मे ।
नीलाञ्जनचयाकारं रविसूनुं नपुंसकम् ।
छायागर्भसमुद्भूतं वन्दे भक्त्या शनैश्चरम् ॥
शनैश्चरं प्रजापतिं यो हि यस्य शनैर्भोगो गमनं चेष्टितं च ।

सूर्यात्मजं क्रोधनसुप्रसन्नं शनैश्चरं सदा शरणमहं प्रपद्ये ॥
सैंहिकेयं करालास्यं कौण्डिनेयं तमोमयम् ।
खड्गचर्मधरं भीमं नीलसिंहासने स्थितम् ॥
नीलाञ्जनसमानाभं नीलमेघसमद्युतिम् ।
स्थापयामि महावक्त्रं राहुं चन्द्रार्कवैरिणम् ॥

सूर्यस्य नैर्ऋत्यदिग्भागे शूर्पाकारमण्डले दक्षिणाभिमुखं बर्बरदेशजं पैठीनसिगोत्रजमाङ्गिरसार्षमश्विनीनक्षत्रजं गायत्रीच्छन्दसं हुताशनाग्निकं कृष्णं खड्गचर्मधरं द्विभुजं कृष्णाम्बरधरं गन्धमाल्यगोमेदरत्नाभरणभूषितं किरीटिनं कृष्णच्छत्रध्वजपताकिनं करालवदनमुरगालंकारं कृष्णसिंहासने स्थितमष्टाश्वं रथमारुह्य दिव्यं मेरुमप्रदक्षिणीकुर्वाणं ग्रहमण्डले प्रविष्टमधिदेवतासर्पं प्रत्यधिदेवतानिर्ऋतिम् ।

राहुं कराग्रपरिमण्डितखड्गचर्म-
भीमं तमोमयतनुं स्तनुस्त( स )ममिन्द्विनारिम् ।
कौण्डिन्यसूनुमसितांशुकगन्धभूषं
गोमेदभूषिततनुं हरिगं नमामि ॥
यस्मात्त्वं छाग यज्ञानामङ्गत्वेन व्यवस्थितः ।
यानं विभावसोर्नित्यमतः शान्तिं प्रयच्छ मे ॥
अर्धकायं महावीर्यं चन्द्रादित्यविमर्दनम् ।
सिंहिकागर्भसंभूतं तं राहुं प्रणमाम्यहम् ॥
यो विष्णुनैवामृतं पीयमानं
छित्वा शिरो ग्रहभावे नियुक्तः ।
योऽभ्यर्कचन्द्रौ ग्रसति पर्वकाले
राहुं सदा शरणमहं प्रपद्ये ॥
धूम्रान्द्विबाहुगदिनो विकृतास्यान्शतात्मकान् ।
गृध्रासनगतान्केतून्वरदान्ब्रह्मणः सुतान् ॥
नीलमेघसमानाभं चित्रवर्णं महाबलम् ।
स्थापयामि महारौद्रं केतुं सर्वफलप्रदम् ॥

सूर्यस्य वायव्यदिग्भागे ध्वजाकारमण्डले दक्षिणाभिमुखमन्तर्वेदिदेशजं जैमिनिसूनजं रौद्राग्निकं धूम्रं वरदगदाधरं द्विभुजं चित्राम्बरगन्धमाल्यवैदूर्य-

रत्नाभरणभूषितं किरीटिनं धूम्रच्छत्रध्वजपताकिनं चित्रगृध्रवाहनं धूम्रारुणाष्टाश्वं धूम्रं रथमारुह्य दिव्यं मेरुमप्रदक्षिणीकुर्वाणं ग्रहमण्डले प्रविष्टमधिदेवताब्रह्माणं प्रत्यधिदेवताचित्रगुप्तम् ।

गृध्रस्थिताञ्जलजयोनिसमानवक्त्रान् ।
धूम्रान्वराभयकरान्सुभुजान्कुमारान् ॥
वैडूर्यभूषिततनून्वरजैमिनेयान् ।
केतून् भयानकमुखान् द्विभुजान्नमामि ॥
महासत्त्व महाकाय क्षीरोदार्णवसंभव ।
सर्वसंग्रामविजय जयं गज कुरुष्व मे ॥
पलाशधूम्रसंकाशांस्तारकाग्रहमस्तकान् ।
रुद्रान् रौद्रात्मकान् घोरांस्तान् केतून् प्रणमाम्यहम् ॥
ये ब्रह्मपुत्रा ब्रह्मसमानवक्त्रा
ब्रह्मोद्भवा ब्रह्मसमाः कुमाराः ।
ब्रह्मोत्तमा वरदा जामदग्न्याः
केतून्सदा शरणमहं प्रपद्ये ॥ १ ॥

अथातो गृहकर्मणां गृहवृद्धिमिच्छन् मासि मासि ऋतावृतौ संवत्सरे संवत्सरे वाऽऽपूर्यमाणपक्षे पुण्ये नक्षत्रे गृहशान्तिमारभेत । अपामार्गपलाशसर्षपोदुम्बरसदाभद्रामृततृणमिन्द्रवल्ल्या बद्ध्वा गृहं संमार्ष्टि मा नो महान्तं० मा नस्तोके० इति द्वाभ्याम् । पञ्चगव्यैर्दर्भमुष्टिना च संप्रोक्षति—यत इन्द्र भयामहे० स्वस्तिदा० इति द्वाभ्याम् । कृणुष्व पाज इत्येतेनानुवाकेन सिद्धार्थान्संप्रकीर्य वास्तुमध्येऽग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोति—वास्तोष्पते वास्तोष्पत इति द्वाभ्याम् । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—वास्तोष्पते ध्रुवां स्थूणां० इति षड्भिरनुच्छन्दसम् । सावित्र्या सहस्रं जुहुयात् । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमाधेनुवरप्रदानात् । ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं वाचयित्वैवं प्रयुञ्जानो महान्तं पोषं पुष्यति बहवः पुत्रा भवन्ति न च बालाः प्रमीयन्ते न गृहव्याधयो गृह्णन्ति न दंष्ट्रिणो घातयेयुर्न तस्करसर्पराक्षसपिशाचा बाधन्ते । यदि गावः प्रतप्येरन् गवां मध्ये आहुतिसहस्रं जुहुयात् । गवां शान्तिरित्याचक्षते । द्विपदां चतुष्पदां चैतदेव व्याख्यातं वासो दक्षिणेति विज्ञायते ॥ २ ॥

अथातोऽश्वशान्तिं व्याख्यास्यामः । अथाग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोति तदश्विनावश्वयुजोपयातामिति पुरोनुवाक्यामनूच्य यौ देवानां भिषजौ इति या-

ज्यया जुहोति । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—अश्विभ्याꣳ स्वाहाऽश्वयुग्भ्याꣳ स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा श्रुत्यै स्वाहेति । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमाधेनुवरप्रदानात् । अथाग्रेणाग्निमश्वत्थपर्णेषु हुतशेषं निदधाति–यो अश्वत्थः शमीगर्भ इति। स्थालीसंक्षालनमाज्यशेषमुदकशेषं च प्राच्यां समवनीयाश्वत्थशाखया प्रोक्षंस्त्रिः प्रदक्षिणमश्वान्पर्येति—यो वा अश्वस्य मेध्यस्य लोमनी वेद इत्येतेनानुवाकेनेति विज्ञायते ॥ ३ ॥

अथातो गजशार्ति व्याख्यास्यामः । शुक्लपक्षेऽष्टम्यामेकादश्यां चतुर्दश्यां श्रोणायां वा ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं वाचयित्वा पुरस्तात्तिलतण्डुलान्निरुप्य सावित्र्याऽप आनीय सावित्र्या पूर्णकुम्भौ नवेन वाससा वेष्टयित्वा फलेनापिधाय पश्चादुक्तं चरुं निधाय पश्चदूर्वास्तम्बे प्रतिष्ठाप्रयति । आश्वत्थं मेक्षणमिध्माबर्हिः करोति । अथाग्निमुखात्कृत्वा घृतेनाथ पक्वं गजसूक्तेन जुहुयात्—गणानां त्वा० इति पुरोनुवाक्यामनूच्य स इज्जनेन इति याज्यया जुहोति । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—नमस्ते रुद्र मन्यव इत्येतैः । पञ्चभिरष्टसहस्रं जुहुयात् । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमाधेनुवरप्रदानात् । अग्रेणाग्निं दूर्वास्तम्बेषु हुतशेषं निदधाति—भूतेभ्यः स्वाहेति । अथ स्थालीपाकशेषं पश्चदूर्वास्तम्बं चाऽऽयुष्यसूक्तेन प्राशयित्वा प्रणीताजलेन प्रोक्षति—आपो हि ष्ठा इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतेनानुवाकेन मार्जयित्वा स्वस्थानं नागजातिं नयाति हस्ती दीर्घायुर्भवतीति विज्ञायते ॥ ४ ॥

अथातो यमयज्ञं व्याख्यास्यामः—

यमयज्ञः स्वयं प्रोक्तः प्रवक्ष्ये विधिमुत्तमम् ।
मासि मासि तु कर्तव्यो ह्यन्तकाय बलिस्तथा ॥
मेधाकामोऽर्थकामो वा पुत्रकामस्तु वै द्विजः ।
याम्येऽहनि स नक्षत्रे सर्वान्कामान्समश्नुते ॥
संवत्सरस्य कार्तिक्यां बलिं कुर्वीत यत्नतः।
अकुर्वन्नहि कार्तिक्यां नरके तु निमज्जति ॥
तस्मात्कुर्वीत कार्तिक्यां सर्वकामस्तु वै द्विजः ।
तिलप्रस्थस्य कर्तव्यं गुडामिश्रं तथा हविः ॥
एकेन न तु कर्तव्यः कर्तव्यो बहुभिः सह ।

हविरुद्वास्याभिमृश्य हविरादाय ग्रामात्प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्र-म्यानिर्णवदेशे नदीतीरे समे वाऽन्यस्मिञ्शुचौ देशे दिक्षु स्राक्तिं वेदिं करोति मृन्मयीं सिकताभिर्वा । तिस्र उत्तरवेद्या दिशास्रक्तयो भवन्ति । दक्षिणेन करकूपं स्नात्वोत्तरेणाग्निं प्रतिष्ठाप्य दर्भैरुत्तरवेदिं च प्रच्छादयति । प्रागग्रैस्त-थैव विष्टरं निधाय प्रस्तरं निधाय प्रस्तरे च—आयातु देवः सुमनाभिरू-तिभिः, इति यममावाह्य यमे इव यतमाने यदैतं प्रवां भरन्मू इति च, इमं यमप्रस्तरमा हि सीद इति तिसृभिः प्रस्तरमभिमन्त्र्य पवित्रपाणिरर्घ्यपाद्याच-मनीयस्नानीयं च प्रदाय वारुणीभिर्हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिरितिमार्जे-यित्वा सर्वसुरभिगन्धमाल्यं च प्रदाय यथोपलब्धं ददाति । कृष्णाः प्रतिसराः कृष्णसूत्रं वा । मध्यमेन पलाशपर्णेनाऽऽज्येनाग्निमन्वारब्धे जुहुयात्—यमाय स्वाहा । अन्तकाय स्वाहा । धर्माय स्वाहा । अनन्ताय स्वाहा । वैवस्वताय स्वाहा । मृत्यवे स्वाहा । विष्णवे स्वाहेति । व्याहृतिभिर्हुत्वा प्रागग्राण्य-र्कपर्णान्यौदुम्बरपर्णानि वा निधाय तेषु मध्यमस्यामुत्तरवेद्यां हविर्निवेदयते—यमाय सोमꣳ सुनुत इति तिसृभिः । दक्षिणस्यामुत्तरवेद्याꣳ श्वभ्यां हविर्नि-वेदयते—यौ ते श्वानौ० इति । उत्तरस्यामुत्तरवेद्यां यमदूताभ्यां हविर्निवे-दयते—उरुणासा वसुतृपा बुलुम्बलौ० इति । योऽस्य कौष्ठ्य इतितिसृभिर्य-मगाथाभिः प्रदक्षिणं परिगायते । दक्षिणेन करकूपं गत्वा प्राचीनावीतं कृत्वा सव्यं जान्वाच्य—इषमिषं स्वधा पितृभ्य इति त्रीनुदकाञ्जलीन्निनयति । आयम्य प्राणान्सप्तभिर्व्याहृतिभिः सप्त पदानि प्राञ्चो गच्छन्ति—त्रयोभिः स्वर्गं लोका इति सप्त लोका अवरुद्धा भवन्तीति विज्ञायते । दधिक्राव्णो अकारिषामिति पुनः प्राणानाप्याय्याथैनं प्रत्येत्य—नमो नमस्करकूपेभ्यो नमोनमस्करकूपेभ्य इति करकूपमुपस्थाय—यस्मै कामाय० यमभिवादयन्ते । यमो दाधार इति तिसृभिः—सर्वा ता यम आहिता इति नाके सुपर्णमिति प्रवाहयन्ते हविरुत्तरतः पञ्चभिर्व्याहृतिभिः स्वयमवभृथं गच्छति—उरुꣳ हि राजा० इत्येतेनानुवाकेन । प्रवक्ताऽवभृथे कलिकलुषमुक्त्वाऽरोगशरीरा भवन्ति इति विज्ञायते । यमेन दत्तं त्रित एनमिति चतसृभिरादित्यमुपतिष्ठते । उद्वयं तमसस्परीति प्रतिसरमाबध्नन्ति । सर्वसुरभिगन्धमाल्यं च गृहीत्वा हविषा सर्वप्रायश्चित्तं च हुत्वाऽप्सु निमज्ज्य(ज्ज)न्तस्तत्र हविःशेषान्भक्षयन्ते—भक्षोऽस्यमृतभक्षः । तस्य ते मृत्युपीतस्यामृतवतः स्वगाकृतस्य मधुमत उप-हूतस्योपहूतो भक्षयामीति । शेषं निनयति पुत्राय प्रियाय प्रियवादिने पुत्रभा-

यायै पुत्रस्य भवति । यमो यष्टारमितः प्रयातमङ्के समाधाय पितेव पुत्रम् ।
सुहृच्च गच्छेत न चास्य भिन्नं पन्थानमस्यैव सहैव गच्छेत् इति विज्ञायते ॥५॥

सर्वपापहरं चैव सर्वव्याधिविनाशनम् ।
तृणगर्भं प्रवक्ष्यामि विद्धि धर्म्यं सनातनम् ॥
संग्रामेषु च सर्वेषु ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।
पर्वणोरुभयोश्चैव जन्मानि श्रवणे तथा ॥
सरोगाभिभवे चैव व्यतीपाते तथैव च ।
गोमयेनोपलिप्ते तु शुचौ देशे समारभेत् ॥
चतुर्णामपि वर्णानां सच्छ्कारश्च तथा भवेत् ।
गृहीत्वा ब्राह्मणाञ्शुद्धाँश्चतुरो वेदपारगान् ॥
आचार्यं च द्विजश्रेष्ठं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
प्रागादिषु प्रतिष्ठाप्य तान्विप्रान् दिक्षु मध्यतः ॥
व्रीहिभिः स्थण्डिले शुद्धैश्चतुरश्रं तु कारयेत् ।
तन्मध्ये लेखयेत्पद्मं स्वर्णपद्मं ततः क्षिपेत् ॥
तस्योपरि समासीनं वस्त्रे वस्त्रेण संवृतम् ।
आशिषो वाचयित्वा तु गुरुर्विप्रैः समन्वितः ॥
प्रच्छाद्य तु तृणैः शुद्धैर्दूर्वाभिश्च विशेषतः ।
विष्णोर्नाम सहस्रं वा शैवं वाऽपि तथा जपेत् ॥
गायत्रीमथवा शैवं वैष्णवं वा जपेद्गुरुः ।
जपेयुः परितो विप्रास्तथा मन्त्रांश्च वैष्णवान् ॥
ततस्तृणं समुत्थाप्य मधुपर्कं क्रमेण तु ।
प्रोक्षयेत्पावमानीभिर्घृतपात्रं निरीक्षयेत् ॥
गुरवे दक्षिणां दद्याद्ब्राह्मणेभ्यश्च शक्तितः ।
वस्त्रे च गुरवे दद्याद्धिरण्यं च विशेषतः ॥
घृतपात्रं च तस्यैव नमस्कुर्याच्च तं गुरुम् ।
दत्त्वैव विधिना तेभ्यो दक्षिणां च विशेषतः ॥
विष्णुलोकमवाप्नोति शिवलोकमथापि वा ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तः सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥
गोसूक्तेन तृणं दद्यात् गवामेव विशेषतः ।
यः शृणोति पठेद्वाऽपि स याति परमां गतिम् ॥
यो देवस्य प्रियो विद्वान् देवस्य पदमाप्नुयात् ॥ ६ ॥

अथातः पवित्राणां पवित्रायातिपवित्रायापराजिताय गुह्याय ब्रह्महृदयायोंकारकल्पं व्याख्यास्यामः । यत्र ग्राम्याणां पशूनां शब्दं नोपशृणुयादपां समीपे ब्रह्मवृक्षेणैकस्थूणां कुटीं प्राङ्मुखां कारयेत् । कुशध्वजी कुशवेष्टी कुशचीरवासाः कुशोपवीतः कुशोपविष्टः कुशहस्तः कुशमेखलां धारयमाणस्त्रिषवणस्नायी कुशशायी शाकयावयकयोर्भैक्षाहार आदित्याभिमुखस्तिष्ठन्नोंकारं पञ्चसहस्रं जपेत्ततोऽस्य मन्त्राः सर्वे सिध्यन्ति सर्वे वेदा अधीता भवन्ति सर्वेषु वेदेषु चीर्णव्रतो भवति सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति सर्ववेदो ज्ञातो भवति । सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति सर्वयज्ञक्रतुभिरिष्टवान् भवत्याचुक्षषः पङ्क्तिं पुनाति मातापितृदोषैः पुरुषदोषैश्च निर्दोषः पूतो भवति चण्डालश्वपाकानां पुनाति । श्वेतायाः सरूपवत्सायाः पयसि स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽदित्याभिमुख ओंकारसहस्रेणाभिमन्त्रितं कृत्वा स्वयं प्राश्नीयात् समानां पुरुषाणामलक्ष्मीं नुदति जातिस्मरत्वं लभते श्रियं देवीं भजते ब्रह्मचर्यमस्याविच्छिन्नं संततं भवति ।

प्रणवाद्यास्तथा वेदाः प्रणवे पर्यवास्थिताः ।
वाङ्मयं प्रणवं सर्वं तस्मात् प्रणवमभ्यसेत् ॥
प्रणवेन विहीनं यत् तन्मन्त्रं प्राणहीनकम् ।
सर्वमन्त्रेषु मन्त्राणां प्राणः प्रणव उच्यते ॥ ७ ॥

अथातो व्याहृतिकल्पं व्याख्यास्यामः । त्रिषवणं स्नायादधः शय्यासनस्त्रिरात्रमहोरात्रं वोपोष्य द्वादशसहस्रं व्याहृतीर्जपेत् । कृतपुरश्चरणोऽथ कर्माण्यारभते । दधिमधुघृताक्तानां पलाशसमिधामाहुतिसहस्रं जुहुयाद्ब्रह्मवर्चसकाम आज्येन तेजस्कामः पयसा पशुकामो दध्नेन्द्रियकाम ओदनेनान्नाद्यकामो व्रीहिभिर्यवैर्धान्यकामः कन्याकामो लाजैस्तिलै राक्षोघ्नं पापनाशनं च सद्य एव विनश्यति ज्वरो वानस्पत्यानां न्यग्रोधैः पुत्रकामः खादिरैरादित्यकामोऽर्कसद्भिरर्थकामः पलाशसमिद्भिः सर्वकामः । यावज्जुहोति तावदाप्नोतीति विज्ञायते ॥ ८ ॥

अथातो दुर्गाकल्पं व्याख्यास्यामः । यज्ञोपवीतं रक्तपद्मपुष्पं संभारानुपकल्प्य मासि मासि कृत्तिकापूर्वाह्णे गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलं कृत्वा प्रोक्ष्य शौचेन सुव्रतास्तिष्ठन्भगवतीमावाहयेत्—जातवेदस इति ओमार्यां रौद्रीमावाहयामीत्यावाह्य तामग्निवर्णामिति कूर्चं दत्त्वा अग्ने त्वं पारय इति यज्ञोपवीतं दत्त्वाऽथैनां स्नापयति—आपो हि ष्ठा मयो भुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतेनानुवाकेन मार्जयित्वा

आर्यायै रौद्र्यै महाकाल्यै महायोगिन्यै सुवर्णपुष्ये ( ष्यै ) देवसंकीर्त्यै महायश्यै महावैष्णव्यै महापृथिव्यै मनोगम्यै शङ्खधारिण्यै नम इत्येकादशनामधेयैर्गन्धपुष्पधूपदीपैरमुष्यै नमोऽमुष्यै नम इत्येतैरेवार्चयित्वा सावित्र्या भगवत्यै दुर्गादेव्यै हविर्निवेदयामीति हविर्निवेद्य शेषमेकादशनामधेयैर्हुत्वा पञ्च दुर्गा जपेद्दश स्वस्ति जपेत् । जातो यदग्ने० वषट्ते विष्णो० वास्तोष्पते० एवावन्दस्व० आ नो नियुद्भिः० हिरण्यवर्णा० अभयं कृणोतु० अश्वावतीः० त्वं वरुणः० बृहस्पते युवमिन्द्रश्च० स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा० इति जपित्वा शं च मे मयश्च मे इत्येतैरेकादशभिरनुवाकैश्च जपेत् । सावित्र्या भगवत्यै दुर्गादेव्यै हविरुद्वासयामीत्युद्वास्य शेषं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा संवत्सरमुपासीत । सर्वे कामाः सिध्यन्तीति विज्ञायते ॥ ९ ॥

अथात उपश्रुतिकल्पं व्याख्यास्यामः । आदित्यवारेऽङ्गारकवारे वा चतुर्थ्यामष्टम्यां चतुर्दश्यां भरण्यां कृत्तिकायां वा क्रियेत । पूर्वेद्युरकृतभुक्तिः शुचिर्ब्रह्मचारी भूत्वाऽथ प्रदोषेऽग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्य तस्य दक्षिणत उपश्रुतिमावाहयेत्—ॐ भू रात्रीं देवीमावाहयामि । ॐ भुवरुपश्रुतिं देवीमावाहयामि । ॐ सुवर्महारात्रीं देवीमावाहयामि ॐ भूर्भुवः सुवर्महाकालरात्रीं देवीमावाहयामीत्यावाह्याथैनां स्नापयाति—आपो हि ष्ठा इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमान इत्येतेनानुवाकेन मार्जयित्वा गन्धैः कृष्णपुष्पैर्धूपैर्दीपैरलंकृत्याऽऽज्यं संस्कृत्य जुहोति रात्र्यै देव्यै स्वाहोपश्रुत्यै देव्यै स्वाहा महारात्र्यै देव्यै स्वाहा महाकाल्यै देव्यै स्वाहा निशायै स्वाहा क्षपायै स्वाहा कृष्णायै स्वाहाऽन्धकारिण्यै स्वाहा यत इन्द्र भयामहे० स्वस्तिदा विशस्पतिः० इति द्वाभ्यां च जुहोति । अथ समस्तं परिषेकं कृत्वा रात्रिसूक्तेनोपतिष्ठते । व्याहृतिभी रात्रीं देवीमुद्वासयामीत्युद्वास्याथ व्रजेच्छ्मशानदेशे देवागारे श्रोत्रियागारे कुलालकारुदेशे वा गच्छेत् । नवधनुर्मात्रात्कर्णौ बध्नाति । स्वस्ति न इन्द्र इत्येतामृचं जपित्वा विमुञ्चेद्व्यक्तं तत्प्रतिगृह्यतामनुरूपं युज्यतां सर्वकर्मणां चाऽऽरम्भ इति विज्ञायते ॥ १० ॥

अथातः श्रीकल्पं व्याख्यास्यामः । शुक्लपक्षस्य पञ्चम्यां पौर्णमास्यामपि वा श्रियं कदम्बमयीं बिल्वसारमयीं वा स्थण्डिले निधायाहोरात्रोपोषितः शुचिः कृतशौचः समे देशे गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलमुपलिप्य गन्धसुमनसः संप्रकीर्य हिरण्मयेन पात्रेणोदकं पूरयित्वा गन्धान्सुमनसस्तस्मिन् हिरण्यवर्णां हरिणीम्, इति द्वाभ्याम् । ॐ भूः श्रियमावाहयामि । ॐ भुवः श्रिय-

वाहयामि । ॐ सुवः श्रियमावाहयामि । ॐ भूर्भुवः सुवः श्रियमावाहयामीत्यावाह्य कर्दमेन इति द्वाभ्यां प्रसिद्धं प्रोक्ष्याश्वपूर्वामिति स्नापयित्वा गन्धद्वारामिति गन्धं ददाति । कांऽसोऽस्मितामिति पुष्पं ददाति । उपैतु मां, इति धूपं ददाति । चन्द्रां हिरण्मयीम्, इति दीपं ददाति । चन्द्रां प्रभासाम्, इति नैवेद्यं ददाति । अथ देव्या दक्षिणतोऽग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्य महाव्रीहिभिस्तण्डुलैः पयसि चरुं श्रपयित्वा हविर्द्वेधा कृत्वा मनसः कामं, इत्यभिप्रेत्य काममन्नं वाऽऽज्यमिश्रं श्रीसूक्तेन पञ्चदशर्चेन हविर्जुहोति । तेन सूक्तेन श्रियै नमः पुष्ट्यै नमो धात्र्यै नमः सरस्वत्यै नम इति बलिमुपहरति । पञ्चपुष्पाणि यथालाभं गृहीत्वा प्रत्यङ्‌ निमार्ष्टि । क्षुत्पिपासामित्यलक्ष्मीं निर्णुदति । एवमेवाहरहर्मासि मासि वा महान्तं पोषं पुष्यति धन्यं यशस्यमारोग्यमायुष्यं पुत्र्यं पशव्यं तस्य महत्स्वस्त्ययनमिति विज्ञायते ॥ ११ ॥

अथातः सरस्वतीकल्पं व्याख्यास्यामः । शुक्लपक्षे त्रयोदश्यां वोत्तरयोः फल्गुन्योर्वा पुण्ये नक्षत्रेऽथ स्थण्डिलोल्लेखनप्रभृत्या प्रणीताभ्यः कृत्वाऽग्रेणाग्निं सरस्वतीमावाहयति —

आयातु वरदा देवी अक्षरं ब्रह्मसंमितम् ।
गायत्रीं छन्दसां मातेदं ब्रह्म जुषस्व नः ॥

सरस्वतीमावाहयामीत्यावाह्य स्थानानि कल्पयति—वाग्देव्यै कल्पयामि गीर्देव्यै कल्पयामि सरस्वत्यै कल्पयामि ब्राह्म्यै कल्पयामीति । अथैनाः स्नापयति—आपो हि ष्ठा इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्यतेनानुवाकेन मार्जयित्वाऽद्भिस्तर्पयित्वेतैरेव नामधेयैर्गन्धपुष्पधूपदीपैः— अमुष्यै नमोऽमुष्यै नम इति परिधानप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोति पायसं वा—चोदयित्री सूनृतानाम् पावीरवी कन्या इति द्वाभ्याम् । अथाज्याऽऽहुतीरुपजुहोति—प्र णो देवी० आ नो दिवः० ये ते सरस्व ऊर्मयः० उत नः प्रियाः प्रियासु० इमा जुह्वाना० यस्ते स्तनः शशयः० देवीं वाचमजनयन्त० यद्वाग्वदन्ति० इत्येतेन सूक्तेन । स्विष्टकृत्प्रभृतिसिद्धमाधेनुवरप्रदानात् । अथाग्रेणाग्निं पलाशपर्णेषु हुतशेषं निवेदयित्वा बाह्यबलिं दत्त्वोदेत्यपरेणाग्निं प्राङ्मुखं कुमारमुपवेश्य विद्यारम्भं कुरुते । अनन्तरं देवीमुद्वासयति—

उत्तमे शिखरे देवि भूम्यां पर्वतमूर्धनि ।
ब्राह्मणेभ्यो ह्यनुज्ञात गच्छ देवि यथासुखम् ॥

इति पुनरागमनाय पुनर्दानाय। एवमेव मासि मसि विद्याकाङ्क्षी सरस्वतीमाराधयेदिति विज्ञायते ॥ १२ ॥

अथातो विष्णुकल्पं व्याख्यास्यामः । आषाढकार्तिकफाल्गुनमासशुक्लपक्षेषु द्वादश्यां यद्वा श्रद्धा भवत्यहोरात्रमुपोषितः श्वोभूते प्राग्वोदग्वाऽरण्ये शुचिर्गृहे वा यत्र रोचते मनस्तत्र स्थण्डिलेऽग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्याऽऽप्रणीताभ्यः कृत्वा सिद्धे पायसे—यत्ते पवित्र० पवित्रं ते विततं० इत्युदाहृत्योमिति विद्युद्गन्धोशीरमयं भगवन्तं श्वेतपीतरक्तप्रतिसरेणाऽऽवेष्ट्य स्थापयित्वाऽऽवाहयेत्—ॐ भूः पुरुषमावाहयामि । ॐ भुवः पुरुषमावाहयामि । ॐ सुवः पुरुषमावाहयामि । ॐ भूर्भुवः सुवः पुरुषमावाहयामीत्यावाह्य प्रसिद्धमासनस्नानपाद्याचमनीयानि दद्यात् । सर्वसुरभिगन्धपुष्पधूपदीपमाल्यैरभ्यर्च्य यथोपपन्नं बर्हिष्यश्वत्थपर्णे प्रस्तरे वा गोभिर्जुष्टमिति धूपभाजने न्यस्यति । ततः षोडशाऽऽज्याहुतीर्जुहोति पुरुषसूक्तेन परो मात्रया० इति तिसृभिः । पवमानमुपनिनीय चरोराज्यमिश्रं चतस्र आहुतीर्जुहोति—वासुदेवाय स्वाहा बलदेवाय स्वाहा विष्णवे स्वाहा श्रियै स्वाहेति । स्विष्टकृतमवदायान्तःपरिधि सादयित्वा दैवतमर्चयत्यैतैरेव नामधेयैः—अमुष्मै नमोऽमुष्मै नम इति गन्धपुष्पधूपदीपैरन्नेन अमुष्मै स्वाहाऽमुष्मै स्वाहेति फलोदकेन—अमुं तर्पयाम्यमुं तर्पयामीति स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । आभिर्विश्वाभिर्युज इति जानुं निपात्य चतुःप्रदक्षिणं परिक्रामेत् । विश्वभुजे नमः सर्वभुजे नम आत्मने नमः परमात्मने नम इति । ध्रुवसूक्तं जपित्वा पुरुषमुद्वासयेत्—ॐ भूः पुरुषमुद्वासयामि । ॐ भुवः पुरुषमुद्वासयामि । ॐ सुवः पुरुषमुद्वासयामि । ॐ भूर्भुवः सुवः पुरुषमुद्वासयामीत्युद्वास्य यत्राऽऽपस्तद्गत्वोत्सृजेदवभृथम् । प्र तत्ते अद्य० किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्० इति द्वाभ्यां प्रतिसरं विस्रंस्रयति । इदं विष्णुर्विचक्रमे० इत्येतया चरुं प्राश्नाति । एवं घोषयेत्—यो वैष्णव इत्याह वैष्णवोऽस्मीति यः प्रतिब्रूयात्तस्मै शेषं दद्यादेतैरेव मन्त्रैः प्राश्नाति । प्राश्याप आचम्य—ॐ नमो भगवते वासुदेवायेति द्वादशाक्षरं जपित्वाऽश्वमेधफलमाप्नोति सकृदिष्ट्वा सनातनमिति ॥ १३ ॥

अथातो रविकल्पं व्याख्यास्यामः । चतुरश्रं मण्डलं वा गोमयेन गोचर्ममात्रं स्थण्डिलं कृत्वाऽष्टाचत्वारिंशत्कृत्वो रविवारे ताम्रपात्रे रक्तगन्धं रक्तपुष्पं वा-घृणिः सूर्य आदित्य इत्यावाह्य आ सत्येन इत्यर्घ्यं दद्यात् । हंसः

शुचिषत्, इति पाद्यम् । अग्निर्मूर्धा० इत्याचमनीयम् । आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतेनानुवाकेन मार्जयित्वाऽद्भिस्तर्पयति—धातारं तर्पयामि विधातारं तर्पयामि अर्यमणं तर्पयामि मित्रं तर्पयामि वरुणं तर्पयामि भगवन्तं तर्पयामि हꣳसं तर्पयामि पूषाणं तर्पयामि पर्जन्यं तर्पयामि विवस्वन्तं तर्पयामि इन्द्रं तर्पयामि रविं तर्पयामीत्येतैरेव नामधेयैर्गन्धपुष्पधूपदीपैः—अमुष्मै नमोऽमुष्मै नम इति व्याहृतिभिः पुरुषमुद्वासयामीत्युद्वास्याथापूपं दद्यादष्टाचत्वारिꣳशत् । एकवारमर्चयित्वा कुष्ठरोगी क्षयरोगी बन्धाद्विमुच्यते बद्धो रोगी रोगाद्विमुच्यत इति विज्ञायते ॥ १४ ॥

अथातो ज्येष्ठाकल्पं व्याख्यास्यामः । तिलतैलमाज्यं पयो दधिसक्तूल्लाँजान् करम्भान् कृष्णानि वासाꣳसीति संभारानुपकल्पयते । प्रोष्ठपदायामनूराधायां वा हविष्यं भुञ्जीत । अथ श्वोभूते ज्येष्ठामनुस्मरन्नुत्थाय देवागारे रहस्यप्रदेशे वा यत्र रोचते मनस्तत्र स्थण्डिलं कृत्वाऽथ देवयजनोल्लेखनप्रभृत्याप्रणीताभ्यः कृत्वाऽग्रेणाग्निं ज्येष्ठादेवीमावाहयति—

यस्याः सिंहा रथे युक्ता व्याघ्राश्चाप्यनुगामिनः ।
तामिमां पुण्डरीकाक्षीं ज्येष्ठामावाहयाम्यहम् ॥

इत्यावाह्य इहलोकाकीर्तये नमः । परलोकाकीर्तये नमः । श्रियै नमः । ज्येष्ठायै नमः । सत्यायै नमः । कपिलपत्न्यै नमः । कपिलहृदयायै नमः । कुम्भ्यै नमः । कुम्भिन्यै नमः । प्रकुम्भ्यै नमः । ज्यायायै नमः । वरदायै नमः । हस्तिमुखायै नमः । विघ्नपार्षदायै नमः । विघ्नपार्षद्यै नम इति तर्पयति । आपो हि ष्ठा इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमान इत्यनुवाकेन मार्जयित्वा तैरेव नामधेयैर्गन्धपुष्पधूपदीपैः—अमुष्यै नमोऽमुष्यै नम इति परिधानप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोति—इन्द्रो ज्येष्ठामनु नक्षत्रमेति, इति पुरोनुवाक्यामनूच्य पुरंदराय वृषभाय धृष्णव इति याज्यया जुहोति । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—इन्द्राय स्वाहा । ज्येष्ठाय स्वाहा । श्रेष्ठाय स्वाहा । प्रजापतये स्वाहेति । नमः सु ते निर्ऋत इति षड्भिरनुच्छन्दसम् । अथ कुल्सैर्जुहोति—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां भूर्भुवः सुवरों ज्येष्ठायै हविर्निवेदयामीति निवेदयति । अथ दिशां बलिं हृत्वा गन्धमाल्ये द्वे वाससी निवेद्यं दत्त्वाऽन्नं च ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा—नमः सु ते निर्ऋत इति षड्भिरुपस्थाय स्विष्टकृत्प्रभृतिसिद्धमा धेनुवरप्रदानात् ।

यस्याः सिंहा रथे युक्ता व्याघ्राश्चाप्यनुयायिनः ।
तामिमां पुण्डरीकाक्षीं ज्येष्ठामुद्वासयाम्यहम् ॥

इत्युद्वास्य ज्येष्ठामन्त्रं सहस्रकृत्व आवर्तयेच्छतकृत्वोऽपरिमितकृत्वो वा दशावरम् । शाकयावकभैक्षमूलफलाशी अधःशायी श्वोभूते तथैवाभ्यर्च्य षण्मासादूर्ध्वं समाचरन् । नित्यानामाशास्यान्सर्वान्कामानवाप्नोतीत्याहाऽऽचार्यः ॥ १५ ॥

अथातो विनायककल्पं व्याख्यास्यामः । मासि मासि चतुर्थ्यां शुक्लपक्षस्य चतुर्थ्यां वाऽभ्युदयादौ सिद्धिकाम ऋद्धिकामः पशुकामो वा भगवतो विनायकस्य बलिं हरेत् । पूर्वेद्युः कृतैकभक्तः शुचिरप आचम्याथ देवयजनोल्लेखनप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वा दक्षिणामुखं दक्षिणतो ब्राह्मणमुपवेश्योपोत्थाय दैवतमावाहयति—

विघ्नविघ्नेश्वराऽऽगच्छ विघ्नेत्येव नमस्कृत ।
आविघ्नाय भवान्सम्यक्सदाऽस्माकं भव प्रभो ॥ इति ।

अथ दूर्वाक्षतसुमनोभिः ( मि ) श्रमर्घ्यं ददाति—इमा आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमाः पूताः पूततमाः पुण्याः पुण्यतमा मेध्या मेध्यतमा जुष्टा जुष्टतमा अमृता अमृतरसाः पाद्या अर्घ्या अर्हणीया अभिषेचनीया आचमनीया मार्जनीयाश्च प्रतिगृह्णन्तां प्रतिगृह्णातु भगवान्विनायको विनायकाय नम इति । अथ तूष्णीं वा गन्धपुष्पधूपदीपैरभ्यर्च्योपतिष्ठते—भूपतये नमो भुवनपतये नमो भूतानां पतये नम इति । उपस्थाय तिस्रो विनायकाहुतीर्जुहोति । विनायकाय भूपतये नमो विनायकाय स्वाहा । विनायकाय भुवनपतये नमो विनायकाय स्वाहा । विनायकाय भूतानां पतये नमो विनायकाय स्वाहेति । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । अपूपं करम्भमोदकं सक्तून्पायसमित्यथास्मा उपहरति—विघ्नाय स्वाहा । विनायकाय स्वाहा । वीराय स्वाहा । शूराय स्वाहा । उग्राय स्वाहा । भीमाय स्वाहा । हस्तिमुखाय स्वाहा । वरदाय स्वाहा । विघ्नपार्षदेभ्यः स्वाहा । विघ्नपार्षदीभ्यः स्वाहेति । अथ भूतेभ्यो बलिमुपहरेत्—ये भूताः प्रचरन्तीति । अथ पञ्चसूत्रं कङ्कणं हस्ते व्याहृतिभिर्बध्नाति—

विनायक महाबाहो विघ्नेश भवदाज्ञया ।
कामा मे साधिताः सर्वे इदं बध्नामि कङ्कणम् ॥ इति ।

साग्निकं विनायकं प्रदक्षिणं कृत्वा प्रणम्याभिवाद्य विनायकं विसर्जयति ।

कृतं यदि मया प्राप्तं श्रद्धया वा गणेश्वर ।
उत्तिष्ठ सगणः साधो यदि भद्रं प्रसीदतोम् ॥ इति ।

तस्मिन्याते द्वादशेध्मसमिद्धेनोपरि मध्यमं चैव दक्षिणोर्ध्वं समिधं तथा दधि मधु पय आज्यं संमिश्रय परिषेचनं विसर्जनमिति विज्ञायते ॥ १६ ॥

अथातो मृत्युंजयकल्पं व्याख्यास्यामः । जन्मनक्षत्रे पुण्ये नक्षत्रे त्रिजन्मनि वा ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं वाचयित्वाऽथ देवयजनोल्लेखनप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वा सावित्र्या पक्कं हुत्वा प्रादेशमात्रीस्तिस्रस्तिस्रो दूर्वा एकां समिधमाहृत्याष्टसहस्रमष्टशतमष्टाविंशतिं वा दधिमधुघृतपयाꣳसि समुदायुत्याभ्यज्याऽऽदधाति—अपैतु मृत्युं० परं मृत्यो० मा नो महान्तं० मा नस्तोके० ये ते सहस्रं० इत्यष्टषाष्टिशतकृत्व आवर्तयेत्तदानीमष्टसहस्रं संपद्यते । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—मृत्युर्नश्यत्वायुर्वर्धतां भूः स्वाहा । मृत्युर्नश्यत्वायुर्वर्धतां भुवः स्वाहा । मृत्युर्नश्यत्वायुर्वर्धतां सुवः स्वाहा । मृत्युर्नश्यत्वायुर्वर्धतां भूर्भुवः सुवः स्वाहेति । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । अथाग्रेणाग्निं दूर्वास्तम्बेषु हुतशेषं निदधाति—तच्छं योरावृणीमह इति । अथ दक्षिणां ददाति—धेनुमृषभमनड्वाहं कꣳसं हिरण्यं वासो वेत्यपपुनर्मृत्युं जयतीति विज्ञायते॥१७॥

अथातोऽभिवृद्धिकल्पं व्याख्यास्यामः । ग्रामस्य देवतायतनस्य गृहस्य वा सारतमक्षेत्रेषु वा भूतिमिच्छन् पूर्वपक्षे स्थिरराशौ स्थिरमुहूर्ते ब्रह्मस्थाने इन्द्रस्येशानस्य वा दिशि जानुदघ्नमवटं खात्वा गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलमुपलिप्य प्रोक्ष्य सैकतेनावकीर्य मध्ये पद्मपत्रं लिखित्वा कुशाग्रेण पञ्चगव्येन—आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतेनानुवाकेन व्याहृतिभिः प्रोक्ष्य सुमनसोऽवकीर्याऽऽशिषो वाचयित्वा पद्ममध्ये सैकतेन स्थण्डिलं कृत्वाऽग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्य परिधानप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वा मध्ये मनसा पद्मासनं ध्यात्वा श्रियमावाहयति-गन्धमित्येतयर्चा गन्धादिभिरन्वाराध्य बिल्वसमिद्भिः श्रीसूक्तेन हुत्वा पक्काज्जुहोति—वास्तोष्पते० वास्तोष्पत इति द्वाभ्याम् । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति ब्रह्म जज्ञानमिति षड्भिरनुच्छन्दसम् । स्विष्टकृत्प्रभृतिसिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । अथाग्रेणाग्निं पुष्करपर्णेषु हुतशेषं निदधाति—यत्पर्यपश्यदिति । पुष्करपर्णं प्रक्षाल्य पञ्चगव्येन मथितेन पूरयित्वा गन्धादिभिः संपूज्य श्रीसूक्तेन स्वक्षेत्राणि प्रोक्षतीति ॥ १८ ॥

अथातः शिथिलीकल्पं व्याख्यास्यामः । गृहसीमान्तचतुरश्रदिग्विधानेनान्तश्चोत्तरविधिः । गृहमध्ये शिथिलीजायते सप्ताहाऽशुभकरं भवत्यत ऊर्ध्वं प्रजानां व्याधिपीडनं करोति–यत इन्द्र भयामह इति पलाशसमिद्भिरष्टोत्तरशतं जुहुयाद्धविष्यमाज्यं च दोषमपहरति । इन्द्रादिग्भागे शिथिली जायते सप्ताहात्सुहृदागमनं भवत्यत ऊर्ध्वं राजक्षोभं करोति–अथमुते सम्रुतासि कपोत इव गर्भधिम् । वचस्तच्छिन्न ओजसे स्वाहेत्यौदुम्बरसमिद्भिर्जुहुयात् । यमादिग्भागे शिथिली जायतेऽष्टाहादर्थलाभमवाप्नोति तत ऊर्ध्वं भार्यामरणं करोति प्लक्षसमिद्भिस्त्र्यम्बकेन जुहोति । निर्ऋतिदिग्भागे शिथिली जायते त्र्यहाद्वृष्टिं करोति । तत ऊर्ध्वं भार्यानाशं करोत्यपामार्गसमिद्भिः—प्रजापते न त्वदिति मन्त्रेण जुहोति । वरुणदिग्भागे शिथिली जायते गर्भलाभं करोत्यत ऊर्ध्वं चोरभयं कुर्याद्दूर्वासमिद्भिः, गणानां त्वा० इति जुहोति । वायुदिग्भागे शिथिली जायते कन्यादोषमुपजायते दूर्वासमिद्भिः–सप्त ते अग्ने० इति जुहोति । सोमदिग्भागे शिथिली जायते शत्रुखादनं करोत्यत ऊर्ध्वं धान्यनाशं करोति वटसमिद्भिरघोरमन्त्रेण जुहोति । ईशानदिग्भागे शिथिली जायते गृहपतेर्व्याधिपीडनं करोति–येषामीशे० इति शमीसमिद्भिर्जुहोति । द्वारप्रदेशे शिथिली जायते गृहिणीनाशं करोति बिल्वसमिद्भिस्त्र्यम्बकेण जुहोति । शयनप्रदेशे शिथिली जायते गृहपतेर्मरणं करोति व्याहृतिभिर्यवैर्जुहोति । गोमहिषस्थाने शिथिली जायते प्रजानां चक्षुर्नाशं करोति सप्तव्याहृतिभिर्यवैर्जुहोति । जलभाण्डस्थाने शिथिली जायते दासवर्गनाशं करोति सप्तव्याहृतिभिर्यवैर्जुहोति । देवालये शिथिली जायते ग्रामेऽग्निभयं करोति बिल्वसमिद्भिस्त्र्यम्बकमन्त्रेण जुहोति । सभास्थाने शिथिली जायते ग्रामस्य सकुटुम्बस्याध्रुवं कुर्यादात्वाऽहार्षसूक्तेन दूर्वाभिर्जुहोति ।

देवालये सभास्थाने तडागे गृह एव वा ।
उत्पन्ने रक्तवल्मीके कुर्यात्तस्य प्रतिक्रियाम् ॥
समिद्भिः सर्पिषा चैव हविषा तिलसर्षपैः ।
कुर्याद्व्याहृतिमन्त्रेण होममष्टशतं पृथक् ॥
धर्मस्थाने तु वल्मीके जाते मरणमादिशेत् ।
इन्द्रस्थाने श्रियं ब्रूयादाग्नेये च तथाऽश्रियम् ॥
याम्ये बन्धुविनाशः स्याद्राक्षसे गृहिणीं हरेत् ।
वारुणे बन्धुलाभः स्याद्वायव्ये दूर आगतिः ॥
सौम्ये सुखं तथा रौद्रे दुर्वाक्यं(भाग्यं)मरणं भवेत् ॥इति॥१९॥

अथातः सिंहगते सूर्ये गवादिप्रसवशान्तिं व्याख्यास्यामः—

माघे बुधे च महिषी श्रावणे वडवा दिवा ।
सिंहे गावः प्रसूयन्ते स्वामिनो मरणं ध्रुवम् ॥
विधानं तत्र कर्तव्यं नरेण हितमिच्छता ।
सौरैः सूक्तैः प्रकर्तव्यो होमः सूर्यस्य तुष्टये ॥
प्रधानं तिलसर्पींऽषि पायसं शर्करायुतम् ।
सहस्रं हवनं प्रोक्तं दानान्यष्टौ यथाविधि ॥
सहस्रकिरणप्रीत्यै कर्तव्यानि च धीमता ।
एवं कृते विधाने च विघ्नः कोऽपि न जायते॥ इति ।

इदमेव माघे बुधे महिषीप्रसवे श्रावणे दिवा वडवाप्रसवे चोक्तशांतिं कुर्यादिति विज्ञायते ॥ २० ॥

अथात ईशानकल्पं व्याख्यास्यामः । अर्धमासेऽर्धमासेऽष्टम्यां ब्राह्मणा ब्रह्मचारिणः स्त्रियश्च पुत्रकामा आयुष्कामा आरोग्यकामा ब्रह्मवर्चसकामाः सौभाग्यकामाश्चोपवसन्ति। अथ प्रदोषे—रुद्रं विरूपाक्षं सपत्नीकं ससुतं सगणं सपरिषत्कमावाहयामि, इत्यावाह्य स्वागतेनाभिनन्दयति। स्वागतं पुनरागतम्। भगवते महादेवाय विरूपाक्षाय सपत्नीकाय ससुताय सगणाय सपरिषत्कायेत्येतदासनं क्लृप्तमत्राऽऽस्तां भगवान् महादेवो विरूपाक्षः सपत्नीकः ससुतः सगणः सपार्षत्क इति । अथ कूर्चं ददाति भगवतोऽयं कूर्चो दर्भमयस्त्रिवृद्धरितः सुवर्णमयस्तं जुषस्वेति प्रतिगृह्णातु भगवान् महादेवो विरूपाक्षाय सपत्नीकाय ससुताय सगणाय सपार्षत्कायेति । अथात्र स्नानानि कल्पयति—महाकालाय नमः शंकराय नमो बभ्रुकर्णाय नमो नन्दिकेश्वराय नमो दण्डिमुण्डाय नमश्चण्डिकेश्वराय नम इति । अथ देवयजनोल्लेखनप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोति—आर्द्रया रुद्रः० हेती रुद्रस्य० इति द्वाभ्याम् । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—भवाय देवाय स्वाहेत्यादिभिश्चतुर्विंशतिभिर्हुत्वा—हव्यवाह५ स्विष्टम्, इति स्विष्टकृतं हुत्वाऽथाग्रेणाग्निमर्कपर्णेषु हुतशेषं निदधाति—यो रुद्रो अग्नौ इति । शिष्टैर्गन्धमाल्यैरभ्यर्च्य रौद्रीभिर्ऋग्यजुःसामाथर्वभिः स्तुतिभिः स्तुन्वन्त्यार्षैः स्तोत्रैः । देवतां प्रवाहयति—प्रयातु भगवान्—

ईशानः सर्वलोकानां सर्वलोकनमस्कृतः ।
अनेन हविषा तृप्तः पुनरागमनं प्रति ॥ इति ।

प्रत्यभिमृशतेऽयनाय चेति । एवं विद्वानाचरति पुत्रवान्भवति सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यामपपुनर्मृत्युं जयतीति विज्ञायते ॥ २१ ॥

अथातो ग्रामस्योत्पातशान्तिं व्याख्यास्यामः । अग्निदाहे व्याघ्रादिभिरभिभूते शृगालपीडिते ग्रामादन्तश्चाण्डालाध्यवसिते ग्रामस्य स्थूणावारोहणे मधुन उपवेशने वल्मीकपुष्करोत्पन्ने देवगात्रस्वेदकम्पने ज्वराभिभूते बहुब्राह्मणमरणे ग्राममध्ये श्मशाने वा दस्युभिश्चापि पीडिते रात्रौ तडागसेतुभङ्गे जले विवर्णे वा स्वान्तःस्थेष्वशनिपाते चिरकालशून्यग्रामप्रवेशे वै तेष्वन्येषु चोत्पाते शान्तिं कुर्यात् । शुभवारे शुभनक्षत्रे शुभलग्ने विष्णोः स्नापनार्थं महादेवाभिषेकार्थं द्वौ द्वौ ब्राह्मणौ कल्पयित्वा नवग्रहशान्त्यर्थं चतुरो ब्राह्मणांस्तथैव संख्यया ग्रामशान्तिहोमार्थं कल्पयित्वाऽथ ग्रामशान्तिहोमे ग्रामस्योत्तरपूर्वदेशे देवागारे चतुष्पथे वा शुचौ समे देशे गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलमुपलिप्य तिलसर्षपलाजैर्गन्धपुष्पाक्षतैरवकीर्य स्थडिलं कल्पयित्वा विधिना कुम्भस्थापनं कृत्वाऽग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्याऽऽप्रणीताभ्यः कृत्वोपोत्थायाग्रेणाग्निं देवताश्चाऽऽवाहयति व्याहृतिभिः—यज्ञपुरुषमावाहयामि । देवस्य दक्षिणतो ब्रह्माणमावाहयामि । उत्तरतस्त्र्यम्बकमावाहयामि । देवस्याग्रे—वास्तुपुरुषमावाहयामि । इन्द्रादिदेवताश्चाऽऽवाहयामि । इत्यावाह्य पुरुषसूक्तेन विष्णुमभ्यर्च्य ब्रह्मसूक्तेन चतुर्मुखं रुद्रसूक्तेन त्र्यम्बकं चाभ्यर्च्यान्येषां देवानामावाहनक्रमेण स्वैः स्वैर्मन्त्रैरभ्यर्च्यापरेणाग्निं प्राङ्मुख उपविश्याग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोति—वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्० इति पुरोनुवाक्यामनूच्य वास्तोष्पते शग्मया सꣳसदाते इति याज्यया जुहोति । तेनैव मन्त्रेण शमीमयीं समिधमष्टोत्तरसहस्रं जुहुयात् । वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि० इत्यष्टोत्तरसहस्रमन्नाहुतीर्जुहुयात् । अमीवहा वास्तोष्पते इत्यष्टोत्तरसहस्रमाज्याहुतीर्जुहुयात् । मृगारेष्टिवत्—अꣳहोमुच इत्यभिज्ञैः प्रत्यृचमाज्याहुतीर्हुत्वा या वामिन्द्रा वरुणा इति द्वादशाऽऽहुतीर्हुत्वा पवमानः सुवर्जन इत्यनुवाकेन प्रत्यृचमाज्याहुतीर्हुत्वा पुरुषसूक्तेन ब्रह्मसूक्तेन रुद्रसूक्तेन च प्रत्यृचं हुत्वा यत इन्द्र भयामहे० स्वस्तिदा विशस्पतिरिति द्वाभ्याम् । अग्निरायुष्मान्० इति पञ्चभिः । अग्ने नय सुपथा० इति षड्भिः । योऽस्य कौष्ठ्य० इति । एष ते निर्ऋते भाग इति । इमं मे वरुण० तत्त्वा यामि० इति द्वाभ्याम् । समुद्राय त्वा वाताय स्वाहेति त्रयोदशाऽऽहुतीः । आप्यायस्व० सं ते पयाꣳसि० इति द्वाभ्याम् । ईशानः सर्वविद्यानाम्० त्र्यम्बकं यजामह इति प्रत्येकमाज्याहुतीर्हुत्वा, आ सत्येन०

इत्यादि केतुं कृण्वन्० इत्यन्तं नवग्रहमन्त्रेणाऽऽज्याहुतीर्हुत्वा स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । अथाग्रेणाग्निं शमीपत्रेषु हुतशेषं निदधाति—यो रुद्रो अग्नौ० इति । अथ देवताभ्यो हविर्निवेदयेत् । अथोपतिष्ठते—हेतयो नाम स्थ० इति यथाक्रमं दिश उपस्थाय पुण्याहं वाचयित्वोदकुम्भमन्वारभ्य पञ्चशान्तिं च जपित्वा हुतशेषमाज्यशेषं च पूर्णकुम्भे निक्षिप्योदुम्बरशाखया शमीशाखया दर्भमुष्टिना वा शिव॰ शिवं शं नो देवीरभिष्टय इति च शाकुनेन सूक्तेन ग्रामं त्रिः प्रदक्षिणं परिषिच्य ब्राह्मणेभ्यो भूरिदक्षिणां दत्त्वैवं सप्ताहं द्वादशाहं वा कुर्यात्समस्तोत्पातशान्तिरिति विज्ञायते ॥ २२ ॥

अथाशनिपाते भूमिं जानुदघ्नीमुद्धृत्याद्भिः प्रोक्ष्य पुत्रावकां च सꣳस्थाप्य ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं वाचयित्वा खननात्पश्चात्स्थण्डिलं कृत्वा परिधानप्रभृत्यग्निमुखपर्यन्तं कृत्वा शं न इन्द्राग्नी इति त्रिभिर्मन्त्रैराज्याहुतीर्हुत्वा समत्नथा सहसा जायमान इति सूक्तेन चरुणा जुहोति । स्वस्ति नो मिमीताम्, इति प्रतिपद्य—स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु इति स्वस्त्यात्रेयं जपित्वा ब्राह्मणान्संपूज्याऽऽशिषो वाचयित्वाऽऽचार्याय दक्षिणां ददाति । चरुं विद्यावन्तं ब्राह्मणं भोजयेत् । दग्धभूमिसमं ब्राह्मणाय दद्यात् । जीवनागन्धमियादिति स्वर्णं ददातीति विज्ञायते ॥ २३ ॥

अथातो वनस्पतिशान्तिं व्याख्यास्यामः । क्रमुकपनसनारिकेलकदलीष्वन्यस्मिन्पक्वे ब्राह्मणैर्बन्धुभिः सहाऽऽगत्य यजमानः क्रमुकादिवृक्षमध्ये देवयजनोल्लेखनप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वाऽग्नेर्दक्षिणतो व्रीहीनवकीर्य—मेधां म इन्द्र इति श्रीदेवीं सरस्वतीमावाह्य प्रागाद्यष्टदिक्पालानावाह्य चतुरः प्रतिदिशं क्रमुकादिवृक्षानर्चयित्वा चतस्र ओषधीस्तेषां पार्श्वे निधाय—उच्छ्रयस्व वनस्पत इति गोमयं क्रमुकमूले निधाय लाजैः पुष्पैरक्षतैः संप्रकीर्य पूर्णपात्रं निधाय—क्षेत्रस्य पते इति क्षेत्रमभ्यर्च्य—या जाता ओषधयः० या ते धामानि० या ओषधयः सोमराज्ञीः शतं वो अम्ब० अश्वव॰ हि भूरिदावत्तरा वामिति । वनस्पतिभ्यः स्वाहेत्येतेनानुवाकेन हविराज्यचरून्हुत्वा जयादि प्रतिपद्यते । परिषेचनान्तं कृत्वा ब्राह्मणान्भोजयित्वा दक्षिणां दत्त्वा स्वस्तिसूक्तेनाध्वर्युराशिषो वाचयित्वाऽऽचार्याय दक्षिणां ददाति ॥ २४ ॥

अथात उग्ररथशान्तिविधिं व्याख्यास्यामः । ब्राह्मणराजन्यवैश्यानां जन्मदिनादारभ्य षष्टितमसंवत्सरे जन्ममासे जन्मनक्षत्रे गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलं कृत्वा तस्याऽऽग्नेयदिग्भागे निष्कद्वयेन मृत्युप्रतिमां धान्यानामुपरि

यथाविधि कलशस्थापनं कृत्वा कलशस्योपरि प्रतिमां पूजयेत् । अपैतु मृत्युः० परं मृत्यो० मा नो महान्तं० मा नस्तोके० त्र्यम्बकं० इत्याद्यष्टोत्तरशतवारं जपित्वाऽथ देवयजनोल्लेखनप्रभृत्यग्निमुखान्तं कृत्वा पक्वाज्जुहोति । द्विरवदाय (नम्) मा नो महान्तं, इति पुरोनुवाक्यामनूच्य मा नस्तोक इति याज्यया जुहोति । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—घृतसूक्तेन प्रत्यृचम् । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । अथाग्रेणाग्निं दूर्वास्तम्बेषु हुतशेषं निदधाति । अपरेणाग्निं प्राङ्मुख उपविश्य मृत्युसूक्तायुष्यसूक्तपुराणमन्त्रैः कलशोदकेनाऽऽत्मानमभिषिच्याऽऽचार्यं संपूज्य ऋत्विग्भ्यो यथाशक्ति दक्षिणां दत्त्वा ब्राह्मणान्भोजयेदिति विज्ञायते ॥ २५ ॥

अथ (अ)विवाह्यकन्यारजस्वलाप्रायश्चित्त(शान्ति)विधिं व्याख्यास्यामः—

विवाहे वितते यज्ञे होमकाल उपस्थिते ।
कन्यामृतुमतीं दृष्ट्वा कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः ॥
यजुःपवित्रैः सावित्र्या प्रोक्षयेत्पूतवारिभिः ।
हिरण्य चा(ण्येत्य)नुवाकेन पवमानः सुवादिना ॥
स्नापयित्वाऽथ विद्वद्भिरन्यवस्त्राद्यलंकृताम् ।
पूर्णाहुत्यथ मिन्द्राभ्यां महाव्याहृतिभिः सह ॥
हुत्वा तन्तुमतीं चैव व्याहृतिभिस्तथैव च ।
अनाज्ञातं च विद्वद्भिः शेषं कार्यं समाचरेत् ॥
प्रधानहोमे त्रिर्वृत्ते मलवद्वाससी भवेत् ।
त्र्यहे च पर्यवेतेऽथ शेषं कार्यं समारभेत् ॥
लाजमाज्यं स्रुवं चैव प्रणीताऽश्मानमेव च ।
सर्वमभ्यन्तरं कृत्वा ब्रह्मैवैको बहिर्भवेत् ॥
दक्षिणां दिशमाश्रित्य यमो मृत्युश्च तिष्ठति ।
दंपत्यो रक्षणार्थाय ब्रह्मैवैको बहिर्भवेत् ॥
अङ्गुल्यग्रैर्न होतव्यं न कृत्वाऽञ्जलिभेदनम् ।
अञ्जलेर्वामभागेन लाजहोम इति स्मृतः ॥
आद्यं प्रदक्षिणं कुर्याद्ब्रह्मणा सह मानवः ।
प्रदक्षिणत्रयं पश्चाद्विना तमिति केचन ।
नामादिनान्दीकरणमाशिषं द्विजभोजनम् ॥
रक्षाबन्धनमन्नादि चौलाद्यङ्कुरमेव च ।
गर्भवर्जोत्सवात्पूर्वमयुगे ह्यङ्कुरार्पणम् ॥

प्रदोषे वाऽथ सायाह्ने गुणाधिक्येऽह्नि वेष्यते ।
आधानगर्भसंस्कारजातकर्माणि नाम च ॥
हित्वाऽन्यत्र विधातव्यं मङ्गुलाङ्कुरवापनम् ।
पुंसि नामान्नचौलोपस्नानपाणिग्रहेषु च ॥
अग्न्याधाने च सोमे च दशस्वभ्युदयं स्मृतम् ।
आधाने सोमयागे च दंपत्योरुभयोरपि ॥
सीमन्ते पुंसवे गर्भे स्त्रिया एव तु कौतुकम् ॥ इति ॥ २६ ॥

अथातोऽनावृष्टिशान्तिं व्याख्यास्यामः । चतुरो ब्राह्मणान्वेदपारगान् भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वा विधिना कुम्भं संस्थाप्य सुवर्णकृतां वरुणप्रतिमां पूजयित्वोदके स्थित्वा वरुणं ध्यात्वा तत्सवितुरिति पच्छोऽर्धर्चशोऽनवानं वेदादीञ्जपति । इमं मे वरुणेति पञ्चर्चमुदुत्तमामिति षडर्चमाप उन्दन्तु इत्यनुवाकमुदायुषेत्यृचं महा॰ इन्द्र॰ इत्यृचं वाचा मेन्द्रियेणाऽऽविशेति पञ्च यो वै सप्तदशमित्यनुवाकमिन्द्रं व इत्यनुवाकं कारीरी चाऽऽपो हि ष्ठा इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जनास्त्रिणाचिकेतं भद्रं कर्णेभिरित्यारण्यकं प्रश्नं कूश्माण्डाननुवाकान् सुवर्णघर्ममित्यनुवाकं सहस्रशीर्षा अद्भ्यः संभूत इत्यनुवाकौ । आदित्यो वै पृथिवी समित्, इत्यनुवाकान् जपित्वा जलाद्बहिर्गत्वा प्रत्यङ्मुखो भूत्वा पीवोन्नामित्यनुवाकमेकादशवारं जपित्वा च शुक्लवस्त्राणि धारयेत्ततो देवयजनोल्लेखनप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वा क्षीराज्यवैतससमिच्चरुभिः कारीरीदेवताश्च हुत्वाऽथोपहोमं जुहुयात्—पुरोवातो वर्षन्निति । अथ स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । ततः सद्यो वृष्टिर्भवतीति विज्ञायते ॥ २७ ॥

अथातोऽनश्नत्पारायणविधिं व्याख्यास्यामः । शुचिवासाः स्याच्चीरवासा वा हविष्यमन्नमिच्छेदपः फलानि वा । ग्रामात्प्राचीं वोदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य गोमयेन गोचर्ममात्रं चतुरश्रं स्थण्डिलमुपलिप्य प्रोक्ष्य लक्षणमुल्लिख्याद्भिरभ्युक्ष्याग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्यैताभ्यो देवताभ्यो जुहोति–अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा सोमाय स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः (स्वाहा) स्वयंभुवग्भ्यों यजुर्भ्यः सामभ्योऽथर्वभ्यः श्रद्धायै प्रज्ञायै मेधायै श्रियै ह्रियै सवित्रे सावित्र्यै सदसस्पतयेऽनुमतये च हुत्वा वेदादिमारभेत संततमधीयीत नान्तरा व्याहरेन्न चान्तरा विरमेत् । अथान्तरा व्याहरेदथान्तरा विरमेत्त्रीन्प्राणानायम्य वृत्तान्तादेवाऽऽरभेत । अप्रतिभायां यावता कालेन न वेद तावन्तं

कालं तदधीयीत स यज्जानीयात् । ऋक्तो यजुष्टः सामत इति । यद्ब्राह्मणं तच्छान्दसं तद्दैवतमधीयीत । द्वादश वेदसꣳहिता अधीयीत यदनेनानध्यायेऽधीयीत यद्गुरवः कोपिता यान्यकार्याणि कृतानि भवन्ति ताभिः पुनीते शुद्धमस्य पूतं ब्रह्म भवति । अत ऊर्ध्वं संचयः । अपरा द्वादश वेदसꣳहिता अधीत्य ताभिरुशनसो लोकमवाप्नोति । अपरा द्वादश वेदसꣳहिता अधीत्य ताभिर्बृहस्पतेर्लोकमवाप्नोति । अपरा द्वादश वेदसꣳहिता अधीत्य ताभिः प्रजापतेर्लोकमवाप्नोति । अनश्नंस्तत्सꣳहिता सहस्रमधीयीत ब्रह्मभूतो विरजो ब्रह्म भवति । संवत्सरं भैक्षं प्रयुञ्जानो दिव्यं चक्षुर्लभते । षण्मासान्यावकभक्षश्चतुरो मासानुदकसक्तुभक्षो द्वौ मासौ फलभक्षो द्वादशरात्रं वाऽप्राश्नन् क्षिप्रमन्तर्धीयते ज्ञातीन्पुनाति सप्तावरान्सप्तपूर्वानात्मानं पञ्चदशं पङ्क्तिं च पुनाति । तामेतां देवनिःश्रयणीत्याचक्षते । एतया वै देवा देवत्वमगच्छन् ऋषय ऋषित्वम् । तस्य ह वा एतस्य यज्ञस्य त्रिविध एवाहः प्रातःसवने माध्यंदिने सवने ब्राह्मे वाऽपररात्रे । तं वा एतं प्रजापतिः सप्तर्षिभ्यः प्रोवाच सप्तर्षयो महाजज्ञवे महाजज्ञुर्ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः ॥ २८ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यशेषसूत्रे प्रथमप्रश्ने षष्ठः पटलः ।

---

## अथ सप्तमः पटलः

---

अथातो तडागादिजलाशयोत्सर्गविधानं व्याख्यास्यामः—

देवखाते तडागे च पुष्करिण्यां सरोवरे ।
वाप्यां कूपे विशेषेण कुर्यादौद्यापनं विधिम् ॥
तरन्ति मनुजाः सम्यक्पतिता भवसागरे ।
प्रयान्ति तव सायुज्यं तन्ममाऽऽचक्ष्व गोतम ॥
संसारगहने घोरे पतिता ये शरीरिणः ।
तेषामुद्धरणार्थाय विधानं चिन्तितं मया ॥
तडागो वा सरो वाऽपि देवखातं तथाऽपिवा ।
दीर्घिका वापिका कूपस्तथा पुष्करिणी शुभा ॥
कृत्वा तु कृत्रिमा कार्या सर्वपापापनुत्तये ।

अथ जलाशयानां लक्षणानि—

कुल्यामाबद्ध्य पाषाणैर्निम्नां तु निखनेन्महीम् ।

तत्र यज्जलमातिष्ठेत्स तडागः प्रकीर्तितः ॥
जलान्तः शोधयेद्भूमिं तत्र कुर्यात्प्रणालिकाम् ।
आरोपयेच्च नलिनीः सर्वजात्याः प्रयत्नतः ॥
तन्मध्ये रोपयेत्स्तम्भं काष्ठजं वा शिलामयम् ।
सरस्यारोपयेद्वृक्षान्वाटिकास्तत्र कारयेत् ॥
प्रतिष्ठां देवतानां तु सरस्यन्ते नियोजयेत् ।
सरस्तत्कृत्रिमं विद्याल्लोकानन्त्याय कल्पते ॥
लक्षणं देवखातस्य गिरौ यत्परिवर्तते ।
सहजं कृत्रिमं वाऽपि स्तम्भैस्तु बहुभिर्वृतम् ॥
गिरौ वा पथि वा कार्यं शीतलैर्निर्झरैर्युतम् ।
गम्भीरान्तं सूक्ष्ममुखं सोपानपङ्क्तिशोभितम् ॥
तद्देवखातमुद्दिष्टं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
दीर्घाभिर्दीर्घिका ज्ञेया दिग्वक्त्रा निम्नभूतला ॥
शोधिता जलपर्यन्तं दृढपाषाणशोभिता ।
सा दीर्घिका विजानीयाल्लोकानन्त्यप्रदा नृणाम् ॥
वापिका चतुरास्या स्याद्घटिताश्मसमावृता ।
मधुहन्तुः समायुक्ता चतुर्विंशतिमूर्तिभिः ॥
वराहं कारयेत्तत्र शेषं कूर्मसमाश्रयम् ।
भूगोलं कोलदेहस्थं समग्रं कारयेत्सुधीः ॥
अन्यैस्तु देवलिङ्गैश्च बहुभिः परिशोभिता ।
पुरे वा पथि वा कार्या तथा देवस्य संनिधौ ॥
वाटिकायां नृपोद्याने सा कार्या मुक्तिमीप्सुभिः ।
चतुरास्या द्विवक्त्रा वा त्रिवक्त्रा वा प्रकल्पिता ॥
सा वापिका समुद्दिष्टा लोकानन्त्यप्रदा नृणाम् ।
कूपस्तु मन्दिरे प्रोक्तो बद्धः सोपानपङ्क्तिभिः ॥
कपाटेन युतो वक्त्रे कूपः स परिकीर्तितः ।
एकवक्त्रा पुष्करिणी सुलभा सर्वदेहिनाम् ॥
जलार्थिनां पशूनां च सुगमा या पदक्रमे ।
शिल्पविद्भिः समुद्दिष्टा श्रेष्ठा पुष्करिणी फले ॥
पिबेत्पानीयमेका गौस्तृषार्तोऽन्योऽपि कश्चन ।
कर्तुः स्वर्गफलायाऽऽशु कल्पते किं ततोऽधिकः ॥

कुल्यामानीय निम्ने तु तत्रोद्यानं प्रकल्पयेत् ।
सालतालतमालादिपादपैरुपशोभितम् ॥
इक्षून्संवापयेत्तत्र कन्दलीकन्दसंचयम् ।
आर्द्रकं च हरिद्रां वा शालीन्सर्वर्तुसंभवान् ॥
एतद्विधानं कुल्यायाः कर्तुः कामविवर्धनम् ।
सहस्रं मानसादीनां सरसां तु चतुष्टयम् ॥
कर्ता तेषां मृडानीशो न तत्रोद्यापनाविधिः ।
विरजाख्यं सरस्तद्वद्ब्रह्मन्धारं सर उत्तमम् ॥
कूपेषु वृषभः श्रेष्ठो न तत्रोद्यापनाविधिः ।
वापीकूपतडागानां कुर्यादुद्यापनं बुधः ॥
आदौ निरीक्ष्य तत्कालं ज्योतिःशास्त्रोदितं शुभम् ॥
जलाश्रयात्पश्चिमतो मण्डपं कारयेद्बुधः ।
संशोध्य भूतलं रम्यं स्थण्डिलं तत्र कारयेत् ॥
वानीरसमिधश्चात्र सहस्रं जुहुयाद्बुधः ।
वरुणो देवता चात्र विदध्यात्कनकस्य तम् ॥
स्थण्डिलात्पूर्वतः पूज्यः पीठे वानीरसंभवे ।
वस्त्रयुग्मे समासीनो मकरोपरि सँस्थितः ॥
पाशं खड्गं धरन्खेटं तोमरं चोर्ध्वदक्षिणात् ।
हस्तक्रमं विजानीयात्पाशादीनां चतुष्टये ॥
यच्चिद्धि ते तु मन्त्रेण वारुणं हवनं मतम् ।
प्रधानं पायसं प्रोक्तं प्रायश्चित्तं तु सर्पिषा ॥
होमान्ते विधिवत्कुर्यात्प्रतिपूजां च पाशिनः ।
आचार्याय ततो दद्यान्महिषीं च पयस्विनीम् ॥
ब्रह्मणे वस्त्रयुग्मं च ऋत्विग्भ्यो भूरिदक्षिणाः ।
मूर्तिमाचार्यवर्याय दद्याद्वस्त्रसमावृताम् ॥
अभिषेकं ततः कुर्याद्वाप्याः कर्तुः समाहितः ।
मूर्तीनां च कलान्यासं कुर्याद्देवस्य वज्रिणः ॥
वराहस्य सशेषस्य सकूर्मस्यापि तत्त्ववित् ।
तथैव देवखातादिजलाशयविधानकम् ॥
कुर्यात्फलस्य संप्राप्त्यै स्वर्गस्य तु न संशयः ।
ब्राह्मणान्भोजयेद्पश्चात्संमानैः परितोषयेत् ॥

एवं कृत्वा तु वाप्यादिजलस्योद्यापनं सुधीः ।
प्राप्नुयादिन्द्रलोकस्य शाश्वतीं च समीपताम् ॥
यज्ञैः किं बहुभिर्ब्रह्मंस्तपोभिर्वा व्रतैस्तथा ।
एकगोतृप्तिकृत्तोयं यदि भूमौ विधीयते ॥
यथा गङ्गाजलं श्रेष्ठं तडागाम्बु तथाविधम् ।
क्षुद्रतोयाशये राजन्विद्यते परतोयता ॥
पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिषु ॥ इति ॥ १ ॥

अथातोऽश्वत्थसꣳस्कारं व्याख्यास्यामः । ऋतुर्य ( तौ या ) थाकामी स्यात् । पुण्ये नक्षत्रे ब्राह्मणान्भोजयित्वाऽऽशिषो वाचयित्वा प्रदक्षिणमश्वत्थं परिसमूहति—अश्वत्थे वो निषदनमिति । तमभ्यर्च्य यज्ञोपवीतं प्रतिमुञ्चति । अथ देवयजनोल्लेखनप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वा याज्ञिकीं समिधमाज्येनाक्त्वा तूष्णीमभ्याधापयति । यथालाभं तूष्णीं वासः परिधापयति । तूष्णीं मेखलां परिव्ययति । मन्त्रवद्ग्रन्थिं करोति । तूष्णीमजिनं प्रतिमुञ्चति । तूष्णीं दण्डं प्रयच्छति । याज्ञिकस्य वृक्षस्य नाम प्रयच्छति । अथाश्वत्थमुपनयेत्—देवस्य त्वेति नामग्रहणवर्जम् । आचार्य एव पक्वाज्जुहोति—तत्सवितुर्वरेण्यमिति । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—क्षेत्रियै त्वा० इति । षड्भिर्व्याहृतिभिश्च । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमाधेनुवरप्रदानात् ।

अथाग्रेणाग्निं पलाशपर्णेषु हुतशेषं निदधाति । तत्पुरस्ताद्व्याख्यातम् । अथ पक्वादुपादायाथैनं निवेदयाति । तूष्णीꣳ सर्वान्मन्त्रानाचार्य एव जपेदिति विज्ञायते । निम्बेन सह सद्यो विवाहवदर्कविवाहवद्वा सर्वं समन्त्रकमिति विज्ञायते ॥ २ ॥

अथातो वृक्षारोपणविधिं व्याख्यास्यामः—

अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दश तिन्तिडीश्च ।
कपित्थबिल्वामलकीत्रयं च पञ्चाम्रवापी नरकं न पश्येत् ।
वृक्षगुल्मलतानां च षड्विधोत्पत्तिरिष्यते ।
अग्रैर्मूलैश्च शाखाभिः फलैर्बीजैश्च कन्दकैः ॥
अष्टादशप्रकारैश्च भारसंख्या निगद्यते ।
तेष्वष्टादशभारेषु कुञ्जराशन उत्तमः ॥
तथैव वटवृक्षः स्यात्पिचुमन्दोऽपि तादृशः ।
शुक्लपक्षे मधौ मासे यस्य शुक्लदलोद्भवः ॥

दृश्यते स द्विजातिः स्याद्वप्तुर्वै मुक्तिकारकः ।
मधावेवासिते पक्षे दृश्यन्ते रक्तपल्लवाः ॥
नवीना बोधिवृक्षस्य वप्तुः स्याद्विष्णुलोकदः ।
माधवे मासि पीतश्च पल्लवो यस्य दृश्यते ॥
सारूप्यं च सिते पक्षे स ददाति च वप्त्रे च ।
वैशाखे कृष्णपक्षे च हरित्पल्लवसंभवः ।
नूतनो दृश्यते यस्य स शूद्रगुण उच्यते ॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चत्वार एव च ।
शुक्लो रक्तस्तथा पीतो हरितो जायते क्रमात् ॥
उप्तो येन वटो भूमौ पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः ।
संतानैर्नन्दयत्येनं वप्तारं च न सँशयः ॥
सर्वाङ्गेषु जटा यस्य प्ररोहन्ति च मूलवत् ।
स वटः शंकरः साक्षाद्भुक्तिमुक्तिप्रदो भवेत् ॥
निम्बावरोपणे कर्तुर्गदमुक्तिस्तु जायते ।
पञ्चाङ्गे सेविते निम्बे महाकुष्ठं विलीयते ॥
धात्रीकपित्थबिल्वानां रोपणं कीर्तिवर्धनम् ।
प्रीयते शंकरस्तैस्तु वप्तुर्नास्त्यत्र सँशयः ॥
प्रायेण शैशिरे काले वापिते चूतपञ्चके ।
मङ्गलानि लभेत्कर्ता महापङ्क्तौ महाफलम् ॥
राज्यं प्राप्नोत्यविरतं कृतासु बहुपङ्क्तिषु ।
शिल्पोक्तेन विधानेन नात्र कार्या विचारणा ॥
चम्पकाशोकपुंनागजम्बूपाटलिकादिकान् ।
तरून्वापयिता श्रीमाञ्जायते पृथिवीपतिः ॥
पिप्पलः शंकरद्वारि वटो मार्गे चतुष्पथे ।
जलाशये गवां गोष्ठे रोपितः सर्वकामदः ॥
निम्बश्चतुष्पथे रोप्यः सह बोधिद्रुमेण च ।
यदा फलति साक्षात्स रुद्ररूपी न सँशयः ॥
पिप्पलस्य दले तस्य निम्बस्य गलितं फलम् ।
विदधाति शिवे स्वर्णमर्पितं स्वतुलासमम् ॥
प्रदक्षिणप्रक्रमणैः सप्तभिः पिप्पलद्रुमः ।
अभिवन्द्यः शनेः प्रीत्यै नरैः स्वहितमीप्सुभिः ॥

सँस्पृश्य शनिवारेऽसौ समालिङ्ग्यः पुनः पुनः ।
अन्यदा भणमेनैव सँस्पृशेत्तु कदाचन ॥
अश्वत्थसेवया धेनुस्पर्शनेन समालभेत् ।
गङ्गास्नानफलं सम्यङ्नात्र कार्या विचारणा ॥
आम्राणां वापने यत्तु विधानं क्रियते नरैः ।
वक्ष्यामि तत्समासेन हिताय प्राणिनामिह ॥
कृष्णायां भुवि संरोप्यश्चूतः पल्वलसंनिधौ ।
उद्याने वाटिकायां च सँशोध्य पृथिवीतलम् ॥
मानं धृत्वा भुवः सम्यगष्टादशकरान्तरम् ।
तत्र तं वापयेद्धीमान्फलबाहुल्यलब्धये ॥
धात्री स्वद्वारि संयोज्या कपित्थं तु चतुष्पथे ।
शिवप्राकारमध्ये तु वापयेच्छ्रीतरुं पुमान् ॥
निम्ने देशे तिन्तिडीं तु चम्पकं वाटिकान्तरे ।
उदुम्बरः समारोप्य उद्याने वाऽथ वा वने ॥
अन्ये जम्ब्वादयो वृक्षा नृपोद्याने जलाशये ।
आरोप्य विधिवद्धीमाननन्तफलमश्नुते ॥
वाटिकायां समारोप्या मृद्वीके शिशिरे सभा ।
अशोकलतिका निम्ने कुल्यारोधसि माधवे ॥
केषां मतेन साऽऽरोप्या माधवी मण्डपान्तरे ।
पिप्पली नागवल्ली च मृदुवृक्षतले तथा ॥
वाटिकाभ्यन्तरे रोप्या खर्जुरी नालिकेरिका ।
वृन्दावने तु तुलसीं ग्रीष्मान्ते परिवापयेत् ॥
अन्याश्च पुष्पजातीश्च यथाकालं यथाक्षिति ।
एतत्फलं समालोक्य वापयन्ति तरून्नराः ॥
ते यान्ति ब्रह्मसायुज्यं विधूतीकृतकल्मषाः ॥ इति ॥ ३ ॥

अथातो वृक्षोद्यापनविधानं ( विधिं ) व्याख्यास्यामः—

आरोपितस्य वृक्षस्य कुर्वन्नुद्यापनाविधिम् ।
फलं तु लभते सम्यगन्यथाऽर्धफलं लभेत् ॥
यः काल उदितः सम्यग्विवाहे मुनिपुंगवैः ।
तस्मिन्नेव प्रकर्तव्य उद्यापनविधिस्तरोः ॥

नान्दीश्राद्धं प्रकर्तव्यं पिप्पलोद्यापनाविधौ ।
नवग्रहमखं चाऽऽदौ विदधीत यथावसु ॥
सहस्रपर्णसंपत्तौ सत्यां बोधितरोर्ध्रुवम् ।
जातकर्मादिकं कुर्याद्गोदानावधिकं ततः ॥
कार्यमुद्यापनं नूनं विवाहविधिवन्नरैः ।
प्लक्षशाखां समारोप्य समीपे पिप्पलस्य तु ॥
आलवाले जलं क्षिप्त्वा शतकुम्भमितं शुभम् ।
सा शाखा स च वृक्षश्च वस्त्रयुग्मेण वेष्टितः ॥
सेचनीयोऽथ दुग्धेन मधुना सघृतेन च ।
तयोः शाखामयान्हस्तांश्चतुरः परियोजयेत् ॥
त्रिसूत्रेण त्रिवृत्तेन सव्यतस्तौ प्रवेष्टयेत् ।
ब्रह्मवर्णस्य वृक्षस्य विधिरेष सनातनः ॥
क्षत्रियस्य तु वृक्षस्य शरो ग्राह्यः परस्परम् ।
वैश्यः प्रतोदमादद्यात्तुरीये पल्लवग्रहः ॥
पाणिग्राह्यः सवर्णासु गृह्णीयात्क्षत्रियः शरम् ।
वैश्यः प्रतोदमादद्याद्वेदने ह्यग्रजन्मनः ॥
संयोज्य विधिवत्तौ तु प्लक्षाश्वत्थौ सुवेष्टितौ ।
कृत्वाऽग्निवदनं सम्यग्जुहुयात्तिलसर्पिषी ॥
प्रधानदेवता ब्रह्मा वृक्षस्यास्य न संशयः ।
द्वा सुपर्णेति मन्त्रेण स्थाप्य होमं च विद्यते ॥
अष्टोत्तरसहस्रं च जुहुयात्तिलसर्पिषी ।
ततो व्याहृतिभिर्होमं विदध्याच्च यथारुचि ॥
चरुं साज्यं तु जुहुयाद्विद्वान्स्विष्टकृते समम् ।
शान्तिपाठं ततो विद्वान्विप्रैश्च सहितः पठेत् ॥
अग्निपूर्वविभागस्थं ब्रह्माणं पूजितं पुरा ।
स्वर्णमूर्तिफलैः सार्कं स्वर्णभूपीठसंस्थितम् ॥
सवस्त्रं च ततो दद्यादाचार्याय महीयसे ।
धेनुं पयस्विनीं दद्यात्सुशीलां वत्ससंयुताम् ॥
ब्राह्मणान्भोजयेत्पश्चाद्दद्यात्तेभ्यश्च दक्षिणाम् ।
वृक्षवेष्टनवस्त्रे च ब्राह्मणाय समर्पयेत् ॥

नीराजयेत्ततो वृक्षं दृढमूलं समाहितम् ।
एवं कृते विधाने च पिप्पलोद्यापनाभिधे ॥
समग्रं लभते कर्ता फलमारोपणोद्भवम् ॥ इति ॥ ४ ॥

अथातो वटोद्यापनविधिं व्याख्यास्यामः—

न बध्नाति फलं यावद्रोपितो वटपादपः ।
तावदुद्यपानं नैव कर्तव्यं हितमिच्छता ॥
जाते फले तदा कार्यो वटस्योद्यापनाविधिः ।
आदौ संवरणं कृत्वा परिसंशोध्य भूतलम् ॥
वृत्तं वा चतुरस्रं वा दृढमाकारसंवृतम् ।
प्राकारान्तस्ततः कुर्यान्मण्डपं तोरणान्वितम् ॥
मण्डपाभ्यन्तरे कुर्याद्धोमकुण्डं विचक्षणः ।
प्रयुतस्योचित्तं सम्यक्सर्वलक्षणसंयुतम् ॥
ऋत्विजस्तत्र कर्तव्याश्चत्वारः कर्मकोविदाः ।
आचारलक्षणोपेतमाचार्यं परिकल्पयेत् ॥
लब्धवर्णं च कुर्वीत ब्रह्माणं यज्ञकर्मणि ।
स्वस्ति वाच्य द्विजाः सर्वे चतुर्वेदपरायणाः ॥
आदौ वृता ऋत्विजस्तु कृत्वा वह्निमुखं ततः
जुहुयुः पायसं साज्यं गायत्र्या प्रयुतं ततः ।
सावित्रीप्रीतये सर्वे ततो व्याहृतिभिर्यजिः ।
प्रधानं पायसं चैव सावित्रीदैवतं परम् ॥
कृत्वा स्विष्टकृतं सम्यग्विसृज्य हव्यवाहनम् ।
पूजितां पूर्वतः पीठे सावित्रीं प्रतिपूजयेत् ॥
उपचारैः षोडशभिस्ततः संवरणं तरोः ।
आरुह्य वेदिकां सम्यक्कुर्यात्स्थण्डिलमुत्तमम् ॥
अग्निवक्त्रं ततः कृत्वा हवनं तत्र कारयेत् ॥
विवाहविधिवद्धीमाँस्ततः संवेष्टयेत्तरुम् ।
त्रिसूत्र्या मन्त्रतः सम्यक्परि त्वा गिर्वणास्त्विति ॥
सुवर्णं दक्षिणां दद्याद्धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् ।
नैयग्रोधं फलं दद्यात्सौवर्णं श्रोत्रियाय च ॥
सवत्सां महिषीं दद्यादाचार्याय महीयसे ।

वस्त्रयुग्मं ततो दद्यात्तत्पत्न्यै कञ्चुकादिकम् ॥
कुण्डले हस्तमात्राश्च तत्पत्न्यै कर्णभूषणे ।
ब्राह्मणान्भोजयेत्पश्चान्मिथुनानि च षोडश ॥
वँशपात्राणि तल्लिङ्गैर्मन्त्रस्तोत्रैर्यथाविधि ।
आचार्यं प्रार्थयेत्पश्चात्सम्यक्सँश्लक्ष्णया गिरा ॥
ततः प्रदक्षिणीकृत्य न्यग्रोधस्य समाहितः ।
सम्यक्फलमवाप्नोति वटस्योद्यापने कृते ॥
यज्ञैः किं बहुभिर्दानैस्तपोभिस्तीर्थसाधनैः ।
आरोपिते वटे नृणां साक्षाच्छंकरविग्रहे ॥ इति ॥ ५ ॥

अथातः प्रासादोद्यापनविधिं व्याख्यास्यामः—

देवालयं तु यः कुर्यात्पाषाणैर्दारुभिस्तथा ।
शंकरस्य हरेर्वाऽपि देव्या वाऽन्यस्य कस्यचित् ॥
शिल्पशास्त्रोक्तविधिना शुद्धार्थं शुद्धदिङ्मुखम् ।
उद्यापनं प्रकुर्वीत काले सौम्यायने सुधीः ॥
संभारं सर्वमादाय सँस्कृते सुरमन्दिरे ।
विहिते मण्डपे सम्यक्कुर्यादुद्यापनाविधिम् ॥
यजमानः शुचिर्भूत्वा स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ।
प्रारभेद्धवनं देवसद्मदक्षिणतो बुधः ॥
उद्यापनं तु देवस्य क्रियते यस्य कस्यचित् ।
कृत्वा तस्य तनुं हैमीं पलेन ध्यानसंयुताम् ॥
पलार्धेन तदर्धेन यदि वित्तं न विद्यते ।
वित्ते सति पलेनैव नात्र कार्या विचारणा ॥
सा मूर्तिः पूर्वतः पूज्या स्थण्डिलात्कलशोपरि ।
पद्मे चाष्टदले श्रेष्ठे तण्डुलानां बुधेन वै ॥
परिमाणं तण्डुलानां खारी वा द्रोणपञ्चकम् ।
सुवृत्ते वंशपात्रे च प्रतिष्ठापनमन्त्रतः ॥
विन्यस्य मतिमान्वस्त्रे वस्त्रेणान्येन वेष्टयेत् ।
प्रस्थाप्य पयसा दध्ना सर्पिषा मधुना तथा ॥
सितया श्रद्धया धीमान्मन्त्रैस्तल्लिङ्गसंज्ञकैः ।
ततस्तोयेन मूर्तिं तां क्षालयेन्नाममन्त्रतः ॥

ततस्तु पूजयेत्पुष्पैर्लिप्त्वा वै चन्दनेन च ।
दशाङ्गेनैव धूपेन धूपयेत्प्रयतः पुमान् ॥
दीपैर्नीराजयेत्पश्चान्नैवेद्यैः परितोषयेत् ।
अर्चयेन्मूलमन्त्रेण प्रार्थयेत्कार्यसिद्धये ॥
ततस्तु हवनं कुर्याद्यथाविधि विधानवत् ।
पायसेन तु साज्येन लक्षं वाऽप्ययुतं तथा ॥
तिलैर्व्याहृतयः प्रोक्ता लक्षसंख्या मनीषिभिः ।
कृत्वा स्विष्टकृतं सम्यक्पूर्णाहुतिमुपाहरेत् ॥
शान्तिपाठं ततो विद्वान्पठेत्सार्धं द्विजातिभिः ।
प्रतिपूजां ततः कुर्यान्मूर्तेस्तस्या विचक्षणः ॥
आचार्यं पूजयेद्भक्त्या ब्राह्मणानपि पूजयेत् ।
ऋत्विजश्च ततः पूज्या वस्त्रालंकारभूषणैः ॥
धेनुं पयस्विनीं दद्यादाचार्याय मनीषिणे ।
ब्रह्मणे महिषीं दद्यात्कस्मैचिन्मञ्चकोत्तमम् ॥
सतूलिकं सोपधानं सोत्तरच्छदमुत्तमम् ।
ताम्बूलपेटिकां दद्यादुपस्करसमन्विताम् ॥
स्थालीं दीपं सकलशं मुसलोलूखलं तथा ।
घरट्टपेषणीमाढ्यां दर्वीं शूर्पं च शोभनम् ॥
एतावदेव चैतच्च प्रासादे विन्यसेत्सुधीः ।
देवस्य त्वेति मन्त्रेण गायत्र्या च समाहितः ॥
विदध्याद्धवनं धीमाँस्ततस्तु प्रणमेत्सुरम् ।
ध्वजमाबध्य तद्द्वारे चित्राम्बरमयं शुभम् ॥
कलशाद्वृषपर्यन्तं गरुडं पादुकावधि ।
संपूज्य विधिवद्देवं ततः कृत्वा प्रदक्षिणाम् ॥
आगच्छेच्च पुनर्गेहं तत्र विप्राँश्च भोजयेत् ।
संभोज्य मिथुनान्यन्यान्यक्षतैरर्चयेत्सुधीः ॥
वस्त्रालंकारभूषाभिस्तोषयेच्छक्त्यपेक्षया ।
एवं कृते विधाने तु सिद्धिर्भवति शोभना ॥
प्रासादकरणे पुण्यं फलं प्राप्नोति शोभनम् ।
नन्दन्ति पितरस्तस्य वल्गन्ति च पितामहाः ॥
अस्मद्वंश्येन देवस्य प्रासादः परिकल्पितः ।

सुवर्णकलशं धेनुं नासायां कीर्तिमच्छिरः ॥
मण्डपे कलशान्पञ्च केतुं प्रासादमध्यगम् ।
इत्थं यः कुरुते धीमान्स मुक्तिं लभते ध्रुवम् ॥
कुलं च नन्दते तस्य सर्वसंपत्समन्वितम् ॥ ६ ॥

अथातः प्रासादकलशन्यासविधिं व्याख्यास्यामः—

मेरुं वाऽप्यर्धमेरुं वा प्रासादं विदधाति यः ।
न तेन कलशन्यासः कर्तव्यः स्वहितेच्छया ॥
कुलवृद्धो यदा नास्ति कलशन्यासकारकः ।
तदा कृत्वा विधानं तु प्रासादे कलशं न्यसेत् ॥
दद्यात्स्वमूर्तिं स्वर्णस्य पलेन विहितां शुभाम् ।
धेनुं पयस्विनीं दद्यादाचार्याय कुटुम्बिने ॥
खारीमितांस्तिलान्दद्याच्छय्यां दद्यात्सदक्षिणाम् ।
मृत्युंजयस्य मन्त्रेण हवनं कारयेत्सुधीः ॥
लक्षं वाऽप्ययुतं वाऽपि पायसेन ससर्पिषा ।
समाप्य विधिवद्धोमं ब्राह्मणान्भोजयेच्छतम् ॥
यथाशक्ति धनं दद्याद्दक्षिणार्थं पृथक्पृथक् ।
स्वस्तिवाचनपूर्वं तु कलशं स्थापयेत्सुधीः ॥
कलशात्केतुपर्यन्तं ध्वजां पटमयीं न्यसेत् ।
सूत्रेण वेष्टयेद्धीमान् प्रासादे विन्यसेच्छुभाम् ॥
धूपयेद्धूपनैः श्रेष्ठैर्दीपैर्नीराजयेत्ततः ।
घण्टां नागमयीं श्रेष्ठां लम्बमानां च मण्डपे ॥
दृढालाने पौरुषे तु माने चोर्ध्वां सुलक्षणाम् ।
ततस्तु प्रणिपत्येशमागच्छेन्निजमन्दिरम् ॥
नवग्रहमखं कुर्यात्सर्वविघ्नोपशान्तये ।
मखान्ते भोजयेद्विप्रान् दद्यात्तेभ्यश्च दक्षिणाः ॥
सर्वान्कामानवाप्नोति विन्यस्तकलशो नरः ।
नारी वा लभते कीर्तिं समस्ते पृथिवीतले ॥
देहान्ते लभते स्थानमव्ययं नित्यमुत्तमम् ॥ ७ ॥

अथातो वास्तुपूजाविधिं व्याख्यास्यामः—

भूमिदुर्गे नवीने तु वास्तुपूजा विधीयते ।

देवालये तथा गेहे स्वगृह्योक्तेन कर्मणा ॥
वास्तुः स्वर्णमयः कार्यो गजोऽश्वो वृषभः क्रमात् ।
दुर्गादीनां त्रयाणां च नूतनानां विधानतः ॥
दुर्गे वास्तुद्वयं कार्यं गजावुभयतस्तथा ।
मण्डपाभ्यन्तरे पूजां विदधीत यथाविधि ॥
वास्तुस्तम्भद्वये पूज्यौ स्तम्भमूले घटान्न्यसेत् ।
वंशपात्रे मुखे कृत्वा कुम्भयोर्वस्त्रसंयुते ॥
तत्र तौ साक्षतौ वास्तु विन्यसेन्मूलमन्त्रतः ।
प्रतिष्ठामन्त्रतो वाऽपि शङ्खपुष्पैः समर्चयेत् ॥
स्थण्डिले द्वे ततः कुर्याद्वास्तुपश्चिमतः सुधीः ।
अग्निवक्त्रं ततः कुर्यात्स्वगृह्योक्तेन कर्मणा ॥
जुहुयात्सर्वमाचार्य ऋत्विग्भिर्ब्राह्मणैः सह ।
पायसं मधुसर्पिभ्यामयुतं च पृथक्पृथक् ॥
कुर्युश्च व्याहृतीः पश्चात्तिलव्रीहिघृतैस्तथा ।
लक्षं वाऽप्ययुतं वाऽपि यथासंख्यं च वा पुनः ॥
ततः स्विष्टकृते ताभ्यामाचार्याभ्यां हुते सति ।
शान्तिपाठं पठेयुस्ते ब्राह्मणा ऋत्विजस्तथा ॥
इन्द्रश्रेष्ठेति मन्त्रेण हवनं प्रोच्यतेऽत्र वै ।
गायत्र्या वा यजेद्धीमान् द्वयोः स्थण्डिलयोरपि ॥
होमान्ते विदधीताऽऽशु बलिपूजां विधानवित् ।
इन्द्रो वै देवता त्वस्य वास्तोर्वै त्रिविधस्य च ॥
इन्द्रादीनां दिगीशानां पूजाविधिरनुत्तमः ।
वस्त्रं धान्यं हिरण्यं च दद्याद्विप्राय एव च ॥
ततो भक्तं वराक्तं च तैलाभ्यक्तं तथैव च ।
प्रकिरेत्सर्वतो दिक्षु भूतानां तुष्टिदं परम् ॥
एवं कृते विधाने च दुर्गवास्तोश्च पूजने ।
नश्यन्ति सर्वविघ्नाश्च नन्दते भूपतेः कुलम् ॥
राष्ट्रं च वर्धते तस्य पुरवृद्धिस्तु जायते ॥ ८ ॥

अथातः प्रासादवास्तुपूजाविधिं व्याख्यास्यामः—
प्रासादे दक्षिणे कार्या वास्तुपूजा विधानतः ।

अश्वरूपो विधातव्यो वास्तुः स्वर्णमयः शुभः ॥
पलेन वा तदर्धेन सपल्याणः सचामरः ।
तण्डुलानां चतुष्के तु वस्त्रस्योपरि स्थापयेत् ॥
दधिक्राव्ण इत्यमुना कुर्याद्धोमादिपूजनम् ।
सर्वमेवं हि भवति ( कल्पोक्तेन विधानतः ) ॥
पूजिते तुरगे तस्मिन्वास्तुरूपे विधानतः ।
गन्धपुष्पादिभिः सम्यग्घोमं कुर्यात्ततः परम् ॥
पूर्वतः स्थण्डिलं कृत्वा कुर्यादाग्निमुखं सुधीः ।
अयुतं वा सहस्रं वा जुहुयात्तिलसर्पिषा ॥
बिल्वपत्रैश्च कह्लारैः शतपत्रैश्च चम्पकैः ।
मालतीकुसमैर्नन्द्यावर्तकैः पाटलैरपि ॥
मरुबकैर्दमनकैर्होमं कुर्यादतन्द्रितः ।
वास्तुप्रीत्यै सुरेन्द्रस्य फलैर्नानाविधैरपि ॥
होमान्ते विधिवत्कुर्याद्बलिपूजां तु पूर्ववत् ।
धान्यं वस्त्रं हिरण्यं च दद्यादन्नं यथाविधि ॥
वास्तुं दद्यात्ततो धीमानाचार्याय सदक्षिणम् ।
ततो मन्दिरमागत्य ब्राह्मणान्भोजयेत्सुधीः ॥
एवं कृते विधाने च वास्तौ संपूजिते तथा ।
तत्रैव तुष्टिमाप्नोति यत्र वास्तुः प्रपूजितः ॥ ९ ॥

अथातो गृहवास्तुपूजाविधानं व्याख्यास्यामः--

शुभे वारे तिथौ श्रेष्ठे शुभनक्षत्रसंयुते ।
शुभे लग्ने शुभे चन्द्रे गृहवास्तुं प्रपूजयेत् ॥
अभ्यज्य प्रातरेवं हि सपत्नीको गृहाधिपः ।
आहूय सर्वशास्त्रज्ञमाचार्यं वेदपारगम् ॥
तेनैव कारयेद्वास्तुपूजनं सर्वधर्मवित् ।

[ अथ वास्तुमण्डलदेवताः—ब्रह्माणमर्यमणं सवितारं विवस्वन्तं विबुधाधिपं मित्रं राजयक्ष्माणं पृथ्वीधरमापवत्सं शिखिनं पर्जन्यं जयन्तं कुलिशं सूर्यं सत्यं भृशमाकाशं वायुं पूषणं वितथं बृहच्छवं यमं गन्धर्वं भृङ्गराजं मृगं पितृगणं दौवारिकं सुग्रीवं पुष्पदन्तकं वरुणमासुरं शोकं पापं रोगं हयं मुख्यं भल्लाटं सोमाख्यं सर्पमदितिं दितिमपः सावित्रं जयन्तं रुद्रं चरकीं बिडालीं

पूतनां पापराक्षसीं स्कन्दं यमं जृम्भकं पिलिपित्समिन्द्रमग्निं यमं निर्ऋतिं वरुणं वायुं सोममीशानमुग्रसमं डामरं महाकालं पिलिपिकं वास्तोष्पतिं वास्तुपुरुषम्। [ भूतगणेभ्यो नमः । पितृगणेभ्यो नमः । राक्षसगणेभ्यो नमः । पिशाचगणेभ्यो नमः । मातृगणेभ्यो नमः । दिव्यान्तरिक्षेभ्यो नमः । ]

वास्तुं वृषभरूपं च होमस्याऽऽदौ प्रतिष्ठितम् ।
अन्तर्गृहे सवस्त्रं च कलशोपरि सँस्थितम् ॥
पूजयित्वाऽक्षतैः पुष्पैस्ततो होमं समारभेत् ।
पूर्वपक्षे गृहस्यान्ते स्थण्डिलं कारयेत्सुधीः ॥
कृत्वा वह्निमुखं सम्यग्जुहुयाच्चरुणा ततः ।
साज्येनैव सहस्रं तु पायसेनापि हावयेत् ॥
खर्जूरीनारिकेलैश्च द्राक्षाकदलकैस्तथा ।
( अप्सु मे इतिमन्त्रेण गायत्र्या हवनं समम् ॥ )
जपे होमे च दाने च संध्याया वन्दने तथा ।
कुबेरं सोमनामानं पुराणकवयो विदुः ॥
कृते होमे विधानेन हुते स्विष्टकृते तथा ।
पठेयुः शान्तिपाठांश्च ब्राह्मणा मन्त्रकोविदाः ॥
कृत्वा बलिविधानं च दिक्षु प्राचीक्रमेण तु ।
आसनावाहने कृत्वा निशाकल्केन नाकिनाम् ॥
दध्योदनं पिण्डमात्रं पोलिकाः पुष्टिकास्तथा ।
दीपाँश्च सर्पिषा पूर्णान्साधुवर्तिसमन्वितान् ॥
नाममन्त्रैश्च विन्यस्य चतुर्थ्यन्तैः पृथक्पृथक् ।
कुर्याच्च सेचनं सम्यङ्मन्त्रैराचार्यसत्तमः ॥
अभिषिक्तो वृषं दद्यादाचार्याय सदक्षिणम् ।
वस्त्रयुग्मेण सहितां ब्रह्मणे धेनुमुत्तमाम् ॥
ऋत्विग्भ्यः कनकं दद्याद्यथाविभवमात्मवित् ।
एवं कृत्वा विधिं सम्यङ्नूतने सदनोत्तमे ॥
सूर्यं तु वामतः कृत्वा प्रविशेन्मन्दिरं सुधीः ।
पुरतः सजलान्कुम्भान्विधाय विधिवित्तमः ॥
तोरणाडम्बरं सद्म पताकाभिरलंकृतम् ।
अर्चितं चित्रितं सम्यक्संमार्जनविशोधितम् ॥
प्रविश्य विधिवत्स्वामी सभार्यात्मजभृत्यकः ।

स्वस्तिवाचं ततः कुर्यात्परिबर्हसमावृतः ॥
ब्राह्मणान्भोजयेत्तत्र शुभैः पाकैरनुत्तमैः ।
एवं कृते विधाने च विधानज्ञो गृहाधिपः ॥
नन्दते सुखसंतानैर्वर्धमानो दिने दिने ॥ १० ॥

अथातो विष्णुप्रतिष्ठाकल्पं व्याख्यास्यामः । द्वादश्यामेकादश्यां श्रोणायां वा यानि चान्यानि शुभनक्षत्राणि तेषु पूर्वेद्युरेव युग्मान्ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं वाचयित्वा समागतायां निशायां कपिलापञ्चगव्येन सहिरण्ययवदूर्वाङ्कुराश्वत्थपलाशपर्णेन सुवर्णोपधानं प्रतिकृतिं कृत्वाऽभिषिञ्चति—आपो हि ष्ठा इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतेनानुवाकेन व्याहृतिभिश्च । पुष्पफलाक्षतमिश्रयदूर्वाङ्कुरान्पादपीठे निक्षिपति—इदं विष्णुर्विचक्रम इति । प्रतिसरमाबध्नाति—रक्षोहणं वाजिनमाजिघर्मि इति । अथैनं नदीतडागह्रदनिर्झरसरस्तीर्थानामन्यतमेष्वहतेन वाससा कुशबन्धमल्यमाच्छाद्याधिश्रयति—अव ते हेड० उदुत्तमम्, इति । अथ श्वोभूते स्नात्वाऽहतवाससश्चत्वारो ब्राह्मणाः प्रतिमामुत्थापयेयुः—उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पत इति । अथ शुचौ देशे समवस्थाप्य—

गायत्र्याऽऽगृह्य गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ।
आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णेति वै दधि ॥
शुक्रमसि ज्योतिरसीत्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम् ।

इत्येतत्पञ्चगव्यं नाम । अत्राऽऽह—

कपिलाया वरं क्षीरं श्वेतायाश्च वरं दधि ।
रक्तायास्तु घृतं श्रेष्ठं शेषौ शबलकृष्णयोः ॥ इति ।

एतेन—आ वो राजानमिति स्नापयति । शमीपलाशखादिरबिल्वाश्वत्थविकङ्कतन्यग्रोधपनसाम्रशिरीषोदुम्बराणां सर्वयाज्ञिकवृक्षाणां चर्मकषायकलशेनाभिषिञ्चति—अश्वत्थे वो निषदनम्, इत्येतेनानुवाकेन । मणिमुक्ताप्रवालरजतताम्राणामप्सु निमग्नानां पूर्णकलशेनाभिषिञ्चति— हिरण्यवर्णा इत्यनुवाकेन । हिरण्येन तेजसा चक्षुर्विमोचयेत्—तेजोऽसीति । अथ देवयजनोल्लेखनप्रभृत्याऽग्निमुखात् कृत्वा पक्वाज्जुहोति—विष्णोर्नु कमिति पुरोनुवाक्यामनूच्य परोमात्रया इति याज्यया जुहोति । अथ पुरुषसूक्तेनाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—इदं विष्णुर्विचक्रम इति पादयोः स्पृशेत् । पुनस्तेनैवाऽऽज्याहुती-

जुहुयात्—विष्णोर्नुकमिति नाभिदेशे स्पृशेत् । पुनस्तेनैवाऽऽज्याहुतीर्जुहुयात् । अतो देवा अवन्तु न इति मूर्ध्नि स्पृशेत् । पुनस्तेनैवाऽऽज्याहुतीर्जुहोति । अथ सर्वाङ्गं स्पृशेत्पौरुषेण सूक्तेन । होमान्ते उदु त्यं जातवेदसम्, इत्युत्थाप्य शाकुनेन सूक्तेन देवालयं प्रवेश्य मणिमुक्ताप्रवालसुवर्णरजतानि पादपीठे निधाय अतो देवा अवन्तु न इति विष्णुं स्थापयेत् । अथ गन्धपुष्पधूपदीपादीन्याकाशोन्मुखानि कृत्वोपोत्थाय आवाहनं करोति प्रणवयुक्तव्याहृतिभिर्व्यस्तैः समस्तैश्च—ओं भूः पुरुषमावाहयामि । ॐ भुवः पुरुषमावाहयामि । ॐ सुवः पुरुषमावाहयामि । ॐ भूर्भुवः सुवः पुरुषमावाहयामि । इत्यावाह्य रत्नाम्बुकलशेनाभिषिञ्चति । प्रणवेन धारयेद्ध्रुवमिति विज्ञायते । प्रणवेन कूर्चं ददाति । दूर्वाविष्णुक्रान्तश्यामाकपद्मपत्रकलशेन पाद्यं ददाति । एलालवङ्गकङ्कोलकर्पूरमिश्रकलशेनाऽऽचमनीयं ददाति । अपः क्षीरकुशाग्रैश्चाक्षतैर्यवतण्डुलैस्तिलैः सिद्धार्थकैश्चार्घ्यं ददाति । इमा आपः शान्ताः शिवाः शिवतमाः पूताः पूततमा मेध्या मेध्यतमा अमृता अमृतरसाः पाद्या आचमनीया अर्घ्यास्ता जुषन्तां प्रतिगृह्यन्तां प्रतिगृह्णातु भगवान्महाविष्णुर्विष्णवे नम इति पाद्याचमनीयमर्घ्यं ददाति । इदं विष्णुर्विचक्रमे प्रतिसरं विस्रसयति । देवतां नमस्कृत्याथ गन्धं ददाति—

इमे गन्धाः शुभा दिव्याः सर्वगन्धैरलंकृताः ।
पूता ब्रह्मपवित्रेण पूताः सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

प्रतिगृह्यन्तां प्रतिगृह्णातु भगवान्महाविष्णुर्विष्णवे नम इति ।

माल्यं ददाति—

इमे माल्याः शुभा दिव्याः सर्वमाल्यैरलंकृताः ।
पूता ब्रह्मपवित्रेण पूताः सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

प्रतिगृह्यन्तां परिगृह्णातु भगवान्महाविष्णुर्विष्णवे नम इति ।

पुष्पं ददाति—

इमे पुष्पाः शुभा दिव्याः सर्वपुष्पैरलंकृताः ।
पूता ब्रह्मपवित्रेण पूताः सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

प्रतिगृह्यन्तां प्रतिगृह्णातु भगवान्महाविष्णुर्विष्णवे नम इति ।

धूपं ददाति—

वनस्पतिरसो धूपो धूपेभ्यो धूप उत्तमः ।
आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥

प्रतिगृह्यतां प्रतिगृह्णातु भगवान्महाविष्णुर्विष्णवे नम इति ।

अथ दीपं ददाति—

ज्योतिः शुक्रश्च तेजश्च देवानां सततं प्रियः ।
भास्वरः सर्वभूतानां दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥

प्रतिगृह्यतां प्रतिगृह्णातु भगवान्महाविष्णुर्विष्णवे नम इति । अथ द्वादशनामभिः पुष्पाणि दद्यात्तैरेव तर्पणानि कृत्वा कृसरान्नपायसगुडौदनं हरिद्रौदनमिति हवींषि । पवित्रं ते विततमिति पायसं निवेदयेत् । घृताप्लुतं पूर्णशरावं गुडौदनं निवेदयेत् । कृसरं तिलमिश्रमाज्यं जुहुयात्—वासुदेवाय स्वाहा । संकर्षणाय स्वाहा । प्रद्युम्नाय स्वाहा । अनिरुद्धाय स्वाहा । ईशान्यै स्वाहा । श्रियै स्वाहा । सरस्वत्यै स्वाहा । पुष्ट्यै स्वाहा । विष्णवे स्वाहा । पुरुषसूक्तेन विष्णोर्नु कं० तदस्य प्रियं० प्र तद्विष्णुः० परो मात्रया० विचक्रमे० त्रिर्देवः० इति । द्वादशनामभिः—अमुष्मै स्वाहाऽमुष्मै स्वाहेति । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमाधेनुवरप्रदानात् । अथ सर्वहविषां बलिमुपहरति—

त्वामेकमाद्यं पुरुषं पुरातनं नारायणं विश्वसृजं यजामहे ।
त्वमेव यज्ञो विहितो विधेयस्त्वमात्मनाऽऽत्मन्प्रतिगृह्णीष्व हव्यम् ॥ इति ।

अथाग्रेणाग्निमश्वत्थपर्णेषु हुतशेषं निदधाति—ॐ भूर्भुवः सुवरोमिति । द्विश्चतुर्वा प्रदक्षिणं साग्निं परिक्रामति—विश्वभुजे नमः । सर्वभुजे नमः । आत्मने नमः । परमात्मने नमः । सर्वात्मने नम इति । ब्रह्मचारी गृहस्थो वा द्वादश ब्राह्मणान्संयतान् हरिद्रौदनं भोजयेत् । संतिष्ठते विष्णुप्रतिष्ठाविधिः ॥ ११ ॥

अथातो रुद्रप्रतिष्ठाकल्पं व्याख्यास्यामः । चतुर्थ्यामष्टम्यामार्द्रायामपभरण्यां वा चतुर्दश्यां वा यानि चान्यानि शुभनक्षत्राणि तेषु पूर्वेद्युरेव युग्मान्ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं वाचयित्वा समागतायां निशायां कपिलापञ्चगव्येन सहिरण्ययवदुर्वाङ्कुराश्वत्थपलाशपर्णेन सुवर्णोपधानं प्रतिकृतिं कृत्वाऽभिषिञ्चति—आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतेनानुवाकेन व्याहृतिभिश्च । पुष्पफलाक्षतमिश्रयवदूर्वाङ्कुरं पादपीठे निक्षिपति—नमस्ते रुद्र मन्यव इति । प्रतिसरं बध्नाति—रक्षोहणं वाजिनमिति । अथ नदीतडागह्रदनिर्झरसरस्तीर्थानामन्यतमेष्वहतेन वाससा कुशबन्धां मालामच्छामाच्छाद्याधिवासयति—अव ते हेड० उदुत्तममिति । अथ श्वोभूते स्नात्वाऽहतवाससश्चत्वारो ब्राह्मणाः प्रतिमामुत्थापयेयुः—

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पत इति । अथ शुचौ देशे समवस्थाप्य—

गायत्र्याऽऽगृह्य गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ।
आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णेति वै दधि ॥
शुक्रमसि ज्योतिरसीत्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम् । इति ।

एतत्पञ्चगव्यं नाम । अत्राऽऽह—

कपिलाया वरं क्षीरं श्वेतायास्तु वरं दधि ।
रक्ताया वरमाज्यं च शेषौ शबलकृष्णयोः ॥ इति ।

एतेन—नमस्ते अस्तु धन्वन इत्यष्टाभिः स्नापयति । अथ शमीपलाशखदिरबिल्वाश्वत्थविकङ्कतन्यग्रोधपनसाम्रशिरीषोदुम्बरसर्वयाज्ञिकवृक्षाणा चर्मकषायकलशेनाभिषिञ्चति—अश्वत्थेवो निषदनम्, इत्येतेन । मणिमुक्ताप्रवालानामप्सु निमग्नानां पूर्णकलशेनाभिषिञ्चति—हिरण्यवर्णा इत्यनुवाकेन । हिरण्येन तेजसा चक्षुर्विमोचयेत्—तेजोऽसीति । लिङ्गे चेन्निवर्तते । चक्षुषोरभावात् । अथ देवयजनोल्लेखनप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोति—या त इषुः शिवतमा इत्यन्तादनुवाकस्य । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—द्रापे अन्धसस्पते० सहस्राणि० इत्येताभ्यामनुवाकाभ्यां प्रत्यृचम् । सर्वो वै रुद्र इति पादपीठे स्पृशेत् । पुनस्ताभिरेवाऽऽज्याहुतीर्जुहुयात् । नमो हिरण्यबाहव इति मूर्ध्नि स्पृशेत् । पुनस्ताभिरेवाऽऽज्याहुतीर्जुहुयात् । सर्वाङ्गमुपस्पृशेद्रुद्रेण समस्तेन । तत उदु त्यं जातवेदसमित्युत्थाप्य पञ्चब्रह्मसंज्ञकेन पञ्चानुवाकेन देवालयं प्रवेश्य मणिमुक्ताप्रवालसुवर्णरजतानि पादपीठे निधाय—नमस्ते रुद्रमन्यव इति रुद्रं स्थापयेत् । अथ गन्धपुष्पधूपदीपान्याकाशोन्मुखानि कृत्वोपोत्थायाऽऽवाहनं करोति प्रणवयुक्तव्याहृतिभिर्व्यस्ताभिः समस्ताभिश्च—ॐ भूः पुरुषमावाहयमि । ॐ भुवः पुरुषमावाहयामि । ॐ सुवः पुरुषमावाहयामि । ॐ भूर्भुवः सुवः पुरुषमावाहयामि । आयातु भगवान्महादेव इत्यावाह्य रत्नाम्बुकलशेनाभिषिञ्चति । प्रणवेन धारयेद्ब्रह्मेति विज्ञायते । प्रणवेन कूर्चं ददाति । विष्णुपदाश्यामाकपद्मपत्रकलशेन पाद्यं ददाति । एलालवङ्गकङ्कोलकर्पूरमिश्रकलशेनाऽऽचमनीयं ददाति । आपः क्षीरकुशाग्रैश्चाक्षतैर्यवतण्डुलैः । यवैः सिद्धार्थकैश्चार्घ्यं ददाति—इमा आपः शिवाः शिवतमाः पूताः पूततमा मेध्या मेध्यतमा अमृता अमृतरसाः पाद्या आचमनीया अर्घ्यास्ता जुषन्तां प्रतिगृह्णन्तां प्रतिगृह्णातु भगवान् महादेवो रुद्राय नम इति पाद्यमाचमनीयमर्घ्यं ददाति । नमस्ते रुद्र मन्यव इति प्रतिसरं विस्रंसयाति । देवतां नमस्कृत्याथ गन्धं ददाति—

इमे गन्धाः शुभा दिव्याः सर्वगन्धैरलंकृताः ।
पूता ब्रह्मपवित्रेण पूताः सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

प्रतिगृह्णन्तां प्रतिगृह्णातु भगवान्महादेवो रुद्राय नम इति ।

अथ माल्यं ददाति—

इमे माल्याः शुभा दिव्याः सर्वमाल्यैरलंकृताः ।
पूता ब्रह्मपवित्रेण पूताः सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

प्रतिगृह्णन्तां प्रतिगृह्णातु भगवान् महादेवो रुद्राय नम इति ।

अथ पुष्पं ददाति—

इमे पुष्पाः शुभा दिव्याः सर्वपुष्पैरलंकृताः ।
पूता ब्रह्मपवित्रेण पूताः सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

प्रतिगृह्णन्तां प्रतिगृह्णातु भगवान्महादेवो रुद्राय नम इति ।

अथ धूपं ददाति—

वनस्पतिरसो धूपो धूपाढ्यो धूप उत्तमः ।
आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥

प्रतिगृह्णतां प्रतिगृह्णातु भगवान्महादेवो रुद्राय नम इति ।

अथ दीपं ददाति—

ज्योतिः शुक्रश्च तेजश्च देवानां सततं प्रियः ।
भास्करः सर्वभूतानां दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥

प्रतिगृह्णतां प्रतिगृह्णातु भगवान्महादेवो रुद्राय नम इति । अथ भव इत्यष्टाभिः पुष्पं ददाति । तैरेव तर्पणानि कृत्वा कृसरं पायसं गुडौदनं हरिद्रौदनमिति हवींष्यपि—पवित्रं ते विततम्, इति पायसं निवेदयेत् । घृताप्लुतं पर्णशरावं गुडौदनं निवेदयेत् । कृसरमाज्यमिश्रं जुहुयात्—भवाय देवाय स्वाहेत्यष्टाभिः । भवस्य देवस्य पत्न्यै स्वाहेत्यादिभिः । अथ हरिद्रौदनं जुहुयात्—भवस्य देवस्य सुताय स्वाहेत्यष्टाभिः । अथ त्र्यम्बकं यजामहे० । मा नो महान्तं० मा नस्तोके० आर्द्रया रुद्रः० हेती रुद्रस्य० आरात्ते अग्निः० विकिरिद विलोहित० सहस्राणि सहस्रधा० सहस्राणि सहस्रशः० इति । द्वादशनामभिः शिवाय शंकराय सहमानाय शितिकण्ठाय कपर्दिने ताम्रायारुणायापगुरमा-

णाय हिरण्यबाहवे सस्पिञ्जराय बभ्लुशाय हिरण्याय स्वाहेति । स्विष्टकृत्— प्रभृति सिद्धमाधेनुवरप्रदानात् । हविषां बलिमुपहराति—

त्वामेकमाद्यं पुरुषं पुरातनं रुद्र शिवं विश्वसृजं यजामहे ।
त्वमेव यज्ञो विहितो विधेयस्त्वमात्मनाऽऽत्मन्प्रतिगृह्णीष्व हव्यम् ॥ इति ।

अथाग्रेणाग्निमश्वत्थपर्णेषु हुतशेषं निदधाति—भूर्भुवः सुवरोमिति । द्विश्चतुर्वा सहाग्निं प्रदक्षिणं परिक्रामति—विश्वभुजे नमः । सर्वभुजे नमः । आत्मने नमः । परमात्मने नम इति । ब्रह्मचारी गृहस्थो वा द्वादश ब्राह्मणान् संयतान् हरिद्रौदनेन भोजयेत् । संतिष्ठते रुद्रप्रतिष्ठाविधिः ॥ १२ ॥

अथातः पुनः प्रतिष्ठाकल्पं व्याख्यास्यामः । पूर्वोक्तेषु नक्षत्रेषु यानि चान्यानि शुभनक्षत्राणि शुक्लपक्ष उदगयने वसन्तादिकाले पूर्वं प्रतिष्ठितस्यापि बुद्धिपूर्वकमेकरात्रं द्विरात्रमेकमासं द्विमासं वाऽर्चनाविच्छेदे शूद्ररजस्वलापतिताद्युपप्लुते वा पूर्वेद्युरेव युग्मान्ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं वाचयित्वा समागतायां निशायां जलाधिवासं कृत्वा श्वोभूत उत्थाय द्वौ कलशौ स्थापयेदेकं पञ्चगव्येन पूरयित्वाऽपरं शुद्धोदकेन सहरत्नेन स्नापयेत् । अष्टसहस्रमष्टशतमष्टाविंशतिं वा मूलमन्त्रेण रुद्रगायत्र्या स्नापयित्वा पुष्पाणि दद्याद्यथालाभमर्चयित्वा गुडौदनं निवेदयेत् । एवं कृतेऽस्य शान्तिर्भवति । बुद्धिपूर्वेणार्चनाविच्छेदे स्नपनं कर्तव्यम् । एवं कुर्वाणः स्वस्ति ऋद्धिमाप्नोतीत्याचक्षते । एवं पुनः प्रतिष्ठामन्त्रेण प्रतिष्ठापयेदिति विज्ञायते ॥ १३ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि पञ्चगव्यविधिं क्रमात् ।
उत्तमं द्रोणमेकं तु मध्यमं तु तदर्धकम् ॥
तदर्धमधमं ज्ञेयं त्रिविधं परिकीर्तितम् ।
प्रस्थपादं घृतं प्रोक्तं गोमूत्रं द्विगुणं भवेत् ॥
गोमयं कुडपं प्रोक्तं दधि प्रस्थसमन्वितम् ।
क्षीरं प्रस्थद्वयं प्रोक्तं तदर्धमुदकं भवेत् ॥
स्नापनं पञ्चगव्येन भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणाम् ।
कपिलाया वरं क्षीरं श्वेतायास्तु वरं दधि ॥
रक्ताया वरमाज्यं वै शेषौ शबलकृष्णयोः ।

कर्ता पुण्यनद्यादौ स्नात्वा प्रयतो देवस्य गृहं गत्वा पुरतो मण्डपे समे देशे गोमयेनोपलिप्य व्रीहिभिर्यवैर्वा खारीमात्रं तदर्धं वा संगृह्य सौवर्णं रजतं कांस्यं मृन्मयं वा नवकलशान् ( स्थापयति ) याचति । तन्तुना परिवेष्ट्य

शुचौ देशे निधाय स्थण्डिलस्य दक्षिणत उदङ्ङासीनः प्राङ्मुखान्द्वादशनामभिर्ब्राह्मणानामन्त्र्य पुण्याहं वाचयित्वा प्रोक्ष्य व्रीहिभिः स्थण्डिलं कृत्वा तस्य मध्यतः प्रादेशाद्दक्षिणवामपार्श्वे सुवर्णशकलेन ऋजुमुल्लिखेत्—ब्रह्म जज्ञानमिति दक्षिणतः पिता विराजामित्युत्तरतस्तयोर्दक्षिणतो नाके सुपर्णमिति । तयोरुत्तरतः—आप्यायस्व इति । संततमृजुमुल्लिखेत्—यो रुद्रो अग्नौ इति पश्चात् । सर्वो वै रुद्र इति पुरस्तात् । तयोः पश्चादिदं विष्णुर्विचक्रम इति । तयोः पुरस्तात्—इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्निति । अथाभ्युक्ष्य शकल निरस्याप उपस्पृश्य ॐ भूर्भुवः सुवरों ब्रह्मणे नम इति मध्यमपदेऽभ्यर्च्य ईशानाय नम इतीशानपदे तत्पुरुषाय नम इति पूर्वे अघोराय नम इति दक्षिणे वामदेवाय नम इत्युत्तरे सद्योजाताय नम इति पश्चिमे हृदयाय नम इति दक्षिणपार्श्वे ( दक्षिणपूर्वे ) शिरसे नम इत्युत्तरपूर्वे शिखायै नम इति दक्षिणपश्चिमे कवचाय नम इति पश्चिमोत्तरे अस्त्राय नम इति दिग्विदिक्ष्वभ्यर्च्य ब्रह्मणे नम इति मध्ये प्रधानकलशं (सं)स्थाप्य ईशानादिपदेषु तत्तन्मन्त्रेण कलशान्सꣳस्थाप्य प्रोक्षणीं सꣳस्कृत्य पात्राणि प्रोक्ष्य गव्यानि च प्रोक्षणीपात्रपरिमाणं कुशोदकं देवस्य त्वेति ब्रह्मकुम्भे आनयति । आपो वा इदꣳ सर्वमित्यभिमन्त्र्य कूर्चं निधायेशानपात्रे सपवित्रेण क्षीरम् । पुरुषे दधि । अघोरे घृतम् । सौम्ये गोमयम् । वारुणे गोमूत्रम् । हृदये पिष्टं कदल्यादीनि च । नारिकेलं शिरसि । आमलकं शिखायाम् । कवचे हारिद्रम् । तत्तन्मन्त्रेणाऽऽवाहनाद्याचमनान्तं कृत्वा संपरिस्तीर्याथैनं स्नापयति—आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इति चैतेनानुवाकेन ब्रह्म जज्ञानं कद्रुद्राय सर्वो वै कया नश्चित्र आपो वा इदमिति प्रदक्षिणमुदकं व्याहृतिभिः परिषिच्याथाद्भिस्तर्पयति स्वेन मन्त्रेण गन्धपुष्पधूपदीपैरभ्यर्च्य बलिमुपहृत्य तत्सवितुर्वरेण्यमिति सद्यःपात्रमादाय ब्रह्मपात्रेण योजयेत् । सद्योजातमित्यनुवाकेन । गन्धद्वारामिति वामदेवमादाय वामदेवानुवाकेन ब्रह्मपात्रेण योजयेत् । आप्यायस्वेति क्षीरकुम्भमादायेशानानुवाकेन योजयेत् । दधिक्राव्ण इति दध्यानीय पुरुषानुवाकेन योजयेत् । शुक्रमसीत्यनुद्धृत्य घृतमादायाघोरानुवाकेन योजयेत् । सोऽहमिति मन्त्रेण फलैरवकीर्य गन्धादिभिरभ्यर्च्य व्योमव्यापिना संपूज्य पञ्चगव्यं भवतीति । अथ देवस्य समीपं गत्वा निर्माल्यं व्यपोह्य प्रणवेन व्याहृतिभिः—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ता-

भ्याꣳ सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभिषिञ्चामि । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामिन्द्रस्येन्द्रियेण श्रियै यशसे बलायाभिषिञ्चामीति त्रिभिः । अथ पिष्टामलकहरिद्रादिभिः स्नापयति । सुरभिमत्याऽब्लिङ्गाभिर्वारुणीभिर्हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिर्व्याहृतिभिरन्यैश्च पवित्रसमूहैश्च नमकचमकादिभिरभिषेकं कुर्यात्। पुनरेव यथाशक्ति दक्षिणां दद्यादाचार्याय वस्त्रकुण्डलाभरणाङ्गुलीय[क]धेनुभूम्यादीनि दद्यात् । सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां ब्रह्मणः सायुज्यꣳ सलोकतामाप्नोति ।

नारिकेलाम्रपनसकदलीनां फलत्रयम् ।
शर्करामधुसंयुक्तं पञ्चामृतमिति स्मृतम् ॥
ब्रह्मपात्रस्थितं तोऽयं चतुःप्रस्थं प्रचक्षते ।
गोमयं दधि सर्पींषि[1] कपित्थफलमात्रकम् ॥
यावत्संपादितं भक्त्या तावत्संपादयेद्बुधः ॥ १४ ॥

अथातः संप्रवक्ष्यामि देवस्य स्नपने विधिम् ।
महतो लिङ्गदेशे वा कारयेद्वेदिकां बुधः ॥
मण्डपं च पुराणोक्तं कृत्वा स्नपनमारभेत् ।
अचलप्रतिष्ठितो यत्र देवस्तत्र न वेदिका ।
तस्याः समीपे तत्स्थाने कलशस्थानमुत्तमम् ।
संख्या च नव तेषां तु स्थापनं प्रणवेन तु ॥
यत्किंचित्क्रियते तत्र प्रणवेनैव कथ्यते ।
स्थापनं कलशानां तु प्रागादीशानमन्ततः ॥
एतैरेव क्रमैरत्र सर्वं कर्म विधीयते ।
नवमं कलशं मध्ये स्थापयेदन्ततो बुधः ॥
कूर्चेषु स्थापयेत्सर्वं व्रीहिभिस्तण्डुलेषु च ।
व्रीहयः शालयः प्रोक्ताः कलशान्स्थापयेद्बुधः ॥
तेषामभावे यत्किंचिद्ग्राम्यं धान्यमिहेष्यते ।
पूरयेत्कलशान्सर्वाञ्शुद्धस्फटिकसंनिभैः ॥
जलैस्तु मध्यमं तत्र पञ्चगव्येन पूरयेत् ।
कूर्चान्निधाय सर्वेषु शरावैरपिधाय च ॥
अरिक्तैरेव कर्तव्यः शरावैर्नवभिः सदा ।

---

1 सर्पिश्च इति पाठः समीचीनः ।

अपिधानक्रिया तेषां शालिजैरेव तण्डुलैः ॥
अर्चयेत्कलशान्सर्वान्गन्धपुष्पादिभिः क्रमात् ।
प्राप्ते मूहूर्ते आवाह्य परमात्मानमात्मवान् ॥
रुद्रदेवं शिवं साक्षाद्यच्च सर्वस्य दैवतम् ।
तस्मादावाहयेत् प्राज्ञः सर्वत्राऽऽवाहने विधिः ॥
एष औत्सर्गिकः प्रोक्तो देवतानां च तर्पणे ।
नारायणादिविष्णोः स्याद्रुद्रस्य तु शिखादिकम् ॥
जपध्यानादिसर्वं स्याद्विकल्पं मनसि श्रयेत् ।
रौद्रं च सूक्तमापो हि हिरण्येति च सप्तकम् ॥
वैकल्पिकैरेव कुर्यान्मध्येति तु न विद्यते ।
अथ हैके वदन्त्येवं स्नापने तु महाप्रभोः ॥
सद्योजातादिपञ्चैव सर्वो वै रुद्र इत्यपि ।
एतैरन्यैश्च कुर्याद्वै स्नापनं सार्वकालिकम् ॥
एवं च कुर्यात्स्नाने तु स्नापनेऽर्चा तथा भवेत् ॥ १५ ॥

अथ देवयोः पूजाकरणे सर्वत्र त्रीणि पदा विचक्रमे० त्र्यम्बकं यजामहे० इत्येताभ्यां यथालिङ्गमासनं पाद्यमाचमनीयं च । एतयोस्त्रैवर्णिकधर्मत्वात् । सर्वत्र वचनाल्लोकप्रसिद्धप्राप्तप्रतिषेधाभावात् क्रियते । एवं प्रतिष्ठाप्य वा कुर्यात्तयोरेव सायुज्यꣳ सलोकतामाप्नोति । यदि त्रिꣳशत्संवत्सरादूर्ध्वं क्रियेत ततो देवयोः परमं पदं ब्रह्म संज्ञितं तदेव सगण आप्नोति । यदि तत्प्रणवः स्याद्य उ चैनदेवं विदुर्यस्मै प्रब्रूते यस्मै वा करोति शतं दद्यान्माषाणां ब्राह्मणो राजन्यः सहस्रं दद्याद्वैश्यो यथाश्रद्धं दद्यात् । न स्त्रीशूद्रौ कुर्यातां यदि कुर्यातां स्वतन्त्रोपदेशे आचार्य आश्रय इति । स्वतन्त्रयोस्तयोश्चेद्वृत्तिक्षीणोऽपि ब्राह्मणः पतत्येवेति शालीकिः । अथ देवयोर्याथाकामी स्याद्यस्यां कस्यां चिदवस्थायां जले वा स्थण्डिले वा प्रतिमासु वा सर्वं कृत्वाऽभ्यर्चयेन्न तु प्रमाद्येत । देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यान्मनसा वाऽर्चयेदिति । तदाह भगवान्—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ इति ।

भक्तिनम्र एतान्मन्त्रानधीयीत न त्वेवानर्चकः स्यादन्यतरस्योभयोर्वा । ततस्तयोरेव सायुज्यꣳ सलोकतामाप्नोति । य एतयोरर्चनां कुरुतेऽन्यत्र पुत्र

शिष्येभ्यः स्त्रियाश्च तस्मै सौवर्णं शङ्खं सुवर्णोपधानं वा दद्यादृषभं रुद्रस्य दक्षिणेति विज्ञायते । प्रतिष्ठाकरणे स्नापनकरणे वाऽऽचार्याय तदुपकरणं सर्वं दत्त्वा ऋषभैकादश गा दद्यादिति विज्ञायते ॥ १६ ॥

[ अथातः संप्रवक्ष्यामि विष्णोः स्नपनमुत्तमम् ।
प्रासादस्याग्रतो विद्वान्कुर्यात्स्नपनमण्डपम् ॥
मण्डपस्य च मध्ये तु वेदिकां संप्रकल्पयेत् ।
अचलप्रतिष्ठितो यत्र देवस्तत्र न वेदिका ॥
तस्याः समीपे तत्स्थाने कलशस्थानमुत्तमम् ।
संख्या च नव तेषां तु स्थापनं प्रणवेन तु ॥
यत्किंचित्क्रियते चात्र प्रणवेनैव कथ्यते ।
स्थापनं कलशानां तु प्रागादीशानमन्ततः ॥
एतेनैव क्रमेणात्र सर्वं कर्म विधीयते ।
नवमं कलशं मध्ये स्थापयेदन्ततो बुधः ॥
कूर्चेषु स्थापयेत्सर्वान्व्रीहिप्रस्थस्थितेषु च ।
व्रीहयः शालयः प्रोक्ताः कलशस्थापने बुधैः ॥
तेषामभावे यत्किंचिद्ग्राम्यं धान्यं विधीयते ।
पूरयेत्कलशान्सर्वाञ्शुद्धस्फटिकसंनिभैः ॥
जलैस्तु मध्यमं तत्र पञ्चगव्येन पूरयेत् ।
कूर्चान्निधाय सर्वेषु शरावैरपिधाय च ॥
अरिक्तैरेव कर्तव्यः शरावैर्नवभिः सदा ।
अपिधानक्रिया तेषां शालिजैरेव तण्डुलैः ॥
अर्चयेत्कलशान्सर्वान्गन्धपुष्पादिभिः क्रमात् ।
प्राप्ते मुहूर्त आवाह्य परमात्मानमात्मवान् ॥ ]
पूर्वोक्तविधिनाऽऽवाह्य देवमानीय वेदिकाम् ।
अर्चयित्वा ततो विष्णुमर्चितैरेव सर्वशः ॥
आनीतं वेदिकायां तु गोमयेनापरेण तु ।
उपास्थितेऽक्षतैः कीर्णे शालिभिर्व्रीहिभिश्च तत् ॥
प्राङ्मुखं देवमासीनं संनिदध्यात्ततः क्षणात् ।
तत्रैव त्वचलस्थाने न चाऽऽवाहनमिष्यते ॥
तत्रैव नित्यसांनिध्याद्देवस्य परमात्मनः ।
आसनादि क्रमाद्दद्यात्सूक्तं पौरुषमाश्रितः ॥

ततः कलशमादाय कुर्यात्स्नपनमादितः ।
मन्त्रा एते तु मन्तव्याः स्नपने परमात्मनः ॥
वैष्णवं सूक्तमापो हि हिरण्येति च सप्तकम् ।
पवमानानुवाकं च सर्वे साधारणाः स्मृताः ॥
अनुक्तमन्त्रं यत्किंचिन्न गृह्णीयात्ततो बुधः ।
अनेन विधिवत्कृत्वा स्नपनं पुरुषस्य तु ॥
दत्त्वा पायसमन्नं तु शेषं परिसमापयेत् ।
नित्यदेवार्चने यत्स्यात्कलशस्नापनं तु वै ॥
स्नापनस्य त्रयश्चोक्ता ब्रह्म जज्ञानमन्त्रतः ।
वामदेव्यं ततः कुर्यात्पवित्रं यजुषश्च यत् ॥
पवमानानुवाकं च सर्वे साधारणाः स्मृताः ।
विषुवायनसंक्रान्तौ चन्द्रसूर्यग्रहे तथा ॥
अर्चनायाश्च विच्छेदे कदाचित्कालभेदतः ।
उपघातेऽपि वाऽन्यस्मिन्दुःस्वप्ने तु भयंकरे ।
आद्यं तु स्नपनं कुर्यात्सर्वशान्तिर्भविष्यति ॥
अथ देवोत्सवं कुर्यान्मुच्यते सर्वपातकैः ।
इह लोके परत्रापि सुखमेवास्य वर्धते ॥
पश्चाद्विष्णोश्च सायुज्यमेतीत्यत्र न संशयः ।
जगद्धिताय कृष्णाय स्नपनं कृतवान् हि यः ॥ १७ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यशेषसूत्रे प्रथमप्रश्ने सप्तमः पटलः ।

---

अथाष्टमः पटलः ।

---

अथातः काम्यवृषोत्सर्गं व्याख्यास्यामः—कार्तिक्यां पौर्णमास्यां क्रियते अपि वाऽऽश्वयुज्यां वैशाख्यां वा गोष्ठे गवां मध्ये । अथ देवयजनोल्लेखनप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोति–पूषा गा अन्वेतु न इति पुरोनुवाक्यामनूच्य शुक्रं ते अन्यत् इति याज्यया जुहोति । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति–इह धृतिः स्वाहा । इह विधृतिः स्वाहा । इह रन्तिः स्वाहा । इह रमतिः स्वाहा इति । उपसृजन्मात्रे वत्सं धारयन्धरुणो धयन्रायस्पोषमिषमूर्जमस्मासु दीधरत्स्वाहेति । आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्नित्येतेन सूक्तेन । नमस्ते रुद्र मन्यव इत्यन्तादनुवाकस्य स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । अथ रुद्रं जपित्वा गोमिथु-

नमध्वर्यवे ददाति । लाजमन्त्रेण त्रिः प्रदक्षिणं परिक्रमयेदेकवर्णों द्विवर्णो वा यूथं (थ्यं) छादयाति । यूथ(थ्य)स्य मुख्याश्चतस्रो वत्सतर्यः स्नाप्याऽऽछाद्य तिलोदकं गृह्णाति—ऋचां प्राची इति । अवधूनुयुर्जलबिन्दून्पीत्वा–तृप्ता यान्तु पितर इति । अथैनं मध्ये गोष्वपिसृजति—एतं युवानं परि वो ददामीति । अपियन्तमनुमन्त्रयते—त्वां गाव इति । मध्यस्थमनुमन्त्रयते—मयो भूर्वातो अभिवातूस्रा इति। सर्वासां पयसि पायसँ श्रपयित्वा ब्राह्मणान्संपूज्याऽऽशिषो वाचयित्वा यथाशक्ति दक्षिणां ददाति । तिर्यग्योनिगताञ्ज्ञातीञ्ज्ञात्यन्तरे वर्तमानान् दुंष्कुलैरुपरुद्धान् दशपूर्वान् दशापरानात्मानं चैकविंशतिं पङ्क्तिं च पुनाति न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत इति । अथाप्युदाहरन्ति—

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।
गौरीं वा वरयेत्कन्यां नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥
लोहितो यस्तु वर्णेन श्वेतलाङ्गूललक्षणः ।
खुरे ककुदि च श्वेतः स वै नीलवृषः स्मृतः ॥ इति ॥ १ ॥

अथातः सहस्रभोजनविधिं व्याख्यास्यामः । उदगयने पूर्वपक्षे पुण्ये नक्षत्रे त्रिजन्मानि दक्षिणायने वा क्रियेत । स्वगृहे देवगृहे वा यत्र शुचिर्देशः स्यात्तत्र शुचिर्भूत्वा युग्मान्ब्राह्मणान्सुप्रक्षालितपाणिपादानप आचाम्य आसनं कल्पयित्वा गन्धपुष्पधूपदीपैरभ्यर्च्य संकल्पसिद्धिरस्त्विति वाचयित्वा त्रिवृताऽन्नेन ब्राह्मणान्संपूज्याऽऽशिषो वाचयित्वा प्रदक्षिणनमस्कारं विदधीत । सहस्रात्मानमीश्वरं सहस्रभोजनेन संपूज्य एकस्मै स्वाहा द्वाभ्याँ स्वाहेति दशानुवाकान् भोजनान्ते द्वादश ब्राह्मणाः श्राविता भवन्ति षड् वा । ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं वाचयित्वाऽथ देवयजनोल्लेखनप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोति—विष्णोर्नुकमिति पुरोनुवाक्यामनूच्य विष्णो रराटमसि इति याज्यया जुहोति । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—केशवाय स्वाहा । इत्यादि द्वादशनामधेयैः स्विष्टकृत्प्रभृतिसिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । अथ विप्रान्भोजयित्वा गुडपायसं घृतमिश्रमित्यन्नस्य बलिमुपहराति—अमुष्मै स्वाहाऽमुष्मै स्वाहेति द्वादशनामधेयैः । अथ ब्राह्मणेभ्यो निवेदयित्वा वस्त्रयुगानि कुण्डलयुगान्यङ्गुलीयकमुपानहौ छत्रं कमण्डलुमिति च दद्यात् । अन्नशेषमाज्यशेषं पक्वशेषं चोभौ जायापती प्राश्नीयातां सर्वान्कामानवाप्नोति सर्वकल्मषैर्महापातकैः प्रमुच्यते षष्टिवर्षसहस्राणि ब्रह्मलोकमतीत्य विष्णुलोके महीयत इति विज्ञायते ॥ २ ॥

---

१ एकवर्षो द्विवर्षो वा । २ गच्छन्तमनुमन्त्रयते । ३ दुष्कृतै ।

अथातः सहस्रभोजनसुत्यां व्याख्यास्यामः । विषुवेऽयने जन्मनक्षत्रे चन्द्रसूर्यग्रहणे ग्रहगृहीते व्याधिग्रस्ते प्रजाकामोऽन्यकामो वा ब्राह्मणाननुज्ञाप्य अभीष्टमाहुर्वरणं कृत्वा सहस्रब्राह्मणान्वेदपारगान्भोजयित्वा सहस्रसंख्यापरिपूर्णे पुण्ये नक्षत्रे ब्राह्मणान्द्वादश षड्वा निमन्त्रयित्वा स्नानवस्त्रगन्धपुष्पधूपदीपैरभ्यर्च्याथ देवयजनोल्लेखनप्रभृत्या प्रणीताभ्यः कृत्वोपोत्थायाग्रेणाग्निं व्याहृतिभिर्विष्णुमावाह्य परिधानप्रभृत्याऽग्निमुखात्कृत्वा दैवतमर्चयति—आपो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णा इति चतसृभिः पवमानः सुवर्जन इत्येतेनानुवाकेन मार्जयित्वा गन्धपुष्पधूपदीपैरभ्यर्च्याथ पक्वाज्जुहोति—विष्णोर्नुकम्, इति पुरोनुवाक्यामनूच्य विष्णोरराटमसि० इति याज्यया जुहोति । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति केशवाय स्वाहेति द्वादशनामधेयैः। स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमाधेनुवरप्रदानात्। अथ विप्रान् भोजयित्वा गुडपायसं घृतमिश्रमित्यन्नस्य बलिमुपहरति—अमुष्मै स्वाहेति द्वादशनामधेयैः । अथ ब्राह्मणेभ्यो वस्त्रयुगानि कुण्डलयुगान्यङ्गुलीयकमुपानहौ छत्रकमण्डलुमिति च दद्यात् । अन्नशेषमाज्यशेषं पक्वशेषं चोभौ जायापती प्राश्नीयातां सर्वान्कामानवाप्नोति महापातकैः प्रमुच्यते षष्टिवर्षसहस्राणि ब्रह्मलोकमतीत्य विष्णुलोके महीयत इति विज्ञायते ॥ ३ ॥

अथातो जीवश्राद्धं व्याख्यास्यामः । यस्त्वात्मनः श्रेय इच्छत्यपरपक्षे त्रयोदशीमुपोष्य तस्मिन्नेवाहनि संभारानुपकल्पयते—यान्यौर्ध्वदेहिकानि मृतानां वस्त्रषट्कं सौवर्णां सूचीमङ्कुशं तान्तवं पाशं कन्थां पलाशवृन्तमौदुम्बरीमासन्दीं कलशानीत्यन्यान्यपि च । श्वोभूते स्नात्वा मध्याह्ने जले स्थित्वोपोत्थाय पुण्याहं वाचयित्वा वस्त्राङ्गुलीयकं दक्षिणां दद्यात्सघृतपायसं दक्षिणामुखोऽश्नीयात् । अथ श्राद्धविधिनाऽग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्याग्निमुखात्कृत्वा पक्वाज्जुहोति—चत्वारि शृङ्गा इति पुरोनुवाक्यामनूच्य त्रिधा हितम्, इति याज्यया जुहोति । तत्सवितुर्वरेण्यमिति पुरोनुवाक्यामनूच्य योजयित्री सूनृतानाम्, इति याज्यया जुहोति । ये चत्वार इति पुरोनुवाक्यामनूच्य द्वे स्रुती इति याज्यया जुहोति । अग्ने नय इति पुरोनुवाक्यामनूच्य या तिरश्ची इति याज्यया जुहोति । अथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—पुरुषसूक्तेनाष्टादशर्चेन हुत्वा गायत्र्याऽष्टसहस्रमष्टशतमष्टाविंशतिं वा जुहुयात् । स्विष्टकृत्प्रभृति सिद्धमाधेनुवरप्रदानात् । धार्य एवाग्निरा समाप्तेः । चतुष्पथं गत्वा सूचीमङ्कुशं कन्थां रज्जुमिति कृष्णतनवे ह्रस्वाय ब्राह्मणाय दत्त्वा—प्रीयन्तां यमकिंकरा इति वाचयित्वा व्रीहिषु

कलशान्साधयेत्[1]। तन्तुना परिवेष्टय जलपूर्णान्पुरुषाकृतिं कृत्वा त्रीणि शीर्ष्णि मुखे त्रीणि ग्रीवायामेकविंशतिं शरीरे चतुष्टयं बाह्वोर्द्वे द्वे लिङ्गस्यैकं पादयोः पञ्च पञ्चेति—प्रीतोऽस्तु भगवान्यम इति। तत आसन्दीं कृत्वा पञ्चगव्येन प्रक्षाल्य पलाशवृन्तैः कृष्णाजिने पुरुषाकृतिं कृत्वा कलश(काल)पुरुषे प्राणानभिनिवेश्य वृन्तशरीरे देहमाभिनिवेश्य स्वपेत्। उदिते सूर्ये कलशैर्देहं स्वयमेवाभिषेचयेत् पौरुषेण सूक्तेन पञ्चगव्येन शुद्धोदकेन। सायाह्ने शीतलमन्नं सर्पिषाऽश्नीयात्। ब्राह्मणानपि यमकिंकरतृप्तये भोजयेत्। चतुर्थ्यां यन्त्रदाहः। उदकं पिण्डं च—अमुकगोत्राय मह्यं पिण्डमामुत्रिकं स्वधेति नमस्कारान्तं कृत्वा समापयेत्। तत्राऽऽशौचं दशाहं स्यात्स्वस्य। ज्ञातेर्न विद्यते। एकादश्यामेकोद्दिष्टमिति प्रतिपद्यते। अथाप्युदाहरन्ति—

आपन्नः स्त्री च शूद्रश्च यन्त्रैर्दग्ध्वा स्वकां तनूम्।
तदह्नैव क्रियाः सर्वाः कुर्यादिति हि वै श्रुतिः॥

स्त्रीणां तूष्णीं समन्त्रकं वा। मासि मास्येवं संवत्सरात्संवत्सरादूर्ध्वमा द्वादशाब्दात्ततो निवृत्तिः। यदा स्वयं न शक्नुयात्तदा पुत्रादयः कुर्युः। अथाप्युदाहरन्ति—

जीवन्नेवाऽऽत्मनः श्राद्धं कुर्यादन्येषु सत्स्वपि।
यथाविधि प्रवर्त्याऽऽशु सपिण्डीकरणादृते॥ इति।

तस्योक्तं कालं न विलम्बयेद्यतोऽनित्यं जीवितमिति विज्ञायते॥ ४॥

यस्त्वाऽऽत्मनः श्रेयाश्सीच्छत्यौर्ध्वदेहिकं स्वस्य यदि भवति तदा दहनप्रभृति सपिण्डीकरणान्तं जीवन्नेवाधस्तथोक्तं सकलं कुर्यात्। तथाऽऽह कण्वः—

जीवन्नेव च यः कुर्वन्नात्मनः श्राद्धमिच्छति।
यन्त्रेण कृत्वा सश्स्कारमुदकं बलिमेव च॥
कृत्वाऽथ षोडशश्राद्धं दद्याद्यद्यत्प्रियं भवेत्।
आत्मनस्तत्स्वयं दत्त्वा ततः श्राद्धं समापयेत्॥
तत्राऽऽशौचं दशाहं स्यात्स्वस्य ज्ञातेर्न विद्यते॥ इति।
आत्मार्थं पारलौक्यं यत्तत्सर्वं समवाप्नुयात्।
न हि कर्म कदाचित्तु क्षयमेति कृतं नरैः॥ इति।

---

१ कलशानासादयेत्, इति पाठः समचीनः।

तस्माद्यस्य न सन्ति कर्तारो ज्ञातयः पुत्रोऽन्तेवासिनो वा स जीवन्नेवाऽऽमुष्मिकं सर्वमविकृतं कुर्वन्नामोच्चारणे तद्गोत्राय तच्छर्मणे करिष्यते । अथवा प्रविदानकल्पेन वा दद्यादितीदमप्येकम् ॥ ५ ॥

कूश्माण्डैर्जुहुयाद्योऽपूत इव मन्येत यथा स्तेनो यथा भ्रूणहैवमेष भवति योऽयोनौ रेतः सिञ्चति । यदर्वाचीनमेनो भ्रूणहत्यायास्तस्मान्मुच्यत इति । अयोनौ रेतः सिक्त्वाऽन्यत्र स्वप्नात् । अरेपा(ता) वा पवित्रकामो वा अमावास्यायां पौर्णमास्यां वा केशश्मश्रुलोमनखानि वापयित्वा ब्रह्मचारिकल्पेन व्रतमुपैति । संवत्सरं मासं चतुर्विंशत्यहो द्वादश रात्रीः षट्तिस्रो वा । न मांसमश्नीयान्न स्त्रियमुपेयान्नोपर्यासीत जुगुप्सेतानृतात् । पयोभक्ष इति प्रथमः कल्पः । यावकं वोपयुञ्जानः कृच्छ्रद्वादशरात्रं चरेद्भिक्षेद्वा तद्विप्रेषु यवागूं राजन्यो वैश्य आमिक्षाम् । पूर्वाह्णे पाकयज्ञिकधर्मेणाग्निमुपसमाधाय संपरिस्तीर्याग्निमुखात्कृत्वाऽथाऽऽज्याहुतीरुपजुहोति—यद्देवा देव हेडनम्, यददीव्यं नृ(व्यनृ)णमहं बभूव, आयुष्टे विश्वतो दधदित्येतैस्त्रिभिरनुवाकैः प्रत्यृचमाज्यं हुत्वा सिंहे व्याघ्र उतया पृदाकाविति चतस्रः स्रुवाहुतीः । अग्नेऽभ्यावर्तिन्, अग्ने अङ्गिरः पुनरूर्जा सह रय्येति चतस्रोऽभ्यावर्तिनीर्हुत्वा समित्पाणिर्यजमानलोकेऽवस्थाय वैश्वानराय प्रतिवेदयाम इति द्वादशर्चेन सूक्तेनोपस्थाय यन्मया मनसा वाचा कृतमेनः कदाचन । सर्वस्मात्तस्मान्मेळितो मोग्धि त्वंहि वेत्थ यथातथं स्वाहेति समिधमाधाय वरं ददाति । त्रिवृत्क्रतुप्रभृति सिद्धमा धेनुवरप्रदानात् । एक एवाग्नौ परिचर्यायाम् । अग्न्याधेये यद्देवा देव हेडनम्, यददीव्यं नृ(व्यनृ)णमहं बभूव, आयुष्टे विश्वतो दधदिति पूर्णाहुतिं हुत्वाऽग्निहोत्रमारप्स्यमानो दशहोत्रा हुत्वा दर्शपूर्णमासावारप्स्यमानश्चतुर्होत्रा हुत्वा चातुर्मास्यान्यारप्स्यमानः पञ्चहोत्रा हुत्वा पशुबन्धे षड्ढोत्रा सोमे सप्तहोत्रा । विज्ञायते कर्मादिष्वेतैर्जुहुयात्पूतो देवलोकान्समश्नुत इति ॥ ६ ॥

अथातः संन्यासविधिं व्याख्यास्यामः । सोऽत एव ब्रह्मचर्यवान् प्रव्रजतीत्येकेषाम् । अथ शालीनयायावराणामनपत्यानाम् । विधुरो वा । प्रजाः स्वधर्मे प्रतिष्ठाप्य वा । सप्तत्या ऊर्ध्वं संन्यासमुपदिशन्ति । वानप्रस्थस्य संस्कारकर्मविरामे । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् । तस्यैवाऽऽत्मा पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेनेति । अपुनर्भवं नयतीति नित्यः । महत्त्वं गमयतीति महिमा । केशश्मश्रुलोमनखानि वापयित्वोपकल्पयते । यष्टयः ( यष्टिः ) शिक्यं जलपवित्रं कमण्डलुं पात्रमिति । एतत्स-

मादाय ग्रामान्ते ग्रामसीमान्तेऽन्यागारे वाऽऽज्यं पयो दधि त्रिवृत्प्राश्य उपवसेदपो वा । ॐ भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम् । ॐ भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि । ॐ सुवः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात् । पच्छोऽर्धर्चशः । ततः समस्तया च व्यस्तया च आत्मानमात्मन आश्रमादाश्रममुपनीय ब्रह्मभूतो भवतीति विज्ञायते । अथाप्युदाहरन्ति—

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः ॥
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः पश्चाद्भवति भिक्षुकः ॥ इति ।

स एष भिक्षुरानन्त्याय । पुराऽऽदित्यस्यास्तमयाद्गार्हपत्यमुपसमाधायान्वाहार्यपचनमुपसमाहृत्य ज्वलन्तमाहवनीयमुद्धृत्याऽऽज्यं गार्हपत्ये विलाप्योत्पूय स्रुचि चतुर्गृहीतं गृहीत्वा समिद्वत्याऽऽहवनीये पूर्णाहुतिं जुहोति। ॐ स्वाहेति । एतद्ब्रह्मान्वाधानमिति विज्ञायते । अथ सायं हुतेऽग्निहोत्र उत्तरेण गार्हपत्यं तृणानि सꣳस्तीर्य तेषु द्वंद्वं न्यञ्चि पात्राणि सादयित्वा दक्षिणेनाऽऽहवनीयं ब्रह्मायतने दर्भान्सꣳस्तीर्य तेषु कृष्णाजिनं चान्तर्धायैताꣳ रात्रिं जगर्ति । य एवं विद्वान्ब्रह्मरात्रिमुपोष्य ब्राह्मणोऽग्नीन्समारोप्य प्रमीयते सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्याम् । अथ ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय काल एव प्रातरग्निहोत्रं जुहुयात् । अथ पृष्ठ्याꣳस्तीत्वाऽपः प्रणीय वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपति सा प्रासिद्धेष्टिः संतिष्ठते । आहवनीयेऽग्निहोत्रद्रव्याणि प्रक्षिपेदमृन्मयान्यनायसानि । गार्हपत्ये अरणी—भवतं नः समनसाविति । अथाऽऽत्मन्यग्नीन्समारोपयते—या ते अग्ने यज्ञिया तनूरिति त्रिस्त्रिरेकैकं समाजिघ्रति । अन्तर्वेदि तिष्ठन्—ॐ भूर्भुवः सुवः संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति त्रिरुपाꣳशूक्त्वा त्रिरुच्चैः । त्रिषत्या हि देवा इति विज्ञायते । अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः इति चापां पूर्णमञ्जलिं निनयति । अथाप्युदाहरन्ति—

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयं चापि हि जायते ॥ इति ।

स वाचंयमो भवति । यष्टयः शिक्यं जलपवित्रं कमण्डलुं पात्रमुद्धृत्यैतत्समादाय यत्राऽऽपस्तद्गतः स्नात्वाऽप आचम्य सुरभिमत्याऽब्लिङ्गाभिः वारुणीभिर्हिरण्यवर्णाभिः पावमानीभिरिति मार्जयित्वाऽन्तर्जलगतोऽघमर्षणेन षोडश प्राणायामान्धारयित्वोत्तीर्य वासः पीडयित्वाऽन्यत्प्रयतं वासः परिधाय आचम्यों भूर्भुवः सुवरिति जलपवित्रमादाय तर्पयति—ॐ भूस्तर्प-

यामि । ॐ भुवस्तर्पयामि । ॐ सुवस्तर्पयामि । ॐ महस्तर्पयामि । ॐ जनस्तर्पयामि । ॐ तपस्तर्पयामि । ॐ सत्यं तर्पयामि । देववत्पितृभ्योऽञ्जलिमुपादाय । ॐ भूः स्वधों भुवः स्वधों सुवः स्वधों भूर्भुवः सुवर्महर्नम इति । अथोदु त्यं० चित्रं० इति द्वाभ्यामादित्यमुपतिष्ठते । ओमिति ब्रह्मा ब्रह्म वा एष ज्योतिर्य एष ज्योतिर्य एष तपत्येष वेदो य एष तपति वेद्यमेवैतद्य एष तपति एवमेवैष आत्मानं तर्पयत्यात्मने नमस्करोति आत्मा ब्रह्माऽऽत्मा ज्योतिः। सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्तयेच्छतकृत्वोऽपरिमितकृत्वो वा । ॐ भूर्भुवः सुवरिति पवित्रमादायापो गृह्णाति । नात ऊर्ध्वमनुद्धृताभिरद्भिरपरिस्रुताभिरपरिपूताभिर्वाऽऽचामेत् । न चात ऊर्ध्वं शुक्लं वासो धारयेत् । एकदण्डी त्रिदण्डी वा । अथेमानि व्रतानि भवन्ति—अहिꣳसा सत्यमस्तैन्यं मैथुनस्य च वर्जनं त्यागे इति । अथ भैक्षचर्या ब्राह्मणानां शालीनयायावराणामपवृत्ते वैश्वदेवे भिक्षां लिप्सेत् ( त ) । भवत्पूर्वां प्रचोदयेत् । गोदोहनमात्रमाकाङ्क्षेत् । अथ भैक्षचर्यामुपाहृत्य शुचौ देशे न्यस्य हस्तपादान्प्रक्षाल्याऽऽदित्यस्याग्रे निवेद्य उदु त्यं चित्रमिति प्रक्षाल्याऽऽचम्य ब्रह्मणे निवेदयते—ब्रह्म जज्ञानमिति । विज्ञायते—आधानप्रभृत्ययमे( तीमए )वाग्नयो भवन्ति, तस्य प्राणो गार्हपत्योऽपानोऽन्वाहार्यपचनो व्यान आहवनीय उदानसमानौ सभ्यावसथ्यौ । पञ्च वा एतेऽग्नय आत्मस्थाः । आत्मन्येव जुहोति । स एष आत्मयज्ञ आत्मनिष्ठ आत्मप्रतिष्ठ आत्मानं क्षेमं नयतीति विज्ञायते । भूतेभ्यो दया पूर्वं संविभज्य शेषमद्भिः सꣳस्पृश्यौषधवत्प्राश्नीयात् । प्राश्याप आचम्य ज्योतिष्मत्याऽऽदित्यमुपतिष्ठते- उद्वयं तमसस्परीति ।

अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया ।
आहारमात्रं भुञ्जीत केवलं प्राणयात्रिकम् ॥ इति ।

अथाप्युदाहरन्ति—

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनः ।
द्वात्रिꣳशतं गृहस्थस्यापिरिमितं ब्रह्मचारिणः ॥ इति ।
भैक्षं वा सर्ववर्णेभ्य एकान्नं वा द्विजातिषु ।
अपि वा सर्ववर्णेभ्यो न चैकान्नं द्विजातिषु ॥ इति ।

अथ यत्रोपनिषदमाचार्या ब्रुवते तत्रोदाहरन्ति-- स्थानमौनवीरासनसवनोपस्पर्शनचतुर्थषष्ठाष्टमकालव्रतयुक्तस्य कणपिण्याकयावकदधिपयोव्रतत्वं चेति । तत्र मौने युक्तस्त्रयीवृद्धवृद्धैराचार्यैर्मुनिभिरारण्यैराश्रमिभिर्बहुश्रुतैर्दन्तै-

र्दन्तान्संधायान्तर्मुख एव मौनयुक्तेन प्राप्यते संभाष्यानूच्यते । स्थानमौनवीरासनानामन्यतमेन संप्रयोगो यत्रायं संनिपतेत् । यत्र गतश्च यावन्मात्रमनुव्रतयेत् । आपत्सु न यत्र लोपो भवतीति विज्ञायते ।

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं घृतं पयः ।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥ इति ॥

सायं प्रातरग्निहोत्रमन्त्राञ्जपेत् । वारुणीभिः सायं संध्यामुपतिष्ठेत मैत्रीभिः प्रातः ।

अनग्निरनिकेतः स्यादशर्माशरणो मुनिः ।
भिक्षार्थी ग्राममन्विच्छेत् स्वाध्याये वाचमुत्सृजेत् ॥ इति ।

विज्ञायते च—परिमिता वा ऋचः परिमितानि सामानि परिमितानि यजूꣳष्यथैतस्यैवान्तो नास्ति यद्ब्रह्म तत्प्रतिगृणत आचक्षीत स प्रतिगर इति । एवमेवैष आशरीरविमोक्षणाद्वृक्षमूलिको वेदसंन्यासिकः । वेदो वृक्षस्तस्य मूलं प्रणवः । प्रणवात्मको वेदः । प्रणवो ब्रह्म । एवंव्रतो ब्रह्मभूयाय कल्पत इति होवाच प्रजापतिः। सप्तव्याहृतिभिर्ब्रह्मभाजनं प्रक्षालयेदिति ॥ ७ ॥

अथातः कपिलसंन्यासविधिं व्याख्यास्यामः । अनग्निकस्तु मुण्डी शिखी वाऽहोरात्रोपोषितः स्नात्वाऽप आचम्याप एव पाणिनाऽप्स्वाहुतीर्जुहोति—आपो वै सर्वा देवताः स्वाहेति । पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च सर्वभूतेभ्यश्च व्युत्थितोऽहं स्वाहेति । संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति त्रिरुपांशूक्त्वा त्रिरुच्चैस्त्रिषत्या हि देवा इति विज्ञायते । अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहेति दण्डान्गृहीत्वा जलपवित्रम्—पवित्रामिति समादाय पुत्रमित्रसुहृद्बन्धुज्ञातिसंनिधौ त्यक्त्वाऽथ ग्रामादाहृत्यैकपात्रमुदकेनाऽऽप्लाव्य सकृदल्पेन भुञ्जीत । न केनचित्सह संभाषेत । न किंचिद्याचेत । पर्वतगुहानदीपुलिनशून्यागारे देवतायतने बिलदर्योर्निवसेत् । स्वयं पतितं प्रक्षाल्य जीवितमुक्तम् । जीर्णमानीयाहतानि दृढान्यजिनानि यदर्थं बिभृयात् । सूर्योदयहीनयाचितेन कार्यं कुर्वीत । व्रतं स्नानासमर्थो न लभेत् । अथ प्रक्षाल्य जलार्द्रेण कर्पटेन सशिरस्कजलापकर्षणं कृत्वाऽन्तर्वासाः परितः संध्यामुपासीत । नित्यं मध्याह्ने प्रातः स्नायात् ॥ ८ ॥

अथातः संन्यासिमरणविधिं व्याख्यास्यामः—

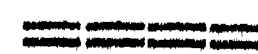
अथातः संप्रवक्ष्यामि सꣳस्कारविधिमुत्तमम् ।
समाहितानां युक्तानां यतीनां च महात्मनाम् ॥

शुचौ देशे तु सावित्र्या देहं प्रक्षाल्य यत्नतः ।
अलंकृत्य च गायत्र्या गन्धैर्माल्यैः पृथक्पृथक् ॥
वहन्ति ब्राह्मणा ये वै शुचयः सर्व एव ते ।
तेषां तु वहतां सम्यक्सद्यः शौचं विधीयते ॥
प्रक्षालनादि तत्कर्म ये कुर्वन्ति महीयसाम् ।
तेषामपि तथा सद्यःशौचमेव विधीयते ॥
पुत्रो वा संनिकृष्टो वा शुचौ देशे निधाय तम् ।
उपावरोहमन्त्रेण तस्याग्नीनवरोप्य तु ॥
तूष्णीं संमार्जनं कृत्वा व्याहृतीभिश्च सप्तभिः ।
प्रोक्ष्य काष्ठं च यद्देवं निधाय तु समन्त्रकम् ॥
विष्णो हव्यꣳ रक्षस्वेति मुखे जलपवित्रकम् ।
पवित्रं तेति मन्त्रेण निदधाति तथा पुनः ॥
दण्डं च दक्षिणे हस्ते वैष्णव्यर्चा निधाय च ।
उदरे च तथा पात्रं सावित्र्या निदधाति वै ॥
यदस्य पारे रजसः सव्ये शिक्यं निधाय च ।
गुह्ये कमण्डलुं चैव भूमिर्भूमिमगादिति ॥
पितृमेधप्रयोगेण दहेदग्निभिरेव हि ।
सꣳस्कर्तुश्च तथा तस्य नाऽऽशौचं नोदकक्रिया ॥
एकोद्दिष्टं न कुर्वीत संन्यस्तानां कदाचन ।
अहन्येकादशे प्राप्ते पार्वणं तु विधीयते ॥
द्वादश्यामह्नि वा पुण्ये नारायणबलिर्भवेत् ।
सर्वं नारायणोद्देशमेकोद्दिष्टवदाचरेत् ॥
अनाहिताग्निनां चैव संन्यस्तानां महात्मनाम् ।
अपि ( ग्नि ) होतृविधानेन गायत्र्या प्रणवेन वा ॥
अप्राकृतानां महतां ब्रह्मनिष्ठमनस्विनाम् ।
तेषां तु खननं कार्यमिति प्राहुर्मनीषिणः ॥
तिसृभिर्व्याहृतीभिस्तु खात्वा दण्डप्रमाणतः ।
दण्डादींश्च यथास्थानममन्त्रैः स्थापयेद्बुधः ॥
प्रच्छादयेदसँस्पृष्टं सृगालश्वापदादिभिः ।
श्वादयो यदि खादन्ति महान्दोषो भविष्यति ॥
तस्माद्भूमिं भृशं खात्वा सम्यक्प्रच्छादयेद्यतीन् ।

सर्वसङ्गनिवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च ॥
न तस्य दहनं कुर्यान्नाऽऽशौचं नोदकक्रिया ।
निषेकाद्याः श्मशानान्ताः सत्क्रिया ब्राह्मणाश्रिताः ॥
तस्माद्यत्नेन सँस्कारः कर्तव्यो गृहमेधिभिः ।
ये वहन्ति महात्मानं स्पृष्ट्वा दृष्ट्वा द्विजातयः ॥
हयमेधफलं तेषामस्तीत्येवं विदुर्बुधाः ॥ इति ॥ ९ ॥

अथोक्तो वर्णधर्मश्चाऽऽश्रमधर्मश्च । अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा मिथ्या वाऽऽचरत्ययाज्यं वा याजयत्यप्रतिग्राह्यस्य वा प्रतिगृह्णात्यनाश्या-न्नस्य वाऽन्नमश्नात्यचरणीयेन वा चरति । तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति । नहि कर्म क्षीयत इति । कुर्यात्त्वेव । [पुनः सोमेनेष्ट्वा पुनः सवनमायान्तीति शालीकिः । सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजत इति विज्ञायते । अग्निष्टुता वाऽभिशस्यमानो यजेतेति च । ] तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवासो दानम् । उपनिषदो वेदादयो वेदान्ताः सर्वच्छन्दःसु सꣳहिता मधून्यघमर्षणमथर्वशिरो रुद्राः पुरुषसूक्तं राजनरौहिणे बृहद्रथंतरे पुरुषगतिर्महानाम्न्यो महावैराजं महादिवाकीर्त्यं ज्येष्ठसाम्नामन्यतमद्बहिष्पव-मानः कूश्माण्ड्यः सावित्री चेति पावनानि । उपसन्न्यायेन पयोव्रतता शाक-भक्षता फलभक्षता मूलभक्षता प्रसृतयावको हिरण्यप्राशनं घृतप्राशनं सोम-पानमिति मेध्यानि । सर्वे शिलोच्चयाः सर्वाः स्रवन्त्यः सरितः पुण्या ह्रदा-स्तीर्थान्यृषिनिकेतनानि गोष्ठक्षेत्रपरिष्कन्दा इति देशाः । अहिꣳसा सत्यम-स्तैन्यं सवनेषूदकोपस्पर्शनं गुरुशुश्रूषा ब्रह्मचर्यमधःशयनमेकवस्त्रताऽनाशक इति तपाꣳसि । हिरण्यं गौर्वासोऽश्वो भूमिस्तिलं घृ.मन्नमिति देयानि । संव-त्सरः षण्मासाश्चत्वारस्त्रयो द्वावेकश्चतुर्विꣳशत्यहो द्वादशाहः षडहस्त्र्यहोऽहोरात्र एकाह इति कालाः । एतान्यनादेशे क्रियेरन्नेनःसु गुरुषु गुरूणि लघुषु लघूनि । कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तिः सर्वप्रायश्चित्तिः॥१०॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यशेषसूत्रे प्रथमप्रश्नेऽष्टमः पटलः ।
समाप्तमिदं सत्याषाढहिरण्यकेशिगृह्यशेषसूत्रम् ।



# गृह्यकारिकाः ।

कनकाञ्जलिभिर्युक्तैः कल्पसूत्रविधायिभिः ।
समलंकृतमूर्धानं सत्याषाढमुपास्महे ॥ १ ॥
आचार्यान्मातृदत्तादीनभिवन्द्य तदीरितान् ।
अर्थान्संगृह्य गृह्यस्य क्रियन्ते कारिका मया ॥ २ ॥
कुर्यादुपनयादीनि विवाहान्तानि लौकिके ।
अन्यद्गृह्योरितं कर्म सर्वमौपासनेऽनले ॥ ३ ॥
नामादिषु भवेन्तादि(दन्न)प्राशनादिषु कौतुकम् ।
गर्भोपाकर्मवर्जेषु चौलादिष्वङ्कुरं भवेत् ॥ ४ ॥
यत्रान्नपरिवेषः स्यातत्रान्नैर्होम इष्यते ।
न स्यादुपनयस्याऽऽदौ तद्विधिः प्रागसंभवात् ॥ ५ ॥
अत्रावदानधर्मोऽयमापूर्वत्वान्न विद्यते ।
आघारसहिते पक्षे स्थालीपाके स उच्यते ॥ ६ ॥
उपनेयं समुत्थाप्य संस्पृश्य मनसा क्रियाम् ।
संकल्पमन्त्रवचनं परिदानमिति स्मृतम् ॥ ७ ॥
अश्मानमजिनं दण्डमुपवीतं च मेखलाम् ।
उपदेशासनं कूर्चमुपवेषं घृतं चरुम् ॥ ८ ॥
इध्माबर्हिश्च दर्वीं च समिधः सप्त वाससी ।
प्रोक्षणीमाज्यधानीं च प्रणीतापात्रमेव च ॥ ९ ॥
मृन्मयान्यत्र पात्राणि संभरेद्गां च दक्षिणाम् ।
विधाय नान्दीं पूर्वेद्युः सद्यो वा बद्धकौतुकम् ॥ १० ॥
संकल्प्य यज्ञशर्माणं मुपवेश्य यमं त्विति ।
चतुःप्रभृतिकान्युग्मान्वाचयित्वाऽऽशिषो द्विजान् ॥ ११ ॥
कुमारं भुक्तिवपनस्नानालंकरणान्वितम् ।
परिधाप्याहतं वासो देशे प्राक्प्रवणादिके ॥ १२ ॥
उद्धृत्यावोक्ष्य कुर्वीत स्थण्डिलं तत्र सैकतम् ।
हस्तमात्रं चतुष्कोणं बाहुमात्रं तथाऽपरे ॥ १३ ॥
चतुरङ्गुलमुच्छ्रायसिकताप्रस्थपञ्चकम् ।
भस्मना तुषकेशैश्च शर्करास्थितृणेन च ॥ १४ ॥

पिपीलिकाकपालैश्च सिकताद्यैश्च वर्जयेत् ।
स्थण्डिलात्तण्डुलारेखा द्व्यङ्गुला त्र्यङ्गुलाधिका ॥ १५ ॥
एकरेखं द्विरेखं वा अग्निभद्राणि कारयेत् ।
त्यजेदुल्लेखनक्षेत्रे पश्चिमे चतुरङ्गुलम् ॥ १६ ॥
याम्यामष्टाङ्गुलं चैव सौम्यां चैवाङ्गुलद्वयम् ।
तिस्रः प्राचीरुदक्संस्था उदीचीः प्रागवस्थिताः ॥ १७ ॥
तिस्रश्च रेखाः प्रादेशाः विलिख्यावोक्ष्य चानलम् ।
निधायेध्मं परिस्तीर्य प्रागारभ्य प्रदक्षिणम् ॥ १८ ॥
दक्षिणानुत्तरान्कुर्यादुत्तरानधरानपि ।
संस्तीर्य दक्षिणे दर्भान्मयीत्यग्निं हृदि स्थितम् ॥ १९ ॥
द्वाभ्यां संस्थाप्य दर्भाभ्यां दर्भान्संस्तीर्य चोत्तरे ।
प्रयुज्याश्मादिकं कूर्चं ब्रह्मालाभे निबध्य च ॥ २० ॥
तमुत्तरेण पात्राणि नीत्वाऽऽत्मानं परेण तु ।
त्यक्त्वा तृणमयः स्पृष्ट्वा न्यस्थो (स्यो)पस्थाय भूरिति ॥ २१ ॥
कृत्वा पवित्रे पात्रं च त्रिः प्रक्षाल्य तदन्तरम् ।
न्यस्योदकं द्विरासिच्य पूरयित्वोत्पुनाति च ॥ २२ ॥
तदुद्धृत्य समं प्राणैरत्रिषिञ्चन्हरेदुदक् ।
न्यस्य दर्भेष्विदं दर्भैः प्रच्छाद्यैस्तत्पवित्रतः ॥ २३ ॥
प्रक्षालनमकृत्वैव संस्कृत्य प्रोक्षणीं ततः ।
उत्तानीकृतपात्राणि विमुच्येध्मनिबन्धनम् ॥ २४ ॥
त्रिः प्रोक्ष्य सलिलैः सर्वैरिध्मादीन्यखिलान्यपि ।
दर्वीं निष्टप्य संमृज्य पुनर्निष्टप्य वै पुनः ॥ २५ ॥
दर्भेष्वाधाय संमार्गानभ्युक्ष्याग्नौ परिक्षिपेत् ।
पवित्रान्तर्हिते पात्रे निरुप्याऽऽज्यमभिद्रुतम् ॥ २६ ॥
अङ्गारानुपवेषेण निरुह्य समिधोत्तरान् ।
अधिश्रित्याऽऽज्यमादीप्य दर्भार्चिभिरवाङ्मुखैः ॥ २७ ॥
तस्मिन्प्रत्यस्य दर्भाग्रे दर्भाभ्यां तूल्मुकेन च ।
पर्यग्नि कृत्वा त्रिः पात्रमुदगुद्वास्य पूर्वया ॥ २८ ॥
समिधाऽङ्गारकान्भूयः प्रतियोज्य दहेच्च ताम् ।
उदगग्रे कराङ्गुष्ठोपकनिष्ठाभिरुद्धृते ॥ २९ ॥

पवित्रे पुनराहृत्य त्रिरुत्पूय विसृज्य वा ।
स्पृष्ट्वाऽद्भिरग्नावाधाय परिधाय परिस्तृतेः ॥ ३० ॥
षट्त्रिंशदङ्गुलो मध्यो द्व्यङ्गुलाधिक उत्तमः ।
परिधीनां प्रमाणं स्याच्चतुस्त्रिंशत्ततोऽधमः ॥ ३१ ॥
उपरिष्टाद्यथापूर्वमधरोत्तरतां नयेत् ।
विस्रस्य बर्हिःसंनाहं पश्चादग्नेस्तृणाति च ॥ ३२ ॥
उदगग्रं च तस्मिन्वै बर्हिरास्तीर्य तत्र च ।
आज्यं संस्थाप्य तस्मात्तु दर्वीमासाद्य दक्षिणे ॥ ३३ ॥
यज्ञोपवीतं यज्ञस्येत्येनं व्याहार्य धारयेत् ।
आचम्योत्तरतः पात्रादाचार्याग्न्योश्च मध्यतः ॥ ३४ ॥
आगत्य दक्षिणेनैनं मासन्नभिमृशेद्गुरुम् ।
यज्ञस्य ब्रह्म शं नोभावग्नये सामिधव्रतम् ॥ ३५ ॥
वरेणोदायुस्तच्चक्षुर्भैक्ष्यं माणववाचकम् ।
अदितेऽद्भिर्दक्षिणतः प्राचीनं परिषेचयेत् ॥ ३६ ॥
अनुमतेत्युदीचीनं ततः पश्चात्प्रसेचयेत् ।
सरस्वतेति प्राचीनमुत्तरतोऽथ सर्वतः ॥ ३७ ॥
देव सवितः प्रसुवेति परिषेकं प्रदक्षिणम् ।
अभ्यक्तमिध्ममादध्यादयं त इति मन्त्रतः ॥ ३८ ॥
दर्वीमन्ववहृत्याथ परिधेः संधिमुत्तरम् ।
जुहुयान्मनसा ध्यायन्प्रजापतये संततम् ॥ ३९ ॥
दीर्घं च दक्षिणाप्राञ्चमृजुमाघारयत्यथ ।
दक्षिणं परिधिमारभ्येन्द्राय प्रागुदक्कृतः ॥ ४० ॥
उत्तरार्धस्य पूर्वार्धे जुहुयादग्नयेति च ।
दक्षिणार्धस्य पूर्वार्धे सोमायेति जुहोत्यथ ॥ ४१ ॥
तावन्तरेण जुहुयादितरा आहुतीः क्रमात् ।
युक्तो वह या तिरश्ची सध्राधन्यै प्रसाधन्यै ॥ ४२ ॥
एकैकशः समस्ताश्च व्याहृतीर्भूर्भुवः सुवः ।
सर्वेषां दर्विहोमानामेष कल्पः प्रकीर्तितः ॥ ४३ ॥
आघारवानथाऽऽपूर्व अग्निहोत्र इति त्रिधा ।
यत्र व्याहृतिपर्यन्तं तत्रैष विधिरुच्यते ॥ ४४ ॥

अत्र प्रधानमायुर्दा आयुर्दा देव इत्यपि ।
इमं तत्त्वा त्वं न स त्वं नस्त्वमग्ने प्रजापते ॥ ४५ ॥
त्रयोदश जयानष्टादशाभ्यातानसंज्ञितान् ।
रौद्रं च राक्षसं चैव नैर्ऋते पैतृके तथा ॥ ४६ ॥
छित्त्वा भित्त्वा निरस्याऽऽत्माभिमर्शेऽप उपस्पृशेत् ।
प्राचीनावीति पित्र्याणि कृत्वा वाऽप उपस्पृशेत् ॥ ४७ ॥
तदोपवीत्युपस्पृश्य राष्ट्रभृत्सु दशस्वपि ।
कृत्स्नं पूर्वमनुद्रुत्य तस्मै स्वाहेति वै पुनः ॥ ४८ ॥
तथा कृत्स्नमनुद्रुत्य ताभ्यः स्वाहेति पश्चिमाम् ।
द्वाविंशतिर्भवेत्यत्राविकृते सप्तमोत्तमे ॥ ४९ ॥
स्विष्टकृच्च यदस्येति ततोऽन्याभिरसंयुताम् ।
उत्तरार्धस्य पूर्वार्धे हुत्वा व्याहृतिभिस्ततः ॥ ५० ॥
अश्माथोत्तरपरिधेः संधिं नीत्वा कुमारकम् ।
दक्षिणेन पदा तस्मिन्नास्थाप्यातिष्ठमन्त्रतः ॥ ५१ ॥
सकृद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम् ।
अहतं तद्विजानीयात्सर्वकर्मसु पावनम् ॥ ५२ ॥
परिधाप्याहतं वासो या अकृन्तन्निति त्रिभिः ।
त्यजेत्पूर्वमथाऽऽचान्तः परीदमिति च स्पृशेत् ॥ ५३ ॥
बद्ध्वा या दुरितेत्येनं मौञ्ज्या त्रिगुणया ततः ।
नाभिरुत्तरतो ग्रन्थिं कृत्वाऽऽकृष्य च दक्षिणे ॥ ५४ ॥
मित्रस्येत्यजिनं कृत्वा परीमग्मि(दमि)ति मन्त्रतः ।
परिदत्त्वोपवेश्याग्नेः पश्चादेनमुदङ्मुखम् ॥ ५५ ॥
प्राशयेद्धुतशेषं च त्वयि मेधामिति त्रिभिः ।
प्राश्नुवन्तं समीक्षेत योगे योगे तवस्तरम् ॥ ५६ ॥
अग्निं प्रदक्षिणं यातमागन्तेत्यभिमन्त्रयेत् ।
ब्रह्माऽऽचार्यौ बहिः कृत्वा पात्राणां च व्रजेदुदक् ॥ ५७ ॥
व्याहारयेदथानेन ब्रह्मचार्यमिमं तथा ।
को नामासीति तं पृच्छेन्नामनी स्वे वदेद्वटुः ॥ ५८ ॥
स्वस्ति देवेति मन्त्रेण गृह्णीयात्तस्य नामनी ।
व्यावहारिकनामान्यन्नाक्षत्रं च तृतीयया ॥ ५९ ॥

शं नो देवीरिति प्रोच्य मार्जयेत्तावुभावथ ।
दक्षिणेन स्वहस्तेन तूष्णीमस्य च दक्षिणम् ॥ ६० ॥
अंसं सव्येन सव्यं च समन्वारभ्य वै ततः ।
व्याहृतीभिश्च सावित्र्या देवस्य त्वेत्यनेन वै ॥ ६१ ॥
नीत्वाऽस्य दक्षिणं बाहुमाभिमुख्येन वाऽऽत्मनि ।
संबुद्ध्या नाम गृह्णीयाद्यत्रासौ शब्द उच्यते ॥ ६२ ॥
अथास्य दक्षिणं हस्तं गृहीत्वा दक्षिणेन तु ।
साङ्गुष्ठमग्निष्टेत्येनं संशास्ति सविता त्विति ॥ ६३ ॥
दक्षिणेन स्वहस्तेन त्वं समस्य च दक्षिणम् ।
उपर्युपरि संस्पृश्य ममेति हृदयं स्पृशेत् ॥ ६४ ॥
प्राणानामिति नाभिं च अभिमृश्याथ भूर्भुवः ।
भूर्ऋक्षु त्वादिभिर्मन्त्रैः कुमारमभिमन्त्र्य च ॥ ६५ ॥
अथास्य दक्षिणं हस्तं साङ्गुष्ठं दक्षिणेन तु ।
गृह्णीयादग्निरायुष्मान्पर्यायैः पञ्चभिस्ततः ॥ ६६ ॥
आयुष्टेऽग्नौ पृथिव्यां च जपेत्कर्णेऽस्य दक्षिणे ।
आयुर्दा अग्नौ पृथिव्यामिति सव्ये जपेत्तथा ॥ ६७ ॥
मेधां त इति मन्त्रेण संनिधाय मुखे जपेत् ।
उत्थाप्यैनं परीदद्यात्कषकायेति मन्त्रतः ॥ ६८ ॥
अग्नये समिधमित्येकामग्नये समिधौ द्वयम् ।
चतस्रः समिध इत्येव मन्त्रं तं वाचयेदथ ॥ ६९ ॥
अनक्ति परिधिं दर्व्या मध्यमं दक्षिणोत्तरौ ।
किंचित्किंचित्समादाय प्रागारभ्य परिस्तृतेः ॥ ७० ॥

दर्व्यामनक्त्यग्रमथाऽऽज्यधान्यां
मध्यं च मूलं च तथा द्वितीये ।
मूलं च मध्यं पुनराज्यधान्या-
मग्रं च दर्व्यां च ततस्तृतीये ॥ ७१ ॥

तृणमेकं निधायाथ परिधेः संधिमुत्तरम् ।
आहृत्य प्रहृत्याग्नौ अञ्जलीनूर्ध्वमुद्दिशेत् ॥ ७२ ॥
तृणं चानुप्रहृत्याथ त्रिरङ्गुल्याऽवदिश्य च ।
घ्राणं चक्षुश्च पृथिवीं संस्पृश्याप उपस्पृशेत् ॥ ७३ ॥

मध्यमं परिधिं पूर्वं प्रहृत्याथ सहेतरौ ।
अनाज्ञातत्रयं त्वं नो द्वयमैन्द्रीद्वयं तथा ॥ ७४ ॥
त्र्यम्बकमिदं विष्णुर्व्याहृतीनां च सप्तकम् ।
अग्निर्वायुश्च सूर्यश्च वाक्पतिर्वरुणो वृषा ॥ ७५ ॥
विश्वे देवा इति प्रोक्ताः सप्त व्याहृतिदेवताः ।
संस्रावेण ततो हुत्वा परिषेकविसर्जनम् ॥ ७६ ॥
अग्रेणाग्निं प्रणीतां च पर्याहृत्याथ पश्चिमे ।
निधायोदकमन्यत्र निनीयाऽऽसिच्य दिक्षु च ॥ ७७ ॥
शेषं निनीय तेनैव मुखं संमार्जयेत्ततः ।
ब्रह्मा यथेतं प्रत्येति दद्यात्तस्मै च दक्षिणाम् ॥ ७८ ॥
आघारवत्सु होमेषु सर्वेष्वेवं विधिः स्मृतः ।
बुद्ध्वा संकल्पकालं च यावद्ग्रहणकादिषु ॥ ७९ ॥
उक्त्वा व्रतं चरिष्यामीत्यग्न्यादीनुपतिष्ठते ।
आचार्याय वरं दद्यात्तत उत्थापयेदमुम् ॥ ८० ॥
उदायुषेति मन्त्रेण कुमारमथ वाचयेत् ।
सूर्येति परिदद्यात्तच्चक्षुरित्युपतिष्ठते ॥ ८१ ॥
अग्निष्ट आयुरित्यस्मै दण्डं दत्त्वाऽथ मृन्मयम् ।
भिक्षापात्रं प्रदायाऽऽह भिक्षाचर्यं चरेत्यमुम् ॥ ८२ ॥
भिक्षेत मातरं पूर्वमसौ ज्ञातिकुलेषु च ।
भिक्षित्वाऽऽहृत्य तद्भैक्ष्यमिति प्राह गुरुं ततः ॥ ८३ ॥
यस्य ते प्रथमेत्युक्त्वा तमादत्ते गुरुः स्वयम् ।
त्रिवृताऽन्नेन होमः स्यादयमापूर्विको विधिः ॥ ८४ ॥
अपूपसक्तुसंमिश्रमन्नं त्रिवृदिति स्मृतम् ।
परिस्तीर्योत्तरेणाग्निं पात्राणि प्रयुनक्ति च ॥ ८५ ॥
अरत्निमात्री दर्वीति बाहुमात्रीत्यथापरम् ।
इतीदं ब्राह्मणा दर्वीमिति बौधायनेरितम् ॥ ८६ ॥
सर्वं दारुमयं पात्रं स्फाटितार्धेन कारयेत् ।
त्वक्सारास्तरवः सर्वे तस्मात्त्वक्तो बिलं स्मृतम् ॥ ८७ ॥
अरत्नी पञ्चधा कृत्वा त्रिभागं दण्डमेव च ।
द्विभागं पुष्करं प्रोक्तं दर्व्यामुत्तमलक्षणम् ॥ ८८ ॥

प्रोक्षणीमाज्यथालीं च दर्वीं समिधमेव च ।
संस्कृत्य प्रोक्षणीं प्रोक्ष्य दर्वीमाज्यं च पूर्ववत् ॥ ८९ ॥
अन्नं चाग्नावधिश्रित्य ततः प्रोक्ष्याभिघार्य च ।
उदगुद्वास्य होमार्थमवखण्ड्य हविस्ततः ॥ ९० ॥
निधाय पात्रे चान्यस्मिन्मिश्रीकृत्य च सर्पिषा ।
परिषिच्याऽऽदधात्यष्टौ समिधस्तदनन्तरम् ॥ ९१ ॥
दर्व्योपहत्य जुहुयादग्नयेत्यादिभिः क्रमात् ।
उत्तरार्धस्य पूर्वार्धे स्विष्टकृत्परिषेचनम् ॥ ९२ ॥
अन्नं समवदायाथ प्रागुदक्परिमृज्य च ।
दर्भान्निधाय तेष्वेव वास्तुहोमं करोत्यथ ॥ ९३ ॥
परिषिच्य[ च ]संतर्प्य पुण्याहं वाचयेद्द्विजात् ।
ततः कुमाररूयहं वै सावित्रीव्रतमाचरेत् ॥ ९४ ॥
सावित्रीं वाचयेदत्र पौष्करसादिपक्षतः ।
पश्चादग्नेस्तथा कूर्चमुदगग्रं निधाय च ॥ ९५ ॥
प्राङ्मुखस्तदधिष्ठाय राष्ट्रभृन्मन्त्रमुच्चरन् ।
आदित्यायाञ्जलिं कृत्वा कुमारः प्राञ्जलिस्ततः ॥ ९६ ॥
आचार्यमुपसंगृह्य दक्षिणेनोपविश्य च ।
अधीहि भो इत्युक्त्वाऽहं सावित्रीं भो अनुत्विति ॥ ९७ ॥
गणानां त्वेत्यभिमन्त्र्य सावित्रीमनुवाचयेत् ।
यथापाठं पुरस्कृत्य पच्छोऽर्धर्चानवानतः ॥ ९८ ॥
अथास्य समिदाधानमौपनायनिकेऽनले ।
परिमृज्य यथाऽऽहोति परिषिच्य प्रदक्षिणम् ॥ ९९ ॥
अष्टौ समिध आदध्याद्व्याहृतीभिश्चतुष्टयम् ।
एषा तेत्यादिभिर्मन्त्रैश्चतस्रः समिधस्ततः ॥ १०० ॥
पूर्ववत्परिमृज्याथ परिषिच्योपतिष्ठते ।
यत्ते अग्न इत्येतैश्च मयि मेधामिति त्रिभिः ॥ १०१ ॥
अहं तु धारयन्नाग्निमस्मिन्नेवाऽऽदधाति च ।
सायं प्रातश्च समिधस्ततः पश्चात्तु लौकिके ॥ १०२ ॥
उदीतेति त्र्यहे तस्मिन्नग्नावन्नैर्जुहोति च ।
ततो वास्तुबलिं कृत्वा पुण्याहादीनि वाचयेत् ॥ १०३ ॥

व्रतं विसृज्य सावित्रमुपतिष्ठत देवताः ।
उक्तानि यानि सावित्रीव्रतान्यन्यानि वाऽऽचरेत् ॥ १०४ ॥
असौ व्रतं चरिष्यामीत्यग्न्यादीनुपतिष्ठते ।
यावत्संकल्पितकालमाचार्यस्य कुले वसन् ॥ १०५ ॥
वर्षांस(तावत्स)मुपयुञ्जीत गुरुशुश्रूषणव्रतम् ।
यथाकाण्डमुपाकुर्यात्समाप्तौ तु विसर्जयेत् ॥ १०६ ॥
प्राजापत्यं च सौम्यं च आग्नेयं वैश्वदेविकम् ।
चत्वार्येतानि काण्डानि तदारम्भविसर्गयोः ॥ १०७ ॥
कृत्वा व्याहृतिपर्यन्तं पूर्ववत्सदसस्पतिम् ।
पश्चात्काण्डऋषीन्हुत्वा वारुण्यादि जयादि च ॥ १०८ ॥
स्विष्टकृच्छेषकार्याणि व्रतोपस्थानमेव च ।
सौम्यव्रतमुपक्रम्य शुक्रियान्ते विसर्जयेत् ॥ १०९ ॥
शुक्रव्रतं प्रवक्ष्यामि एषोऽप्यपूर्विकः स्मृतः ।
वापयित्वाऽथ केशांश्च स्नात्वा सायमुपक्रमः ॥ ११० ॥
समिध्याग्निं परिस्तीर्य पात्राणि प्रयुनक्ति च ।
प्रोक्षणीमाज्यधानीं च चतस्रः समिधस्ततः ॥ १११ ॥
वासश्च प्रोक्षणीं दर्वीमाज्यं संस्कृत्य सेचयेत् ।
औदुम्बरीर्घृताभ्यक्ताश्चतस्रः समिधस्ततः ॥ ११२ ॥
पृथिवी समिदित्येतैर्मन्त्रैरभ्यादधाति च ।
व्याहृतीभिस्ततो हुत्वा परिषिच्य ततस्ततः ॥ ११३ ॥
सर्वेषामनुवाकानां प्रथमोत्तमयोस्तु च ।
प्रभृतीरभिव्याहृत्या वाचं यच्छेन्निमील्य च ॥ ११४ ॥
वाससा चाहतेनास्य समुखं वेष्टयेच्छिरः ।
ग्रामं प्रविश्यास्तमिते रात्रिं तिष्ठेत वाग्यतः ॥ ११५ ॥
श्वः प्रातरुपनिष्क्रम्य प्रागुदक्त्वात्त(क्तस्य)चालनम् ।
समाधाय परिस्तीर्य विमुच्य मुख वेष्टनम् ॥ ११६ ॥
वयः सुपर्णा इति तच्चक्षुरित्युपातिष्ठते ।
आदित्यमेनमग्न्यादिषड्वयचाभिदर्शयेत्(?) ॥ ११७ ॥
आदित्यमग्निमश्मानं कुम्भं वत्सं हिरण्यकम् ।
द्यौः समिदित्यावृत्तैः समिधोऽभ्यादधात्यथ ॥ ११८ ॥

आदित्यव्रतपते च देवताश्चोपतिष्ठते ।
आचार्याय वरं दद्यात्प्राजापत्यवदुत्तरौ ॥ ११९ ॥
इत्युपनयनकारिकाः ।
अधीतविद्यस्य गुरोस्तत्सकाशान्निवर्तनम् ।
विद्यापरिसमाप्तौ यत्तत्समावर्तनं स्मृतम् ॥ १२० ॥
तस्य प्रयोगं वक्ष्यामि सितपक्षे शुभेऽहनि ।
अनुज्ञाप्य गुरुं सर्वं कुरुते स्वयमत्र वै ॥ १२१ ॥
काष्ठमौदुम्बरं चोष्मशीता आपः क्षुरं शकृत् ।
सर्वं सौरभसंयुक्तं चन्दनं तत्र वाससी ॥ १२२ ॥
कुण्डले मणिमादर्शं छत्रं दण्डमुपानहौ ।
स्रजमञ्जलिमिध्मादि वाहनं चापि संभरेत् ॥ १२३ ॥
कुर्यादुद्धननादीनि व्याहृत्यन्तमनुस्मरेत् ।
अग्निमुपसमाधायेत्युच्यते यत्र यत्र वै ॥ १२४ ॥
उद्धननादिकार्यं स्यात्परिस्तरणकादिकम् ।
पालाशीं समिधं दध्यादिमं स्तोमेति मन्त्रतः ॥ १२५ ॥
ततो व्याहृतिभिः कृत्वा त्र्यायुषमित्यनेन च ।
वारुण्याद्यन्नहोमान्तं कृत्वा पुण्याहवाचनम् ॥ १२६ ॥
व्रतं विसृजते तत्र यावद्ग्रहणमित्यथ ।
उदु त्यं चित्रमित्याभ्यामादित्यमुपतिष्ठते ॥ १२७ ॥
उदुत्तममवाधमं विमध्यममिति त्रिभिः ।
वरुणपाशमस्मच्छ्रथायेति चानुषज्जते ॥ १२८ ॥
उदुत्तममित्यजिनं वासश्चाथ परित्यजेत् ।
अवाधमधोवासो विमध्यमं च मेखलाम् ॥ १२९ ॥
अथ त्वयमिति दण्डमन्यान्यप्सु प्रवेशयेत् ।
उपविश्यापरेणाग्निं प्राङ्मुखः संस्पृशेत्क्षुरम् ॥ १३० ॥
क्षुरो नामेत्यनेनाथ दत्त्वा वप्त्रे त्वपः स्पृशेत् ।
शीतास्त्वप्सूष्मा आनीय शिवा नो भवथेत्यथ ॥ १३१ ॥
दक्षिणशिरसो देशं ताभिरद्भिरनक्ति च ।
आप उन्दन्त्विति तथा दर्भान्केशैस्तु योजयेत् ॥ १३२ ॥
ओषधे त्रायस्वेति च यजुषोर्ध्वाग्रकांस्ततः ।
स्वधिते च क्षुरं तेषामुपरिष्टान्निधाय च ॥ १३३ ॥

केशान्सह तृणैश्छिन्द्यादेवश्रूरिति मन्त्रतः ।
उन्दनात्प्रभृति यत्तन्मन्त्रान्तेनैव कारयेत् ॥ १३४ ॥
यत्क्षुरेण मर्चयता स्वयं वप्तारमीक्षते ।
ततः श्मश्रूणि पक्षौ च केशलोमनखानि च ॥ १३५ ॥
क्रमेण वापयेत्सर्वं शकृत्पिण्डेऽस्य बान्धवः ।
संयम्यैतत्समादाय निखनेद्गोष्ठकादिषु ॥ १३६ ॥
इदमहं देवदत्त कौण्डिण्यस्येति मन्त्रतः ।
तूष्णीं खात्वाऽथ मन्त्रेण निधायाऽऽच्छाद्य पांसुभिः॥ १३७ ॥
स्नात्वोदुम्बरकाष्ठेन दन्तान्संशोधयेदथ ।
पुनस्तानुष्णशीताभिरद्भिरस्नाद्यमन्त्रतः ॥ १३८ ॥
आपो हिरण्यपवमानैरेतैः स्नानं क्रमेण च ।
ततश्चन्दनमभ्युक्ष्य हस्तौ पूर्वं प्रलेपयेत् ॥ १३९ ॥
नमो ग्रहायेत्यनेन कृत्वा प्राचीनमञ्जलिम् ।
तेनानुलिम्पेदात्मानमप्सरास्वित्यनेन तु ॥ १४० ॥
अभ्युक्ष्य वस्त्रे सोमस्येत्यन्तर्यं परिधाय च ।
उपस्पृश्य तथोत्तर्यमग्नेः पश्चात्पुरोमुखः ॥ १४१ ॥
उपविश्य मणिं द्वे च कुण्डले च प्रबध्य च ।
दर्भेण धारयन्नग्नेरूपर्युपरि चास्य तु ॥ १४२ ॥
तत आयुष्यमित्येतैः पञ्चभिर्जुहुयादथ ।
अस्वाहाकारकैरेतैर्मन्त्रान्ते त्रिः प्रदक्षिणम् ॥ १४३ ॥
परिप्लाव्योदपात्रेऽथ विराजं चेति कुण्डले ।
आबध्याद्दक्षिणे कर्णे ऋतुभिरभिमन्त्रयेत् ॥ १४४ ॥
सव्ये कर्णे तथा बद्ध्वा तथा चैवाभिमन्त्रयेत् ।
इयमोषधे च मन्त्रेण ग्रीवायां प्रतिमोचयेत् ।
शुभिके च ततो द्वाभ्यां स्रजमामुच्य चाजिनम् ॥ १४५ ॥
यदाञ्जनेति तेनाङ्क्ते सव्यं चक्षुस्तथेतरत् ।
यन्मे मन इत्यात्मानमादर्शेऽवेक्षते ततः ॥ १४६ ॥
परिगृह्य ततो दण्डं देवस्य त्वेति वैणवम् ।
इन्द्रस्य वज्र इत्येनं तत ऊर्ध्वं त्रिरुन्मृजेत् ॥ १४७ ॥
वेगवेति मूर्धोपरि वेष्टयेत्त्रिः प्रदक्षिणम् ।
यो मे दण्ड इति पतेदादद्यो च पुनश्च तम् ॥ १४८ ॥

प्रतिष्ठे स्थो हि युगपदध्य रोहेदुपानहौ ।
प्रजापतेः शरणमिति गृह्णीयाच्छत्रमेव च ॥ १४९ ॥
रथमारुह्य वा गच्छेदश्वं हस्तिनमेव च ।
रथेन प्रविशेद्ग्रामं रथन्तरे ति मन्त्रतः ॥ १५० ॥
अश्वेन चेदथाश्वोऽसि हयोऽसीति गजेन चेत् ॥ १५१ ॥
इन्द्रस्य त्वेति मन्त्रेण चाऽऽरुह्य प्रविशेद्गृहम् ।
यत्रास्य पूजकरिनिष्टस्तद् गच्छन्नुपतिष्ठते ॥ १५२ ॥
स स्रवन्त्विति मन्त्रेण कुर्दुकत्वा दिशस्ततः ।
आभिमुख्येन तं गच्छेद्य ोऽसीत्यवलोकयेत् ॥ १५३ ॥
अथास्याऽऽवसथं कृत्वा पूजकोऽर्घ इतीरयेत् ।
कुरुतेति प्रतिब्रूयात्स्नातकस्तदनन्तरम् ॥ १५४ ॥
पूजकश्च शुचौ देशे कूर्चं पाद्यमथार्घ्यकम् ।
मधुपर्काचमनीयौ सादयित्वा क्रमेण तु ॥ १५५ ॥
पात्रे हसीयस्यानीय दधि मधु घृतं त्रिवृत् ।
वर्षीयसाऽपिधायात्र कूर्चं नीत्वाऽथ पूजकः ॥ १५६ ॥
कूर्च इत्याह सोऽप्यस्मिन्प्राङ्मुखश्चोपविश्य च ।
राष्ट्रभृदितिमन्त्रेण पाद्यमित्याह पूजकः ॥ १५७ ॥
पादौ प्रक्षालयेत्तस्य तत्करौ सोऽपि संस्पृशेत् ।
विराज इत्यथाऽऽत्मानं प्रत्यामृश्य मयीति च ॥ १५८ ॥
अर्घ्यमित्युक्त्वा गृह्णीयादामागन्निितिमन्त्रतः ।
शेषमानीयमानं तं समुद्रं चेति मन्त्रयेत् ॥ १५९ ॥
आचमनीयमित्याह किंचिदादाय तत्पिबेत् ।
अमृतोपस्तरणमसि मधुपर्क इतीरिते ॥ १६० ॥
देवस्य त्वेति मन्त्रेण हस्ताभ्यां परिगृह्य च ।
पृथिव्यास्त्वेति मन्त्रेण पृथिव्यां स्थापयेच्च तम् ॥ १६१ ॥
अङ्गुष्ठोपकनिष्ठाभ्यामालोड्य त्रिः प्रदक्षिणम् ।
तेजसे त्वेत्यथाऽऽवृत्त्या ताभ्या त्रिः प्राशयेदथ ॥ १६२ ॥
अमृतापिधानमसि ततः शेषं पिबेज्जलम् ।
आचम्य गौरित्युक्ते तां गौर्धेनुश्च विसर्जयेत् ॥ १६३ ॥
ततो भूतमिति प्राह तत्सुभूतं विराडिति ।
ब्राह्मणान्भोजयेनेति संशास्त्यन्यमथाऽऽगते ॥ १६४ ॥

द्यौस्ते ददात्वित्यादाय प्राशयेन्द्राग्नीति मन्त्रतः ।
गुरोः सकाशादागत्य मातापित्रोरनुज्ञया ॥ १६५ ॥
भार्यामथोपयच्छेत्तु असगोत्रादिलक्षणाम् ।
ब्राह्मो दैवोऽथ आर्षश्च गन्धर्वाप्सरराक्षसाः ॥ १६६ ॥
षड्विवाहाश्च धर्म्याः स्युरष्ट वाऽऽहुरथापरे ।
स्वामी कन्यामलंकृत्य वरायोदकपूर्वकम् ॥ १६७ ॥
प्रक्षाल्य पादौ तां दद्याद्वरस्तु प्राङ्मुखो भवेत् ।
तत उद्वाहकर्म श्वः करिष्य इति कल्पनाम् ॥ १६८ ॥
इध्मं बर्हिश्च दर्वीं च लाजानश्मानमेव च ।
प्रोक्षणीमाज्यधानीं च प्रणीतापात्रमौषधीः ॥ १६९ ॥
अग्निमुपसमाधाय परिधानान्तमेव च ।
वधूमानीयमानां तां समीक्षेत सुमङ्गलीः ॥ १७० ॥
गत्वोत्तरेण पात्राणि चाग्निं स्वामिनमन्तरा ।
दक्षिणेनोपवेश्येयमाचम्याऽऽरभते पतिः ॥ १७१ ॥
परिषेकादिकं कृत्वा व्याहृत्यन्तमनुक्रमात् ।
अग्निरैत्वादिभिः षड्भिर्वारुण्यादिभिरेव च ॥ १७२ ॥
कृत्वा प्रजापतेत्यन्तमश्मानं पूर्ववद्बुधः ।
आस्थाप्य चापरेणाग्निं दर्भान्पूर्वापरान्द्वयान् ॥ १७३ ॥
उदगग्रांश्च संस्तीर्य तेषु पूर्वापरौ च तौ ।
तिष्ठतः पूर्वदर्भेषु प्रत्यङ्मुखोऽपरेषु सा ॥ १७४ ॥
प्राङ्मुख्याः सकरं तस्या लोमाङ्गुष्ठं प्रगृह्य च ।
सरस्वतीत्यथाऽऽत्मानमग्रेणैनां प्रसव्यतः ॥ १७५ ॥
नीत्वा प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा स्वयं चाऽऽवृत्त्य सव्यतः ।
दक्षिणं दोः समीकृत्वा प्राङ्मुखश्च भवेदथ ॥ १७६ ॥
अवस्थाप्य ततोऽघोरेत्याभिः षड्भिरथाऽऽमृशेत् ।
उपवेश्य यथास्थानमुपस्तीर्य तदञ्जलौ ॥ १७७ ॥
इमाल्लाँजान्द्विरावृत्त्य लाजांस्तत्राऽऽवपेदथ ।
इयं नारीत्यभिघार्य त्वञ्जलिना जुहोति च ॥ १७८ ॥
उत्थाप्योदायुषेत्येनां विश्वा उत सहानया ।
अग्निं प्रदाक्षिणं कृत्वाऽथोपवेश्याभिघार्य च ॥ १७९ ॥

लाजान्हुत्वा तथोत्थाय परिक्रम्योपवेश्य च ।
तथा तृतीयं कृत्वाऽथ जयादिस्विष्टकृत्ततः ॥ १८० ॥
ब्रह्मोद्वासनपर्यन्तं शेषकार्यं समाप्य च ।
भार्यां प्राचीमुदीचीं वा क्रामयेत्यनुशास्ति सः ॥ १८१ ॥
दक्षिणेन प्रक्रम्येत्यथैकमिषेति सप्तमी ।
परिगृह्य च तत्पादं सखायाविति मन्त्रतः ॥ १८२ ॥
दक्षिणेन पदाऽऽक्रम्य पादं तस्याश्च दक्षिणम् ।
हस्तेन दक्षिणं चांसमुपर्यन्ववमृश्य च ॥ १८३ ॥
ममेति हृदयं स्पृष्ट्वा प्राणानामिति मन्त्रतः ।
नाभिदेशं ततः प्राचीं पश्चादग्नेर्निवेश्य च ॥ १८४ ॥
पुरः प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठेदद्भिः प्रोक्षेदिवं (द्वधूं) ततः ।
आपो हिरण्यपवमानैः प्रतिमन्त्रं च बान्धवाः ॥ १८५ ॥
बीजान्यधिश्रयन्त्यत्र जायापत्योश्च मूर्धनि ।
ततो भार्यां पितृगृहाच्छकटेन रथेन वा ॥ १८६ ॥
पुरुषाश्च वधूपत्योः पृष्ठतोऽग्निं हरन्त्यथ ।
उत्तरं कर्म कर्तव्यं स्वस्मिन्नेव गृहे ततः ॥ १८७ ॥
नीत्वैनां स्वगृहं प्राह दक्षिणं पादमित्यथ ।
यथा संप्रेषिता पत्युर्गृहं सा प्रविशेत्पदा ॥ १८८ ॥
तत्र चाग्निं समाधाय यदग्नेः संस्तृणाति च ।
लोहितं चर्माऽऽनडुहं प्राचीनग्रीवमेव च ॥ १८९ ॥
प्राङ्मुखावुपविश्यास्मिन्निह गावोऽथ दम्पती ।
आनक्षत्राणामुदयादासाते वाग्यतौ ततः ॥ १९० ॥
उदिते त्वथ निष्क्रम्याथोपतिष्ठेत वै दिशः ।
देवीः षडुर्वीरित्युक्त्वा ततो मा हास्म हीत्यथ ॥ १९१ ॥
नक्षत्राणि ततश्चन्द्रं मारधामेत्यृषीनथ ।
सप्तर्षय इति ततो ध्रुवक्षीत्यादिभिर्ध्रुवम् ॥ १९२ ॥
ततः प्रियेण संभाष्य प्रविशेद्भार्यया सह ।
स्थालीपाकप्रयोगोऽत्र त्वाघारापूर्विकावुभौ ॥ १९३ ॥
समिध्याग्निं परिस्तीर्येध्मादीनि प्रयुनक्ति च ।
उपस्तराभिघारार्थं मेक्षणं च समिद्द्वयम् ॥ १९४ ॥

वृषभं दक्षिणां व्रीहीन् मुसलोलूखले अपि ।
संस्कृत्य प्रोक्षणीं व्रीहीनिदमग्ने वपन्त्यथ ॥ १९५ ॥
निधाय प्रोक्षणं कृत्वा व्रीहीन्पात्राण्यनन्तरम् ।
प्रोक्ष्यावहन्ति तान्पत्नी तत्राग्नौ श्रपयेदथ ॥ १९६ ॥
दर्वीं संस्कृत्य चाऽऽज्यं चाभिघार्योद्वासयेदुदक् ।
कृत्वा व्याहृतिपर्यन्तमादध्यात्समिधं ततः ॥ १९७ ॥
मेक्षणेन ततो दर्व्यामुपस्तीर्य ततश्चरोः ।
मध्यात्पूर्वाच्च तेनैव अवदायाभिघारयेत् ॥ १९८ ॥
हविः प्रत्यभिघार्याथ अग्नयेति जुहोति च ।
वारुण्यादिजयादींश्च ततो राष्ट्रभृतः क्रमात् ॥ १९९ ॥
उपस्तीर्योत्तरार्धाच्च सकृदादाय वै चरोः ।
अभिघार्य द्विरादध्यात्समिधं चोत्तरां ततः ॥ २०० ॥
अग्नये स्विष्टकृतेऽथ प्रागुदग्जुहुयादथ ।
मेक्षणं च प्रहृत्याग्नौ संस्रावेण जुहोत्यथ ॥ २०१ ॥
वसुभ्य इति मन्त्रेण शेषं कार्यं यथोक्तवत् ।
स्थालीपाकस्य शेषेण ब्राह्मणं परिवेषयेत् ॥ २०२ ॥
अथासौ वृषभं दद्यादाचार्याय च दक्षिणाम् ।
एष आघारवान्पक्षस्तत आपूर्विकः क्रमात् ॥ २०३ ॥
समिध्याग्निं परिस्तीर्य यावद्द्रव्यं प्रयुज्य च ।
प्रोक्षणीः पूर्ववत्कृत्वा हविरग्नावधिश्रयेत् ॥ २०४ ॥
हविः पात्राणि च प्रोक्ष्य दर्व्याज्यकरणं ततः ।
अभिघार्योदगुद्वास्य चावखण्डयादि पूर्ववत् ॥ २०५ ॥
परिषिच्याग्नये हुत्वा तथा स्विष्टकृतेति च ।
व्याहृतीभिस्ततो हुत्वा परिषेकविसर्जनम् ॥ २०६ ॥
अयमौपासने नित्यः क्रमस्तस्य विधीयते ।
सायं प्रातरुभौ कालौ होमः सायमुपक्रमः ॥ २०७ ॥
यथाकालं विहृत्याग्निं संस्तीर्य परिषिच्य च ।
एकां समिधमाधाय तस्यामेव जुहोत्यथ ॥ २०८ ॥
व्रीहीन्संप्रोक्ष्य हस्तेन जुहुयादग्नये पुरा ।
प्राजापत्यं द्वितीयं स्यात्सौर्यं प्रातर्विशेषणम् ॥ २०९ ॥

परिषेकं विसृज्यैवं यावज्जीवं समाचरेत् ।
पाणिग्रहात्प्रभृत्येवं होमस्तु परिकल्पते ॥ २१० ॥
समिध्यात्मन्यरण्योर्वा समारोपणमेव च ।
अग्निमारोपयेत्तस्मिन्नयं ते योनिरित्यृचा ॥ २११ ॥
आजुह्वान उद्बुध्यस्वेति द्वाभ्यां तमवरोहयत् ।
पौर्णमास्यामुपक्रम्य नित्यं पर्वणि पर्वणि ॥ २१२ ॥
स्थालीपाकेन विधिना यजतेऽत्र न दक्षिणा ।
गृहप्रवेशनीयस्याप्यर्वाक्पर्वणि चाऽऽगते ॥ २१३ ॥
तत्र मा भूदतः पश्चाच्चतुर्थीहोमतः पुरा ।
आगते चेद्भवेदत्राप्यत ऊर्ध्वं विधेर्बलात् ॥ २१४ ॥
अथ पाणिग्रहादूर्ध्वं दम्पती व्रतचारिणौ ।
स्थालीपाकप्रभृत्यूर्ध्वं त्रिरात्रं च तथैव तु ॥ २१५ ॥
चतुर्थ्यामपररात्रे त्वग्न्याधानादि पूर्ववत् ।
संपातपात्रसहितमिध्मादीनि प्रयुज्य च ॥ २१६ ॥
कृत्वा स त्वं न इत्यन्तं प्रधानाश्च नवाऽऽहुतीः ।
अग्ने वायोस्तथाऽऽदित्य प्रायश्चित्त इति त्रयम् ॥ २१७ ॥
नव संपद्यते तत्रोक्तानुक्तव्युत्क्रमोत्क्रमैः ।
तासां संपातमानीय पात्रे तेन जुहोत्यथ ॥ २१८ ॥
तस्या मूर्ध्नि चतसृभिर्भूर्भङ्गमिति च क्रमात् ।
त्वमग्ने अयासीत्यादि शेषं परिसमापयेत् ॥ २१९ ॥
तृतीये गर्भमासे स्यात्कर्म पुंसवनं च तत् ।
क्रियते प्रतिगर्भं च क्रमस्तस्य विधीयते ॥ २२० ॥
अग्न्याधानादि तुल्यं स्यात्सीमन्तोन्नयनेऽपि च ।
पुण्याहवाचनान्तं च प्राङ्मुखीमुपवेश्य ताम् ॥ २२१ ॥
वृषाऽसीति करे तस्या यवमाधाय दक्षिणे ।
आण्डौ स्थ इति सर्षपौ निधायाथाभितो यवम् ॥ २२२ ॥
तस्योपरि दधिद्रप्सं श्वावृत्तदिति चाऽऽनयेत् ।
तदेनां प्राशयित्वा च आचान्ताया अथोदरम् ॥ २२३ ॥
अभिष्ठाऽहामिति द्वाभ्यां हस्ताभ्यां परिमृश्य च ।
न्यग्रोधशृङ्गं पिष्ट्वाऽस्य रसं संयोज्य सर्पिषा ॥ २२४ ॥
नासाया दक्षिणे तस्यास्तूष्णीं छिद्रे प्रवेशयेत् ।

स्त्रियाः प्रथमगर्भायाश्चतुर्थे मासि कर्म यत् ॥ २२५ ॥
सीमन्तोन्नयनं नाम प्रयोगस्तस्य चोच्यते ।
अग्निमुपसमाधाय व्याहृत्यन्तमनुक्रमात् ॥ २२६ ॥
धाता ददातु इत्यादिधात्रीभिश्च चतसृभिः ।
वारुण्याद्यन्नहोमान्तं कृत्वा पुण्याहवाचनम् २२७ ॥
भार्यामथापरेणाग्निं प्राङ्मुखीमुपवेश्य च ।
त्रेण्या शलल्या संगृह्य शलालुग्रप्सकं सह ॥ २२८ ॥
प्रत्यङ्तिष्ठन्पुरोऽस्यास्तु भूर्भुवः सुवरित्यथ ।
राकां यास्त इति द्वाभ्यां मूर्ध्नि सीमन्तमुन्नयेत् ॥ २२९ ॥
ललाटदेशमारभ्य केशानूर्ध्वं विभज्य च ।
सोमो विश्वा इति द्वाभ्यामभिमन्त्रयत्वे च ताम् ॥ २३० ॥
यस्यास्तीरे निवासः स्यान्नद्यास्तन्नाम गृह्यते ।
जाते कुमारे यत्कर्म प्रयोगस्तस्य चोच्यते ॥ २३१ ॥
पुंस एव न च स्त्रीणां जातकर्मविधिर्भवेत् ।
अश्मानं परशुं स्वर्णं सर्षपांश्च तुषानपि ॥ २३२ ॥
उष्णशीता अपश्चाऽऽज्यमुदकुम्भं च संभरेत् ।
अश्मन्याधाय परशुं हिरण्यं तस्य चोपरि ॥ २३३ ॥
विपर्यस्य तथोपर्यश्माधस्तात्कनकं भवेत् ।
तेषामुपरि हस्ताभ्यां कुमारं धारयत्यथ ॥ २३४ ॥
अश्मा भवाङ्गादङ्गादित्येतन्मन्त्रद्वयेन तु ।
निर्हृत्यौपासनं वह्निमगारात्सूतकाद्बहिः ॥ २३५ ॥
अन्यत्र शुद्धदेशे तु संस्थाप्य च सुरक्षितम् ।
कपालाग्निं समुद्धाप्यान्याग्नौ तत्रैव पावके ॥ २३६ ॥
न परिस्तरणं तूष्णीं समन्तात्परिषिच्य च ।
अङ्गारकेषु हस्तेन तुषान्सर्षपामिश्रितान् ॥ २३७ ॥
शण्डो मर्कादिभिर्मन्त्रैरेकादशभिरावपेत् ।
उद्धूपयेत्कुमारं तं पाणी प्रक्षालयेत्ततः ॥ २३८ ॥
यत्ते सुशीमे वेदेति द्वाभ्यामालभते धराम् ।
रक्षणार्थं कुमारस्य तस्मिन्नग्नौ करोति च ॥ २३९ ॥
भूम्यालम्भनपर्यन्तं सायं प्रातस्तथाऽन्वहम् ।
मेधाजननकर्मास्य करिष्य इति कल्पनम् ॥ २४० ॥

बद्ध्वा हिरण्यं दर्भेषु तदन्तर्धाय वै घृतम् ।
प्राक्शिरस्कं कुमारं तं धारयन्प्राशयेत्ततः ॥ २४१ ॥
मन्त्रैर्भूर्ऋच इत्यादिचतुर्भिः स्नापयेत्तथा ।
उष्णशीताभिरद्भिश्च क्षेत्रियै त्वादिभिस्त्रिभिः ॥ २४२ ॥
या दैवीरित्यनेनाऽऽशु मातुरङ्के निधाय च ।
मातरं च सुतं मा ते पुत्रमित्यभिमन्त्रयेत् ॥ २४३ ॥
प्रक्षाल्य दक्षिणं तस्याः स्तनमापाययेदमुम् ।
अयं कुमार इत्येवं स्तनं सव्यं च पाययेत् ॥ २४४ ॥
नामयतीति मन्त्रेण उभावपि मृशेत्स्तनौ ।
तच्छिरस्त उदकुम्भं निधायापो गृहेष्विति ॥ २४५ ॥
नामाधानविधानस्य प्रयोगस्त्वभिधीयते ।
मातापुत्रौ ततः स्नात्वा पिता च द्वादशेऽहनि ॥ २४६ ॥
खननासेकगोशकृल्लेपनैः सूतिकागृहम् ।
शुद्धिं कृत्वाऽवशिष्टं च गोमयेनोपलिप्यते ॥ २४७ ॥
संकल्प्यास्य कुमारस्य नामाऽऽधास्यावहे इति ।
निर्हृत्य सूतिकावह्निमाहृत्यौपासनं ततः ॥ २४८ ॥
अग्निमुपसमाधाय व्याहृत्यन्तं करोत्यथ ।
धाता ददात्विति तत आहुतीश्च त्रयोदश ॥ २४९ ॥
वारुण्याद्यन्नहोमान्तं कृत्वा पुण्याहवाचनम् ।
पुत्रस्य नाम दद्याच्च तन्मध्ये स्वस्तिवाचनम् ॥ २५० ॥
सूपसर्गयुतमपि घोषवदादिलक्षणम् ।
अभिव्याहृत्य पितरौ पूर्वं नक्षत्रसंयुतम् ॥ २५१ ॥
देवदत्तोऽयं कार्तिक इति स्वस्तिमृद्धिमेव च ।
षष्ठे मासिकमारभ्य कर्मान्नप्राशनं भवेत् ॥ २५२ ॥
अग्नेरुपसमाधानाद्यत्पुण्याहान्तमेव च ।
दधिमधुघृतान्यत्र मिश्रीकृत्य त्रयं ततः ॥ २५३ ॥
भूस्त्वयीत्यादिभिर्मन्त्रैस्त्रिस्तं तु प्राशयेदमुम् ।
सव्यञ्जनमथान्नं चापां त्वेति प्राशयेत्ततः ॥ २५४ ॥
तृतीयेऽब्दे कुमारस्य चौलकर्म विधीयते ।
अग्नेरुपसमाधानाद्यत्पुण्याहान्तमेव च ॥ २५५ ॥

अन्वारभ्य कुमारोऽपि आसीनः प्राङ्मुखो भवेत् ।
माता वा ब्रह्मचारी वा उदक्समुपविश्य च ॥ २५६ ॥
बद्ध्वा केशान्कुमारस्य गृह्णीयाद्गोमये ततः ।
अप आनीय शीतोष्णास्ताभिरद्भिः प्रदक्षिणम् ॥ २५७ ॥
उन्दनादिवपनान्तं सर्व्वं सर्वत्र पूर्ववत् ।
देवश्रूरिति मन्त्रेण प्रवपेद्दक्षिणे ततः ॥ २५८ ॥
येनावपदिति पश्चाद्यत्र पूषेत्युदक्ततः ।
यथा ज्योगिति पुरतः शिखां कुर्याद्यथाविधि ॥ २५९ ॥
निधाय गोमये सर्वोऽन्यत्र पूषेति मन्त्रतः ।
निखनेदथ गोष्ठे वा दर्भस्तम्ब उदुम्बरे ॥ २६० ॥

इत्युपनयनादिचौलान्ता गृह्यकारिकाः ।

## अथ सत्याषाढविरचितयाजुषहौत्रसूत्रमाज्यभागान्तम् ।
## ( महादेवकृतवैजयन्तीव्याख्यासमेतम् । )

अत्रोक्तानां दर्शपूर्णमासादीना साकल्यसिद्धये याजुषं हौत्रमेकविंशे व्याख्यास्यमानमत्र प्रदर्श्यते । तत्र सूत्रकृता केचिन्मन्त्रा आदिप्रतीकतः । विनियुक्ता अन्यशाखागतास्तान्पाठतो ब्रुवे । बौधायनोक्तपाठेन विनियोगक्रमेण च । दर्शपूर्णमासयोर्हौत्रं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ शाखान्तरोपसंहारेण व्याख्यायत इत्यर्थः । क्लृप्ते होतृषदने ॥ २ ॥ अध्वर्युणेत्यर्थः । देवा यो अप्सु महिम इषव इत्यप आचामति ॥ ३ ॥ इषवः स इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि । यच्चाहमभि दुद्रोह यच्च शेप उदाहृतमिति मन्त्रेणाप आचामति प्राश्नाति । ततः शुद्ध्यर्थमाचम्य । यज्ञोपवीत्याचान्तो विहारमभ्यावृत्यान्तरेण वेद्युत्करौ भूः प्रपद्ये भुवः प्रपद्य इति प्रपद्य ॥ ४ ॥ कर्माङ्गवस्त्रसूत्रादिना यज्ञोपवीती भूत्वा पुनराचम्येति श्रौतमाचमनम् । वस्त्रपरिधानानन्तरं स्मार्तं तु प्राप्तमेव । विहारमभिप्रदक्षिणमावृत्य वेद्युत्करमध्येन—भूः प्रपद्ये भुवः प्रपद्ये सुवः प्रपद्ये पङ्क्तिं प्रपद्य इति मन्त्रेण प्रविश्य । उत्तरेण वेदिमवस्थाय ॥ ५ ॥ स्पष्टम् । छन्दोभिश्छादये छन्दोभिश्छन्नोऽस्मीति जपति ॥ ६ ॥ एतावानेव मन्त्रः । दक्षिणेन पादेनोत्तरां वेदिश्रोणिमवक्रामति ॥ ७ ॥ सर्वेण पादेन न तु प्रपदेन । अन्तर्वेद्यन्यः पादो भवति इति श्रुतेः । अतः क्रमेण मन्त्रमाह—इदमहं पञ्चदशेन वज्रेणेति ॥ ८ ॥ वज्रेण भ्रातृव्यमवक्रामामि योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इत्यन्तेन श्रोणिमवक्रामति ।

अत्र तिष्ठन्सामिधेनीरन्वाह ॥ ९ ॥ श्रोणिमवक्रम्य तिष्ठन्नेव सामिधेनीरन्वाहेति वक्ष्यमाणं सामिधेन्यनुवचनाङ्गमिति प्रतिज्ञाकरणम् । तस्यैतानि वाचो नियम्यानि भवन्ति ॥ १० ॥ तस्येति वचनं सामिधेन्यनुवचनमात्रे मा भूदिति यजतो होतुरित्यर्थः । वाचो नियमाः—सामिधेनीसंप्रैषादध्या परिधानीयायाः पुरोनुवाक्यासंप्रैषादध्या प्रणवाद्याज्यासंप्रैषादध्या वषट्कारान्निगदमारभ्याऽऽसमाप्तेर्हृदयदेशेऽञ्जलिं कृत्वाऽनुब्रूयाद्यजेच्च ॥ ११ ॥ प्रैषादधि प्रैषादनन्तरम्, आ परिधानीयायाः परिधानीयामनुवचनपर्यन्तं निगदमारभ्याऽऽसमाप्तेर्हृदयदेशेऽञ्जलिं कृत्वाऽनुब्रूयादित्यन्वयः । एवं प्रत्येकमा प्रणवादिति संबन्धो ज्ञेयः । याज्यासंप्रैषादध्या वषट्काराद्यजेदिति सबन्धः पूर्वेण सह । अध्वर्युः संप्रेष्यत्यग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीति ॥ १२ ॥ अनुवादः क्रमार्थः । तदनन्तरम्—ब्रह्मन्सामिधेनीरनुवक्ष्यामीति ब्रह्माणमामन्त्रयते ब्रह्मन्ननुवक्ष्यामीति वा ॥ १३ ॥ स्पष्टम् । प्रसव उक्ते दशहोतारं व्याख्याय व्याहृतीर्जपित्वा ॥ १४ ॥ ओ३मनुब्रूहीति ब्रह्मणा प्रसव उक्ते सति व्याख्याय, वाक्यशाश्वित्तिः स्रुक्० इति पठेत् । व्याहृतिजपं जपेत् । हिमिति त्रिर्हिंकरोति ॥ १५ ॥ स्पष्टम् । प्रवो वाजा अभिद्यव इति पञ्चदश सामिधेनीरन्वाह ॥ १६ ॥ पाठक्रमेणेत्यर्थः । मध्यमस्थानेन ॥ १७ ॥ मध्यमेन स्वरेण । तस्यार्थवादस्वरूपमाह—विज्ञायते यत्क्रौञ्चमन्वाहासुरं तद्यन्मन्द्रं मानुषं तद्यदन्तरा तत्सदेवमन्तरानूच्य५सदेवत्वायेति ॥ १८ ॥ मन्द्रक्रौञ्चस्वरयोर्मध्यमेन स्वरेण पञ्चदश सामिधेनीरन्वाह । मन्द्रक्रौञ्चौ प्रातिशाख्याज्ज्ञेयौ । त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम् ॥ १९॥ प्र वो वाजा इत्येतां त्रिवारमन्वाहैवमाजुहोतेति । प्रथमोत्तमग्रहणेन या यत्र यावत्यश्च पठितास्तासां सर्वासां ग्रहणम् । अनवानम् ॥२०॥ मध्य उच्छ्वासमत्यजन्नर्धर्चे विराममकुर्वन् । विरामः कालकृतं व्यवधानमनुच्छ्वसन्नपि न कुर्यादित्यर्थः । ‘ संततमन्वाह ’ इति श्रुतेः । ता एवं पञ्चदश संपद्यते ॥ २१ ॥ सामिधेन्य इति शेषः । एकादशर्चः पठ्यन्ते पञ्चदश सामिधेन्य इति कथमत उक्तमेवमिति । प्रथमोत्तमयोस्त्रिस्त्रिरभ्यासेन पञ्चदशेत्यर्थः । त्रिःप्रथमामिति त्रिःसंख्या प्रथमया संबध्यते । एवमनवानमित्यपि । तेन त्रिरन्वाहानवानं चेति साभ्यासानवानमित्यर्थः । एवमुत्तमामपि । अपि वाऽनुवचनेऽनुवचनेऽपानिति ॥ २२ ॥ प्रणवे प्रणवेऽपानिति श्वासं त्यजतीत्यर्थः । अग्न आयाहि वीतय इत्यस्या अर्धर्चेऽपानिति ॥ २३ ॥ हव्यदातय इत्यत्र । एवमितरासु ॥ २४ ॥ तं त्वेत्यादिस्वष्टसु प्रथमे प्रथमे त्वर्धर्चेऽपानिति । पूर्वस्याश्चोत्तरमुत्तरस्याश्च पूर्वमर्धर्चौ संदधाति ॥ २५ ॥ पूर्वा पूर्वा या या भवत्यृक् । तस्यास्तस्या उत्तरमुत्तरमर्धर्चमुत्तरस्या उत्तरस्याः पूर्वेणार्धर्चेन संदधाति । संधिना योजयति । प्र वो वाजा० इत्यस्यास्तृतीयेऽभ्यासे देवाञ्जिगाति सुम्नयो३मग्न आयाहीत्यर्धर्चे संधायापानितीत्यर्थः । एवमुत्तरास्वापि । पारिधानीयायाः प्रथमपर्याय एव पूर्वार्धर्चस्य

पूर्वस्या उत्तरार्धर्चेन संदधाति । ततस्तु प्रथमादि यां प्रणवान्ते प्रणवान्तऽभ्यासऽपान्य नवा ततः पूर्वार्धर्चेनापान्योत्तरार्धर्चं तमुत्तरस्याः पूर्वार्धर्चेन संदधाति । सर्वेष्वृगन्तेषु प्रणवं दधाति ॥ २६ ॥ सर्वेषु सामिधेनीव्यतिरिक्तेष्वपि । प्रसिद्धं प्रणवमोमिति तमृचामन्ते दधाति । संधायेत्यर्थः । ओकारमुकारमुदात्तम् ॥ २७ ॥ नानास्वरभेदेन दृश्यते । अन्यशास्त्रे त्वैकश्रुत्यं च विहितं व्याकरणेनात आहौकारं प्रणवावयवमुदात्तं दधाति । ऋचा सऽहितम् ॥ २८ ॥ प्रणवस्यौकारमृचा संहितम् । स ऋगन्तादनन्तरो भवति । संहितश्च संधिगतः । ऊनमथ वा पूर्णम् ॥ २९ ॥ सार्धद्विमात्रप्रतिषेधार्थं प्रणवः प्लुतो दर्शितः स ओकारास्त्रिमात्रो भवति प्लुत इति यावत् । स ऊन इत्युच्यते । केचित्सार्धद्विमात्रमूनमाहुः । अत्राऽऽश्वलायनेनोक्तम्—ओकारं त्रिमात्रं मकारान्तं कृत्वेति तथा चतुर्मात्रोऽवसान इति त्रिमात्रादूनात्पूर्णः । ओमित्यूनमो ३ मिति पूर्णं च । पूर्णमेवावसानीयम् ॥ ३० ॥ ऋचामवसानीयमवसान एवमेवं दधाति । अर्थादनवसानीये न्यूनं दधातीत्युक्तम् । एवकारेणावसानीये नियमोऽनवसानीये विकल्पः । यद्दच्युत्तमं छन्दोमानं तदपोह्य तस्य स्थाने तत्पूर्णम् ॥ ३१ ॥ पक्षेऽकारं यत्र प्राप्तं तत्र तस्या ऋचो यदुत्तममन्तिमं छन्दोमानं छन्दो गायत्र्यादि तद्येन यादृशेन मीयते चतुर्विंशत्यादिना, चतुर्विंशत्यादिसंख्या पूर्यते तदपोह्य त्यक्त्वा तस्य स्थाने पूर्णं दधाति । 'सुम्नयुः' इत्यत्र यकार उकारो विसर्जनीयश्चोत्तमं छन्दोमानं विसर्जनीयस्यापि पूर्वावयवत्वात् । ततस्तु तदुत्कृष्य तस्य स्थाने प्रणवं दधाति । एव सर्वत्रापि ज्ञेयम् । यत्पूर्वं छन्दोमानस्य व्यञ्जन न तल्लुप्यते ॥ ३२ ॥ युरित्यत्र च्छन्दोमानं यकारोऽपि भवति स विसर्जनीयवन्न लुप्यते । द्विमात्रमुकाराविसर्जनीयावेव लुप्येते इत्यर्थः । तदुक्तमाश्वलायनेन—स्वरादिर्यश्चद इति मात्रेण । तं त्वा समिद्भिरङ्गिर इत्येतां सामिधेनी त्रिर्विगृह्णाति ॥ ३३ ॥ विग्रहो नावसानमपि तु पदविच्छेदेन विभागमात्रं तथाऽर्धर्चे विरामेण विग्रहोऽन्यत्रापच्छेदः । तथा च समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसीत्यत्रावस्यति । पूर्वं तु सविसर्जनीयं पदमुच्चारयति । तथा च त्रेधा विभक्तो मन्त्रो भवति । समिद्धो अग्न आहुत देवान्यक्षि स्वध्वरेति सोऽवध्यायिक पदं प्रतिषिध्य दधाति ॥ ३४ ॥ एतत्सर्वमपि उत्तमस्याक्षरस्य विकारमेक आहुरविकारः स्यादपरमिति यदापस्तम्बेनोक्तं तदनेनाऽऽचार्येण व्यवस्थापितम् । अवसानप्रणवे विकार एवमनवसानन्यूने त्वविकार एवेति । तथा स्रुगादापन उत्तमां नमस्यामाह ॥ ३५ ॥ शाखान्तर ऋगन्तस्य दर्शनात्तन्मा भूदिति । घृतवतीमध्वर्यो: स्रुचमास्यस्वेत्याहेति ब्राह्मणव्याख्यातपाठक्रमेणैव ग्राह्योत्तमा नमस्या सैव वक्तव्येत्यर्थः । उपहूतेडोपहूतेडेतीडायाम् ॥ ३६ ॥ आहेति पूर्वमत्र ब्राह्मणे पाठ इडोपहूतेडोपहूतेति सोऽत्र मा भूदपि तु प्रथमं पदद्वयमप्युत्तरपदद्वयक्रमपाठेनैव वक्तव्यम् । कुतः—ब्राह्मणपाठस्य यं कामयेतापशुः स्यादिति पराचीं तस्येडामुपह्वयेत, इति निन्दया

प्रतिषेधात् । कथम् । उपहूतेति पदं यस्मिन्मन्त्रे परं तेन मन्त्रेणोपहूतेडा पराची पराङ्मुखा । यत्रोपहूतेति पदं मुखनमनेनोपहूता प्रतीची प्रत्यङ्मुखी । होतुः प्राङ्मुखस्य सा प्रत्यङ्मुखी । होतुरभिमुखी होतारं प्रति अभिमुखी अञ्चतीति प्रतीची भवति । तस्माद्यथाऽभिमुखी भवति तथैवाऽऽह्वयेतेत्यर्थः । तथा शाखान्तरीयोऽस्मत्संहितायां पाठो व्याख्यात इत्यभिप्रायः । स्पष्टमेतदापस्तम्ब आह—प्रतिषेधस्तु विज्ञायते चेडोपहूतेति तत्पराच्युपहूतेडेति तत्प्रतीचीति । शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पद इति शंयुवाके ॥३७॥ आह । अत्रापि पाठान्तरस्य व्यावृत्तिः—शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पद इत्यस्य । यच्चान्यत्प्रकृतावेवंजातीयं स्यात्तदेव तत्र नियम्येत । त्रीꣳस्तृचानिति वदिष्यति । तत्रेडेऽन्यो नमस्य इत्यादि षड्लुप्यन्ते । तथा च समिद्धो अग्न आहुत इत्यत्रोक्तं तस्या ऋचो भावे न स्यादित्याशङ्क्योक्त यच्चान्यदित्यादि । यदि स्यात्तदेव तत्र प्रकृतौ नियम्येत न तु तत्रापि पश्चादावागमयितव्य इत्यर्थः । इतरद्विकृत्यर्थम् ॥ ३८ ॥ यच्चान्यदेवंजातीयं स्यात्तद्विकृत्यर्थम् । अयमभिप्रायः—धर्माणा यत्र ग्रन्थपतित(ठनं) तल्लक्षणेन कथनं किमर्थं—अग्न आयाहीत्यस्या—समिद्धो अग्न० इत्यस्या चोपदेशेन वक्तव्यम् । किमर्थं—पुनः सोऽवध्यायकामित्यादि लक्षणं कृतमिति न वाच्यम् । विकृतिष्वेवंजातीयं कार्यं स्यात्तदुपदेशेनोक्ते न स्याल्लक्षणेन पुनस्तदपि व्याप्नुयादिति विकृतासु सामिधेनीषु काम्यासु बहुयाजिनो वाऽपरिमितासु विकृताविष्ट्यन्तरे वा । आजुहोत दुवस्यतेत्युत्तरया परिदधाति ॥ ३९ ॥ समिद्ध इत्यस्या उत्तरया यदुक्तं त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामनवानामिति तदेतस्यामुत्तमाया भवतीत्यर्थः । त्वं वरुण इति वसिष्ठराजन्यानाम् ॥४०॥ वासिष्ठानां मूर्धाभिषिक्तानां चैतयोत्तमया परिदध्यात् । जगत्या वैश्यस्य ॥ ४१ ॥ परिदध्यात् । सप्तदशानुब्रूयाद्वैश्यस्य तदा धाय्ये द्वे वक्ष्यति तदा प्रवो वाजा० इत्युद्धृत्य तस्याः स्थाने समिध्यमानो अमृतस्य राजन्निति परिधानीया जागती । यदि कामयेत ब्रह्मवर्चसमस्त्विति गायत्रिया परिदध्यात् ॥ ४२ ॥ आजुहोतेत्यनेनैव वैश्यःपरिदध्यात् । इति सत्याषाढहिरण्यकेशिसूत्रव्याख्यायां महादेवकृतायां प्रयोगवैजयन्त्यामेकविꣳशतिप्रश्ने प्रथमः पटलः । त्रीꣳस्तृचाननुब्रूयाद्ब्राह्मणस्य त्रीꣳस्तृचाननुब्रूयाद्राजन्यस्य त्रीꣳस्तृचाननुब्रूयाद्वैश्यस्येति पाञ्चदश्येन विकल्पेरन् ॥ ४३ ॥ ब्राह्मणराजन्ययोः प्राकृतेन पाञ्चदश्येन वैश्यस्य साप्तदश्येन ॥ ४४ ॥ तस्य साप्तदश्यं नित्यम् । तत्र 'प्र वो वाजा० इत्यभ्यस्त एकस्तृचः अग्न आयाहीत्याद्यास्तिस्रो द्वितीयः, आजुहोतेति त्रिरभ्यस्तस्तृतीयः । वैश्यस्य तु समिध्यमानो अमृतस्य राजन्० इति वा त्रिरभ्यस्तः । तस्य पृथुपाजवत्यौ धाय्ये ॥ ४५ ॥ तस्य वैश्यस्य सप्तदशत्वाय पृथुपाजास्तꣳस बाध० इति धाय्ये अधिके आगमयितव्ये । पुरस्तात्समिद्धवत्याः ॥ ४६ ॥ समिद्धो अग्न० इत्यस्याः समिद्धवत्याः पुरस्तात्ते धाय्ये अनुब्रूयात् । समिध्यमानवतीसमिद्धवत्योर्मध्ये ब्रूयादिति श्रुतेः । एकविꣳशतिमनुब्रूया-

दिति ब्राह्मणव्याख्याताः काम्याः सामिधेनीकल्पाः ॥ ४७ ॥ सत्यां कामनायां तस्यां तस्यामेकविंशत्यादयो ज्ञेयाः । अत्रैक एवं संनिवेशमाहुः । प्रथमाया उत्तरे द्वे ईडे अग्निमिति तथाऽग्न आयाहीति सामत्वात्तृचस्त्वामग्नेः पुष्करादधि० इति त्रयस्तृचाः । समिध्यमान० इत्यस्या अनन्तरं अग्निमग्न० इत्येकादश पृथुपाजा इत्यष्टौ । एवमागन्तुकास्त्रिंशद्भवन्ति । ततस्तिस्रो दाशतय्य इति त्रयस्त्रिंशत् । प्रकृताः पञ्चदश । तथाऽष्टाचत्वारिंशत्संपद्यन्ते । तथा चैकविंशत्यादिषु पक्षेषु यथासंभवं योज्याः । तेषां पाञ्चदश्येन धर्मा व्याख्याताः ॥ ४८ ॥ पञ्चदशसामिधेनीकल्पे पञ्चदश सामिधेनीरन्वाहेत्यारभ्य परं प्रतिषिध्य दधातीत्यनेन ये धर्मा उक्तास्ते यथासंभवमष्टाचत्वारिंशत्सामिधेनीकल्पपर्यन्तेषु कल्पेषु यथायोग्यं ज्ञेयाः। सर्वाणि च्छन्दांऽस्यनुब्रूयाद्यो बहुयाजिन इति गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीषु ॥ ४९ ॥ नान्यान्यनुष्टुभादीनीत्यर्थः । बहुयाजिनोऽपरिमितमनुब्रूयादिति श्रूयते तत्त्वष्टाचत्वारिंशतमूर्ध्वमेव तत्रैव गायत्रीत्यादि । तत्र युक्ष्वाहि० इत्यादिका गायत्र्यः । तासां परिधानीयायाः पूर्वं तिस्र आगमयितव्याः । त्रिष्टुभो जगत्यश्च दाशतयीषु ज्ञेयाः । इति संनिवेशमाहुः । सर्वर्तुसोमयाजी बहुयाजी भवति ॥ ५० ॥ सर्ववसन्तेषु । स एव बहुयाजी न तु त्रिषु चतुर्ष्वेव वा । अपरिमितमनुब्रूयादित्यूर्ध्वमष्टाचत्वारिंशतमेव परिमाणेषु यथाकामी ॥ ५१ ॥ यावतीरपरिमिताः शक्नोति तावतीर्गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीरनुब्रूयात् । अन्तेऽधीयीरन् ॥ ५२ ॥ सूत्रान्तरोक्तसंनिवेशस्य निवारणमनेन न क्रियते । आगन्तूनामन्ते निवेशादित्यर्थः । यासां तु विकृतौ धाय्याशब्देन विधानं भवति ॥ ५३ ॥ ता एव नान्ते । धाय्यासंज्ञयाऽऽगन्तुन्यायबाधादित्यर्थः । उदाहृत्य दर्शयति—यथा पृथुपाजवत्यौ धाय्ये अनुमत्यौ धाय्ये उष्णिक्ककुभौ धाय्ये मानवी ऋचौ धाय्ये कुर्यादिति ॥ ५४ ॥ स्पष्टम् । पुरस्तात्सामिधेन्या आगमयेत् ॥ ५५ ॥ कृतव्याख्यानम् । आग्नेयीरेव गायत्रीरागमयेत् ॥ ५६ ॥ यदुक्तं गायत्रीजगतीष्विति तत्राऽऽग्नेयीरेव गायत्रीरागमयेत् । तथाऽऽगमयेद्यथा प्रथमोत्तमयोरावृत्त्या संख्या पूर्येत ॥ ५७ ॥ एकविंशत्यादिसंख्या प्रथमोत्तमयोरावृत्त्यैव । यथा पञ्चदशसंख्येत्यर्थः । उत्तमेऽनुवचनेऽग्ने महाँ असि ब्राह्मणभारत इत्यत्रापानिति ॥ ५८ ॥ वाहनो३मग्ने महाँआसि ब्राह्मणभारत, इत्युक्त्वा श्वासं त्यजेन्न तु प्रणवान्त उत्तमे । एवं परिभाष्य प्रयोगमाह—अथ प्रवरं प्रवृणीते यथा यजमानस्याऽऽर्षेयम् ॥ ५९ ॥ श्वासं त्यक्त्वैव वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रवरं प्रवृणीते, आवेदयति—यस्य यजमानस्य यथाऽऽर्षेयं तथा । तस्य प्रवरे ये यावन्तश्चर्षयस्तेषां संबधि प्रवरं यजमानस्य नाम तदृषिनाम्ना तद्धितान्तेन निरूपितं नामधेयं यदार्षेयं तदनतिक्रमेण । सह परेण त्रीननन्तरान् ॥ ६० ॥ परेण सह त्रीनव्यवहितांस्त्रीनृषीन्वृणीते, यजमाननाम्नाऽऽवेदयत इत्यर्थः । अमुतोऽर्वाच इति ॥ ६१ ॥ श्रुतिरियमाध्वर्यवदर्शिता स्म

रिता । अमुतोऽमुष्मादर्वाचः । कनिष्ठक्रमेणाऽऽध्वर्यव ऊर्ध्वानित्युक्तम् । येन क्रमेणो- त्पन्नास्तेनात्र तु विपरीतामित्यर्थः । आमन्त्रणेन ( आर्षेयेण ) भार्गववासिष्ठेति ।। ६२ ।। आर्षेयेण संबुद्धिविभक्त्यन्तेन तद्धितान्तर्षिनाम्ना यजमानस्य त्रीन् व्युत्क्रमेणाऽऽवेदयते । विज्ञायते चैकं वृणीते द्वौ वृणीते त्रीन्वृणीते न चतुरो वृणीते न पञ्चातिप्रवृणीत इति ।।६३।। श्रुतप्रवरणा इत्यर्थः । कृत्स्नस्य प्रवरस्य स्थाने मानवेत्येव ब्रूयादित्येकेषाम् ।। ६४ ।। होत्रा मानवेति वक्तव्यम् । अध्वर्युणा मनुवदित्येकेषां शाखिनाम् । अथ निविदो दधाति ।। ६५ ।। आहेत्यर्थो धातूनामनेकार्थत्वात् । देवेद्धो मन्विद्ध इति प्रतिपद्यते ।। ६६ ।। पञ्चदश निविदो मन्त्रानाहेत्यर्थः । सप्त पदान्युक्त्वाऽपानिति ।। ६७ ।। घृताहवन इत्यन्तानि सप्त पदानि वाक्यानि । पदानीति श्रौत्या संज्ञया व्यवहारः । अथ चत्वार्यथ चत्वारि ।। ६८ ।। प्रणीर्यज्ञानाꣳ रथीरध्वराणामतूर्तो होता तूर्णिर्हव्यवाट् इति चत्वार्युक्त्वाऽपानिति । तत आस्पात्रमित्यादिकान्यत्र शिष्टानि यजमानाय, इत्यन्तान्युक्त्वाऽपानिति । देवता आवाहयति ।। ६९ ।। वक्ष्यमाणप्रकारेण । अग्निमग्न आवह सोममावहाग्निमावह प्रजापतिमावहाग्नीषो- मावावहेत्यग्नीषोमीये पुरोडाश इति पौर्णमास्याम् ।। ७० ।। अग्नीषोमीयस्योपांशुयाजस्य विद्यमानत्वात् तच्छाखीयं नेष्टमिति दर्शयितुं पुरोडाश इत्युक्तम् । स्पष्टमन्यत् । नामावा- स्यायामुपाꣳशुयाजो विद्यते ।।७१।। बौधायनस्येष्ट उपांशुयाजोऽमावास्यायां तन्माभूदिति नेत्युक्तम् । ऊर्ध्वमाग्नेयस्याऽऽवाहनादिन्द्राग्नी आवहेत्यसंनयत इन्द्रमावहेति संनयत इन्द्रयाजिनो महेन्द्रमावहेति महेन्द्रयाजिनः ।। ७२ ।। अमावास्यायामिति पूर्वस्मादनुव- र्तते । स्पष्टमन्यत् ।। देवाꣳआज्यपाꣳआवहेति समानमुभयत्र ।। ७३ ।। पौर्णमास्याममा- वास्यायां चेत्यर्थः । ब्राह्मणपाठप्रतीकम्—आचाग्ने देवान्वह सुयजा च यज जातवेद इत्यन्तस्य । वरणं प्रत्यूर्ध्वज्ञुरुपविशति ।। ७४ ।। ऊर्ध्वे जानुनी यस्य स ऊर्ध्वज्ञुः । अध्व- र्युवरणं प्रति तावत्तिष्ठंस्तत्रैवोपविशति । यत्राभिजानात्यसौ मानुष इति तदुपोत्थाय नमो मात्रे पृथिव्या इति पृथिवीमभिमृशति ।। ७५ ।। अध्वर्युणाऽसौ मानुष इति होतुर्नामनि गृहीते तच्छ्रुत्वा तत्रैवोत्थाय पृथिवीमभिमृशति । चतुर्होतारं पञ्चहोतारं षड्ढोतारं सप्तहोतारमिति जपित्वा ।। ७६ ।। स्पष्टम् । इन्द्रमन्वारभामह इति दक्षिणेन हस्तेनाध्वर्युमन्वारभते सव्येन तूष्णीमाग्नीध्रम् ।। ७७ ।। इन्द्रमन्वारभामहे होतृवर्ये पुरोहितं येनाऽऽयन्नुत्तमꣳसुवर्देवा अङ्गिरसो दिवमिति मन्त्रान्तः । षष्टिश्चाध्वर्यो नवतिश्च पाशा इत्यन्तरेणाऽऽहवनीयमध्वर्युं च प्रत्यङ्ङेत्य ।। ७८ ।। अध्वर्युमग्निमन्तरा वियत्ताः सिनन्ति पाकमतिधीर एत्यृतस्य पन्थामन्वेमि होता चतुर्होता पञ्चहोता षड्ढोता सप्तहोत्रा च समुद्रं मावपदमित्यन्तैर्मन्त्रैरन्वारम्भानन्तरमुत्तरेणाध्वर्युं गत्वाऽध्वर्व्या- हवनीययोर्मध्येन प्रत्यङ्ङेति होतृषदनं प्रति । आदित्यस्याऽऽवृतमन्वावर्तत इति

प्रदक्षिणमावर्तते ॥ ७९ ॥ दक्षिणांसेन प्राङ्मुखो भवति । षण्मोर्वीरंहसस्पान्त्विति जपित्वा ॥ ८० ॥ द्यौश्च पृथिवी चाहश्च रात्रिश्च कृषिश्च वृषिश्च त्विषिश्चापचितिश्चौषधयश्चेति जपमन्त्रान्तः । होतृषदनं प्राप्य ॥ ८१ ॥ प्रदक्षिणमावृत्य प्रत्यङ्मुखो होतृषदनसमीपे स्थित्वा । निरस्तः परावसुरिति होतृषदनात्तृणं निरस्याप उपस्पृश्य॥८२॥ स्पष्टम् । येनः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामिति होतृषदनमवबाधते ॥ ८३ ॥ भवन्त्विद्राग्निभ्या० राजमक्रन्निति मन्त्रान्तः । तेन होतृषदनं हस्तेन गाढस्पर्शेन बाधां भावयेत् । अभ्युक्ष्य होतृषदनम् ॥ ८४ ॥ उदकेन । उन्निवत उदुद्वतश्च गेषमित्युपविशति ॥ ८५ ॥ होतृषदने 'गेष पातं मा० अद्याह्नः' इत्यन्तं मन्त्रः । सीद होतरिति च ॥ ८६ ॥ होतः स्व उ लोके० च योधा इत्यन्तं ये नः सपत्ना इति पूर्वोक्तं जपं न मुञ्चञ्जपन्नुपविशति । निहोता होतृषदने विदान इत्यासीनो जपति ॥८७॥ विदानस्त्वेषां० अग्निरिति मन्त्र जपति । लोककृतौ लोकं मे कृणुतामिति गार्हपत्याहवनीयौ समीक्षते ॥ ८८ ॥ मा मा संतासमैष वा लोक इत्यन्तेन । प्र मे ब्रूत भागधेयमिति देवता उपतिष्ठते ॥ ८९ ॥ धेय यथा वो येन पथा हव्यमावो वहामि, जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यास जुष्टा ब्रह्मभ्यो जुष्टा नाराशंस्येत्युपस्थानमन्त्रः । ततः स्रुचावादापयति । अग्निर्होता वेत्वग्निर्होत्रं वेत्त्विति ॥ ९० ॥ यज्ञियानित्यन्तेन ब्राह्मणपाठितेनाध्वर्युणा स्रुचावादापयति । मन्द्रेण स्थानेन प्रागाज्यभागाभ्याम् ॥ ९१ ॥ उपांशोः किंचिदधिकस्तेन स्वरेण यजति । मध्यमेन प्रधानानि ॥ ९२ ॥ मन्द्रादधिकेन । उत्तमेन स्विष्टकृत्प्रभृति ॥ ९३ ॥ आपत्नी संयाजान्तम् । समिधो यजेति संप्रेषिते समिधो अग्न आज्यस्य वियन्त्विति यजति ॥ ९४ ॥ वषट्कारान्तया याज्यया । एवमुत्तरत्राऽपि । तनूनपादग्न आज्यस्य वेत्त्विति द्वितीयम् ॥ ९५ ॥ पूर्वेऽद्यजतीति सर्वत्र । नाराशंसो द्वितीयः प्रयाजो वसिष्ठशुनकानाम् ॥ ९६ ॥ स्पष्टम् । नराशंसो अग्न आज्यस्य वेत्त्विति इडो अग्न आज्यस्य वियन्त्विति तृतीयम् ॥ ९७ ॥ बर्हिरग्न आज्यस्य वेत्त्विति चतुर्थम् ॥ ९८ ॥ स्वाहाऽग्निं स्वाहा सोमं स्वाहाऽग्निं स्वाहाऽमुं स्वाहाऽमुमित्युत्तमे प्रयाजे यथोढं देवता उपलक्षयति ॥९९॥ यथा यत्राऽऽवाहिता विशेषेण सामान्येन च ता उपलक्षयति, उच्चारयति । ततोऽग्न आज्यस्य वियन्तू इवौ ३ षडिति पञ्चमे प्रयाजे यजति । अथाऽऽज्यभागाभ्या प्रचरति तयोर्याज्यापुरोनुवाक्ये । याज्यैव प्रयाजानूयाजेषु ॥ १०० ॥ स्पष्टम् । तेषा प्रचर्य ॥ १०१ ॥ तेषां प्रयाजाद्यनूयाजान्तानाम् ।

इति वैजयन्तीव्याख्यासमेतं सत्याषाढयाजुषहौत्रसूत्रमाज्यभागान्तम् ।

---

# अथ भट्टगोपीनाथदीक्षितोन्नीतो याजुषहौत्रोपोद्घातः ।



अथ हिरण्यकेशीयाग्निष्टोमयाजुषहौत्रप्रयोगः । तत्र यद्यत्कर्म दर्शपूर्णमाससापेक्षं दीक्षणीयेष्ट्यादिक सोमतन्त्रसंबन्धि तत्र प्राकृतं हौत्रं स्वीयमेव । सोमतन्त्रसंबन्धिप्रवर्ग्यग्रहचमसयागशस्त्रादिषु तु आश्वलायनीयमेव । निरसनोपवेशनहिंकारवषट्कारानुमन्त्रणादिकं केवलसोमसंबन्धित्वात् । अत एव नैतत्संबन्धियाज्यासु व्याहृतयः । न चैवं दीक्षणीयेष्ट्यादीनामपि केवलसोमसंबन्धित्वादेतेष्वपि आश्वलायनीयमेव हौत्रमस्त्विति वाच्यम् । दीक्षणीयेष्ट्यादीना केवलसोमसंबन्धित्वेऽपि विकृतित्वेनैतेषां प्राकृताङ्गापेक्षायाः सत्त्वेन प्राकृताङ्गसमर्पणार्थमतिदेशावश्यकत्वे क्लृप्तैरुपयुक्तैर्यथाऽतिदिष्टैराध्वर्यवैरङ्गैरङ्गपूरणं तद्वदेव हौत्राङ्गैरपि पूरणस्य प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्येत्येतादृशन्यायसिद्धत्वात् । यदीद नाङ्गीक्रियेत तदा कस्मिंश्चिदग्निष्टोमप्रयोग आश्वलायनीयं हौत्रं कस्मिंश्चित्प्रयोगे शाङ्खायनीयं हौत्रमित्यनवस्थाऽऽपद्येत । किंच सोमतन्त्रासंबन्धेष्विष्टिपशुबन्धेषु केषुचिदाश्वलायनीयं हौत्रं केषुचिद्याजुषमित्येवमनवस्थाऽऽपद्येत । अतो दर्शपूर्णमासयोर्यद्धौत्रं तदेव स्वतन्त्रेष्वस्वतन्त्रेषु चेष्टिपशुबन्धेष्वङ्गपूरकं नान्यदित्यवश्यं वक्तव्यमेव । किंच यान्यङ्गानि प्रकृतौ नान्वितानि तान्यङ्गानि विकृत्यङ्गपूरकाणि कथं भवन्ति । नचैवं विहितमिष्टिपशुबन्धाना ब्रह्मत्वमितिवद्धौत्रविषये स्वतन्त्रेष्वपीष्टिपशुबन्धेष्वातिदेशिकवचनाभावात्कथं विकृत्यङ्गपूरकत्वमिति वाच्यम् । यच्चान्यत्प्रकृतावेवंजातीयं स्यात्तदेव तत्र नियम्येतेतरद्विकृत्यर्थमिति लैङ्गिकातिदेशसत्त्वेनाङ्गपूरकत्वसिद्धौ कैमुतिकन्यायेनास्वतन्त्रेष्वपीष्टिपशुबन्धेषु तत्सिद्धेः । एवं च स्वीयहौत्रस्य विकृत्यङ्गपूरकत्वमस्त्येव । यन्नाऽऽम्नात स्वशाखायां पारक्यमविरोधि यत् । विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादिकर्मवत् । इति वाक्याद्यत्स्वशाखायां नाऽऽम्नातं पारक्यमविरोधि च तदपि कर्तव्यं किमु वक्तव्यं स्वशाखाम्नातं कर्तव्यमित्यस्यार्थस्यावगमात् । यः स्वशाखां परित्यज्य परशाखा समाश्रयेत् । अप्रमाणमृषि कृत्वा सोऽन्धे तमसि मज्जति ॥ इति दोषश्रवणाच्चापि स्वीयहौत्रस्यैव विकृत्यङ्गपूरकत्वम् । न च सूत्रस्य शाखात्वाभावात्कथं सूत्रपरित्यागे दोष इति वाच्यम् । सूत्रस्यापि शाखात्वस्य चरणव्यूहशास्त्रे प्रदर्शनात् । एवं च वेदवत्सूत्रपरित्यागे दोषोऽस्त्येव । ननु याजुषहौत्रस्य प्रकृतित्वमेव बाधितम् । ऋग्वेदेन होता करोतीति समाख्याविरोधात् । एतस्यर्ग्वेदविहितत्वाभावादितिचेत्सत्यम् । सूत्रकृत्कृतयाजुषहौत्रविधिबलेन याजुषहौत्रमप्यृग्वेदशेषत्वादृग्वेदविहितमेव भवतीत्येतादृशार्थस्य कल्पनात् । अन्यथा याजुषहौत्रविधानवैयर्थ्यं दुष्परिहरं स्यात् । अतोऽव-

श्यमेवं कल्पनीयमेव । समाख्याविरोधोऽप्येवं वारितो भवति । नहि व्यर्थं विरुद्धं च सूत्रकृद्भगवानाचार्योऽब्रवीदिति । यजुर्वेदत्वधर्माभिभूतत्वादृग्वेदव्यवहारः परं नास्तीदानीमिति । सौमिकेष्टिपशुबन्धप्रधानसंबन्धियाज्यानुवाक्यानां स्वशाखाया स्वसूत्रे च विध्यभावेनैतरेयब्राह्मण आश्वलायनसूत्रे च विधिसत्त्वेन तद्विहितस्य च ग्रहणात् । नहि अत्रैवाङ्गानां तदीयानामग्रहणं दीक्षणीयेष्ट्यादिषु यदीयाः प्रधानयाज्यानुवाक्यास्तदीयाङ्गानामेव तत्र ग्रहणमित्यत्र न किंचिद्विनिगमकं पश्यामः । अतोऽत्र मृगारेष्ट्यादिन्यायेन याजुषहौत्रानुष्ठानमेव निर्विवादम् । नचैवं प्रधानयाज्यानुवाक्याना तदीयानां ग्रहणे तदीयानामेवाङ्गानामपि ग्रहणमस्त्विति वाच्यम् । तथा सति मृगारेष्टित्रैधातवीयादीष्टिप्रधानयाज्यानुवाक्यानां बह्वृचशाखानुक्तत्वेन याजुषाणा ग्रहणे तदीयानामङ्गानामपि ग्रहणापत्तेः । नापि शिष्टा अनुतिष्ठन्ति तदीयाङ्गानि । अतो यच्छाखीयप्रधानयाज्यानुवाक्याग्रहणं तच्छाखीयान्येवाङ्गानीति न भवति । यदंशे स्वशाखायां विधिरस्ति तदंशे स्वशाखीयस्यैव ग्रहणं बह्वृचस्योक्तस्य बाधः । तत्र दीक्षणीयेष्टौ याज्यानुवाक्ये याजुष्यावेव । यद्यपि सूत्रे तद्याज्यानुवाक्याविधायकं विशेषवचनं नास्ति तथाऽपि यथारूपमितर इति परिभाषासूत्रेणाविनियुक्तमन्त्राणा लिङ्गाद्विनियोगः कर्तव्य इति सामान्यतः प्रतिपादनादेतयोर्विनियोगोऽवश्यं कर्तव्यः । दीक्षाशब्दघटितत्वादेतयोर्दीक्षणीयेष्टौ विनियोगः । षुष्टप्रपाठकभाष्य एतन्मन्त्रद्वयव्याख्यानावसर एतन्मन्त्रद्वयविनियोगार्थकावतरणिकाविद्यारण्यैरेव कृता । अच्छिद्रा उपहोमाश्च लिङ्गान्नियम्यन्त इति भरद्वाजोऽप्यनेनैतन्मन्त्रयोर्लिङ्गाद्विनियोगमाह । अथो याजुष्यावेव । दीक्षणीयेष्टिप्रभृतिषु सोमाङ्गेषु यावन्त ऐतरेयब्राह्मणोक्ता आश्वलायनसूत्रोक्ताश्च विशेषधर्मास्ते केवलसोमप्रयुक्तत्वात्स्वीकार्याः । केषुचिदाश्वलायनीयधर्मा हौत्रधर्माः केषुचिद्याजुषहौत्रधर्मा इत्येतत्सर्वं हौत्रप्रयोगे स्पष्टी भविष्यति । सोमाङ्गेषु दीक्षणीयेष्ट्यादिषु याजुषहौत्रकर्तव्यताया साधनानि । तत्र पुनराधेयप्रकरणे वैजयन्तीकृद्ग्रन्थः । ननु दर्शपूर्णमासयोर्हौत्रं व्याख्यास्याम इत्येव वक्ष्यति कः प्रसङ्गो हौत्रस्येति चेत्सत्यम् । तथाऽपि तेनैव हौत्रेण विकृतिष्विष्टिपशुचातुर्मास्येषु सौत्रामण्यां नक्षत्रेष्टिष्वेवंरूपेष्वन्येष्वृषिहौत्रातिदेशोऽस्त्येत्र याजुष इति । एतावान्वै वैजयन्तीकृद्ग्रन्थोऽत्र साधनम् । इष्टिपशुग्रहणेनैव चातुर्मास्यसौत्रामणीनक्षत्रेष्टीना ग्रहणे पुनर्ग्रहणं चातुर्मास्यानि प्रकृतिरूपाणि विकृतिरूपाणि च सन्ति एवं सौत्रामण्यपि तत्र प्रकृतिरूपाण्यैष्टिकचातुर्मास्यानि तेषां विकृतीष्टिग्रहणेनैव सिद्धेर्विकृतिभूतसौमिकचातुर्मास्याना ग्रहणार्थं चातुर्मास्यग्रहणम् । प्रकृतिभूता चरकसौत्रामणी तस्या विकृतिपशुग्रहणेनैव सिद्धेर्विकृतिभूतकौकिलीग्रहणार्थं सौत्रामणीग्रहणम् । नक्षत्रेष्टीनां ग्रहणं गोबलीवर्दन्यायेन । एवंरूपेषु विकृतिरूपेषु अन्येषु सोमाङ्गभूतेषु दीक्षणीयेष्ट्यादिष्वपीत्यर्थः । वैचित्र्यार्थं वा । आध्वर्यव एवातोऽ-

न्यानि कर्माणि होतुराम्नातानि भवन्त्युपदेशादितराणीत्येतद्याजुषहौत्रविध्यन्तर्गतापस्त-म्बसूत्रगत आध्वर्यव उक्तं हौत्रं कार्त्स्न्येन दर्शपूर्णमासयोरुपदेशो बह्वृचाम्नायस्तस्मा-दागमयितव्यानीतराणि कर्माणि बह्वृचशेषत्वादस्मदीयहौत्रस्य यत्र किंचिदाम्नायते विकृतौ तत्र स्वकीयं वा बह्वृचाम्नायो वा विकल्प इत्येतस्मिन्धूर्तभाष्ये रामाण्डारः । अस्मिन्प्रकरणेऽनूक्तानामित्येवमर्थः प्रतीयते । अध्वर्यो वेरपा ३ इत्येवमाद्युदाहरणानि । अयं च रामाण्डारोक्तो वि० प्रबलत्वात् । त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोतेति सूक्तमन्वाहेत्येत-स्मिन्नैतरेयब्राह्मणे विद्यारण्याः । त्वं ह्यग्न इत्यादिकं त्रयोदशर्चं सूक्तं तन्मैत्रावरुणो ब्रूयात् । तदाह बोधायनः । यदा जानाति मनोतायै हविषोऽवदीयमानस्यानुब्रूहीति तदा मैत्रावरुणोऽन्वाह त्वं ह्यग्ने प्रथम इतीति । अत्र विद्यारण्यैर्मनोतायै संप्रेषितस्त्वं ह्यग्ने प्रथम इत्यन्वाहेत्याश्वलायनसूत्रं परित्यज्य बोधायनसूत्रप्रदर्शनं यजुःशाखिनि यजमाने सोमाङ्गेष्वपि पशुबन्धेषु याजुषहौत्रमेवेति प्रदर्शनार्थम् । सोमाङ्गभूताग्नीषोमीये पशुपुरोळाशस्विष्टकृद्यागोत्तरपुरोळाशसंबन्धीडोपह्वानविधायक इळामुपह्वयते पशवो वा इळा पशूनेव तदुपह्वयते पशून् यजमाने दधातीत्येतस्मिन्नैतरेयब्राह्मण इळोपहूता० ळाख्यां देवतामुपह्वयत इत्येवमपि स्पष्टो विद्यारण्यग्रन्थोऽत्र साधनम् । आश्वलायनो-पयोगिबोधायनीयाग्निष्टोमप्रयोगेऽवभृथप्रकरणे स्नात्वा यजमानो मेखलां विस्रस्याप्सु निक्षिपति अध्वर्युः स्नातायाः पत्न्या योक्त्रं विमुञ्चतीति केशवादयः । इमं विष्यामीति । इदं बोधायने यजमाने सोमाङ्गेषु स्वीयहौत्रकरणपक्ष इत्युक्तिः । तत्रैव याजुषहौत्रपक्षेऽ-ध्वर्योः सावकाशत्वादित्युक्तिश्चाप्यत्र साधनम् । तद्ये केचन च्छान्दोग्ये वाऽऽध्वर्यवे वा हौत्रामर्शाः समाम्नाता न तान्कुर्यादकृत्स्नत्वाद्धौत्रस्येत्येतदाश्वलायनसूत्रस्थः सर्वथा तावदाश्वलायनसूत्रप्रयोगे ते न कर्तव्या इति निश्चिनुम इति वृत्तिग्रन्थोऽप्यत्रानुकूलः । कथमित्याकाङ्क्षायां तस्यार्थः स्वारसिको वर्ण्यते । सर्वथा सर्वप्रकारेणाऽऽश्वलायनसूत्रप्रयोगे ते हौत्राभासा न कर्तव्या इति । अत्र सर्वथाऽऽश्वलायनसूत्रप्रयोग इत्युक्तिः सत्याषाढा-दिमहर्षिप्रणीतानां वैयर्थ्यपरिहाराय । इदमपि कथमित्याकाङ्क्षाया सर्वथेत्यस्य प्रकृति-भूतदर्शपूर्णमासप्रभृतिके कृत्स्न आश्वलायनसूत्रप्रयोगे ते न कर्तव्या इत्येवमर्थे सति आश्वलायने यजमाने ते नैव कर्तव्या इति फलितार्थः सिद्धो भवति । तेन यजुःशाखिनि यजमाने तु प्रकृतिभूतदर्शपूर्णमासप्रकृतिकत्वाभावेनाऽऽश्वलायनसूत्रप्रयोगस्याकृत्स्नत्वात्ते कर्तव्या इत्यर्थात्सिध्यति । एवंरीत्यैव याजुषहौत्रविधानस्य वैयर्थ्यं परिहृतं भवति । यद्येवमाशयो न वर्ण्येत तदा सत्याषाढापस्तम्बबोधायनभरद्वाजकात्यायनादिमहर्षिप्रणी-तानां हौत्रविषयकाणां केषांचिद्विधीनां वैयर्थ्यं वृत्तिकारेणापरिहृतं स्यात् । इदं च परि-हार्यं तेनाप्यवश्यम् । परिहृतं च सिद्धान्तभाष्यकृताऽपि । तद्ये केचिच्छान्दोग्ये०

न तान्कुर्यादित्येतत्सूत्रव्याख्याने छान्दोग्ये वाऽऽध्वर्यवे वेत्यत्रैकेनैव वाशब्देनैव सिद्धे द्विर्वाशब्दग्रहणं तानपि कुर्याद्वेति विकल्पार्थं ब्राह्मणाच्छंसिनेऽभीवर्तस्य योनिशंसनं भाण्डके विहितम् । आध्वर्यवे समिद्धोऽञ्जन् कृदरं मतीनामित्यश्वस्याऽऽप्रिय इत्येवमादि कुर्यात् । कुतः । तेषां वचनानां सार्थकत्वाय । इतरथा तेषां वचनानामस्माभिस्त्यक्तानां नैरर्थक्यं स्यात् , इत्यन्तेन ग्रन्थेन । सोमतन्त्रसंबन्धिहौत्रस्याकृत्स्नत्वात्कृत्स्नप्रयोगाधिकृते यजमाने ते न कर्तव्या इति वैयर्थ्यपरिहारायावश्यमेव वक्तव्येऽर्थाद्यजुःशाखिनि यजमाने याजुषहौत्रविधानस्य वैयर्थ्यापत्तेः स्वशाखीयहौत्रपरित्यागे दोषश्रवणाच्च दर्शपूर्णमासयाजुषहौत्रानुष्ठानस्याऽऽवश्यकत्वे यजुःशाखिनि यजमाने सोमतन्त्रसंबन्धिहौत्रस्याकृत्स्नत्वादकृत्स्नो याजुषहोत्रप्रयोगस्तत्र ते कर्तव्या इत्यर्थासिद्धं भवति । इष्टिपशुप्रधानयाज्यानुवाक्यादिकं स्वशाखायां सूत्रे चानुक्तत्वादनुक्तमन्यतो ग्राह्यमिति न्यायेन । यन्नाऽऽम्नातं स्वशाखायामिति वाक्ये तत्र त्वदीयमेव ग्राह्यम् । उपसंहारपक्षे तदीयानेदमादिषु मार्जनमित्यादयो वैशेषिकधर्माश्चेति द्रष्टव्यम् । अथ हौत्रप्रयोग आश्वलायनोक्तं हौत्रं कुत्र याजुषहौत्रं कुत्रेत्याकाङ्क्षायां विविच्य प्रदर्श्यते । ऋत्विग्वरणं स्वसूत्रविहितत्वाद्याजुषमेव । एवं वृतानां मन्त्रजपाश्च । देवो देवमेत्वित्याद्यपि स्वसूत्रविहितत्वात् । इदं च वृतो वृत इति सूत्रस्यात्रानुवृत्तिरित्येतस्मिन्पक्ष एकवचनादध्वर्योरेवेत्यस्मिन्पक्षे न । देवयजनं मे देहीति स्वनामपूर्वकवाक्यश्रवणानन्तरं दत्तमिति प्रतिवचनं सर्वेषाम् । दीक्षणीयेष्ट्यादिषु इष्टिपशुबन्धरूपेषु सोमाङ्गेषु अङ्गकलापः स्वीय एव । तत्र दीक्षणीयायां धाय्ये विराजावित्याश्वलायनेनोक्तत्वात् । सूत्रकृता सप्तदश सामिधेनीविहितत्वेन तत्र पृथुपाजवत्योर्धाय्ययोश्च विहितत्वेन चोभयमतेऽपि पृथुपाजा इति द्वे ऋचौ धाय्ये । अत्र सूत्रकृद्विधिसत्त्वेन धाय्ययोर्विहितपाठो याजुष एवाऽनयोरत्र । विकल्पो वा । दीक्षणीयेष्टेः पौर्णमासतन्त्रत्वात्सूत्रकारमते पौर्णमासेष्टिपशुसोमा उपदिष्टा इत्याश्वलायनमते च वार्त्रघ्नावेवाऽऽज्यभागौ । स्वसूत्रविहितत्वात्प्राकृतत्वाच्च पाठो याजुष एव । प्रधानयाज्यानुवाक्ययोरत्राऽऽश्वेदिकपाठो न भवति । किंतु याजुष एव । अन्यथैतन्मन्त्रद्वयपाठवैयर्थ्यापत्तेः । एतयोर्मन्त्रयोरत्रैव विति( नि )योग इत्यत्र प्रमाणं तु प्रागेवोक्तम् । अत्रत्यसंयाज्याविषये दीक्षणीयायां धाय्ये विराजावित्याश्वलायनसूत्रे विशेषवचनस्य सत्त्वात् । तस्माद्विराजावेव कर्तव्ये । प्रेद्धो अग्न इमो अग्न इत्येते इत्यैतरेयब्राह्मणे च विराजोर्नियमेन विहितत्वाच्चात्र संयाज्ये विराजावेव कर्तव्ये । ननु प्राकृत्यौ याजुष्यौ । सामान्यस्वशास्त्रापेक्षया हौत्रविशेषशास्त्रस्यैव प्रबलत्वात् । विराजाविति यत्रोक्तिस्तत्रैते एव प्रत्येतव्ये । अत्राऽऽश्वलायनः । प्रेद्धो अग्न इमो अग्न इति संयाज्ये विराजावित्युक्त एते प्रतीयादिति । संयाज्ययोः पाठ आश्वेदिक एव । स्वसूत्रीयविध्यभावात् । अत्र यद्यपि प्रधानस्वरविषये यत्प्रागग्नीषो० मुपा९-

शुतरमातिथ्यायामुपांशूपतस्सूत्रैरग्नीषोमीय इत्यापस्तम्बसूत्रे पक्षत्रयमुक्तम् । तथाऽपि हौत्रशास्त्रानुगुणो यः पक्षः स एवाविरोधायाङ्गीकर्तव्यः सर्वथेति युक्तम् । एवं चात्रो-पांशुस्वर एव । सोमाङ्गेषु दक्षिणीयेष्ट्यादिषु पशुबन्धेषु नेदमादिषु मार्जनमर्वागुदयनी-याया इदमादीळायां सूक्तवाके चाऽऽगूराशीःस्थान उपहूतोऽयं यजमानोऽस्य यज्ञ-स्याऽऽगुर उदृचमशीयेति तस्मिन्नुपहूत आशास्तेऽयं यजमानोऽस्य यज्ञस्यानुगुर उदृ-चमशीयेत्याशास्ते । न चात्र नामादेशः प्रकृत्यां तत ऊर्ध्वं पश्विळाया इत्येतावन्तो विशेषा भवन्त्येव हौत्रशास्त्रस्यास्मिन्विषये प्रबलत्वात् । प्रायणीयेष्टौ तु स्वसूत्र आज्य-भागविषये सत्त्वपक्षोऽसत्त्वपक्ष इत्येवं पक्षद्वयं व्याख्याभेदकृतं यद्यप्यस्ति तथाऽपि शंय्वन्तेयमनाज्यभागेत्याश्वलायनहौत्रानुगुणपक्षस्वीकार एव युक्तः । पक्षान्तरस्य तु हौत्रान्तर उपयोगो ज्ञेयः । प्रायणीयेष्टियाज्यानुवाक्यापाठस्त्वार्ग्वेदिक एव । न चाग्निसोमसवित्रदितिदेवतालिङ्गकानां बह्वीनामृचां स्वशाखायां सत्त्वात्तन्मध्यस्था-नामेव यासां कासांचिद्ग्रहणं पथ्यास्वस्तिदेवतालिङ्गकयाज्यानुवाक्ययोः स्वशाखाया-मभावादनुक्तमन्यतो ग्राह्यमिति न्यायेनाऽऽश्वलायनोक्तयोर्ग्रहणमिति वाच्यम् । स्वसूत्रे प्रायणीयायाज्यानामविहितत्वेनाऽऽश्वलायनेन विहिताविहितयोर्मध्ये विहितग्र-हणस्यैव युक्तत्वात् । स्वसूत्रे वचनाभावे हौत्रशास्त्रस्यैवासति बाधके प्रबलत्वाच्च । न चैवमाश्वलायनानामेव ग्रहणमस्तु आसु यासां कासांचित्तथाऽपि पाठस्तु स्वशाखारी-त्यैव भवत्विति वाच्यम् । एतन्मन्त्रपाठस्यान्यत्र चरितार्थत्वेन सवितृदेवताविषयकया-ज्यायाः स्वशाखायामभावेन तदुक्तयाज्याग्रहणं विनाप्रकरणपठितत्वेन चैतद्ग्रहणवदि-तरासामपि तच्छाखागतानामेव ग्रहणस्य युक्तत्वात् । दीक्षणीयेष्टौ तु दीक्षणी-येष्टियाज्यानुवाक्यामन्त्रयोरन्यत्र विनियोगाभावाल्लिङ्गादत्रैव विनियोगः स्वीक्रियते । यजुः-शाखियाजमानकर्तृकाग्निष्टोमादिक्रतुषु आश्वलायनहौत्रस्य प्राकृतस्य प्राकृतान्वयाभावेना-नन्वितःङ्गैर्विकृत्यङ्गपूरकत्वं यथा न भवति तथा तुल्ययुक्त्या एतेन शस्त्रयाज्यानिगदा-नुवचनाभिष्टवनसंस्तवनानीत्याश्वलायनसूत्रेऽभिहिंकारादीनामपि प्रकृतावन्वयाभावेनान-न्वितैरेतैः सोमाङ्गसोमप्रवाहणाङ्गे तु वचनान्वयः कथं भवितुमर्हति । तथा चैतत्सूत्राद-भिहिंकारादीनामप्राप्तिरेव । इष्टापत्तौ लोप एवाऽऽपद्येत । अतो यजुःशाखियजमान-कर्तृकाग्निष्टोमादिक्रतुषु अभिहिंकारादीनां लोपो यथा न भवति तथाऽत्र कल्पनीयम् । तथाहि । एतेन शस्त्रयाज्यानिगदानुवचनाभिष्टवनसंस्तवनानीति सूत्रस्य वास्तविक्यतिदेशपरतायां प्राकृतेऽभिहिंकारादीनां लोपापत्त्याऽर्थान्तरे यजुः-शाखियजमानकर्तृकाग्निष्टोमहौत्रनिर्वाहकमलोपानुगुणमवश्यं कल्पनीयम् । न चात्र लोप एवास्त्विति वाच्यम् । अलोपानुगुण्येनार्थान्तरसंभवे बहूनामङ्गानां लोपस्यानुचि-तत्वात् । अस्मिन्नर्थे निदानकारवचनमप्यस्ति । अलोपो लोपान्न्याय्यतर इति । तच्चा-

र्थान्तरं कथमित्याकाङ्क्षायां प्रदर्श्यते । संस्तवनानीनीत्येतदनन्तरं तुल्यानीति शेषः । तथा चैवमन्वयो भवति । एतेन सामिधेन्यनुवचनेन तुल्यानीति । तुल्यत्वं चोपदिष्टधर्मकत्वमभ्युपेत्यैव । तथा चैवमर्थो भवति । यथा सामिधेन्यनुवचनमुपदिष्टधर्मकं नातिदिष्टधर्मकं तद्वदेव शस्त्रादिकमप्युपदिष्टधर्मकत्वेनैवैतेषां ग्रहणं नातिदिष्टधर्मकत्वेन ग्रहणं भवतीति । तथा सामिधेन्यनुवचनातिदेशस्यैतेष्वभावात्प्रकृतेऽनन्वितत्वेऽपि शस्त्रादीनां सामिधेन्यनुवचनापेक्षाया अभावेन प्रकृतान्वितत्वाभावेऽपि नैतेषामेतत्क्रतोऽनुष्ठानलोपः । एवंच केवलसोमसंबन्धित्वाद्धिंकाराद्या धर्मा अपि तदुक्ता एवेति यदुक्तं तद्युक्तमेव । प्रायणीयेष्टिसंबन्धी यावान्विशेषस्तावानाश्वलायनीय एव । सोमप्रवहणानुवचनमाश्वलायनीयमेव । स्वसूत्रेऽनुक्तत्वात्केवलसोमसंबन्धित्वाद्धिंकारादयस्तदुक्ता एव । आतिथ्येष्टावाश्वलायनीया एवाऽऽज्यभागप्रधानयाज्यानुवाक्यासंयाज्याः । पाठोऽप्याग्वेदिक एव । आज्यभागयाज्यानुवाक्यादिषु तु स्वीयान्येव प्राकृताङ्गानि । तानूनप्त्राभिमर्शनाप्यायननिह्नवनानि याजुषाण्येव । स्वसूत्रे सर्वग्रहणात् । प्रवर्ग्ये तु केवलसोमसंबन्धित्वात्स्वसूत्रेऽनुक्तत्वाच्चाऽऽश्वलायनीयमेव हौत्रमभिहिंकारादयश्च । अनवानं प्राणानाꣳ संतत्यै । त्रिष्टुभः सतीर्गायत्रीरिवान्वाह । गायत्रो हि प्राणः । प्राणमेव यजमाने दधाति । संततमन्वाह । प्राणानामन्नाद्यस्य संतत्यै । अथो रक्षसामपहत्यै, इति प्रवर्ग्ये याजुषहौत्रविषये विशेषः श्रुतावुक्तः । अस्यार्थो विद्यारण्यश्रीपादैरेव वर्णितः । अनवानमवानः श्वासस्तद्रहितं यथा भवति तथा पठेत् । तच्च यजमानप्राणानामविच्छेदाय भवति । तासु गायत्रीधर्ममतिदिशति । त्रिष्टुभः सतीरित्यादि । यद्यपि ब्रह्मजज्ञानमित्याद्यास्त्रिष्टुभस्तथाऽपि गायत्रीवदनुवचनं कुर्यात् । गायत्रीरूपं ध्यात्वा पठेदित्यर्थ इति । आदौ सर्वा एता ऋचो गायत्र्य एवेति ध्यानं कृत्वा क्रमेणाभिष्टवनं कुर्यादित्येतावान्विशेषो याजुषहौत्रे । अनुष्ठाने तु न कोऽपि विरोधः । शान्तिपाठस्तु अविरोधाद्धोतुरपि । उपसदिष्टा आश्वलायनोक्तमेव वैशेषिकहौत्रं प्राकृताङ्गानि तु स्वीयान्येव । अग्निप्रणयनानुवचनं तु स्वप्रत्यासन्नापस्तम्बसूत्ररीत्यैव । यथा चातुर्मास्येष्वनुष्ठीयते तद्रीत्यैवात्रानुष्ठेयम् । आश्वलायनेनाप्ययमर्थ उक्तः । एतस्मिन्ननुवचने हिंकाराभावः । प्रथमोत्तमानुवचनमापस्तम्बोक्तमेव । हविर्धानमुक्तमग्निप्रणयनमिति सूत्रेण । स्वसूत्रेऽनुक्तत्वाद्धविर्धानप्रणयनानुवचनमाश्वलायनीयमेव । सर्वमभिहिंकारादयो धर्माश्च । अग्नीषोमप्रणयनानुवचनं स्वसूत्रेऽनुक्तत्वात्सर्वमाश्वलायनीयमेव तद्धर्माश्च । यूपाञ्जनानुवचनं सर्वं स्वप्रत्यासन्नापस्तम्बसूत्रोक्तरीत्यैव । अत्र हिंकाराभावः । प्रथमोत्तमानुवचनं याजुषहौत्रवदेव । अग्नीषोमीयपशुसंबन्धि सर्वं हौत्रं याजुषमेव । अग्नीषोमा यो अद्य वां० । १ । यो अग्नीषोमा हविषा सपर्यात्० । २ । अग्नीषोमा य आहुतिं० । ३ । अग्नीषोमा चेति तद्वीर्यं वां० । ४ । अग्नीषोमाविमꣳ सुमे० । ५ । अग्नीषोमा हविषः प्रस्थितस्य० । ६ ।

एतासां षण्णामृचां विद्यारण्यैरग्नीषोमीयपशौ विनियोगस्योक्तत्वादग्नीषोमीयपशोरेता याज्यानुवाक्याः । यथारूपमितरे इतिपरिभाषासूत्रेण सूत्रकृताऽपि अयं विनियोगः प्रदर्शितोऽस्ति । पाठोऽपि याजुष एव । अन्यथा एतेषां मन्त्राणां विनियोगाभावे वैयर्थ्यमेव स्यात् । ऐन्द्राग्नाश्विनपशुयाज्यानुवाक्यानामदः प्रकरणमुद्दिश्यैव पाठात्ता एव याज्यानुवाक्याः । पाठोऽपि याजुष एव । अन्यत्सर्वमङ्गजातमपि याजुषमेव । प्रवृत्ताहुती तु याजुष्यावेव । सर्वेषां प्रवृत्तः प्रवृत्त इति सूत्रे वीप्साश्रवणात् । प्रयाजयाज्या आप्रियो होतुः समिद्धो अद्येत्येव सर्वत्र । अस्माकमैन्द्राग्न आम्नानात् । आश्वलायनसूत्रे यथर्षिपक्षस्य वैकल्पिकत्वेन तन्मतेऽप्येतासामेवाऽऽप्रीणां सर्वर्षिविषयकत्वस्य पक्षे सिद्धत्वाच्च । यः पक्षो यजुःशाखीययजमानायाविरुद्धः स एवाङ्गीकर्तव्य इति युक्तः पन्थाः । सुत्यादिवसगतमैष्टिकपाशुकतन्त्रसंबन्धि हौत्रं प्राकृताङ्गेषु याजुषमेव तद्धर्माश्च । सवनीय २ पशुसंबन्धियाज्यानुवाक्यास्तु आश्वलायनीया एव । अस्मच्छाखायामिमं पशुं प्रकृत्य पाठाभावात् । यास्तु अस्मच्छाखायां पठितास्ताः काम्यपशुं प्रकृत्य पठिताः सन्ति नेमं पशुम् । अस्वतन्त्रे पशावेतत्र स्वतन्त्रे । रामाण्डारेणाग्न्याधानप्रकरणेऽग्न्यादिदेवतायाज्यानुवाक्यापाठाभावेऽपि स्वशाखागतानां तल्लिङ्गकानामेव ग्रहणेन तुल्यन्यायेनात्रापि तादृशानामेव ग्रहणात् । परिव्ययना( णा )नुवचनमपि याजुषमेव । निरूढपशौ प्रवृत्तत्वात् । उपस्थानं सदःप्रवेशनं चाऽऽश्वलायनीयमेव । अध्वर्युप्रतिप्रस्थातृयजमानोन्नेतृभिः सूत्रगतबहुवचनसार्थक्यात् । सर्वग्रहणाभावाच्च । स्वसूत्रेऽनुक्तत्वात्सवनीयपुरोडाशहौत्रमाश्वलायनीयमेव । अङ्गानि याजुषाण्येव । अध्वर्यो वेरपा ३ इत्येवंरीत्यैव होतुरध्वर्युं प्रति प्रश्नः । उतेमनंनमुरुतेमाः पश्येत्यध्वर्युप्रतिवचनम् । अध्वर्यो वेरपा ३ इति होत्राध्वर्यु ( ताऽध्वर्युं ) त्रिः पृच्छत्युतेमनंनमुरिति त्रिः प्रत्याहेति सूत्रात् । आगतमध्वर्युमवेरपोऽध्वर्यो ३ उ इति पृच्छत्युतेमनंनमुरिति प्रत्युक्ते निगदं ब्रुवन्प्रतिनिष्क्रामेदित्येतस्याऽऽश्वलायनोक्तस्यानेन बाधः । यदाऽध्वर्युर्मयि वसुः पुरोवसुर्वाक्यावाचं मे पाहीति भक्षं प्रयच्छति तदा होता मयि वसुः पुरोव० पाहीत्येतेनैव मन्त्रेण प्रतिगृह्णाति । मयि वसुः पुरोवसुरित्यध्वर्युर्होत्रे भक्षं प्रयच्छति तेनैव होता प्रतिगृह्णातीति सूत्रात् । ऐतरेयब्राह्मणमप्यस्मिन्नर्थेऽस्ति । येनैवाध्वर्युर्यजुषा प्रयच्छति तेन होता प्रतिगृह्णातीति । आश्वलायनसूत्रानुसारिणि यजमाने । ऐतु वसुः पुरूवसुरित्यैन्द्रवायवप्रतिग्रहमन्त्रः । ब्राह्मणरीत्या तु येनाध्वर्युर्भक्षं प्रयच्छति स एव मन्त्रः प्रतिग्रहणे । यजुःशाखिनि यजमाने तु नियत एवायम् । मैत्रावरुणाश्विनप्रतिग्रहणयोस्तु ऐतु वसुर्विदद्वसुः । ऐतु वसुः संयद्वसुरितिप्रातिग्रहमन्त्रौ । मयि वसुर्विदद्वसुश्चक्षुष्पाश्चक्षुर्मे पाहीति मैत्रावरुणग्रहप्रदानमन्त्रः । अयमेव होतुः प्रतिग्रहणमन्त्रः । मयि वसुः संयद्वसुः श्रोत्रपाः श्रोत्रं मे पाहीत्याश्विनग्रहप्रदानमन्त्रः । अयमेव होतुः प्रतिग्रहमन्त्रः ।

उत्तरेणोत्तरेणाध्वर्युर्होत्रे भक्षं प्रयच्छत्येतेनैव होता प्रतिगृह्णातीति सूत्रात् । आग्नीध्रचमसमादाय सदो गच्छत्यध्वर्युः स एव होतुः समीप आचष्टे अयाडग्नीदिति । एतदनन्तरं स भद्रमकर्यो नः सोमस्य पाययिष्यतीति होता प्रत्याह । तस्य चमसमादाय सदो गच्छति स होतुराचष्टेऽयाडग्नीदिति स भद्रमकर्यो नः सोमं पाययिष्यतीति होता प्रत्याहेति सूत्रात् । एत्यध्वर्युरयाडग्नीदिति पृच्छत्ययाळिति प्रत्याह । स भद्रमकर्यो नः सोमस्य पाययिष्यतीति होता जपतीत्येतस्याऽऽश्वलायनसूत्रोक्तस्यानेन बाधः । अथ द्विदेवत्यभक्षणं प्रकृत्य भक्षणपरिभाषा द्विदेवत्यान्भक्षयन्ति होताऽध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता चैवमनुपूर्वा अन्योन्यस्मिन्नुपहवमिच्छन्त उपह्वयस्वेत्यामन्त्रण उपहूत इति प्रतिवचनो यत्र क्वचैककाले भक्षयेयुरन्योन्यस्मिन्नुपहवमिच्छेरन्द्विरैन्द्रवायवं भक्षयति सकृत्सकृदितरौ पुरस्तादैन्द्रवायवं प्राणेषूपनिग्राहं पुरस्तान्मैत्रावरुणं चक्षुषोरुपनिग्राहक९ सर्वतः परिहारमाश्विन९ श्रोत्रयोरुपनिग्राह९ सर्वान्भक्षयित्वा नानुत्सृजन्त्याऽवनयनात्सर्वेषा९ संपातान्होतृचमसेऽवनीयेति सूत्रात् । यो यत्र भक्षिता स म इत्यर्थः । अत्राऽऽपस्तम्बेन अनुसृजन्तौ पात्रं द्विरैन्द्रवायवं भक्षयतो भक्षयन्ति भक्षयतीति वा सकृत्सकृदितराविति । ऐन्द्रवायवमुत्तरेऽर्धे गृहीत्वाऽध्वर्यवे प्रणामयेदेष वसुः पुरूवसुरिह वसुः पुरूवसुर्मयि वसु० स्तन्वस्तपोजा इत्यध्वर्य उपह्वयस्वेत्युक्त्वाऽऽघ्राय नासिकाभ्यां वाग्देवी सोमस्य तृप्यत्विति भक्षयेत्सर्वत्र प्रतिभक्षितहोतृचमसेषु किंचिदवनीयानाचम्योपह्वानादि पुनः संभक्षयित्वा न सोमेनोच्छिष्टा भवन्तीत्युदाहरन्ति शेषहोतृचमस आनीयोत्सृजेदेवमुत्तरे न त्वेनयोः पुनर्भक्षो न कंचन द्विदेवत्यानामनवनीतमुत्सृजेन्मैत्रावरुणमेष वसुर्विदद्वसुरिह वसुर्विदद्वसुर्मयि० तपोजा इत्यक्षीभ्यां त्विहावेक्षणं दक्षिणेनाग्नेः सव्येन पाणिना होतृचमसमाददीतैतु वसूनां पतिर्विश्वेषां देवानां समिदिति तस्यारत्निना तस्योरोर्वसनमपोच्छाद्य तस्मिन्सादयित्वाऽऽकाशवतीभिरङ्गुलीभिरपिदध्यादाश्विनं यथाहृतं परिहृत्य पुनः सादयित्वाऽध्वर्यवे प्रणामयेदेष वसुः संयद्वसुरिह वसुः संयद्वसुर्मयि० तपोजा इति कर्णाभ्यां त्विहोपोद्यच्छेद्दक्षिणायाग्नेनि( णेनाग्नेर्नि )धाय होतृचमसं स्पृष्टोदकमिळामुपह्वयते उपोद्यच्छन्ति चमसानवान्तरेळां प्राश्याऽऽचम्य होतृचमसं भक्षयेदध्वर्य उपह्वयस्वेत्युक्त्वा दीक्षितो दीक्षिता उपह्वयध्वं यजमाना इति वा मुख्यान्वा पृथग्गोत्रका उपह्वयध्वमितीतरानेवमितरे यथाचमसं भक्षयन्त्वदीक्षिता मुख्यचमसादचमसाद्द्रोणकलशाद्वोक्तः सोमभक्षजपः सर्वत्र । होतुर्वषट्कारे चमसा हूयन्त उद्गातुर्ब्रह्मणो यजमानस्य तेषां होताऽग्रे भक्षयेदिति गौतमो भक्षस्य वषट्कारान्वयत्वादभक्षणमितरेषामिति तौल्वलिः कृतार्थत्वाद्भक्षयेयुरिति गाणगारिरतः संस्कारकत्वाच्च तच्चमसतः स्यान्न चान्यः संबन्धो भक्षयित्वाऽपाम सोममभृता अभूम शं नो भव हृद आपीत इन्दविति मुखहृदये अभिमृशेरन्नाप्यायस्व

समेतु ते सं ते पयांसि समुयन्तु वाजा इति चमसानाप्याय्योपाऽऽद्यान्पूर्वयोः सवनयोरा-द्यास्तृतीयसवने सर्वत्राऽऽत्मानमन्यत्रैकपात्रेभ्य आप्यायितांश्चमसान्सादयन्ति ते नारा-शंसा भवन्तीति । अत्रैतरेयिब्राह्मणम् । तदाहुरवान्तरेळा पूर्वा प्राश्नीया३त् । होतृचम-सं भक्षये३त् । इति । अवान्तरेळामेव पूर्वां प्राश्नीयादथ होतृचमसं भक्षयेद्यद्वाव द्विदेवत्या-न्पूर्वान्भक्षयति तेनास्य सोमपीथः पूर्वो भक्षितो भवति तस्मादवान्तरेळामेव पूर्वां प्राश्नी-यादथ होतृचमसं भक्षयेत्तदुभयतोऽन्नाद्यं परिगृह्णाति सोमपीथाभ्यामन्नाद्यस्य परिगृहीत्या इत्यादि । अथ स्वीयहौत्रम् । सर्वेषाꣳ संपातान्होतृचमसेऽवनीय पुरोडाशशकलमैन्द्रवायव-पात्रे निदधाति पयस्या मैत्रावरुणस्य धाना आश्विनस्य० प्राणेषूपनिग्राहमिति बहुवचना-न्मुखमत्र गृह्यते । यथा नासिकाभ्यां प्राणनिर्गमप्रत्यागमौ तद्वन्मुखादपि । अतो नासि-काद्वयं मुखं च प्राणशब्देन गृह्यते । णमुल्निर्देशाच्चैकैकस्य ग्रहणम् । क्रमस्तु प्रथमं दक्षिणनासिकाया तत उत्तरनासिकाया ततो मुखे । एतच्चोर्ध्वमुपहवादित्युक्तमाश्वलाय-नेन । यथाऽध्वर्य उपह्वयस्वेत्युक्त्वाऽवघ्राय नासिकाभ्यामिति । उपनिग्रहणं नाम एतेषु तत्स्पर्शः । नासिकयोः स्पर्शवेलायामवघ्राणमप्यर्थात्सिद्धं भवति । अतो नैतयोः सूत्र-योर्विरोधः । उपहूता प्राश्नन्ति ये प्रकृताविति वचनात्प्रशास्तृप्रतिप्रस्थात्रोः स्वप्रकृतक-र्माचितयोरपि भक्षणनिवृत्तिः । यथाचमसं चमसिनो भक्षयन्ति तेषा व्याख्यातो भक्ष मन्त्रः । स्वं स्वं चमसमनतिक्रम्येति यथाचमसम् । अव्ययीभावः समासः । निमित्तानु सारेण स्वं स्वं चमसमनतिक्रम्य चमसिनो भक्षयन्तीत्यर्थः संभवति । स्वं स्वं चमसमन तिक्रम्य भक्षयन्तीत्यर्थः । इयं सामान्यप्रतिज्ञा । तेषां व्याख्यातो भक्षमन्त्रः तेषा भक्ष-णीयानां चमसानां भक्षणे मन्त्रः । नराशꣳसपीतस्य सोमदेवते । मतिविदः प्रातःसवनस्य गायत्रच्छन्दसः पितृपीतस्य मधुमत उपहूतस्योपहूतो भक्षयामीति व्याख्यातः । उक्तोऽयं मन्त्रो यथाऽध्वर्योः स एव होत्रादीनामपीत्यर्थः । व्याख्यातो भक्ष इति वक्तव्ये मन्त्र ग्रहणं भक्षेहीत्यन्येनाऽऽह्रियमाणं प्रतीक्षत इत्यारभ्यानुद्रुत्येत्यन्तं निवर्तयितुम् ।

**इति भट्टगोपीनाथदीक्षितोन्नीतो याजुषहौत्रोपोद्घातः ।**

---

## अथ गद्दोपाह्वभट्टमहादेवकृतो याजुषहौत्रविचारः ।

---

हेरम्बमम्बिकां शंभुं यजुर्वेदस्वरूपिणम् । प्रणम्य तत्प्रेरणया हौत्रज्योत्स्ना विरच्यते ।

तत्र सूत्रम्—यज्ञं व्याख्यास्यामः स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते । ऋग्वेदेन यजुर्वेदेन सामवे-देन सर्वैर्ज्योतिष्टोम ऋग्वेदयजुर्वेदाभ्यां दर्शपूर्णमासौ यजुर्वेदेनाग्निहोत्रं यजुर्वेदेनाध्वर्युः करोत्यृग्वेदेन होता सामवेदेनोद्गाता सर्वैर्ब्रह्मा इत्याचार्येण विधाने कृते सति पुनर्दर्शपूर्ण

मासयोर्होत्रं व्याख्यास्याम इति तेनैवोक्तं तत्तु फलाधिक्यार्थं न्यूनफलाभावार्थं च वेदितव्यम् । अन्यथा तस्य वैयर्थ्यापत्तिः स्यात् । तत्र किमधिकं किं न्यूनत्वाभावत्वमित्याशङ्क्याऽऽह । पत्नीडोपाह्वाने इन्द्राणीवाविधवा । अदितिरिव सुपुत्रा । इत्यधिकम् । यजमानेडोपाह्वाने विश्वमस्य प्रियमुपहूतमित्याहाछंबट्कारमेवोपह्वयत इत्यनेनाछंबट्कारमव्यर्थमुपाह्वानं भवति । तथा स्मो वयमित्याहाऽऽत्मानमेव सत्त्वं गमयतीत्यादिन्यूनफलाभावत्वं च । आश्वलायनसूत्र एतयोरभावात् । तदुक्तं हौत्रस्य नाङ्गीकारः । श्रुतौ निषेधोऽपि दृश्यते । तद्ब्रूयाद्योऽग्निः होतारमवृथा इत्यग्निनोभयतो यजमानं परिगृह्णीयात्प्रमायुकः स्यादिति । अनेन यजमानस्य प्रमायुकत्वं स्यात् । घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्वेत्याह यजमानमेवैतेन वर्धयतीत्यनेन तन्निवारणं भवतीति केनचिद्धौत्रचन्द्रिकाकारेणोक्तं तत्त्वरुचिरम् । तस्य भिन्नसंबन्धभावात् । तथाहि यजमानदेवत्या वै जुहूर्भ्रातृव्यदेवत्योपभृद्यद्द्वे इव ब्रूयाद्भ्रातृव्यमस्मै जनयेद्घृतवतीमध्वर्यो स्रुचमास्यस्वेत्याह यजमानमेवैतेन वर्धयतीति ब्राह्मणम् । स्रुचावित्येवं द्विवचनान्तं यदि ब्रूयात्तर्हि भ्रातृव्यमुत्पादयेत् । अतः स्रुचमित्येकवचनेन यजमानं वर्धितवान्भवतीति विद्यारण्यभाष्ये प्रपञ्चितम् । किंच यावदृग्दर्शनं तावदृग्वेद इति विग्रहेण यजुर्वेद ऋक्छेषत्वमस्तीति केचिद्वदन्ति । तदप्ययुक्तम् । कुतः । सामवेदादिषु याज्ञसेनोपधाने च ऋग्दर्शनात् । ननु तद्ये केचन च्छान्दोग्ये वाऽऽध्वर्यवे वा हौत्रामर्शाः समाम्नाता न तान्कुर्यादकृत्स्नत्वाद्धौत्रस्येत्याश्वलायनवचनात्सत्याषाढयिहौत्रस्य न हौत्रत्वं किंतु हौत्राभास इति चन्द्रिकाकारेणोक्तम् । तदसंगतम् । यस्मिन्सूत्रे ये विधिनिषेधास्ते तच्छाखीयपराः । अन्येषां न विधायका भवन्ति । अन्यथाऽऽनर्थक्यापत्तिः स्यात् । अतोऽयं निषेध आश्वलायनानामेव न त्वन्येषाम् । अथवाऽस्य सत्रस्थत्वात्सत्रेभ्योऽन्यत्र प्रवृत्तिरेव नास्ति । अस्मच्छाखायां हौत्राभासोऽस्तिचेत् तर्हि आश्वलायसूत्रे किमु वर्णपदभेदेन हौत्रमन्त्रपाठः कृतः । तस्मात्तैत्तिरीयकं स्वतन्त्रं हौत्रमिति सिद्धम् । अतो यस्यां शाखाया भिन्नपाठाभावस्तस्या हौत्रामर्शास्तस्यामेव निषेधप्रसक्तिः । किंचास्मत्सूत्र उपहूतां२हो इत्याहाऽऽत्मानमेवोपह्वयत आत्मा ह्युपहूतानां वसिष्ठ इडामुपह्वयत इति ब्राह्मणं व्याख्यातं प्रधानमात्मोपाह्वानं पृथक्पत्न्यर्थमिडोपाह्वानं च पठितं तयोरप्याश्वलायनीयेऽदर्शनात् । तैत्तिरीये निषिद्धप्रवृत्तिर्नास्तीति भावः । न च सारस्वतेन वेदेषु परस्परं मिश्रीभावः कृत इति वाच्यम् । कुतः । सूर्यात्प्राप्तायां माध्यंदिनीयशाखायां हौत्रदर्शनात् । तैत्तिरीयशाखायां सत्यप्रपाठकमन्त्रपाठानुसारेण देवा वै नर्चिनेत्यारभ्य युङ्क्ष्वेत्यन्तेष्वनुवाकेषु विनियोगदर्शनाच्च । किंच वेदविभागः कृष्णद्वैपायनेन कृत इति पुराणे प्रसिद्धम् । तदा मिश्रीभावसहितं विभागं कर्तुं समर्थोऽपि नाकरोत् । अतस्तेन सिद्धानुवादः कृत इति

बोध्यम् । तस्माच्चतुर्ष्वपि वेदेषु परस्परशेषो नास्तीति सिद्धम् । ननु स्वहौत्रस्वीकारेण ऋग्वेदयजुर्वेदाभ्यां दर्शपूर्णमासौ । ऋग्वेदेन होतेत्यादिसूत्राणा व्यर्थता स्यात् । अतः स्वहौत्रं न स्वीकर्तव्यमिति प्राप्तेऽत्रोच्यते । भगवानाचार्यः—आध्वर्यवं व्याख्यास्याम इत्यारम्भेण निर्वाहो यदि स्यात्तर्हि कथं यज्ञं व्याख्यास्याम इत्यारभते । आश्वलायनादिसूत्रेषु यज्ञस्य दर्शपूर्णमासादीनां च विधानाभावात्तेषां यज्ञानधिकारस्तदीयसूत्राणा व्यर्थता च प्राप्ता तत्परिहाराय यज्ञं व्याख्यास्याम इति उत दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञत्वभावात्स त्रिभिर्वेदैर्विधीयत इति परिभाषया त्रयाणां प्रसक्तिस्तेष्वत्रोद्गातृनिषेधार्थं पुनर्ऋग्वेदयजुर्वेदाभ्यां दर्शपूर्णमासावित्युक्तम् । यजुर्वेदेनाग्निहोत्रमित्यपि सार्वर्थि(त्रि)कम् । कुतः । यजुर्वेदे ब्राह्मणद्वितीयकाण्डप्रथमाध्याये समग्राग्निहोत्रविधानात्संहिताप्रथमकाण्डस्थपञ्चमाध्याये फलसहितोपस्थानविधानाच्च । यज्ञस्य वेदत्रयाधीनत्वं प्राप्तमपि केन किं कार्यमित्याशङ्क्य यजुर्वेदेनाध्वर्युः करोत्यृग्वेदेन होतेत्यादिसूत्रं पुनरारभते । यज्ञस्य सर्वेऽधिकारिणः सन्ति न केवलं यजुर्वेदाध्यायिनः । अत इमे नियमाः सार्वर्थि( त्रि )का एव । अस्मच्छाखाया पृथग्घौत्रोपदेशादन्यशाखासु तस्य चारितार्थ्यं स्यात् । तस्मादिमाः सामान्यपरिभाषा इति सिद्धम् । सामान्याद्विशेषो बलीयानिति न्यायादस्मच्छाखीयैः सत्याषाढोक्तं विशेषं हौत्रमेव कर्तव्यम् । ननु स्वसूत्रप्रतिपादितत्वाद्दर्शपूर्णमासयोः स्वकीयं हौत्रमस्तु तदूर्ध्वं सूत्रोपदेशाभावात्किं कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—चातुर्मास्यादिषु स्वहौत्रं नास्तीति न वक्तव्यम् । परिधीश्वरपोर्ष्वित्युच्यमाने दक्षिणमुत्तरं परिधिं मध्यम उपसमस्यतीति ज्ञापनादस्तीति गम्यते । अन्यथैतस्य वैयर्थ्यापत्तिः स्यात् । पशुबन्धेऽपि अविक्षुरो विखुरो भूयासमिति प्रतिगृह्णातीति ज्ञापनादेवमेव व्यवस्था ज्ञेया । स्वसूत्रानुपलब्धेऽपि श्रुतौ मन्त्रपाठाद्बौधायनापस्तम्बाभ्यां कृत्स्नोपदेशात्तदेव कर्तव्यम् । सोमे तु अध्वर्यो वेरपा इत्यनेन स्वकीयमस्तीति गम्यते । परंतु सूत्रानुपलब्धत्वादाश्वलायनीयं प्रागुक्तपरिभाषया कर्तव्यमेव । पूरणार्थमाश्वलायनीयग्रहणापेक्षया कृत्स्नत्वात्तदेव ग्रहीतव्यं न याजुषमिति केचिद्वदन्ति । तन्न । तस्यापि कृत्स्नत्वाभावः । कुतो मृगारेष्टिनक्षत्रसत्रादिषु तत्सूत्रानुक्तत्वात्तेऽपि तैत्तिरीयोक्तं गृह्णन्ति । तस्मादुभयोरपि न कृत्स्नत्वं पूरणार्थमन्योक्तग्रहणे न दोषः । किंचाग्नाऽग्नेऽग्नावग्नेऽग्निनाऽग्नेऽग्निमग्न इति चतुर्षु प्रयाजेषु चतस्रो विभक्तीर्दधाति पुरस्ताद्वषट्कारादेतत्पुनराधानस्य सूत्रस्यापि तैत्तिरीये विनियोगो नान्यस्मिन् । काम्येष्टिपश्वादिषु भगवता सत्याषाढेन तत्तत्प्रकरणे हौत्रस्य विनियोगः प्रदर्शितः । साग्निचित्ये क्रतावपि वायव्यपशौ स्वशाखोक्तमन्त्राणा

हौत्रे विनियोगः कृतः । अनेन सोमेऽपि स्वकीयं हौत्रमस्तीति गम्यते । तथाऽपि "लुप्तप्रायमिदं सूत्रं दैवादासीत्कचित्कचित् । दक्षिणस्यां ताम्रपर्ण्यास्तीरेष्वेवेदमाहृतम्"। इति वैजयन्तीकारोक्त्या कृत्स्नस्यास्मत्सूत्रस्य नोपलब्धिरिति स्पष्टं भवति । अनुपलब्धावन्यग्रहणं प्राप्तमेव ।

इति गद्रोपाह्वभट्टमहादेवकृतो याजुषहौत्रविचारः ।

====

## अथ गुरु० अभ्यंकरोपाह्वभास्करशास्त्रिप्रणीतो याजुषहौत्रविचारः ।

---

अथ याजुषहौत्रप्रयोगविषये किंचिद्विचार्यते । हौत्रप्रयोगाश्च ऋग्वेद आध्वर्यवे छान्दोग्ये चाऽऽम्नाताः । ते च स्वस्वशाखानुरोधेनानुसर्तव्याः । न शाखान्तरानुसरणेन । ननु आध्वर्यवे प्राकृतहौत्रमारभ्य निरूढपशुसौत्रामणिचातुर्मास्यकाम्येष्टिकाम्यपशूनामाग्निकानां च यावदिष्टिपशूनां हौत्रस्य कृत्स्नाम्नानात् तेषु हौत्रं सिद्धम् । एवं छान्दोग्येऽपि कचिदाम्नानात्तत्र सिद्धम् । अन्येषु सोमादियागेषु कार्त्स्न्येनानभिधानात्तत्र का गतिरितिचेत् । अत्र ब्रूम· । तत्र तत्तच्छाखासूत्राभिहितकतिपयधर्मापरित्यागेन शाखान्तराभिहिताकाङ्क्षितहोतृधर्मपरिग्रहस्य सूत्रकारैरेव व्यवस्थापितत्वान्नानुपपत्तिः । नच प्रयोगवैलक्षण्यम् । प्रमाणसिद्धप्रयोगवैलक्षण्यस्यादुष्टत्वात् । किंचेदं दूषणं बह्वृचानामप्यविशिष्टम् । तेषामपि कौकिलीनक्षत्रेष्टिस्वर्गसत्रमृगाश्वमेधाप्रीसूक्तादिषु शाखासूत्रान्तरावलम्बनस्याऽऽवश्यकत्वात् । नेदं चोदनार्हम् । किंच याज्ञे कर्मणि वेदत्रयस्य विनियोगात् सूत्राणां परस्परापेक्षणात् तत्तत्साकाङ्क्षितहोतृधर्मांशस्य समुच्चयबोधनाच्च । अत एव चानुवचनाभिष्टवशस्त्रनिविदसौमिकयाज्या वैशेषिकतन्त्रं भवति । तच्छाखासूत्राभिहितधर्माश्च । दीक्षणीयेष्टौ अग्निरग्रे प्रथमो देवतामिति याज्यानुवाक्याम्नानम् । या प्रायणीयस्य पुरोनुवाक्यास्ता उदयनीयस्य याज्याः करोतीति ब्राह्मणम् । त्रिष्टुभः सतीरिवान्वाहेति धर्माभिष्टवे । तिस्र एव सामिधेनीरनूच्येत्युपसत्सु याः प्रातर्याज्याः स्युस्ताः सायं पुरोनुवाक्याः कुर्यादिति ब्राह्मणम् । तथाच सूत्रम्--नव सामिधेनीरन्वाह तिस्र ऋचस्त्रिरनूक्ता भवन्ति नव वा पराचीरिति विधानान्तरम् । प्रातरनुवाके सर्वाणि च्छन्दांस्यन्वाह गायत्रिया तेजस्कामस्य परिदध्यात्त्रिष्टुभेन्द्रियकामस्य जगत्या पशुकामस्यानुष्टुभा प्रतिष्ठाकामस्य पङ्क्त्या यज्ञकामस्य विराजाऽन्नकामस्येति कामनाविधानम् । अध्वर्यो वेरपा ३ इति होताऽध्वर्युं त्रिः पृच्छति

द्विदेवत्यग्रहणे मयि वसुरिति ग्रहं होत्रे प्रयच्छति तेनैव होता प्रतिगृह्य दक्षिण ऊरावासाद्य हस्ताभ्यां निगृह्याऽऽस्त इति सूत्रम् । ऐतरेयब्राह्मणेऽपि येनैव यजुषाऽध्वर्युः पृच्छति तेन होता प्रथिगृह्णाति । प्रस्थितयागान्ते अयाडग्नीदित्युक्ते स भद्रमकर्यो नः सोमं पाययिष्यतीति होता प्रत्याहेत्यादय एवमध्वर्युः समानजातीया इडाभक्षणमार्जनदक्षिणाप्रतिग्रहादय इष्टिषु । वपायागान्तमार्जनादयः पाशुके । वरणजपतानूनप्त्रावमर्शनसोमाप्यायननिह्नवप्रवृत्तहोमसोमभक्षणादयः सौमिके । एवमादयो होतृधर्माश्चावगन्तव्याः । इत्थमेवाऽऽपस्तम्बाश्वलायनौ व्यवस्थां चक्रतुः । तथाहि आपस्तम्बाचार्यैः स्वशाखोपलब्धं याजुषहौत्रं स्वकल्पसूत्रे सम्यगभिधाय पुनर्ऋग्वेदेन होता करोतीत्यप्युक्तम् । तच्च न विकल्पतात्पर्यकम् । वाशब्दानुक्तेः । तस्याष्टदोषग्रस्तत्वाच्च । किंतु स्वशाखानुक्ताकाङ्क्षितशंसनादिहोतृधर्मसमुच्चायकम् । आकाङ्क्षितविधानं ज्याय इति न्यायात् । अत एव तैरेव प्राकृतहौत्रसूत्रान्त आध्वर एवातोऽन्यानि कर्माणि होतुराम्नातानि भवन्ति उपदेशादितराणीति सूत्रितम् । तस्यायमर्थः । आध्वर एव । आध्वर सूत्र एव । अतः खण्डचतुष्टयात्मकप्राकृतहौत्रसूत्रात् । अन्यानि कर्माणि होतुः प्रकृतहौत्रोपयुक्तानि होतुः कर्माणि । तथा पाशुकचातुर्मास्याग्रयणप्रायश्चित्तसौमिकाग्निकपशुसौत्रामणिकाम्येष्टिकाम्यपशुकाठकाश्वमेधादिषूपयुक्तहोतृकर्माणि चाऽऽम्नातानि भवन्ति । कानि च श्रुत्याम्नातानि कानि च सूत्राम्नातानीत्यर्थः । उपदेशादितराणि । उपदेशात्—ऋग्वेदेन होता करोतीत्युपदेशात् । इतराणि बह्वृचोक्तानि कुर्यादित्यर्थः । अनेन च स्वस्वशाखोक्तधर्मपरित्यागाभावः स्पष्ट एवोक्तः । आनर्थक्यप्रसङ्गाद्दोषश्रवणाच्चेति । एवमाश्वलायनेनाप्युक्तम् । तथाहि—तद्ये केचन च्छान्दोग्ये वाऽऽध्वर्यवे वा हौत्रामर्शाः समाम्नातास्तान्न कुर्यात् । अकृत्स्नत्वाद्धौत्रस्येति । अत्र वृत्तिकारः—छन्दोगाना शास्त्रं छान्दोग्यं तथाऽऽध्वर्यवमेवेत्युक्तम् । एतावत्मात्रं होतृकर्मेति । तत्राऽऽध्वर्यवे छान्दोग्ये वा वेदे ये केचन हौत्रामर्शाः पदार्था दृष्टाः कर्तव्यतया ते न कर्तव्याः । हौत्रामर्शा हौत्राभासा इत्यर्थः । कुतः । अकृत्स्नत्वाद्धौत्रस्य । तौ हि वेदौ हौत्रस्य न विधायकौ । अन्यपरत्वात्तयोः । अतस्तत्र ये समाम्नाताः पदार्थास्तेऽनर्थका वा भवन्तु तत्सापेक्षेणापि वा प्रयोगशास्त्रान्तरेण सार्थका वा भवन्तु । सर्वथा तावदाश्वलायनसूत्रप्रयोगे ते न कर्तव्या एवेति निश्चिनुमः । अकृत्स्नत्वादिति हेतुवचनाद्यत्र कृत्स्नं हौत्रमाध्वर्यवेषु विहितं दर्शपूर्णमासनिरूढकौकिल्यादिषु तत्र तत्कर्तव्यमेवेति सिद्धम् । अत्राऽऽश्वलायनसूत्रप्रयोगे न कर्तव्या इत्युक्त्या सूत्रान्तरप्रयोगे तु कर्तव्या एवेति सूचितम् । किंचा-

कृत्स्नत्वादिति हेतुना यत्र कार्त्स्न्यमस्ति दर्शपूर्णमासादिषु तेषामपि कदाचित्परिग्रहो बह्वृचैः कर्तव्य इत्यपि सूचितम् । अत्र वृत्तिकृता हौत्रामर्शा इत्यस्य हौत्राभासा दुष्टा इति यावत् । इति व्याख्यातम् । तदसंगतम् । तद्ये केचनेत्यस्यापवादार्थं छन्दोगप्रत्ययं स्तोमः स्तोत्रियः पृष्ठं संस्थेति । स्तोमादयः छन्दोगप्रमाणा इत्यर्थः । तथाऽध्वर्युप्रत्ययं तु व्याख्यानं कामकालदेशदक्षिणानां दीक्षोपसत्प्रसवसंस्थोत्थानानामेतावत्त्वं हविषामुच्चैरुपांशुतायां हविषां चाऽऽनुपूर्व्यम् । एतत्सर्वमध्वर्युप्रत्ययम् । अध्वर्यवधीनमित्यर्थः । एतत्सूत्रद्वयं केषांचिदाध्वर्यवच्छान्दोग्यधर्माणां परिग्रहार्थं प्रणीतम् । सर्वथा दुष्टत्वे प्रतिपादिते तत्परिग्रहोऽप्यसंगतः स्यादिति । एवं तेषामानर्थक्यप्रतिपादनमप्यसंगतम् । उत्तरसूत्रद्वयेऽनर्थकाना संग्रहानापत्तेरिति ध्येयम् । एवं बौधायनभरद्वाजसत्याषाढप्रभृतिभिराचार्यैः स्वस्वकल्पसूत्रे हौत्रमुक्तम् । सर्वथा स्वस्वशाखासूत्रपरित्यागस्त्वन्याय्य एवेति सिद्धम् । तथा चाऽऽह शौनकः । ऊनो वाऽप्यधिको वाऽपि यः स्वशाखोदितो विधिः । तेन संतनुयाद्यज्ञं न कुर्यात्पारशाखिकम् । स्वशाखाकल्पसूत्राणां बलीयस्त्वं सदा भवेत् । स्वशाखाश्रयमुत्सृज्य परशाखाश्रयं च यः । कर्तुमिच्छति दुर्मेधा मोघं तस्य विचेष्टितम् । बह्वल्पं वा स्वगृह्योक्तं यस्य यावत्प्रचोदितम् । तस्य तावति शास्त्रार्थे कृते तावत्कृतं भवेत् । स्मृत्यन्तरेऽपि । यः स्वशाखां परित्यज्य परशाखां समाश्रयेत् । अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोऽन्धे तमसि मज्जति । इत्यादि । इत्थं च याजुषाणां निर्विचिकित्सं याजुषहौत्रप्रकृतिविकृतिसाधारण्येन यागमात्रे सिद्धमिति निष्कर्षः । एवं सति केषांचिद्याजुषाणामृक्शाखानुरोधेन दर्शपूर्णमासमारभ्य हौत्रप्रयोगं कुर्वतां महान्प्रमाद एवेति सुधीभिर्विभावनीयमित्यलं विस्तरेण ।

**इत्यभ्यंकरोपाह्वभास्करशास्त्रिप्रणीतो याजुषहौत्रविचारः ।**

====

## अथाभ्यंकरोपाह्ववासुदेवशास्त्रिविरचितो याजुषहौत्रविचारः ।

---

अथ याजुषहौत्रविचारः प्रारभ्यते—

अभिनिवेशवशीकृतचेतसां बहुविदामपि संभवति भ्रमः ।
तदिह याजुषहौत्रममत्सराः सहृदया विमृशन्तु विपश्चितः ॥ १ ॥

यद्यपि याजुषहौत्रविचारो दीक्षितगोपीनाथभट्टैः साकल्येन प्रदर्शित एव । तथाऽपि नव्योक्तयाजुषहौत्रमीमांसानुसारेण लोकानां भ्रमो बोभूयते । तदपमोदार्थमयमारम्भः ।

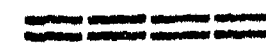
यजुर्वेदस्थमन्त्रैः क्रियमाणं होतुः कर्म याजुषहौत्रशब्देनोच्यते । तच्च सत्याषाढादिसूत्रेषु विधीयते । ननु ऋग्वेदेन होता करोतीत्युक्तेर्यजुर्वेदविहिते कर्मणि होतुरनधिकारः । यद्धोतुः कर्म तदृग्वेदविहितमेवेति कर्मनियमसत्त्वादितिचेन्न । यदृग्वेदविहितं कर्म तद्धोतैव करोतीति तदर्थात् । तथा च ऋग्वेदविहितकर्मणो होतृव्यतिरिक्तकर्तृत्वे निषिद्धेऽप्यन्यवेदविहिते कर्मणि होतृकर्तृकत्वस्यानिषिद्धत्वात् । हरदत्ताचार्यैरपि कर्तृनियम एवोक्तः । युक्तं चैतत् । अत एवैतन्नियमापवादभूते वचनाद्विप्रतिषेधाद्वाऽन्यः कुर्यादिति सूत्रेऽन्य इति कर्तृप्रतिनिर्देशः कृतः । अन्यथाऽन्यदिति कर्मप्रतिनिर्देशः कृतः स्यात् । ऋचैव हौत्रमिति श्रुतेस्त्वनुवादकत्वेनाविधायकत्वान्नार्थसाधकत्वम् । तदुक्तमाचार्यैः । अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वादिति । तथाहि । ऋचैव हौत्रमिति श्रुतौ कुर्यादित्येवंविधिप्रत्ययो लिङादिर्न श्रूयते । सा च श्रुतिरर्थवादगता । तद्यथा पूर्वं प्रजापतिर्बहुविधः स्यामिति कामयित्वा तत्सिद्ध्यर्थं तपः पर्यालोच्य लोकत्रयमसृजत । पर्यालोचितेऽभ्यस्तेभ्यो लोकेभ्योऽग्निवाय्वादित्यरूपाणि ज्योतींष्यजायन्त । तेभ्यश्च प्रजापतिर्वेदत्रयमुत्पादितवान् । तेभ्यो वेदेभ्यो व्याहृतित्रयमजायतेत्यादि प्रक्रम्य वेदभ्रेषे व्याहृतिहोमरूपं प्रायश्चित्तं विधातुमुपयुक्तमर्थवादभूतमुपाख्यानमाह । स प्रजापतिर्यज्ञमतनुत तमाहरत्तेनायजत स ऋचैव हौत्रमकरोद्यजुषाऽऽध्वर्यवं साम्नोद्गीथमित्यादि । अनेन ब्रह्मयज्ञ उक्तः । ततो देवतायज्ञमुक्त्वा ऋगादिभ्रेषे का प्रायश्चित्तिरिति देवताप्रश्ने व्याहृतिहोमरूपं प्रायश्चित्तं प्रजापतिरुक्तवान् । अस्याः श्रुतेरर्थवादत्वम् । अनेनार्थवादेन प्रायश्चित्तविधिमुन्नीयेत्यादि भाष्ये स्पष्टं प्रतिपादितं च । किंच यजुर्वेदे विहितो यो हौत्राम्नायः स ऋग्वेदशेष एवेति हरदत्ताचार्यैः स्पष्टमेवोक्तमिति कर्मनियमेऽपि बाधकाभावः । एतेन यजुर्वेदेनाध्वर्युरिति नियमेन यजुर्वेदविहितहौत्रकर्मणो होतृकर्तृकत्वाभाव इति परास्तम् । ननु याजुषहौत्रपरिग्रहे ऋग्वेदयजुर्वेदाभ्यां दर्शपूर्णमासाविति सूत्रं विरुध्यत इतिचेत् । भ्रान्तोऽसि । यथा ऋग्वेदे यश्चाग्निहोत्रविधिराम्नातः स यजुर्वेदशेष एवेति स्वीकृत्य यजुर्वेदाग्निहोत्रमिति सूत्रविरोधः परिहियते । तथा यजुर्वेदस्थहौत्राम्नायस्य ऋग्वेदशेषत्वेन ऋग्वेदयजुर्वेदाभ्यामिति सूत्रविरोधस्यापि परिहृतत्वात् । एतच्च तत्रैव वृत्तौ स्पष्टम् । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । इतरथा निरूढकौकिल्यादिषु आश्वलायनानामपि याजुषहौत्रपरिग्रहावश्यंभावेन तत्र ऋचैव हौत्रमिति श्रुतिर्ऋग्वेदेन होता करोतीति सूत्रं च विरुद्धं स्यात् । यजुःसंहिताभाष्येऽपि याजुषहौत्रमन्त्राणां हौत्रकर्मणि विनियोगः प्रदर्शितः । यत्तु यदृचैव हौत्रं क्रियत इति श्रुत्याऽयोगव्यवच्छेदा-

र्थकेनात्र ह्येवाऽऽवपतीत्यादिवदन्ययोगव्यवच्छेदार्थकेन वा एवकारेणोपबद्धया ऋग्वेद-विहितमेव सर्वं हौत्रं प्राप्नोतीति उक्तम् । तच्चिन्त्यम् । उक्तश्रुतेरर्थवादत्वात् । यजुर्वेदस्थहौत्राम्नायस्य ऋग्वेदशेषत्वेन तद्विरोधाभावस्य प्रागुपपादितत्वाच्च । कृत्वाचिन्ता-न्यायेनापि ब्रूमः । एवकारस्यायोगव्यवच्छेदार्थकत्वे हौत्रस्य ऋक्संबन्धाभावव्यवच्छेदेऽपि यजुःसंबन्धस्य व्यवच्छेदाभावेन ऋग्वेदविहितमेव सर्वं हौत्रं प्राप्नोतीत्यस्यासंगतत्वम् । अन्ययोगव्यवच्छेदार्थकेन वेत्यप्यसंगतम् । तन्मूलभूतस्य विशेष्यसंगतैवकारस्यात्राभावात् । ऋचेत्यस्य किंचिदर्थनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतापन्नार्थप्रतिपादकत्वस्य कथमपि वक्तुमशक्यत्वात् । यच्च विहितप्रतिषिद्धत्वाद्याजुषमपि हौत्रं दर्शादिषु विकल्पते । विकल्पोऽप्ययमव्यवस्थित एवेत्युक्तं तदसत् । अव्यवस्थितविकल्पाङ्गीकारे । यः स्वशाखां परित्यज्य परशाखां समाश्रयेत् । अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोऽन्धे तमसि मज्जतीत्यादिवचनविरोधप्रसङ्गात् । अव्यवस्थितविकल्पस्य पूर्वमीमांसोक्तप्रमाणत्वपरित्यागाद्यष्टदोषग्रस्तत्वाच्च । विहितप्रतिषिद्धत्वाद्याजुषमपि हौत्रं दर्शादिषु विकल्पते । इत्यपि न युक्तम् । यजुःश्रुतिसूत्रादौ विहितस्य याजुषहौत्रस्य ऋचैव हौत्रमिति निषेध इति वक्तुमशक्यत्वात् । ऋचैवेत्यस्यार्थवादत्वात् । हौत्रमन्त्राणां ऋग्वेदशेषत्वाच्च । विकल्पाङ्गीकारेऽकृत्स्नहौत्रस्थले न तान्कुर्यादित्याश्वलायनसूत्रोक्तनिषेधाङ्गीकारेऽपि पाक्षिकयाजुषहौत्रप्रसक्तेर्दुर्वारत्वाच्च । सा च तवानिष्टा । न च यजुर्वेदस्य हौत्रभागस्याऽऽश्वलायनेन हौत्राभासत्वकथनात्तस्य तन्मूलकसूत्राणां च प्रत्यक्षपठितानामपि हौत्रपदार्थविधानपरत्वाभाव इति विहितप्रतिषिद्धत्वाभाव इति वाच्यम् । त्वदुक्तरीत्या यजुःश्रुतिसूत्राणां हौत्रपदार्थविधायकत्वाभावे न तान्कुर्यादिति निषेधस्य सुतरां वैयर्थ्यं स्यात् । अथ यजुःश्रुतिसूत्राणां याजुषहौत्रपदार्थविधायकत्वाभावसूचनार्थमेव निषेधस्याऽऽवश्यकत्वं ब्रूषे । तर्हि षोडशिनं गृह्णाति षोडशिनं न गृह्णातीत्यत्र मीमांसकोक्तो विकल्पस्त्वन्मते विरुद्धः स्यात् । निषेधानुसारेण विधेर्विधायकत्वाभावस्य तत्रापि दुर्वारत्वात् । विधिसार्थक्याय विकल्पाङ्गीकार इति चेदत्रापि तथा किं न पर्यालोचयेः । किंच सूत्रानुरोधेन श्रुत्युक्तहौत्रभागस्य विधायकत्वाभाव इति वदतो भवतः कथमुपादेयवचनता स्यात् । सूत्राणां हि श्रुत्यनुसारिणामेव प्रामाण्यम् । नतु तद्विरोधिनाम् । अत एव तत्र वृत्तिकारेण अनर्थका वा भवन्तु इति पूर्वमुक्त्वा तत्रापरितोषेण तत्सापेक्षेणापि वा प्रयोगशास्त्रान्तरेण सार्थका वा भवन्तु इत्यकृत्स्नस्थलेऽपि सार्थकत्वमुक्तम् । एतेनात्राननुष्ठानलक्षणस्याप्रामाण्यस्याऽऽश्वलायनानुमतत्वेनेष्टापत्तिरिति परास्तम् । सूत्रानुरोधेन

श्रुतेरप्रामाण्यस्य बालैरपि तिरस्कारात् । किंच प्रकृतिषूपदेशाद्विकृतिषु प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्येत्यतिदेशाद्याज्यापुरोनुवाक्यानामपि मन्त्रलिङ्गात्फलविशेषश्रवणेन चोक्तप्रायत्वात्कात्स्न्र्यमस्त्येव । नचौपदेशिकमेव कात्स्न्र्यं विवक्ष्यते नातिदेशिकमिति वाच्यम् । प्रमाणाभावात्फलाभावात्सूत्रान्तरविरोधाच्च । ऋग्वेदेन होता करोतीति सूत्रं तु स्वशाखानुक्ताकाङ्क्षितहोतृधर्मसमुच्चायकम् । आकाङ्क्षितविधानं ज्याय इति न्यायात् । छन्दोगानां शाखान्तरपरिग्रहे विनिगमकाभावात्तच्छाखानुग्राहकं च न स्वशाखोक्तधर्मपरित्यागसूचकम् । आनर्थक्यप्रसङ्गादित्याहुः । यच्चात्राऽऽधुनिकाः किंचित्प्रलपन्ति तदाशयं त एव प्रष्टव्याः । विस्तरस्तूचितं प्रसङ्गमनुसृत्य भविष्यतीति दिक् ।

इत्यभ्यंकरोपाह्ववासुदेवशास्त्रिविरचितो याजुषहौत्रविचारः समाप्तः ।

शके १८२७ माघशुक्लनवम्यां मन्दवासरे ।



# सत्याषाढविरचितं श्रौतसूत्रम् ।

## महादेवशास्त्रिसंकलितप्रयोगचन्द्रिकाव्याख्यासमेतम् ।

### अथैकविंशप्रश्ने प्रथमः पटलः ।

यदर्पितं कर्म फलाय कल्पते यदर्पितं बन्धविमुक्तयेऽपि च ।
सच्चित्सुखानन्तमनन्त्यमीश्वरं वन्दे नृसिंहं दुरितेभदारणम् ॥
विनेययुक्ताखिलसिद्धवर्यैलसच्चिदानन्दसुखं मुनीन्द्रम् ।
नमामि सूत्रार्थविदे मुदाऽहं हिरण्यकेशाख्यगुरुं कृपाब्धिम् ॥
एकोनविंशे विंशे च स्मार्तकर्म निरूपितम् ।
अथैकविंशे वक्ष्येते हौत्रप्रवरानिर्णयौ ॥

अथ प्रणेष्यमाणस्य दर्शपूर्णमासहौत्रसूत्रस्यार्थं पिण्डीकृत्य शिष्यबुद्धिसमाधानाय प्रतिजानीते—

देवा यो अप्सु महिम इषवः स इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि । यच्चाहमभिदुद्रोह यच्च शेप उदाकृतम् ॥ भूः प्रपद्ये भुवः प्रपद्ये सुवः प्रपद्ये भूर्भुवः सुवः प्रपद्ये ( इति वा ) सत्यं प्रपद्य ऋतं प्रपद्येऽमृतं प्रपद्ये प्रजापतेः प्रियां तनुवमनार्तां प्रपद्ये गायत्रीं प्रपद्ये त्रिष्टुभं प्रपद्ये जगतीं प्रपद्येऽनुष्टुभं प्रपद्ये पङ्क्तिं प्रपद्ये छन्दोभिश्छादये छन्दोभिश्छन्नोऽस्मीदमहं पञ्चदशेन वज्रेण द्विषन्तं भ्रातृव्यमवक्रामामि योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः । दशहोता भूर्भुवः सुवः । हिं नमो मात्रे पृथिव्यै ॥ इन्द्रमन्वारभामहे होतृवर्ये पुरोहितम् । येनाऽऽयन्नुत्तम॰ सुवर्देवा अङ्गिरसो दिवम् ॥ षष्टिश्चाध्वर्यो नवतिश्च पाशा अध्वर्युमग्निमन्तरा वियत्ताः । सिनन्ति पाकमति धीर एत्यृतस्य पन्थामन्वेमि होता ॥ १ ॥ चतुर्होता पञ्चहोता

षड्ढोता सप्तहोता ॥ समुद्रं मावपदमादित्यस्यऽऽव्रतमन्वावर्तेत । षण्मोर्वीरꣳहसस्पान्तु द्यौश्चपृथिवी चाहश्च रात्रिश्च कृषिश्च वृष्टिश्च त्विषिश्चापचितिश्चाऽऽपश्चौषधयश्च । निरस्तः परावसुः । ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामवबाधामहे तान् । वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन् । उन्निवत उद्वतश्च केषं पातं मा द्यावापृथिवी अद्याह्नः । सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वान्सादयो यज्ञꣳ सुकृतस्य योनौ । देवावीर्देवान्हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयोधाः । नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाꣳ असदत्सुदक्षः । अदब्धव्रतपतिर्वसिष्ठः सहस्रंभरः शुचिजिह्वो अग्निः ॥ लोककृतौ लोकं मे कृणुतं मा मा संताप्तमेष वां लोकः । प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहामि जुष्टामद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासं जुष्टां ब्रह्मभ्यो जुष्टां नाराशꣳसाय ॥ वागोजः सह ओजो मयि प्राणापानौ । वाग्वषट्कार नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः ॥ २ ॥

देवा यो अप्सु महिम इत्यादयो मन्त्रा इह प्रश्ने विनियुक्तत्वात्सौकर्यार्थमत्र पाठाः सम्यगाम्नाताः ॥

दर्शपूर्णमासयोर्हौत्रं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

दर्शपूर्णमासयोस्तु निगदा याजुर्वेदिका एव तयोर्विकृतिष्वपीति यजुर्वेदस्य भूयस्त्वेनाभिधानात्स्वतन्त्रहौत्रविधानसापेक्षयोः समासेन ग्रहणं हौत्रं यजुर्वेदेन विधीयते । ऋग्वेदविहितस्य कर्मण उत्सर्गेण हौत्रमिति । व्याख्यानं नाम शब्दप्रतिपादितस्यार्थस्य न्यायलब्धार्थस्वरूपकथनमस्मादयमर्थो लभ्यत इति ॥ १ ॥

क्लृप्ते होतृषदने देवा यो अप्सु महिम इत्यप आचामति ॥ २ ॥

होता निषीदत्यस्मिन्स्तद्धोतृषदनं दर्भमयमासनं तस्मिन्क्लृप्तेऽध्वर्युणा । होतृषदनं क्लृप्त-

यति ( स० सू० १–८–२७ ) इति वचनात् । आचामति प्राश्नाति । उदाकृत-मित्यन्तः ॥ २ ॥

**यज्ञोपवीत्याचान्तो विहारमभ्येत्यान्तरेण वेद्यु-त्करौ भूः प्रपद्ये भुवः प्रपद्य इति प्रतिपद्यते । उत्तरेण वेदिमवस्थाय च्छन्दोभिश्छादये छन्दो-भिश्छन्नोऽस्मीति जपति ॥ ३ ॥**

' सव्यमिति यज्ञोपवीतम् ' ( तै० आ० २–१ ) इति श्रुतेः । शुद्ध्यर्थमाचमन-मिति वचनात् । विहारमभ्येत्य प्राप्य वेद्युत्करयोर्मध्ये गच्छञ्जपतीत्यर्थः । होतृस्थानं वेद्या उत्तरश्रोणेरुत्तरतो होतृप्रत्ययं यत्र प्रागग्रमुदगग्रं वा कल्पयत्यासनं तत्र जपति । पङ्क्तिं प्रपद्य इति प्रथममन्त्रान्तः ॥ ३ ॥

**दक्षिणेन पादेनोत्तरां वेदिश्रोणीमवक्रामतीदमहं पञ्चदशेन वज्रेणेति ॥ ४ ॥**

वयं द्विष्म इति मन्त्रान्तः । ननु 'सामिधेनीरेव प्रकृत्यान्तर्वेद्यन्यः पादो भवति बहि-र्वेद्यन्यः ' इति श्रुतम् । ' अर्धमन्तर्वेदि ' इत्यादाविव न स्थानविशेषलक्षणा वाक्यद्वयेन संभवति । तादृशस्थानस्यैकत्वेन तत्रैकः पादोऽन्यत्रान्यः पाद इति कथनस्वारस्यविरो-धापत्तेः । तस्माद्वेदेरन्तरुपविश्य—प्र वो वाजा अभिद्यव इति पादो वक्तव्यः, तद्बहि-रुपविश्य ' हविष्मन्तो घृताच्या ' इति । पुनस्तदन्तरुपविश्य देवाञ् जिगाति सुम्नयोमित्यादिरीत्या ' सामिधेनीरनुब्रूयात् ' इत्यनेनैकवाक्यतया सिध्यतीति प्राप्ते—

' तिष्ठन्नन्वाह ' इति विधेः स्थानविशेषसाकाङ्क्षत्वेन तत्समर्पकतयैकवाक्यत्वे संभवति वाक्यभेदायोगात्तादृशस्थाने स्थितवतोऽर्थात्तदवयवभेदेन होतुः पादद्वयस्याव-स्थानेनान्यः पाद इत्यस्यानुवादत्वसंभवादन्यपादमाहेत्युच्चारणकर्मत्वेनानिर्देशात्पादश-ब्दस्य ऋक्पादपरत्वायोगाच्च स्थानविशेषलक्षणया तत्र होता स्थित्वाऽनुब्रूयादित्यर्थः । ( ११–१–२ ) ॥ ४ ॥

अथ परिभाषामाह—

**अत्र तिष्ठन्सामिधेनीरन्वाह ॥ ५ ॥**

अत्र होतृकर्मणीत्यर्थः । यथा तिष्ठन्याज्यामन्वाह ( जै० सू० १०–४–२१ ) इति न्यायवत् । अन्वाहेति विधीयमानमनुवचनमदृष्टार्थं कर्म स्याच्चोदनान्तरादृदृष्टार्थ-तया विधानबलाच्छस्त्रवदिति ॥ ५ ॥

---

१ म. °मभ्यावृत्य° ।

आवृतस्यैतानि वाचो नियम्यानि भवन्ति ॥ ६ ॥

आरब्धे कर्मणि यावत्समाप्ति न ब्रूयात् ॥ ६ ॥

सामिधेनीसंप्रैषादध्या परिधानीयायाः पुरोनुवाक्यासंप्रैषादध्या प्रणवाद्याज्यासंप्रैषादध्या वषट्कारान्निगदमारभ्याऽऽसमाप्तेर्हृदयदेशेऽञ्जलिं कृत्वाऽनुब्रूयाद्यजेच्च ॥ ७ ॥

सामिधेन्यारम्भप्रभृतिसमाप्तिपर्यन्तमेवमन्यत्रापि ॥ ७ ॥

अथा( यदा )ध्वर्युः संप्रेष्यत्यग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीति ( तदा ) ब्रह्मन्सामिधेनीरनुवक्ष्यामीति ब्रह्माणमामन्त्रयते। ब्रह्मन्ननुवक्ष्यामीति वा। प्रसव उक्ते दशहोतारं व्याख्याय व्याहृतीर्जपित्वा हिमिति त्रिर्हिं करोति ॥ ८ ॥

प्रैषमन्त्रेण होतारं संप्रेष्यति । इध्मेन संदीप्यमानायाग्नये तत्समिन्धनार्था या ऋचो वक्तव्यास्ताः सामिधेनीरनुब्रूहीति संप्रैषार्थः ।

यदि होताऽऽमन्त्रयते, ब्रह्मन्सामिधेनीरनुवक्ष्यामीत्युच्यमाने प्रजापतयेऽनुब्रूहि यज्ञं देवता इति सामिधेनीषु ( स० श्रौ० २-२१ ) इति पृष्टेऽनुमोदनं प्रसवः । अत्र प्रसव उक्त इति वचनात् । दशहोता चित्तिः स्रुक् ( तै० आ० ३-१ ) इति । तं व्याख्याय 'भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः ' इति श्रुतेः । ततो हिमिति शब्दमुच्चारयेत् ।

ननु—सामिधेनीः ( १६-१-१ ) ' सामिधेनीरनुवक्ष्यन्नेता व्याहृतीः पुरस्ताद्दधाति ' इत्यादिभिर्विहितानां दशहोतृव्याहृतिहिंकारसामिधेनीनां क्रमनियामकाभावादनियतक्रमेणोच्येरन्निति प्राप्ते—'हिंकृत्य सामिधेनीरन्वाह', इति क्त्वाप्रत्ययेनाव्यवहितपूर्वकालकथनात्सामिधेनीभ्यः पूर्वो हिंकारः । 'अनुवक्ष्यन् पुरस्तात्' इत्याभ्यामव्यवधानांशस्याकथनाद्धिंकारात्पूर्वं व्याहृतयः । दशहोतुरपि तथैव तथैव श्रवणेऽपि मन्त्रपाठक्रमाद्व्याहृतिभ्योऽपि पूर्वं निवेशः सर्वत्राव्यवधानस्याशक्यतयाऽल्पव्यवधानेनोपपत्तौ स्थूलव्यवधानस्यायुक्ततया प्रैषक्रमः सिध्यति ।

ननु—तारमन्द्रौ ( १६-१-२ ) ' अन्तराऽनूच्यं स देवत्वाय ' इति श्रुतावन्तरेत्यनेन दशहोतृव्याहृतिमध्यभागे सामिधेनीपाठविधानेन पाठक्रमादिबाधः । न चान्तरा-

शब्दः स्वरवाचकत्वेन कोशादिषु प्रसिद्धः । 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इत्यादिना स्वरस्य प्राप्तत्वेन तदनपेक्षणाच्चेति प्राप्ते—'यत्क्रौञ्चमन्वाहासुरं तद्यन्मन्द्रं मानुषं तद्यदन्तरा तत्सदेवम्' ( स० श्रौ० २३–१–१० ) इति श्रुत्याऽन्तरापदस्य तारमन्द्रोभयमध्यमभूमिकात्वेन स्वराविशेषं निर्दिश्यान्तराऽनूच्यमिति विधाने तस्यैवोपस्थितिश्रुतेर्न तस्य क्रमविधायकत्वम् ॥ ८ ॥

अथ सामिधेनीसंख्यां विधत्ते—

**प्र वो वाजा अभिद्यव इति पञ्चदश सामिधेनीरन्वाह मध्यमस्वरेणेति विज्ञायते ॥ ९ ॥**

'प्र वो वाजा अभिद्यव' इत्यनुवाके (तै० ब्रा० ३–५–२ ) यद्यपि द्वादश पठितास्तथाऽप्येकादशैव । एकस्याः पुरुषभेदेन विकल्पितत्वात् । तासु च प्रथमोत्तमयोस्त्रिरावृत्त्या पञ्चदशसंख्या पूर्णा भवतीत्यर्थः । अग्नेः समिन्धनार्था ऋचः सामिधेन्यः । दूरस्थस्य श्रवणप्राप्तः स्वरः क्रुष्टस्वरः । संनिकृष्टस्य श्रवणप्राप्तः स मन्द्रः । तयोरन्तरा मध्यमेन स्वरेण सामिधेन्योऽध्वर्युप्रैषमनु—अध्वर्युप्रैषान्ते वक्तव्याः । सामिधेन्यङ्गत्वादध्वर्युप्रैषोऽपि ब्रह्मामन्त्रणं प्रसवश्च मध्यमेन स्वरेणैव वक्तव्या इति विज्ञायते श्रुतिरिति शेषः ।

ननु—पञ्चदश (१६–१–४) सामिधेन्य ऋच एकादश पठिता विहितास्तु पञ्चदश । तत्र चतसृणामग्निसमिन्धनलिङ्गानामागमेन संख्या पूरणीया । तस्याः पृथक्त्वानिबोधित्वस्वाभाव्यात् । न च प्रथमोत्तमयोर्ऋचोस्त्रिरभ्यासविधानेन तदभिप्रायेण पञ्चदशत्वानुवादो युज्यत इति वाच्यम् । तथाऽप्यृचामेकादशत्वानपायेन तासां चतुःषष्ट्युत्तरद्विशताक्षरत्वेन तासां त्रीणि च शतानि षष्टिश्चाक्षराणि भवन्ति । 'तावतीः संवत्सरस्य रात्रयः' इति श्रुत्यन्तरविरोधापत्तेः । रात्रिदृष्टान्तेनानभ्यस्ताक्षरनिष्ठत्वेन संख्याप्रतीतेः । तस्मात्षण्णवत्यक्षरपूर्त्यर्थमनुष्टुप्त्रयं जगतीद्वयं गायत्रीचतुष्टयं वाऽऽनेयम् । पञ्चदशेति त्वेकादशानामभ्यासविशिष्टानामनुवादकमित्युक्तमिति प्राप्ते—'अक्षरशब्दस्य व्यञ्जनोपसर्जनकस्वरपरत्वेन तेषां च स्वरा विंशतिरेकश्चेति शिक्षापरिगणितानामल्पत्वेन तदधिकसंख्यायाः सर्वत्राभ्यासाभिप्रायेणैव कथनावश्यंभावात्सप्तदश पृष्ठानि' इत्यादौ 'तृचस्याभ्यासेनैव सप्तदशत्वस्य षष्टिस्त्रिष्टुभो माध्यंदिनं सवनम्' इत्यक्षरसंपत्तेश्च निर्वोढव्यतया प्रकृतेऽपि प्रथमोत्तमयोरभ्यस्तयोर्मेलनेन पञ्चदशर्चत्वस्य षष्ट्यधिकत्रिशताक्षरकत्वस्य चोपपत्तेर्नान्यागमः । स्पष्टं च कौषीतकिवचनम्—'एकादश सामिधेनीरन्वाह' इति प्रकृत्य 'त्रिः प्रथमया त्रिरुत्तमया पञ्चदश संपद्यन्ते पञ्चदश पूर्वपक्षापरपक्षयोरहानि' इत्यादि ॥ ९ ॥

आश्रुतादीनामुच्चैस्त्वं त्रिविध मन्द्रो मध्यमः क्रुष्ट इति । तत्र सामिधेनीषूच्चैःस्वरविशेषविधानायाऽऽरभ्यते—

यत्क्रौञ्चमन्वाहाऽऽसुरं तद्यन्मन्द्रं मानुषं
तद्यदन्तरा तत्सदेवमन्तराऽनूच्यँ सदेवत्वाय ॥ १० ॥

क्रौञ्चमन्द्रावुच्चैःस्वरस्याऽऽद्यन्तौ प्रतिषिध्यान्तरेति स्वराविशेषविधानादन्तराशब्देन मध्यमस्वरोऽभिधीयते ॥ १० ॥

एकादशानां सामिधेनीनामृचामाद्यन्तयोरावृत्ति विधत्ते—

त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामनवानं
ता एवं पञ्चदश संपद्यन्ते ॥ ११ ॥

प्र वो वाजा अभिद्यव इत्येषा प्रथमा, आजुहोत दुवस्यत' इति वा 'त्वं वरुण उत मित्र' इति वा द्वयोरन्यतरोत्तमा । तत्तेन प्रथमोत्तमयोस्त्रिरभ्यासेन ताश्च पञ्चदश संपद्यन्त इत्यर्थः । अनवानमनुच्छ्वसन् ।

ननु—संततमन्वाह(१६–१–६)'ता एकश्रुतिसंततमनुब्रूयात्' इति वचनान्तरेणापि सांतत्यं प्रथमोत्तमास्वेव विधीयते । 'त्रिः प्रथमाम्' इति वाक्योत्तरमेवास्य पाठेन तच्छब्देन संनिहितपरामर्शात् ।

नन्वनवानविधिनैव तासु सांतत्यलाभात्पुनर्विधिर्न वाच्य इति चेन्न । अनवानसांतत्ययोर्भेदात् । पूर्वोत्तरोच्चारणयोर्मध्ये मौनकृतकालव्यवधानाभावः संतानः । निःश्वासाभावोऽनवानमिति । ननु—संततमुत्तरमर्धर्चमारभेतेति विधिनैव सांतत्यलाभादवाच्य इतिचेन्न । तेन पूर्वोत्तरार्धद्वयसंधौ संतानप्रापणेऽपि प्रत्यृचं पूर्वोत्तरार्धयोः संतानप्रापणस्यैतत्फलत्वेन फलभेदात् । ननु संततमुत्तरमर्धर्चमारभत इति विधावुत्तरपदेन तत्तदृगुत्तरार्धस्यापि प्रतीतेरविशेषात्तेनैव सांतत्यप्राप्तेरयं विधिर्न वाच्य इति चेन्न । तेनाऽऽयुष्कामप्रयोगे प्राप्तावपि नित्यप्रयोगे लाभाय विध्यन्तरस्याऽऽवश्यकत्वात् । तथा च सूत्रम् । 'अवाच्यत्वान्नेति चेत्स्यात्संयोगपृथक्त्वात् ' इति । एवं त्रेधासंयोगे पृथक्त्वव्याख्यानसंभवेऽपि 'यदेकैकामेव संतनुयात् ' इति विध्यन्तरसत्त्वादिति भाष्यकृतो व्याख्यानं तदवाच्यत्वान्नेत्याक्षेपनिरसनासमर्थत्वादुपेक्ष्यम् । तस्मात्प्रथमोत्तमयोरेव सांतत्यम् । एकैकामेव इति वचनान्तरमप्यस्यैवानुवाद इति प्राप्ते—तादृशवचनवैयर्थ्यापत्तेश्च (पत्त्यैव) सामिधेनीमात्रोद्देशेनर्चां सर्वासु सांतत्यविधिः प्रथमोत्तमपादेन तासां विशेष्टुमशक्यत्वात् । 'ता एकश्रुतीत्यत्र तु संततम् । इत्यनूद्यैकश्रुतिमात्रविधिः ।

अन्यथा वाक्यभेदात् । ' उत्तरमर्धर्चमारभेत ' इत्यत्राऽऽरम्भपदसमवधानेनोत्तरपदमृगन्तरप्रथमार्धर्चमात्रपरम् ।

ननु—दर्शपूर्णमासयोः सामिधेनीः पञ्चदश विधाय एकादशर्चः पठित्वा—त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमां ततः पञ्चदश संपद्यन्त इति श्रुतम् । तत्र संशयः—किमयं त्रिरभ्यासः प्राथम्यलक्षिताया ऋचः प्र वो वाजीयाया धर्मस्तत्कार्यार्थस्ततश्च यत्रतत्रस्था प्र वो वाजीया त्रिरभ्यसितव्या उत प्रथमस्थानधर्मस्तत्स्थानगतकार्यप्रयुक्तः । ततश्च प्र वो वाजीयाया अन्याऽपि या विकृतिषु प्रथममुच्यते साऽप्यूहेन त्रिरभ्यसितव्येति ।

तत्र स्त्रीलिङ्गनिर्देशादृगनेनाभिधीयते ।
तस्या एव त्रिरभ्याससंबन्धोऽत्र विधीयते ॥ इति ।

उच्यते—

श्रुत्या प्रथमशब्देन प्राथम्यमभिधीयते ।
ऋक्तु लक्षणयोच्येत तस्मात्प्राथम्यधर्मता ॥

प्राथम्यैकार्थसमवेतस्त्रिरभ्यासो विधीयते यत्प्रथममुच्यते तत्त्रिरिति । तच्च प्राथम्यमृगाश्रयत्वेनैव प्राप्तम्—' गुणवचनाना च शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्तीति नित्यानुवादः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । न च प्राथम्यसंबद्धस्य पदमात्रस्य पादमात्रस्य वा त्रिरभ्याससंबन्धसंभवान्न नित्यानुवादत्व स्त्रीलिङ्गस्येति मन्तव्यम् । ऋच एव कार्यसमर्थाया वचनस्य प्राप्तत्वात्ताः पञ्चदश सपद्यन्त इति च वादात्तस्मात्स्थानधर्मः ॥११॥

**अपि वाऽनुवचनेऽनुवचनेऽपानित्युत्तमेऽनुवचनेऽग्नआयाहि वीतय इत्येतस्या अर्धर्चेऽपानित्येवमितरासु पूर्वस्याश्चोत्तरमुत्तरस्याश्च पूर्वमर्धर्चौ संदधाति ॥ १२ ॥**

अपिवेति पक्षान्तरप्रदर्शनार्थम् । पूर्वस्याः सामिधेन्या उत्तरार्धमुत्तरस्याः सामिधेन्याः पूर्वार्धं च सदध्यात् । तथा च ब्राह्मणम्—'अर्धर्चौ संदधाति ' ( तै० सं० २–५–७ ) इति ।

ननु सामिधेनीसंतानः ( मी० सू० ११- १–७ ) इति । ' एकैकामृचं संतन्वन्ति ' इति विधावृचः संतन्वन्ति इत्यनुक्त्वैकैकामित्युक्तेरेकैकस्या ऋचो यावयवावर्धर्चौ तयोराम्नायपाठेन प्राप्तस्य मध्येऽवसानस्य निषेधः प्रतीयते । ऋङ्मात्रोद्देशेन विधाने-

त्वृच एकस्या ऋगन्तरेण संतानः प्राप्नुयात् । संततमेकं श्लोकं वक्तीत्यादावर्धयोः संतानप्रतीतेः । तस्मात्प्रवर्ग्यर्चामिव न मध्येऽवसानम् । ऋगन्ते तु भवत्येव ( भवेदेव । ) आयुष्कामस्य—'अग्न आयाहि' इत्यस्या ऋचः पूर्वेण संतानविधिरुपपद्यत इति प्राप्ते—'एकैकामृचम्' इत्यनेन संतानप्रतियोगिनः कीर्तनात्तदनुयोगिनोऽपेक्षायामुपस्थितत्वात्तदुत्तरासामृचामेकैकस्या उपस्थितेरेकैकां स्वस्वप्रवरयोः संयोजयेत्, इत्यर्थप्रतीतेनर्धिर्चयोः परस्परं संतानाविधः । अत एव चरमाया ऋचस्तृतीयावृत्तावनुयोगिन्या ऋचोऽभावान्निगदेनैव संतानो वचनान्तरेण विहितो युज्यते । उत्तमायै तृतीये वचने प्रणवेन निगदमुपसंदधाति—'अग्ने महा२ँ असि' इत्यादिना । ऋगुद्देशेन संतानविधाने त्ववसानसामान्याभाव एव प्राप्येत । 'न चार्धर्चौ संदधाति' इति वचनादनुयोगिप्राप्तिः । तस्यर्गुत्तरार्धगन्तरपूर्वार्धसंधानपरत्वात् । 'यदसंयुक्ताः स्युः' इत्यादिनर्चामसंयोगं विनिन्द्या( विचिन्त्या )र्धर्चयोः संधानं विधाय 'संयुनक्त्येवैनाः' इत्युपसंहारात् । एतेनान्तरर्चोरव्यन्य पुनरर्धर्चे व्यन्यात्, इति यथासमाम्नायं विरामानुवादः संगच्छते ॥ १२ ॥

**सर्वेष्वृगन्तेषु प्रणवं दधाति ॥ १३ ॥**

प्रणव ओंकारः । ननु—'ऋचि प्रणवम्' ( जै० सू० १६–१–११ ) इति । तत्रैव—'ऋचि प्रणवं दधाति' इति श्रुतम् । विधानात्प्रत्यृचमन्ते प्रणवः प्रयोज्यः स च यद्यपि कुण्डे बदरन्यायेन ऋगक्षरासंमिश्रो वा दधनि सितान्यायेन तत्संमिश्रो वेति द्वेधाऽपि संभाव्यते तथाऽपि प्रकृतेरुपाँशुयाज( ज्या )पुरोनुवाक्योत्तरामिव कुण्डबदरन्याय एव युक्तः । आम्नातऋगक्षराणा मध्य एकस्यापि विकारायोगात् । 'यो वै सामिधेन्याः प्रणवः स गायत्र्या नवममक्षरम्' इति श्रुत्यन्तरेणाष्टमाक्षरोत्तरत्वप्रतीतेरिति प्राप्ते—क्रमेणोच्चारणीययोर्द्वयोः शब्दयोः संबन्धस्याङ्गुलिद्वयसंबन्धस्येव वृत्तिनियामकत्वाभावादृचीति सप्तमीबोधिताधाराधेयभावबाधापत्तेर्वाचनिकत्वेनाक्षरविकारस्यादोषत्वात्प्रणवष्टेः' इति विधिसिद्धत्वाच्चाक्षरं विकुर्वन्नेव निविशते । उपाँशुत्वोच्चैस्त्वधर्मभेदात्तु नोपांशुयाजीयाक्षरविकारः । क्रतुमध्येऽष्टमाक्षरस्यापा( सा )र्थक्येऽपि ब्रह्मयज्ञादौ तस्याविकृतस्य पाठात्तदभिप्रायेण नवमाक्षरत्वोक्तिः कालभेदेन क्रियमाणयोरपि 'द्वे वस्त्रयुगे धारयति' इति मिलित्वोक्तिदर्शनात् ।

ननु–अन्ते वा ( जै० सू० १६–१–१२ ) इति । निवेश्यमानः प्रणवः प्रथमोपस्थितत्वादाद्याक्षर एव निवेश्यः—'अग्न आयाहि' इत्यादिरीत्येति प्राप्ते—ऋगक्षराणा क्रमविपर्यास मानाभावेनाऽऽगन्तुकत्वादन्त्याक्षरस्यैव विकारः । 'अग्ने दीयते

बृहत् ' इत्यादौ तु चरमव्यञ्जनसहितः स्वर एकाक्षरम् । अत एव वषट्कारकत्वेन प्रणवस्तुतिरुपपद्यते । ' ऋचमुक्त्वा प्रणौति ' इत्यादौ त्वाधाराधेयभावाभावाभ्रान्त्या क्षरविकारः ॥ १३ ॥

**ओंकारमुदात्तमृचा सꣳहितमूनमथवा पूर्णमो-**
**मित्यूनमो ३ मिति पूर्णं पूर्णमेवावसानीयं यदृच्यु-**
**त्तमं छन्दोमानं तदपोह्य तस्य स्थाने यत्पूर्णं**
**छन्दोमानं तस्य व्यञ्जनं न तल्लुप्यते ॥ १४ ॥**

व्यञ्जनमवयवेऽङ्कादाविति हैमः । ननु—ओंकारः ( १६–१–१३ ) इति । ऋचि प्रणवं दधाति, इति विधानात्प्रणव इत्यक्षरत्रयात्मक एव शब्दो निक्षेप्यः । विधौ श्रूयमाणशब्दनियमनस्य न्याय्यत्वात् । 'ऐरं कृत्वोद्गेयम्' इत्यादौ तथा दर्शनादिति प्राप्ते—ओंकारस्यैवान्ते निक्षेपः । इरापदार्थस्य भूम्यादेः शब्दानुपूर्वीघटकत्वबाधेनेवेति शब्दस्वरूपलक्षणायामपि प्रणवपदस्य शब्दविशेष एव शक्तत्वेन वाचकशब्दे लक्षणायां मानाभावात् । अग्न्यादिदेवतावाचकपर्यायाणामनियमप्रसक्तौ वैधशब्दनियमनस्य न्याय्यत्वेऽपि नियतलब्धशब्दबाधनस्यान्याय्यत्वात् । न हि वेदशास्त्रपुराणानि पठेदित्युक्ते वेदादिशब्दान्पठेदित्यर्थः प्रतीयते । अत एव—' ओमिति प्रणौति ' इति बह्वृचाः प्रणवपदस्यार्थप्रदर्शनी श्रुतिमामनन्ति । तस्मादोङ्कार एव निधेय इति ॥ १४ ॥

**तं त्वा समिद्भिरङ्गिर इत्येताꣳ सामिधेनीं त्रिर्वि-**
**गृह्णाति । समिद्धो अग्न इति ॥ १५ ॥**

उभयत्र सामिधेनीं त्रिर्विगृह्णातीति संबन्धः ॥ ननु—प्रकरणात्( १६–१–८ ) इति । 'राथंतरीं प्रथमामन्वाह । बार्हतीमुत्तमाम्' इति सामिधेनीष्वेव प्रकृतौ श्रुतम् । तद्वशाद्बृहद्रथंतरयोर्योनी ऋचावागमयितव्ये 'त्रिः प्रथमाम्' इति विधिभिः स्तुतयोरप्यभ्यासादि भवेत् । तेन प्र वो वाजीयाद्योर्विकल्प इति प्राप्ते—'प्रतिरथंतरस्य रूपं करोति' इति वचनेन प्र वो वाजीयाया एव रथंतररूपत्वेन संस्तवान्नान्या ऋक् प्रथमा कार्या । उत्तमायास्तूत्तमत्वादेव बृहद्रूपत्वम् । परमत्वमेव निमित्तीकृत्य बृहत्सामत्वेन वेदे बहुशः स्तुतिदर्शनात् । यथैन्द्रवायवोऽग्रे गृह्यते रथंतरस्यैष वर्णो ध्रुव उत्तमो गृह्यते बृहत एष वर्ण इति ।'अयज्ञो वा एष योऽसाम' इत्यारभ्य-'अग्न आयाहि' इति तृचं रथंतरवामदेव्यबृहद्वर्णत्वे संस्तुत्य 'यमेवैतत्सामन्वन्तं करोति' इत्युपसंहाराच्च । अस्मिन्नेव तृचे प्रथमोत्तमयोः सा स्तुतिरित्यपि सुवचम् । अतो नोत्तमाऽप्यन्या ऋक् ।

१ ख. ग. °म आहुत देवान्यक्षि सोऽध्वरेति ।

ननु—' त्रिर्विगृह्णाति ' ( १६–१–९ ) इति । राथंतरी प्रथमामित्यादिना ऋक्त्रयं स्तुत्वेदमाम्नायते— ' त्रिर्विगृह्णाति अन्तरिक्षेण वा इमे लोकाः संतता अन्तरिक्षं वा आङ्गिर ' इति । एकस्या ऋचस्त्रिर्विभागं कुर्यादित्यर्थः । सामिधेनीप्रकरणे चास्य विधेः पाठात्तासामेवोद्देश्यत्वात् प्रत्यृच त्रिस्त्रिर्विभजेत् । न च तं त्वा समिद्भिरित्येतत्संनिधौ पाठात्तस्या एव त्रिर्विग्रह इति वाच्यम् । संनिधानात्सामिधेनीप्रकरणस्य बलत्वादिति प्राप्ते—' तं त्वा ' इत्यृच एव त्रिर्विभागः, तस्याः पाठं विधाय मध्ये विग्रहं विधायान्तरिक्षं वा अङ्गिर इति पुनस्तस्या ऋचः परामर्शेनावान्तरप्रकरणप्रतीतेस्तस्याश्च सामिधेन्यवान्तरप्रकरणाद्बलवत्त्वात् । यत्तु—शाखान्तरीयं वचनं तं त्वा समिद्भिरङ्गिर इत्येतां त्रिर्विगृह्णाति । इति तन्न्य यासिद्धानुवादकम् ।

ननु पदवादे वा (१६–१–१०) इति।' समिद्वती घृतवती चानूच्येते ' इति श्रुतौ समिद्वतीति स्त्रीलिङ्गवशादृचो विशेष्यत्वावगमात्समिध्यमानवती समिद्धवती चेत्यादाविव समित्पदप्रतीका ऋक्तादृश्येव घृतवती चाऽऽनेया । ' समिधाऽग्निं दुवस्यत ' घृतं मिमिक्षिरे इत्यादिका । अनूच्येते इत्यृग्द्वयाभिप्रायं द्विवचनमिति प्राप्ते— ' तं त्वा समिद्भिराङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि ' इत्यस्या एवायं वादः समिद्घृतयोरग्निसमिन्धनानुगुण्यद्योतनार्थः । ' अनूच्येते ' इति द्विवचन तु च्छान्दसम् । तत्पदवैशिष्ट्यभेदेनैकस्या एव द्वित्वोपचार इति तु पदवाद इत्यस्यार्थः । भाष्यकारस्तु– समिद्वती इति नपुंसकद्विवचनं पदविशेष्यत्वाभिप्रायं समित्पदघृतपदयोः ' सृष्टिन्यायेनैकैकपदाभ्यां व्यपदेशः ' इत्याह । समिद्वती घृतवती च पदे अनूच्येते इति शाखान्तरवाक्यं तु यतः पदे अनूच्येते ततः कारणादियमेव ऋक्समिद्वती घृतवती चेति सुयोजम् ।। १५ ।।

अथ स्रुगादापनादिनिगदेषूक्तशाखान्तरपाठमपि दूषयति—

सोऽव(स व )ध्यायिकं( दिकं ) पदं प्रतिषिध्य दधाति । त( य )था स्रुगादापन उत्तमां नमस्यामाहोपहूतेडोपहूतेडेतीडायाम् । शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पद इति शंयुवाके । यच्चान्यत्प्रकृतावेवंजातीयꣳ स्यात्तदेव तत्र नियम्येतं ॥ १६ ॥

वध्यादिकं पदं—'यद्ब्रूयाद्योऽग्निꣳ होतारमवृथा इत्यग्निनोभयतो यजमानं परि गृह्णीयात्प्रमायुकः स्यात् ' ( तै० सं० २–५–९ ) इति । अग्निर्होता वेत्त्वग्निरित्युपक्रमे पठितं साधु ते यजमान देवता, इति अस्मादप्यूर्ध्वं ' यद्यग्निꣳ होतारम् ' इति

१ ख ग. °त तद्विकृत्यर्थम् । आ° ।

ब्रूयात्तदोभयोः पार्श्वयोर्यजमानोऽग्निना परिगृहीतो भवेत् । ततो दाहाधिक्येन म्रियेत । तस्माच्छाखान्तरपाठो नाऽऽदर्तव्यः । एवमुपहूतेत्यादिषु तत्र तत्र नियम्येतेत्यर्थः ।

ननु—' यद्ब्रूयात् ' (१६–३–२०) इति । सूक्तवाकनिगदे— ' यद्ब्रूयात्सूपावसाना च स्वध्यवसाना चेति प्रमायुको यजमानः स्यात् ' इति विनिन्द्य ' सूपचरणा च स्वधिचरणा चेत्येव ब्रूयात् ' इत्येवमादयो विधयः श्रूयन्ते । तेषु श्रुतस्यापि गिरापदस्य निषेधेनेरापदविधिना गिरापदघटितमन्त्रस्यान्यत्र विनियोगकल्पनवदश्रुतस्य पदस्य निषेधेन श्रुतदृढीकरणेऽपि निषेधानुमितस्याश्रुतपदप्रयोगस्य विकृतौ निवेश इति प्राप्ते— ' शाखान्तरे सूपचरणा च ' इति पाठ विनिन्द्य ' सूपावसाना च ' इत्यस्यैव विधिदर्शनादुभयोरपि प्रकृतौ विकल्पेन निवेशः ॥ १६ ॥

**आजुहोत दुवस्यतेत्युत्तरया परिदधाति ॥ १७ ॥**

अनया सामिधेनीनां परिसमाप्यमानत्वादियं परिधानीया ॥ १७ ॥

तत्र पुरुषभेदेनान्या परिधानीया विकल्पत इत्याह—

**त्वं वरुण इति वसिष्ठराजन्यानाम् ॥ १८ ॥**

उत्तरया परिदधातीत्यनुवर्तते । 'त्रिष्टुभा परिदध्यात्' ( तै०सं०२–५–१० ) इति ब्राह्मणम् ॥ १८ ॥

अथ वैश्यस्य च ' समिध्यमानो अमृतस्य राजन् ' इत्येतां परिधानीयामाह—

**जगत्या वैश्यस्य ॥ १९ ॥**

परिदधातीत्यनुषङ्गः । ' जगत्या परिदध्यात् ' ( तै० सं० २–५–१० ) इति श्रुतेश्च ॥ १९ ॥

राजन्यस्य नित्यां परिधानीयां विधाय काम्यां विधत्ते—

**यदि कामयेत ब्रह्मवर्चसमस्त्विति गायत्रिया परिदध्यात् ॥ २० ॥**

**इति सत्याषाढहिरण्यकेशिश्रौतसूत्र एकविंशप्रश्ने**

**प्रथमः पटलः ।**

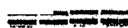
---

'आजुहोत दुवस्यत ' इत्येषा गायत्री । 'ब्रह्मवर्चसं वै गायत्री ब्रह्मवर्चसमेव भवति' ( तै० सं० २-९-१० ) इति ब्राह्मणशेषात् ।

ननु—संततमुत्तरम् ( मी० सू० ११-१-९ ) इति । 'यं कामयेत सर्वमायुरियात् ' इति प्र वो वाजा इति तस्य त्रिरनवानमनूच्य—अग्न आयाहि वीतय इति संततमुत्तरमर्धर्चमालभेत । ' यं कामयेत सर्वमायुरियादित्याजुहोत दुवस्यत ' इति तस्य त्रिरनवानमनूच्य सहोपक्रमेदिति च श्रुतम् । अत्र—प्र वो वाजीयाया अग्न आयाहि इत्यनेन सांतत्यविधानात्सार्धाया ऋचास्त्रिरभ्यासः । न चोक्ताक्षरसंख्याविरोधः । काम्येन नित्यबाधसंभवात् । न च तृतीयानुवचन एवोत्तरार्धर्चसांतत्यविधिरस्तु संख्याया अविरोधायेति वाच्यम् । ' प्र वो वाजीयामुद्दिश्य संतानविधेः प्रतिप्रवोवाजीयं प्रवृत्तेरावश्यकत्वात् । न च त्रिरनवानमनूच्येति ' त्रिः पाठोत्तरकालमेव संतानविधानेन चरमानुवचन एव तल्लाभ इति वाच्यम् । ' त्रिः प्रथमां त्रिरुत्तमाम् ' इति विधिभ्यामेव त्रिरभ्यासलाभेन प्रकृतविध्योरनुवचनमात्रोत्तरत्वाविधानादिति प्राप्ते—

अन्यतः प्राप्तत्रिरभ्यासोद्देशेन त्रिरनवानामित्यंशेन निरुच्छ्वासत्वविधिः । आवृत्तित्रयसमाप्तिपर्यन्तमेकेनैवोच्छ्वासेन ब्रूयान्न मध्ये निःश्वसेदित्यर्थः । ऋङ्मात्रोद्देशेनानवानविधौ प्रत्यभ्यासमृचो मध्ये निःश्वासाभावेऽप्यृक्समाप्तौ निःश्वासाभावो न प्राप्नुयात् । तथा च त्रिरित्यस्य वैयर्थ्यापत्तिः । अभ्यासमात्रस्य विध्यन्तरेण लाभात् । एवम्—अग्न आयाहि इत्यर्धर्चस्य पाठत एवोत्तरत्वलाभेनान्यतरवैयर्थ्यापत्त्यैन्द्रवायवाग्रं प्रथममह इत्यत्र प्राथम्यस्येवोत्तरत्वमात्रं विवक्षितम् । ऋग्ग्रहणं त्वहःपदवदनुवादः । तृतीयानुवचनोत्तरं तस्या एवोत्तरत्वात् । तथा च प्रथमद्वितीयानुवचनयोर्द्वितीयतृतीयानुवचनसंबन्धिप्रवोवाजीयार्धर्चेनैव सांतत्यसिद्धिः । वस्तुतः प्रथमोपस्थितत्वादग्न आयाहीत्येतदेव विवक्षितमिति तृतीयानुवचन एवोत्तरयर्चा सांतत्यम् । तेन याजुषहौत्रविधायककल्पादिसामञ्जस्यम् । उत्तरमित्येव त्वनुवादः । नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यात्प्रतीयेतेत्युक्तेः । रेवतीवाक्य एव च भावनाविशिष्टभावनान्तरविधानान्न वाक्यभेद इति भाष्यकारः । त्रिरभ्यासोद्देशेनानवानमात्रविधिरिति तु युक्तम् । इतरांशस्य विध्यन्तरेण लाभस्योत्तराधिकरण एव वक्तव्यत्वात् । तस्मान्न सार्धर्चाभ्यास इति नाक्षरसंख्याविरोधः ॥ २० ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिश्रौतसूत्रव्याख्यायां महादेवशास्त्रिसंकलितायां प्रयोगचन्द्रिकायामेकविंशप्रश्ने प्रथमः पटलः ।



## अथ द्वितीयः पटलः ।

**त्रीꣳस्तृचाननुब्रूयाद्ब्राह्मणस्य । त्रीꣳस्तृचाननुब्रूयाद्राजन्यस्य । त्रीꣳस्तृचाननुब्रूयाद्वैश्यस्येति विज्ञायते ॥ १ ॥**

प्र वो वाजा इत्येका त्रिरावृत्ता । अग्न आयाहि इत्येकस्तृचः । त्वं वरुण इत्येका परिधानीया त्रिरावृत्ता । एवं त्रयस्तृचाः । ननु सामिधेनीरेव प्रकृत्य त्रीꣳस्तृचाननुब्रूयाद्राजन्यस्य त्रयो वा अन्ये राजन्यात्पुरुषा ब्राह्मणो वैश्यः शूद्रस्तानेवास्मा अनुकान्करोति ( तै० सं० २–९–१० ) इति श्रुतम् । सन्ति हि गायत्रीत्रिष्टुप्जगत्यनुष्टुप्चेति चत्वारि छन्दांसि ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयसंबान्धित्वेन तत्र तत्र स्तुतानि । तदत्र राजन्यातिरिक्तवर्णत्रयस्य स्ववशंवदतापादकत्वेन तृचत्रयसंस्तवबलात्तृचा अपि गायत्रजागतानुष्टुभा एव राजन्येनोपादेयाः । तुल्यन्यायेन वैश्यस्य गायत्रत्रैष्टुभानुष्टुभा भवन्ति । ' ता वै गायत्र्यो भवन्ति ' इति प्राकृतविधेर्नैमित्तिकेन विकारेण बाध इत्यालेखनो मन्यते । आश्मरथ्यस्तु—अष्टावेतानि हवींꣳषि भवन्ति । अष्टाक्षरा गायत्री इत्यादिवदर्थवादमात्रेण च्छन्दोविशेषपरत्वेन नियमनस्य प्राकृतबाधस्य चायुक्तत्वात्पुनर्विधेः प्रकृतिप्राप्तं तृचान्तरपरिसंख्यार्थत्वेन सार्थक्याद्गायत्र्या एव प्राकृतास्तृचा ग्राह्या इत्याह । ते च तृचाः प्रथमोत्तमे त्रिस्त्रिरुक्ते इति द्वावग्न आयाहि वीतय इत्युक्तत्रयेण तृतीय इत्येवंरूपाः । प्रथमोत्तमे त्रिरुक्ते सह सामन्वता तृचेनेति वाक्यशेषात् । अग्न आयाहि इत्युक्तत्रयस्य रथंतरवामदेव्यबृहत्सामत्वेन संस्तवात्सामन्वत्तृचपदेन परिग्रहः ॥ १ ॥

अथ राजन्यं निमित्तीकृत्य पक्षान्तरं विधत्ते—

**पाञ्चदश्येन विकल्पेरन् ॥ २ ॥**

यद्यपि—'पञ्चदश सामिधेनीरन्वाह' इति वर्णत्रयसाधारणवचनेनैवायं पक्षः प्राप्तस्तथाऽपि—'त्रीꣳस्तृचान् ' इत्यनेन विशेषवचनेन नित्यबाधप्राप्तौ विकल्पार्थं पञ्चदशेति प्रतिप्रसवो विधीयते ॥ २ ॥

वैश्यं निमित्तीकृत्य विधत्ते—

**वैश्यस्य साप्तदश्येन । तस्य पृथुपाजवत्यौ धाय्ये पुरस्तात्समिद्धवत्याः ॥ ३ ॥**

' समिध्यमानो अध्वरे ' ' समिद्धो अग्न आहुत ' इत्यनयोर्मध्ये—' पृथुपाज

अमर्त्यः ' तश्च सबाधो यतः स्रुच इत्येतयोर्धाय्ययोः प्रक्षेपेण सप्तदशसंख्यानिष्पत्ति-र्भवतीत्यर्थः ।

ननु सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात् , इत्यारभ्य साप्तदश्यं किं प्रकृतावुत विकृताविति संदेहः । तदर्थं च किं प्राकरणिकेन पाञ्चदश्येन तुल्यबलमुत ततो दुर्बलमिति । तत्र द्वयोरपि वाक्यसंयोगाविशेषात्तुल्यबलतां मन्यते । न च प्रकरणेन कश्चिद्विशेषः—

वाक्यात्तद्दुर्बलं यस्मात्तस्मात्प्रकृतिगामिता ।
पूर्ववत्साप्तदश्यस्य तथा प्राप्तेऽभिधीयते ॥
सामिधेनीस्वरूपेण संबन्धो वाक्यतो भवेत् ।
तन्मात्रसंगते चैते संख्ये स्यातामनर्थिके ॥
अपूर्वसाधनत्वांशे लक्षिते संगतिर्भवेत् ।
तल्लक्षणावबोधश्च शीघ्रं प्रकरणाद्भवेत् ॥

प्रकरणे हि विधीयमानस्य सर्वस्य प्रकृतापूर्वसाधनत्वं स्वरसत इति पाञ्चदश्यमपि तत्रैव विधीयमानं तादर्थ्येन विधातव्यमिति गम्यते । तादर्थ्यं च तत्साधनरूपसंबन्धे घटते न सामिधेनीस्वरूपसंबन्ध इति स्वरूपातिक्रमेण साधनरूपलक्षणा तत्र लभ्यते । साप्तदश्यस्य तु स्वरूपमात्रं गम्यते नापूर्वार्थत्वम् । स्वरूपस्य च सामिधेनीस्वरूपेणापि संबन्धो घटत इति नान्वयोपपत्तये लक्षणा, किंतु विधीयमानस्य साप्तदश्यस्याऽऽनर्थक्य-परिहाराय प्रतिपन्नक्रतुसंबन्धसामिधेनीलिङ्गवशादविपरिवर्तमानमेव क्रत्वपूर्वं कथंचिद्बुद्-ध्यमागतमपि तादर्थ्यसिद्ध्यर्थं तत्साधनलक्षणाऽऽश्रयणीयेति क्रतुसंबन्धविप्रकर्षाद्दौर्बल्यम्। अतः पूर्वनिविष्टपाञ्चदश्यावरुद्धत्वात्तेनैव च निराकाङ्क्षां प्रकृतिमलभमानं साप्तदश्यं विकृ-तिषु निवेक्ष्यते । तत्रापि न सर्वासु किंतु श्रुतसाप्तदश्यासु मित्रविन्दादिष्वेवेति दशमे वक्ष्यते ( ३-६-२ ) ।

ननु सप्तदश वैश्यस्येति यद्वैश्यनिमित्तेन नैमित्तिकं साप्तदश्यं विधीयते तत् प्रकृतौ वा स्यादुत विकृताविति । प्रकृतेः पाञ्चदश्यावरोधात्पूर्ववद्विकृतिषूत्कर्षे द्वयोर्वा प्रकरणा धीतत्वात्क्रत्वर्थत्वाच्च विकल्पे प्राप्तेऽभिधीयते—नैमित्तिकं साप्तदश्यं प्रकृतावेव नित्यं पाञ्चदश्यं विकृत्य निविशते ।

तुल्यप्रकरणत्वात्तन्नोत्कर्षं तावदृच्छति ।
प्रकृतौ निविशेतातस्तत्रापि न विकल्प्यते ॥
पाञ्चदश्येन किंत्वस्य बाधकत्वेन वर्तते ।
नित्यं सामान्यतः पूर्वं सावकाशं विधीयते ॥

नैमित्तिकं विशेषेण पश्चान्निरवकाशकम् ।
नैमित्तिकमतो हेतुत्रयान्नित्यस्य बाधकम् ॥

सामान्येन हि सर्वप्रयोगाणा पाञ्चदश्यं तद्यावल्लक्षणया वैश्यकर्तृकं प्रयोगं नाऽऽस्कन्दति तावत्तत्रैव साक्षाद्विधीयमानं साप्तदश्यं बलवद्भवति । तथा पूर्वमेव क्रतोः स्वाभाविकं नित्यं विधीयते । तेन तदसंजातप्रतिपक्षत्वान्न कस्यचिद्बाधकतयाऽवगम्यते । नैमित्तिकं तु निमित्तसंयोगेन विशेषतया विधीयमानं पश्चात्तनं भवति । ततश्च तदुत्पन्नप्रतिपक्षाविज्ञानावस्थोत्पत्तित्वात्तद्बाधेनाऽऽत्मानं नालं लब्धुम् । लब्धव्यश्च तेनाऽऽत्मा प्रत्यक्षवचनात् । अतः पूर्वगुणबाधकतयैवाऽऽत्मानं लभते । सावकाशं च नित्यं विप्रराजकर्तृके प्रयोगे। अतो न तेनावश्यं नैमित्तिकविषये निवेष्टव्यम् । नैमित्तिकमनवकाशं नित्याबाधेन न शक्यते विधातुं, विधीयते च तदिति बाधकत्वम् । एतेन काम्यस्यापि गोदोहनादेर्गुणस्य नित्यचमसादेर्बाधकत्वं व्याख्यातम्।

पूर्वपक्षस्तु नैमित्तिकेऽतिमन्द इति कृत्वा भाष्यकारः सूत्रितमपि नैमित्तिकमतिक्रम्य तुल्यन्यायं काम्यमुदाजहार । काम्यस्य हि क्रत्वर्थाभावात्क्रत्वर्थश्चमसस्ततो भिन्नविषयत्वान्न तेन बाधितुं शक्यते । तद्बाधे च क्रतोर्वैगुण्यात्फलं न स्यात् । विगुणक्रत्वाश्रिताद्गुणादपि फलं न स्यात्। यो हि मधुन्येव दत्तदृष्टिर्दुर्बला शाखामधिरोहति तस्य विनिपात एव भवति तद्वदिहापि—

मधुदृष्टिवदेवास्य गुणकामं प्रपश्यतः ।
क्रियाफलविनाशात्मा विनिपातः प्रसज्यते ॥

तस्मान्न प्रकृतौ निवेशः संभवतीति विकृतिरेव गतिः । अथ वा क्रतवे चमसेन प्रणीय पुनः कामाय गोदोहनेन प्रणेतव्यं, न तु बाधसंभवः क्रतुवैगुण्यादिति भवत्येवाधिका शङ्का तन्निराकरणाय काम्योदाहरणं निराकारहेतवश्च नैमित्तिकवत्त्रयोऽप्यत्रानुसंधेयाः—

आसन्नपुरुषार्थत्वमपरं चापि कारणम् ।
येन काम्यं बलीयः स्यान्नित्यनैमित्तिकादपि ॥

पुरुषार्थप्रयुक्ता हि सर्वस्य प्रवृत्तिः । काम्यं च फलस्य प्रत्यासन्नं शीघ्रं प्रयुज्यते गोदोहनम् । क्रत्वर्थस्तु चमसश्चिरेणेति दुर्बलः । अनेन च हेतुना नैमित्तिकादपि क्रत्वर्थात्साप्तदश्यात्पुरुषार्थस्यैकविंशत्याद्यनुवचनस्य बलीयस्त्वं भवति । तस्मात्तेन साप्तदश्यं पाञ्चदश्यं च द्वयमपि बाध्यते । सत्यपि भिन्नविषयत्वे प्रणयनादिद्वारतुल्यतयाऽस्ति

विरोधः । ततश्च क्रत्वर्थस्य तस्मिन्प्रयोगे बाधः । प्रयोगान्तरे त्वसाववस्थाप्यते सामान्येन हि स श्रुतः, पशुकामप्रणयनप्रयोगे तु वाक्यान्तरगतश्चमसः संनिधिमात्रेण संबध्यते । गोदोहनं तु तत्रैव श्रुतमिति बलीयः । तदुक्तम्—

पशुकामप्रयोगे च क्रमेण चमसाङ्गता ।
श्रौताद्गोदोहनात्तत्र चमसस्य निराक्रिया ॥ इति ।

बाधितत्वादेव न तदानीं चमसादेरङ्गत्वमवघातादेरिव कृष्णलादौ । अतस्तल्लोपेन नास्ति वैगुण्यं येन क्रियाफलविनाशस्तद्भयाच्च प्रणयनाभ्यासः स्यात् ।

गुणहानिर्हि वैगुण्यं न चास्य गुणता तदा ।
गोदोहनं च न गुणः क्रतोः कामाय चोदनात् ॥
किंतु प्रणयनं द्रव्यं हीनमङ्गं क्रतोस्तदा ।
काम्यनैमित्तिके तस्मात्प्रकृतौ नित्यबाधके ॥ ३ ॥ इति ।

एवं नैमित्तिकीं विधाय काम्यां विधत्ते—

**एकविंꣳशतिमनुब्रूयादिति ब्राह्मणव्याख्याताः काम्याः सामिधेनीकल्पास्तेषां पाञ्चदश्येन धर्मा व्याख्याताः ॥ ४ ॥**

अत्र संख्यापूरणं संप्रदायविद्भिरेवमुक्तम्—एकविंशत्यादिषु प्रथमाया उत्तरे द्वे ईडे अग्निमित्यादिके । अथाग्न आयाहीत्यादि । अथ त्वामग्ने पुष्करादधीति त्रयस्तृचाः । अग्निमग्निमित्येकादश । पृथुपाजा इत्यष्टौ । अष्टाचत्वारिंशत्यक्षरस्य दाशतय्यस्तिस्र आगमयितव्याः । एकविंशत्यादिषु कार्येषु एतासां यथार्थमागम इति । अस्यायमर्थः—यदा सामिधेनीवृद्धिरपेक्षिता तदाऽऽम्नातायाः प्र वो वाजा इत्यस्या उपरीडे अग्निमित्यादिकं द्वयं प्रक्षेपणीयम् । तत ऊर्ध्वमग्न आयाहीत्यादिकं यथाम्नातं पठितम् । तत्र समिध्यमानसमिद्धवत्योर्मध्ये त्वामग्न इत्यादिका उदाहृताः प्रक्षेपणीयाः । यावतीनां प्रक्षेपेण संख्या पूर्यते तत्प्रमाणवतीनां प्रक्षेप इति ।

मीमांसकास्तु धाय्यासंज्ञकानामेव समिध्यमानसमिद्धवत्योर्मध्ये प्रक्षेप इतरासां त्वन्ते प्रक्षेपमाहुः । तत्रापि परिधानीयाया उत्तमायाः प्रागेवेत्ययं विशेषो द्रष्टव्यः ।

ननु तत्र सामिधेनीविवृद्धिः ' एकविंꣳशतिमनुब्रूयात्प्रतिष्ठाकामस्य ' ( तै० सं० २-५-१० ) इत्यादौ तत्र किं प्राकृतीभ्य एकादशभ्योऽधिकानामागम उत प्रथमो-

त्तमयोरेवाभ्यासेन संख्यापूरणमुत यावदुक्तं त्रिरभ्यासं प्रथमोत्तमयोः कृत्वाऽवशिष्टानामागम इति संशये संख्यासामञ्जस्यादेकादशभ्यः प्राकृतीभ्योऽतिरिक्तानां सर्वासामागमः । नैवम् । प्रकृतौ हि पञ्चदशसु सामिधेनीषु विहितासु एकादशसु सामिधेनीषु पठितासु वचनम्—'त्रिः प्रथमामन्वाह । त्रिरुत्तमाम्' इति । [यावत्] संख्यापूरणं भवति तावत्प्रथमोत्तमयोरभ्यास इत्येवंपरम् । पूरणसंख्याभिप्रायश्च त्रिःशब्दो दृष्टार्थत्वात् । त्रित्वस्वरूपपरत्वे हि अदृष्टार्थता स्यात् । तस्मात्प्रथमोत्तमयोरभ्यासेन संख्यापूरणमिति प्राप्ते ब्रूमः—

स्यादेवं यदि पूरणसंख्याभिप्रायस्त्रिशब्दः स्यान्न त्वेतदस्ति । नह्यवश्यं प्रथमोत्तमयोरभ्यासेन संख्यायां पूर्यमाणायामेकैकस्य त्रिरभ्यासो भवति द्विचतुरभ्यासेनापि तत्पूरणसंभवात् । तस्मात्त्रिरभ्यास एव तत्र विवक्षितो न यावत्पूरणमभ्यासः । तेन विकृतिष्वपि त्रिरभ्यास एव प्राप्तो न यावत्पूरणमभ्यासः । तस्मात्प्रथमोत्तमे त्रिरभ्यस्यावशिष्टानामाग्नेयीनां दाशतयीभ्य आगमः । किं पुनरागम्यमानानां कर्मसंबन्धे प्रमाणम् । न तावल्लिङ्गम् । तस्याग्न्यादिस्वरूपमात्रविषयत्वेन क्रत्वर्थे प्रमाणाभावात् । सर्वत्र हि लिङ्गं यत्किंचित्प्रमाणकं क्रतुसंबन्धसामान्यमपेक्ष्य द्वारविशेषमात्रे प्रमाणमिति याज्यापुरोनुवाक्याकाण्डे व्याख्यातम् । न चान्यदपि प्रमाणं पश्यामः । उच्यते—संख्यैवात्र संख्येयानां कर्माङ्गत्वे प्रमाणम् । तथा हि—सामिधेनीपरिच्छेदद्वारा क्रतोरुपकर्तव्यम् । अग्निसमिन्धनप्रकाशिकाश्चर्चः सामिधेन्य उच्यन्ते । तेन तत्समर्था याः काश्चिदृचोऽवश्यमुपादातव्याः । एवं सर्वत्राऽऽगमे द्रष्टव्यम् । ( मी० सू० १०–९–८ ) ॥ ४ ॥

अत्र सोमयाजिनमधिकृत्य विधत्ते—

बहुयाजिन इति गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीषु सर्वैर्तुसोमयाजी बहुयाजी भवतीति विज्ञायते ॥ ५ ॥

बहुभिर्दीक्षणीयादिभिरिष्टिभिरग्नीषोमीयादिपशुभिरैन्द्रवायवादिग्रहैश्च यजत इति बहुयाजी । एतस्य बहुयाजिनः सवनत्रये गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्जगतीरूपाणि सर्वाणि च्छन्दांस्यवरुद्धानि भवन्ति । तस्मात्सोमयाजी यदा दर्शपूर्णमासावनुतिष्ठति तदा तस्य त्रीणि च्छन्दांस्यनुब्रूयात् । 'समिध्यमानः प्रथमोऽनु धर्मः' इत्येषा त्रिष्टुप् । 'त्वामग्ने प्र दिव आहुतं घृतेन' इत्येषा जगती । एतदुभयं समिद्धवत्याः पूर्वं पठनीयम् ।

ननु सामिधेनीष्वेव 'सर्वाणि' (जै० सू० १६-२-२) इति च्छन्दांस्यनुब्रूयाद्बहुयाजिनः (तै० सं० २-५-१०) इति श्रुतम् । तत्र सप्ताधिकशतसंख्यानि च्छन्दांसि सर्वपदेनोच्यन्ते । संकोचे मानाभावात् । यदि गायत्र्यादिलक्षणमेव निरुपपदच्छन्दःपदेनोच्यते । तदधिकोनाक्षराणां त्वतिच्छन्दःकृतिच्छन्दःपदादिनैव व्यवहारः । अत एवाऽऽथर्वणसर्वानुक्रमण्याम्—'यत्र सर्वाणि च्छन्दांसीत्युच्यते तत्र गायत्र्यादिजगत्यन्तानि सप्त च्छन्दांसि जानीयात्' इति सूत्रमित्यालोच्यते तदा तावन्त्येव प्रयोज्यानि । इति प्राप्ते—गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीनामेव प्रकृतत्वात्सर्वत्वमिहाधिकारिकम् । अत एव त्रैधातवीयायामप्येतत्त्रितयमेव सर्वाणि च्छन्दांस्येतस्यामिष्ट्यामनूच्यानीत्युक्त्वा 'त्रिष्टुभो वा एतद्वीर्यम्' इत्यादिना त्रिष्वेवेतरचतुष्टयरूपतासंपादनार्था स्तुतिरुपपद्यते ।

नन्वभीक्ष्णम् ( १६-२-३ ) इति । बहुयाजिपदेन यागबाहुल्यप्रतीतेर्बहुयष्टैव ग्राह्यः । सहस्रदक्षिणायागकर्तर्यपि सहस्रद इति प्रयोगदर्शनाद्बहुदक्षिणपौण्डरीकादियाजी वा ग्राह्य इति प्राप्ते–ऐष्टिकपाशुककर्माण्यपेक्ष्य सोमस्येतिकर्तव्यताबाहुल्याद्विश्वसृजामयनान्ताखिलविकृत्यनुगतत्वाच्च सोमयाज्येव बहुयाजी ॥ ५ ॥

तस्य सोमयाजिनः—'त्रीन्त्सृचान्' (तै० सं० २-५-१०) इत्यनुवाकेऽष्टाचत्वारिंशतमनुब्रूयात्' (तै० सं० २-५-१०) इत्यन्ते यः संख्याविशेषस्तत्र स्वेच्छैव नियामिका न तु वाचनिको नियमोऽस्तीत्येतद्विधत्ते—

अपरिमितमनुब्रूयादिति । ऊर्ध्वमष्टाचत्वारिंशतं परिमाणेषु याथाकाम्यन्तेऽधीयीरन् । यामां तु विकृतौ धाय्याशब्देन विधानं भवति । यथा पृथुपाजवत्यौ धाय्ये । अंशुमत्यौ धाय्ये । उष्णिक्ककुभौ धाय्ये । मानवी ऋचौ धाय्ये कुर्यादिति पुरस्तात्समिद्धवत्या आगमयेद्गयत्रीराग्नेयीरागमयेत्तथाऽऽगमयेद्यथा प्रथमोत्तमयोरावृत्त्या संख्या पूर्येत ॥ ६ ॥

अपरिमितस्याधिकस्य फलस्येत्यर्थः । ननु एते वै (मी० सू० १६-४-१) इति । पृथुपाजवत्यौ धाय्ये भवतः । अनुपदावाज्यभागावित्यादयोऽनारम्यवादाः प्रकृतौ निविशेरन्निति प्राप्ते—पञ्चदशसंख्याक्षरसंख्यादिविरोधाद्वार्त्रघ्नीवृधन्वत्यवरोधाच्च विकृतावुत्कृष्येरन् ॥ ६ ॥

उत्तमेऽनुवचनेऽग्ने महाँ असि ब्राह्मणभारते त्यत्रापानिति ॥ ७ ॥

अत्राग्ने महानित्यारभ्यासावसावित्यन्तः प्रवरमन्त्रः ॥ ७ ॥

अथ प्रवरं प्रवृणीते । यथा यजमानस्याऽऽर्षेयꣳ सह परेण त्रीननन्तरानमुतोऽर्वाच इत्यामन्त्रणेन भार्गववासिष्ठेति विज्ञायते ॥ ८ ॥

ऋषेरपत्यमार्षेयमात्मीयगोत्रर्षींस्तद्धितप्रत्ययान्तानामन्त्रितविभक्त्या यथाप्रवरं वृणीते । यथा—अग्ने महाꣳ असि ब्राह्मणभारत । भार्गवच्यावनाप्नवानौर्वजामदग्न्येति भृगुगोत्राणा पञ्चार्षेयप्रवर इति । अनेन तत्तदपत्यतयाऽग्निरुपचर्यते । अस्मिन्प्रकरणे प्रकारविशेषं विधत्ते—परस्तादर्वाचो वृणीते (तै० सं २–९–८) इति । वर्तमानं यजमानमपेक्ष्य पूर्वभावी यो गोत्रप्रवर्तकस्तमारभ्य तदपत्यपरम्परयाऽर्वाचो नीचान्वृणीते तथैव पूर्वमुदाहृतम्—भृगोरपत्य च्यवनस्तत्यापत्यमप्नवानस्तस्यापत्यमौर्वस्तस्यापत्यं जमदग्निस्तस्य संततिर्यजमान इति । तदेतदर्वाक्त्वम् ।

ननु आर्षेयम् ( जै० सू० १९–४–१ ) इति । दर्शपूर्णमासयोः—आर्षेयं वृणीते, इति श्रुतम् । तत्र ऋत्विजो वृणीत इति वरणसंस्कृतस्यर्त्विजो विशेषणमार्षेयपदमृषिपदस्य तदुक्तमृषिणा 'बन्धने चर्षौ' इति श्रुतिस्मृत्योर्वेदे प्रयोगदर्शनादविच्छिन्नवेदार्थविज्ञानानुष्ठानशीलपूर्वपुरुषकत्वं बोधयति । अथ देवा योऽनूचानः श्रोत्रियस्तस्यापि वेद एष वै ब्राह्मण ऋषीणामार्षेयो यच्छुश्रुवानेष वै पितृमान्पैतृमत्य आर्षेयो यच्छुश्रुवान्, इति व्यपदेशात्तादृशत्वमृत्विग्विशेषणं वाभिष्ठो ब्रह्मे यादिवदिति प्राप्ते यजमानस्याऽऽशीर्गच्छेदृषीणां हि देवाः पुरुषमनुब ध्नन्ते इत्यादिना यजमानपूर्वपुरुषपरत्वेन वाक्यशेषे स्तवनाद्यो वा अन्यस्यान्यस्य प्रवरणेत्यादिना यजमानेतरप्रवरानुकीर्तने निन्दाश्रवणाच्च । कौषीतकिब्राह्मणे—'अथ यद्यजमानस्याऽऽर्षेयमाह न ता अनार्षेयस्य देवा हविरश्नन्ति' इति विधावेव यजमानसंबन्धकीर्तनात्तदीयप्रवरर्षिनामकीर्तनपर एवायं विधिः ।

ननु भृगुवसिष्ठेति । ( जै० सू० १९–४–२ ) प्रवरर्षीणां नाममात्रस्य भृगुवसिष्ठेत्यादिरूपस्य कथनमात्रेण विधिचरितार्थ्ये प्राप्ते 'अग्ने महाꣳ असि ब्राह्मण भारत' इत्यस्यान्ते, आर्षेययोजनेन यजमानाहवनीययोः पितापुत्रभावसंबन्धेनाग्नेः स्तवनं कुर्यादित्यर्थस्य शाखान्तरपर्यालोचनलब्धस्याऽऽनुगुण्यायापत्यप्रत्ययान्तसंबुद्ध्यन्तपदानि भार्गववासिष्ठेत्यादीनि प्रयोज्यानि ॥ ८ ॥

एकं वृणीते द्वौ वृणीते त्रीन्वृणीते न चतुरो वृणीते न पञ्चातिप्रवृणीत इति कृत्स्नस्य प्रवरस्य स्थाने मानवेत्येव ब्रूयादित्येकेषाम् ॥ ९ ॥

व्याख्यास्यते । ननु त्रीन्वृणीते ( १९-४-३ ) इति । मन्त्रकृतो वृणीत इत्येक एव विधिः । तत्र चानियमेन बहुत्वसंख्यानां त्र्यादीनां कपिञ्जलन्यायेन त्रयाणामेव वा वरणप्रसक्तौ न चतुरो वृणीते न पञ्चातिप्रवृणीत इत्याभ्यां चतुःषडादिसंख्यानां निरासात्पञ्चार्षेयप्रवरणमेव विधीयते । ' एकं द्वौ त्रीन् ' इत्यवयुत्य वादस्तु स्तुतिमात्रम् । तेन सप्तार्षेयोऽपि पञ्चानामेव वरणं कुर्यात् । इतरेषां तु मनुवत्कल्प इति षाष्ठस्य पुनराक्षेपे प्राप्ते—चतुर्वरणस्याप्यवयुत्यवादेनोपपत्तौ न चतुर इत्यत्र नञो वैयर्थ्यापत्तेः । 'न पञ्चातिप्रवृणीत ' इतिवाक्येऽपि पञ्चार्षेयवरणविधेः स्पष्टस्याभावाच्च त्रीन्वृणीत इत्यस्यैव विधित्वावसायात्तेन मन्त्रकृत इत्यस्योपसंहारात् त्र्यार्षेयस्यैव वरणम् । भाष्यकारस्तु अत्र्यार्षेयस्य इति सूत्रे प्रकृतसूत्रे च त्रिपदं पञ्चानामप्युपलक्षणम् । परिमाणाचिख्यासेति त्रिपञ्चसंख्योपलिलक्षयिषेत्यर्थकमिति व्याचख्यौ ।

ननु मनुवत् ( जै० सू० १९-४-९ ) इति । आवृश्च्यत एष ओषधिवनस्पतिभ्यो यः परान्वृणीत इति त्र्यार्षेयवरणं विनिन्द्य मनुवत् , इत्येव ब्रूयात् , इति श्रुतम् । अयं च मनुवत्कल्पो राजन्यवैश्यपरः । तेषां ब्राह्मणर्षिसंतानत्वाभावादिति प्राप्ते—'त्र्यार्षेयवरणप्रतिषेधपूर्वकं मनुवत्कल्पविधानात्तस्य च प्रसक्तिपूर्वकत्वेन तस्याश्च ब्राह्मणेष्विव पुरोहितस्याऽऽर्षेयेण वेदयेत् ' इति वचनान्तरेण राजन्यवैश्ययोश्च सत्त्वात्त्रैवर्णिकानामार्षेयमनुवत्कल्पयोस्तुल्यवद्विकल्पः ।

वस्तुतस्तु निन्दार्थवादस्य विधिशेषत्वेन प्रतिषेधकल्पकत्वाक्षमतया कल्पने च वाक्यभेदापत्तेर्मनुवत्कल्पस्य च त्र्यार्षेययोग्यातिरिक्तब्राह्मणेषु सावकाशत्वात्सौत्रो विकल्पशब्दो व्यवस्थितविकल्पपरः । पुरोहितादिकं त्वस्यैव गुणसूत्रम् । पञ्चवत्तातिरिक्तपरत्वेन चतुरवत्तस्येव ब्राह्मणातिरिक्तपरत्वेन मनुवत्कल्पस्य व्यवस्थाया निरासार्थम् । राजन्यवैश्ययोः पार्थक्येन विधिदर्शनाच्च तेषु मनुवत्पक्षस्य नियता प्रवृत्तिरित्येव व्याख्येयम् ॥ ९ ॥

**अथ निविदो दधाति ॥ ४ ॥ देवेद्धो मन्विद्ध इति प्रतिपद्यते । सप्त पदान्युक्त्वाऽपानिति ॥ १० ॥**

देवेद्धो मन्विद्धः, इत्यारभ्य ' तूर्णिर्हव्यवाट् ' ( ३-९-३ ) इत्यन्ताः सप्त निविन्मन्त्राः । नन्वनाम्नानात् ( जै० सू० ११-२-४ ) सामिधेन्युत्तरं पठ्यमानानां निविदामप्यग्निसमिन्धनार्थत्वात्संतानविधिः । प्रवृत्त्या कार्यापत्त्या च तत्रापि प्रवर्तते । सामिधेनीनां स्वरूपे संतानस्याऽऽनर्थक्यादग्निसमिन्धनद्वारा दार्शिकापूर्वसाधनत्वस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वाच्च । अत एव द्वयं वा इदं सर्वं छन्दस्कृतं चाच्छन्दस्कृतं च तेन सर्वेणाग्निं

स्तवानीति श्रुत्या ऋचामनूचां चैकधर्मावच्छिन्नत्वं बोध्यते । तेन यवेषु प्रोक्षणामिव निवित्स्वपि संतानः स्यादिति प्राप्ते—

क्रमैकनियामिकायाः प्रवृत्तेरिहाप्रवृत्तेरेकप्रकरणे कार्यापत्त्यभावात्सामिधेनीभिरिष्ट्वा निविद्भिरुपस्तुत्य ' इति कार्यभेदश्रवणात्स्तुत्यर्थत्वे वा शूरत्वाचित्रत्वादिगुणभेदेन रथंन्तरबृहतोरिव स्तुतिवैलक्षण्येन द्वारभेदात्तासां सप्त पदानि 'समस्यावस्येदथ चत्वारि ' इत्येव प्रतिनियतनिर्देशेन धर्मभेदविधानाच्च न निविदां संतानः'॥ १० ॥

एताभ्यश्चतसृभ्यो निविद्भ्य ऊर्ध्वमुच्छ्वासं कृत्वा पश्चात्पठनीयानां चतसृणां निविदामर्थं दर्शयति—

**अथ चत्वार्यथ चत्वारि ॥ ११ ॥**

आस्पात्रं जुहूर्देवानाम्, इत्यारभ्य 'आवह देवान्यजमानाय' (तै० ब्रा० ३-५-३) इति । चत्वार्यवशिष्टा निविन्मन्त्राः ॥ ११ ॥

**देवता आवाहयत्यग्निमग्न आवह सोममावहाग्निमावह प्रजापतिमावहाग्नीषोमावावहेत्यग्नीषोमीये पुरोडाश इति पौर्णमास्याम् ॥ १२ ॥**

अत्राऽऽवाहननिगदो मन्त्रकाण्डे समाम्नातः सर्वोऽपि सूत्रकारेण पठितः । हे आहुत्याधारभूताग्ने प्रथमाज्यभागदेवतामग्निमावह । द्वितीयाज्यभागदेवं सोममावह पौर्णमास्याममावास्यायां च प्रथमपुरोडाशदेवमग्निमावह । पौर्णमास्यामुपांशुयागदेवं प्रजापतिमावह । प्रजापतिपदं शनैरुच्चार्याऽऽवहेति पदमुच्चैरुच्चारयेत् । पौर्णमास्यां द्वितीयपुरोडाशदेवमग्नीषोमावावहेति ।

अथवाऽऽवह देवानिति सामान्योक्तस्याऽऽवहनस्य विवरणमग्निमग्न आवहेत्यादि निगदसिद्धम् । 'अथ यथादेवतम्' ( श० ब्रा० ३-४-१७ ) इति दर्शपूर्णमासयोरुभयत्र योऽग्निः पुरोडाशदेवता तदावाहनानन्तरं निर्वापसमये यस्यै यस्यै देवतायै येन क्रमेण निरुप्तं तेनैव क्रमेण तस्याः सर्वस्या देवतायाः—अग्नीषोमावावहेत्यादिवाक्यैरावाहनं कार्यमित्यर्थः ।

नन्वावह ( जै० सू० ११-२-७ ) इति । अग्ने नेमिर्देवाꣳस्त्वं परिभूरस्यावह देवान्यजमानायेति मन्त्रे श्रुतमावहनं समस्तदेवतानां स्यात् । त्वष्ट्रादीनामपि देवतात्वात्प्राकरणिकत्वाच्च संनिधानेन विशेषपरत्वे तु प्रयाजानामेव प्रथममिज्यमानत्वात्तद्देवतापरमिति प्रयाजलोपे मन्त्रलोप इति प्राप्ते—ब्राह्मणानावह चैत्रं मैत्रं यज्ञदत्तं चेति लौकि-

कवाक्ये सामान्यवाचिनोऽपि ब्राह्मणपदस्य चैत्रादिमात्रपरत्वप्रतीतेराग्निमग्न आवहेत्याद्युत्तरवाक्येषु कीर्त्यमानानामेवैतदावाहन न सर्वेषाम् ॥ १२ ॥

**नामावास्यायामुपांशुयाजो विद्यते ॥ १३ ॥**

उपांशुयाजः प्रजापतिः, निषेधात् ॥ १३ ॥

**ऊर्ध्वमाग्नेयस्याऽऽवाहनादिन्द्राग्नी आवहेत्यसंनयत इन्द्रमावहेति संनयत इन्द्रयाजिनो महेन्द्रमावहेति महेन्द्रयाजिनो देवाꣳ आज्यपाꣳ आवहेति समानमुभयत्र ॥ १४ ॥**

अमावास्यायामसांनाय्यिनो द्वितीयपुरोडाशदेवत्वेनेन्द्राग्नी आवह । अगतश्रियः सांनाय्यदेवमिन्द्रमावह । गतश्रियो महेन्द्रमावह । आज्यपान्प्रयाजानूयाजदेवानावह । अग्निं होत्राय होमस्य स्विष्टकरणाय । आवाहनविषयाणामुक्तानां देवानां यो यस्य देवस्य स्वकीयो महिमा सामर्थ्यातिशयस्तं महिमानमावह । अत्र हविर्भुज एव देवानभिप्रेत्य स्वं महिमानमित्युच्यते । न त्वावाहनकर्तुरग्नेर्महिमानं तस्याऽऽवाहनविषयत्वाभावात् । न केवलमावाहनं कर्तव्यं किं तु हविष्प्रापणलक्षणो यागोऽपि त्वयैव कर्तव्यः। अत्र सूत्रे प्रजापतिमित्युपांश्वावहेत्युच्चैर्यद्देवत्यो वा भवतीत्युक्तं तच्चोपांशुयाजे प्रजापतिविष्णवग्नीषोमाणां विकल्पाभिप्रायेण द्रष्टव्यम् ।

नन्वाहवनीयः ( जै० सू० ११-२-८ ) इति । अग्निमग्न आवहेत्यत्र वाह्यत्वं वाहकत्वं चैकस्यैव प्रतीयते । उभयोरग्निपदेन व्यपदेशात् । युक्तं चैतत् । स्वं महिमानमावहेति स्वभिन्नस्य स्वमहिम्नः स्वेनैवाऽऽवहनप्रतीतेः । स चोभयात्मकोऽग्निराग्नेयाज्यभागदेवतारूप एव । यदग्निमग्न आवहेत्याह तदाग्नेयाज्यभागायाग्निमावाहयतीति श्रुतेरिति प्राप्ते—वहनकर्तृकर्मत्वयोरेकस्मिन्विरोधात्स्वमहिमपदस्यापि कौषीतके वायुपरत्वेन व्याख्यानात्सामिधेनीभिरिद्धोऽग्निमुपस्तुत्याग्निमग्न आवहेति श्रवणादाहवनीयरूपः प्रत्यक्षोऽग्निरेवाऽऽवोढा । तेनाऽऽहवनीयभेदेऽप्याहितस्यैकत्वादौपाधिकद्वित्वस्याप्रयोजकतयाऽऽमन्त्रिते वचनोहाभावेऽप्यवभृथेऽग्निमप आवहेत्यादिरूहः ।

नन्वग्निं होत्राय ( जै० सू० ११-२-९ ) यदग्निं होत्रायाऽऽवाहयति स्विष्टकृतं तदावाहयतीति श्रुत्या होत्रार्थमोह्यमानोऽग्निः स्विष्टकृद्यागदेवतारूपः स्विष्टकृद्गुणकोऽग्निरेवेत्यवगतं यदाहवनीये जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीत इति श्रुत्यन्तरे चाऽऽहवनीय आहुतिसंयोगादिष्टः प्रीतश्च भवतीत्यवगमात् स्विष्टकृत्त्वमाहवनीयाग्नेरेव प्रतीयत इत्येकस्यैवाऽऽवोढृत्वमोह्यत्वं चेति द्वयमपि संपन्नम् । तच्चौपाधिकभेदाङ्गीकारेणापि सूप-

पादमित्याहवनीय एव स्विष्टकृदग्निः, इत्यवभृथेऽग्निं होत्रायाऽऽवहेति निगदेऽप इत्यूहः। यत्तु भाष्ये देवतावोढुर्हव्यवोढुश्चैकत्वेनाऽऽवहनहव्यवहनाभ्यां स्विष्टकृद्यागसंबन्धादसति स्विष्टकृति सर्वहुते देवतावाहनस्यैव लोप इति । तन्न । तत्तद्देवतावाहने तत्तद्यागानामेव प्रयोजकत्वात् । स्विष्टकृद्देवतावाहने हव्यवहनस्यैव प्रयोजकत्वात् । स्विष्टकृद्यागलोपेऽपि तत्तत्प्रयोजकलोपाभावेन देवतावाहनलोपायोगादिति स्विष्टकृद्यागलोपेऽपि प्राप्ते—अभीत्युपसर्गयोगादिषिधातोरिच्छार्थकान्निष्पन्नेष्टशब्दार्थकर्तृत्वस्याऽऽहवनीय उपपादनेऽपि सूपसृष्टयजिधातुनिष्पन्नस्विष्टशब्दाभेदादेकस्यैवौपाधिकभेदाङ्गीकारेणोभयनिर्वाहकोपाधेरश्रवणादाहवनीयादन्य एवाग्निः स्विष्टकृत् ।

ननु 'स गार्हपत्यः' ( जै० सू० १६–२–१० ) स आहवनीयादन्यत्वेन निश्चितो देवतारूप एव कश्चिदग्निः स्यात् । स्विष्टकरणे देवताया एव सामर्थ्यादिति प्राप्ते— गार्हपत्यः स्विष्टकृद्भवतीति वचनात्तस्यापि कतिपयाहुतिसंयोगेन स्विष्टकृत्त्वसंभवाद्गार्हपत्यधिष्ठातृदेवताविशेष एव स्विष्टकृत् ।

ननु स होमाय ( १६–२–११ ) स चोद्यमानो होमार्थमेव । होतृशब्दस्य होमपरत्वात् । कतिपयहोमाधिकरणत्वस्य तत्रापि सत्त्वात् । यस्मिन्नेवैतदग्नावाहुतयो हूयन्त इत्यादिना होमार्थत्वश्रवणाच्चेति प्राप्ते—होतुः कर्म होत्रं तच्च हव्यप्रापणम् । हव्यवह यविष्ठ या ते अद्य, यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानीत्यादिमन्त्रलिङ्गेन तथा निर्णयात् । होत्रायेति तादर्थ्यचतुर्थ्या च हव्यवहनप्रयोजनकत्वप्रतीतेः । अतः शंयुवन्तासु पत्नीसंयाजाभावेऽपि भवेदेवाग्निं होत्रायेति निगदः ।

ननु होत्रीयष्टु(१६–२–१२)स्व महिमानमावहेत्यत्र स्वशब्दस्याऽऽत्मीयपरत्वेन संबोधनीयाहवनीयपरत्वावश्यंभावात्तन्निष्ठस्य होतृत्वयष्टुत्वादिधर्मनिकरस्यैव महिमरूपतया तद्धर्मविशिष्टो भवत्येतदर्थकोऽयं निगद आहवनीयपर एवेति प्राप्ते– अथ यत्स्वं महिमानमावाहयति वायुं तदावाहयति वायुर्वा अग्नेः स्वो महिमेति कौषीतके श्रवणाद्वायुपदस्य च ' वायोरग्निः ' इत्यादिश्रुत्या जनकपरत्वेनाऽऽहवनीयजनकगार्हपत्यपर एवायं निगदः । होतृत्वादिधर्माश्च देवतावोढृत्वेनाऽऽहवनीय इव हव्यवोढृत्वेन गार्हपत्येऽपि संभवन्तीति न त आहवनीयासाधारणाः । अग्ने यदद्य विशो अध्वरस्य होतः पावक शोचेवेष्ट्वं हि यज्वेति स्विष्टकृत्यपि प्रयोगात् । तस्मादेकस्यैव गार्हपत्यस्य हव्यवोढृत्वेनाऽऽहवनीयजनकत्वेन चाऽऽवाहनम् । आवाह्यतावच्छेदकभेदादावहतेरावृत्तिः । तेन पितृयज्ञे वाक्यद्वयस्यापि स्थानेऽग्निं कव्यवाहनमावहेत्येक एव निगदः ।

ननु—अतूर्तः ( १६–२–१३ ) अतूर्तो होता तूर्णिर्हव्यवाट्, इति वाक्ये हव्यवाहनलिङ्गाद्गार्हपत्य एवाभिधीयत इति प्राप्ते—एवेद्धो मन्विद्ध इत्युपक्रमे समिध्यत्वालिङ्गेन सामिधेनीभिः स्तुतस्याऽऽहवनीयस्यैवैष वादः ।

नन्वा चाग्ने (१६–२–१४) अग्निं होत्रायाऽऽवहेत्युपक्रम्याऽऽ चाग्ने देवान् वह सुयजा च यज जातवेदः, इत्यत्रापि गार्हपत्यवादे प्राप्ते अग्निमग्न आवहेति सर्वोपक्रमे संबोधितस्येहापि प्रत्यभिज्ञानादाहवनीयस्यैव वादः ॥ १४ ॥

वरणं प्रत्यूर्ध्वज्ञुमुपविशति ॥ १५ ॥

ऊर्ध्वौ जानू यस्य (सः) तं होतारमुपविशेदित्यर्थः ॥ १९ ॥

ऊर्ध्वज्ञुरासीनो वृणीत इति हेतुर्विज्ञायते ॥ १६ ॥

श्रुत्यन्तरे चोदयति । ननु—'वरणार्थं वा' (जै० सू० १६–२–९) इति । आसीनमूर्ध्वज्ञुं होतारं वृणीते, इत्यत्र विधीयमानमूर्ध्वजान्वासनमृत्विक्संस्कारद्वारा प्रकरणधर्मः । वरणस्यैव वाऽयं धर्मः । होतृपदं च वहनसाधनत्वादृत्विक्परम् । तेन सर्वेषां क्रियमाणानामूर्ध्वजान्वासनमिति प्राप्ते–होतारं वृणीत इति वाक्यान्तरेणैकवाक्यतयोर्ध्वजान्वासनविशिष्टहोतृवरणविधानान्न सर्वर्त्विग्वरणधर्मः ॥ १६ ॥

यत्राभिजानात्यसौ मानुष इति तदुपोत्थाय
नमो मात्रे पृथिव्या इति पृथिवीमाभिमृशति ॥ १७ ॥

जानाति शृणोति होतेति शेषः । पृथिवीमन्तर्वेदिमित्यापस्तम्बः ॥ १७ ॥

चतुर्होतारं पञ्चहोतारꣳ षड्ढोतारꣳ सप्तहोतारमिति जपित्वेन्द्रमन्वारभामह इति दक्षिणेन हस्तेनाध्वर्युमन्वारभते ॥ १८ ॥

पृथिवी होतेति चतुर्होतारमग्निर्होतेति पञ्चहोतारं द्वौ षड्ढोतारौ सूर्यं त इत्येको वाग्घोता, इत्यन्यः । तत्र होतृब्राह्मणे—वाग्घोता षड्ढोतॄणाम् (तै०ब्रा० ३–१२–९) इति दर्शनात् । स एव–उत्तरतः प्राञ्चꣳ षड्ढोतारम् ( तै० ब्रा० ३–१२–९ ) इति विधीयते । सूर्यं त इत्यस्य तु पशुबन्धादिषु विनियोगः । सूर्यं त इति षड्ढोतारं महाहविरिति सप्तहोतारं च । दिवामिति मन्त्रान्तः । अन्वारभते स्पृशतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

सव्येन तूष्णीमाग्नीध्रम् ॥ १९ ॥

अन्वारभत इत्यनुवर्तते ॥ १९ ॥

षष्टिश्चाध्वर्यो नवतिश्च पाशा इत्यन्तरेणाऽऽहवनीयमध्वर्युं च प्रत्यङ्ङेत्य समुद्रं माऽवपद्यादित्यस्याऽऽवृतमन्वावर्त इति प्रदक्षिणमन्वावर्तते ॥ २० ॥

होतेति मन्त्रान्तः । स्वात्मानं प्रदक्षिणमावर्तेत इत्यर्थः ॥ २० ॥

**षण्मोर्वीरꣳहसस्पान्तु त्वेति जपित्वा होतृषदनं प्राप्य निरस्तः परावसुरिति होतृषदनात्तृणं निरस्याप उपस्पृश्य ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विति होतृषदनमवबाधतेऽभ्युक्ष्य होतृषदनमुन्निवत उदुद्वतश्च गेषमिति । उपविशति सीद होतरिति च ॥ २१ ॥**

षण्मोर्वीरꣳ० आपश्चौषधयश्चेत्यन्तः । होतृषदनात्तृणं दर्भतृणनिरसनमपामुपस्पर्शनं श्रौतम् । येन सपत्ना० अक्रन्नित्यन्तः । उन्निवत० अद्याह्व इत्यन्तः । होतृषदनमद्भिरभ्युक्ष्य, सीद होत० वयोधा इत्यन्तः । उपविशति होतृषदने प्राङ्मुख इत्यर्थः॥२१॥

**निहोता होतृषदन इत्यासीनो जपति ॥ २२ ॥**

जिह्वो अग्निरित्यन्तः ॥ २२ ॥

**लोककृतौ लोकं मे कृणुतमिति गार्हपत्याहवनीयौ समीक्षते ॥ २३ ॥**

एष वां लोक इत्यन्तः । मन्त्रावृत्त्या गा( त्तिर्गा )र्हपत्याहवनीयाविति द्विवचनात् ॥ २३ ॥

**प्र मे ब्रूत भागधेयमिति देवता उपतिष्ठते ॥ ५ ॥ २४ ॥**

नाराशꣳसायेत्यन्तः ॥ २४ ॥

**ततः स्रुचावादापयत्यग्निर्होता वेत्त्वग्निर्होत्रं वेत्त्विति ॥ २५ ॥**

ननु—अग्निर्होता ( ११–२–१९ ) स्रुगादापननिगदे—अग्निर्होता वेत्त्वग्निः ( तै० ब्रा० ३–५–४ ) इत्यत्राप्यनियमे प्राप्ते—अग्निर्होतेत्याहाग्निर्वै देवानां तं वृणीत इत्युक्त्वा योऽग्निं होतारमवृथा इत्याहवनीयं पुनर्वृणीत इति श्रवणात्पुनरित्यनेन पूर्ववृतस्य होतुरग्नेराहवनीयत्वं गम्यते । ज्वलनस्य देवतायाश्च परस्पराभेदेन बहुशो व्यवहारदर्शनात् ॥ २५ ॥

**मन्द्रेण स्थानेन भागाज्यभागाभ्याम् । मध्यमेन प्रधानानि । उत्तमेन स्विष्टकृत्प्रभृति ॥ २६ ॥**

उरसि मन्द्रः शालागतो वा स मन्द्र इति मन्द्रलक्षणम् । आरम्भप्रभृति आज्यभा-

गाभ्यां प्राग्यान्याश्रुतादीनि तानि मन्द्रस्वरेण प्रयोक्तव्यानि सामिधेनीवर्जयित्वा । कण्ठे मध्यममिति मध्यमस्वरलक्षणम् । मध्यमेन प्राक्स्विष्टकृतः ( आप० परि० १–१३ ) इत्यापस्तम्बः । स्पष्टमन्यत् ॥ २६ ॥

समिधो यजेति संप्रेषिते समिधो अग्न आज्यस्य वियन्त्विवति यजति । तनूनपादग्न आज्यस्य वेत्त्विति द्वितीयम् । नराशꣳसो द्वितीयः प्रयाजो वसिष्ठशुनकानां नराशꣳसो अग्न आज्यस्य वेत्त्वितीडो अग्न आज्यस्य वियन्त्विवति तृतीयम् । बर्हिरग्न आज्यस्य वेत्त्विवति चतुर्थꣳ स्वाहाऽग्निꣳ स्वाहा सोमꣳ स्वाहाऽमुमिति चोत्तमे प्रयाजे यथोक्तदेवता उपलक्षयति ॥ २७ ॥

पञ्च प्रयाजान्यजतीतीयं पञ्चसंख्या प्रयाजानामुत्पत्तिशिष्टा नव प्रयाजान् यजतीति एकादश प्रयाजान्यजतीति नवैकादशसंख्यया बाधायोगाद्विकृतीनां संख्याऽभ्यासेनैव पूरणीयेति ।

वाजसनेयिशाखायामप्यविशेषेण श्रुतम्—अथ तनूनपातं यजति ( श० ब्रा० १–४–१० ) इति । परंतु शाखान्तरेऽत्रास्ति विशेषोऽपि । तथाहि—राजन्यात्रिवध्र्यश्ववसिष्ठवैश्यशुनकानां कण्वकश्यपसंकृतीनां नाराशंसो द्वितीयः प्रयाजस्तनूनपादन्येषाम् । ( का० श्रौ० ३–३–८ ) इति वसिष्ठशुनकानां नाराशꣳसः । अर्षीणां चैके ( का० श्रौ० १९–६–८।९ ) इति च कात्यायनः । नराशंसो, अग्न आज्यस्य वेत्त्विति द्वितीयो वसिष्ठशुनकानामत्रिवध्र्यश्वानां कण्वसंकृतीनां राजन्यानां प्रजाकामानां च ( शा० श्रौ० १ । ७ । ३ ) इति शाङ्खायनः । तान्येकादशाऽऽप्रीसूक्तानि । तेषा वसिष्ठमात्रेयं वाध्र्यश्वं गार्त्समदमिति नाराशंसवन्ति, मेधातिथिं दैर्घतमसं प्रैषिकमित्युभयवन्ति । अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति ( या० नि० ८–३–७ ) इति चाऽऽह यास्कः । आपस्तम्बस्तु–'नराशंसो द्वितीयः प्रयाजो वसिष्ठशुनकानाम् । तनूनपादितरेषां गोत्राणाम्' (आप० श्रौ० २४–८–१०) इत्येवाऽऽह। आश्वलायनेन त्विह बहून्युक्तानि तानि तत्रैव द्रष्टव्यानि (आश्व० श्रौ० ३–२–६।८)।

ननु स्वाहाऽग्निम् । ( जै० सू० १६–२–१९ ) इति । उत्तमप्रयाजे स्वाहाऽग्निं होत्राज्जुषाणा इत्यत्र होत्रायेति तादर्थ्यस्यानाम्नानात्प्रयाजदेवताया अग्नेरेव वाद उपक्रान्तत्वादिति प्राप्ते—स्वाहा देवानाज्यपानित्यस्योत्तरपाठादेव स्थानाद्यदनिष्टाभ्यो देवताभ्यः स्वाहा करोतीति वचनेन यक्ष्यमाणदेव। तेज्याप्रतीतेर्होत्रादित्यनेन हव्यवहननिमित्तकत्वस्य सौविष्टकृतहविर्जोषणे भूतिरूपे प्रतीतिसंभवात्स्विष्टकृत एवैष वादः ॥ १७ ॥

अथाऽऽज्यभागाभ्यां प्रचरति ॥ २८ ॥

चक्षुषी वा एते यज्ञस्य यदाज्यभागौ यदाज्यभागौ यजति ( तै० सं० २–६–२ ) इति ब्राह्मणम् । प्रयाजानन्तरं प्रकृतत्वात् ॥ २८ ॥

तयोर्याज्यापुरोनुवाक्ये ॥ २९ ॥

अतोऽन्ययोर्न जामिताऽस्ति । द्वितीयः परिहार आज्यभागः प्रधानद्वयं वेति कोटि- द्वयं विषयीकृत्य प्रवृत्त इति द्रष्टव्यम् ॥ २९ ॥

याज्यैव प्रयाजानूयाजेषु ॥ ३० ॥

प्रधानं स्यात् ॥ ३० ॥

तेषां प्रचर्य सर्वासु पुरोनुवाक्यासु
प्रणवं दधाति स व्याख्यातः ॥ ३१ ॥

पुरोनुवाक्यास्विति समुच्चयः ॥ ३१ ॥

अथ याज्याया यदृच्युत्तमं छन्दोमानं तेनोदा-
त्तेनाभिसंदध्याद्वौषडिति वषट्करोति ॥ ३२ ॥

वौषडिति वषट्करोतीति सामान्येन विधाय वषडित्येके वौक्षाडित्येके षडित्येके वाक्षडित्येक इति कल्पान्तराणि विधाय वषडिति ब्राह्मणस्य वषट्कुर्याद्वौषडिति राजन्यस्य वौक्षाडिति वैश्यस्य षडिति शूद्रस्येति निमित्तसंयोगेनाप्याम्नातम् । अत्र पञ्चानां तुल्यवद्विकल्पः । ब्राह्मणस्येत्यादयोऽवयुत्यानुवादा इति वृत्त( त्ति )कृतां पक्षे प्राप्ते— भाष्यकार आह—ब्राह्मणादिवाक्यानां वै.श्यस्यायुक्तत्वाद्बृहस्पतिसवराजसूयवैश्यस्तोमेषु क्रमेण त एव शब्दा नियताः नैमित्तिकैरन्येषां बाधात् । नित्यस्यावशिष्टानां वषट्काराणां चान्यत्र तुल्यवदेव विकल्प इति । वस्तुतस्तु एतत्पक्षेऽपि ब्राह्मणादिशब्दानां तत्तन्मात्राधिकारिककर्मविशेषे लक्षणापत्तेस्तत.तृककर्मसामान्यसंबन्धस्यैव सप्तदश वैश्यस्येत्यादाविव प्रतीतस्य बाधापत्तिः । अतो नैमित्तिकाविधिभिः सामान्यतो विहितानामुपसंहारः । अनुपसंहृतानां तु पक्षाणां सर्वकर्मसु सर्वेषां विकल्पः । शूद्रशब्दस्तु त्रैवर्णिकातिरिक्ते लाक्षणिकः सन्निषादादिपरस्तान्त्रिककर्माभिप्रायो वा । ( १६–३–२ ) ॥ ३२ ॥

त( य )त्रैतदेकारैकारौ याज्यान्ते भवतः । आइं-
कारं तत्र कुर्याद्यत्रौकारौकारावा उकारं तत्र

कुर्यात् । इत्यत्र प्रग्रहेभ्योऽथ यत्र कवर्गप्रथमा याज्यान्ते स्युस्तृतीयं स्ववर्गीयं मकारे परवत्त· ( न्न ) ङकारणकारनकारेषु विकारः ॥ ३३ ॥

याज्यान्त इति सर्वत्र ॥ ३३ ॥

अथ यत्रावर्णोपधो विसर्जनीयः । आकारं दीर्घं रभतेऽनुसरेफमिवर्णोपध ईकारमुवर्णोपध ऊकारं बषट्कारो याज्यान्ताः प्लुताः स्वराव्यञ्जना- न्तायाः पूर्वो ब्रूहि प्रैष्योंकारौ श्रौषडित्यवसाने वीहीति च वह आ च वह ये यजामहे परं च । न स्वं महिमानमावहेत्याश्रावयोश्रावय घोरा ( योराघे ) ये इति विभाषा, ईद्दगयणेत्युभयतः प्लावनं व्याकरणम् । सर्वत्र न प्लावयेन्न च श्रूयत इति काशकृत्स्नस्य ॥ ३४ ॥

काशकृत्स्नग्रहणमादरार्थम् ॥ ३४ ॥

चेकितानो यथालक्षणं तु प्रवचनशेषोऽभिलक्षणं ब्रूहीति पुरोनुवाक्यासंप्रैषो यजेति याज्यासंप्रैषो ये यजामह इति प्रतिवचनः ॥ ३५ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ३५ ॥

ये यजामहेऽमुमिति यथादेवतमुपलक्ष्य व्याहृती- र्जपित्वा याज्यान्ते वषट्करोति ॥ ६ ॥ ३६ ॥

अनुवाक्यायाज्ययोः क्रमेण देवताह्वानहविःप्रदानसाधनत्वं द्रष्टव्यम् । तद्यथा— अग्निर्मूर्धा इति पुरोनुवाक्यामनूच्य ये यजामहेऽग्निं भुर्भुवः सुवर्भुवो यज्ञस्येति । तयोः समनन्तरं वषट्कुर्यादिति विधिः ॥ ३६ ॥

वषडित्येके समामनन्ति । वौषडित्येके । वाषडि- त्येके । वषाडित्येके ॥ ३७ ॥

समामनन्तीत्यन्वयः सर्वत्र ॥ ३७ ॥

याज्यावषट्कारयोर्नैरन्तर्यमाह—

**संततमृचा वषट्करोतीति विज्ञायते ॥ ३८ ॥**

ऋचा याज्यया सह संततं निरन्तरं यथा भवति तथा वषट्कार उच्चारणीयः । विज्ञायते बह्वृचशाखायामित्यर्थः ॥ ३८ ॥

**बलीय ऋचा वषट्करोतीति विज्ञायते ॥ ३९ ॥**

बलिशब्देनाक्षरपारुष्यम् ' बलि वषट्करोति ' ( ऐ० ब्रा० ११–७ ) इति श्रुत्यन्तरम् ॥ ३९ ॥

अनिष्टफलान्तरसाधनत्वं दर्शयति—

**यं कामयेत पापीयान्त्स्यादिति नीचैस्तरां तस्य याज्याया वषट्कुर्यात् ॥ ४० ॥**

पापीयान्दरिद्रो नरकयोग्यो वा यजमानः स्यादिति कामयमानो होतर्चं याज्यां शनैरुच्चार्य वषट्कारमतिशयेनोच्चैर्ब्रूयात् ॥ ४० ॥

अथेष्टफलसाधनत्वं दर्शयति—

**यं कामयेत न पापीयान्न श्रेयानिति समं तस्य याज्याया वषट्कुर्यात् ॥ ४१ ॥**

श्रेयान्दारिद्र्यरहितः पापरहितश्च यजमानः स्यादिति कामयमानो होतर्चं याज्यां शनैरुच्चार्य वषट्कारमतिशयेनोच्चैरुच्चारयेत् । स्पष्टमन्यत् ॥ ४१ ॥

अनिष्टफलसाधनत्वं दर्शयति—

**यं कामयेत वसीयाञ्छ्रेयान्त्स्यादित्युच्चैस्तरां तस्य याज्याया वषट्कुर्यात् ॥ ४२ ॥**

कृतयज्ञोऽपि फलरहितः स्यादिति यं यजमानं होता कामयेतास्य यजमानस्य येन स्वरेण याज्यां ब्रूयात्तेनैव स्वरेण वषट्कारमपि ब्रूयात् ॥ ४२ ॥

**अपगूर्य वषट्करोति स्तृत्या इत्युच्चैर्वा शब्दसंयोगात् ॥ ४३ ॥**

ननु–अवगूर्य(१६–३–४) आगूःशब्दस्येवापगूर्येत्यस्यापि ये यजामहवाचित्वादपगूर्य वषट्करोतीति वचनेन तदानन्तर्यस्य वषट्कारे कण्ठरवेण विधानाद्याज्यावषट्कारसमुच्च-

यपक्षस्य च ज्ञापकसिद्धत्वेन निरपेक्षप्रदानार्थत्वबोध्यविकल्पाद्दुर्बलतया चासार्वत्रिकतया एव वक्तव्यतया यदा समुच्चयस्तदा याज्योर्ध्वं वषट्कारः। यदा केवलो वषट्कारस्तदा ये यजामहव्यवहितोत्तरमेव प्रयोक्तव्य इति प्राप्ते—

किंचिद्व्यवधानेऽपि भुक्त्वा गत इत्यादौ लोके पुरोनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोतीति वेदेऽपि क्त्वाप्रत्ययप्रयोगात्समुच्चयविकल्पयोर्विकल्पकल्पनस्यात्यन्तजघन्यत्वादुत्तरकालतायामेवाव(प) गूर्येति ल्यप्। वस्तुतस्तु आधानावधानयोरानयनावनयनयोराहारावहारयोरुपसर्गभेदेनार्थभेदस्य बहुशो दर्शनादवगोरणस्य ब(व)धाध्यवसायपरत्वेनान्यत्र प्रयोगादिह तदसंभवेऽपि लक्षणयोच्चैरुच्चारणाध्यवसानमेवार्थः ॥ ४३ ॥

**यं कामयेत प्रमायुकः स्यादिति तस्योच्चैरपगूर्य निष्खिदन्ति वषट्कुर्यादित्युच्चैः क्रौञ्चमिव वषट्कुर्यात्स्वर्गकामस्येति विज्ञायते ॥ ४४ ॥**

ननु यं कामयेत (१६-३-९) वषट्कारमेव प्रकृत्याऽऽम्नायते यं कामयेत प्रमायुकः स्यादिति नीचैस्तरां तस्य याज्याया वषट्कुर्यादित्यस्यान्ते उच्चैः क्रौञ्चमिव वषट्कुर्यात्स्वर्गकामस्येति श्रुतौ द्वावपि काम्यविधी, कुर्यादिति लिङ्श्रुतेरविशेषात्। दीर्घरोगसंतप्तस्य प्रत्याख्यातभिषक्क्रियस्य मरणकामनाया अपि संभवात्। अन्यथा तादृशस्याऽऽत्महननविधेः स्मृतिषु वैयर्थ्यापत्तेः। सर्वस्वारादिश्रौतकर्मस्वपि मरणकामाधिकारिकतादर्शनात्। पुरुषाभिप्राणायां विचित्रत्वात्। वस्तुतस्तु यः प्रमायुकः स्यादित्यनुक्त्या होतृगत एवैष कामः प्रतीयते। स च द्वेष्ये यजमाने संभवत्येव। अत एव ऋत्विगाचार्यौ नातिचरितव्याविति स्मृतिरपि दृष्टार्था सती युज्यते। न चाऽऽदधीतेत्युपग्रहविशेषविरोधः। यस्मिञ्जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव स इति श्रुत्येव क्वचिदपवादस्यापि संभवात्। अत एव प्रउगशस्त्रे सप्त देवताः शंसतीति सप्तानां तृचानां शंसनं होतुर्विधाय स यजमानस्य पापभद्रमाद्रियेतेति ह स्माऽऽह योऽस्य होता स्यादित्यत्रैवैनं यथा कामयेत तथा कुर्यादित्युपक्रम्य यं कामयेत प्राणेनैनं व्यर्धयानीति वायव्यमस्य लुब्धं शंसेदृचं वा पदं वाऽतीयादित्यादिना तृचभेदेन तत्तद्गतपदादिलोपेन यजमानस्य प्राणादिसप्तकवृद्धिर्होतृकाम्यमाना प्रतिपादितोपपद्यते। तस्मात्प्रधानफलमङ्गफलं वा यजमानतदितरसाधारणं यथावचनं स्वीकार्यम्। प्रकृते च होतृपदाश्रवणेऽप्यैतरेयब्राह्मणे—प्रउगसजातीयस्यैव वाक्यस्य श्रवणाद्धोतुरेवायं काम्यो विधिरिति प्राप्ते—

अनवविकित्सितस्य मरणस्य सर्वथाऽनिष्टत्वेन तदधिकतदेकजन्यफलान्तराभावेन तस्य नान्तरीयकत्वाभावाच्च सर्वस्वारमरणादौ साधनान्तरकथनाच्चाविविक्तस्य-

रोगवता मरणविधेरभ्यनुज्ञामात्रत्वाच्च न यजमानस्य कामः संभवतीति स्वर्गकामाविधे- रयमर्थवाद एव जर्तिलवाक्यादाविव विधिप्रत्ययस्याविधायकत्वात् । विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य सद्मनि भुक्था इति लौकिकवाक्येऽपि पूर्वविधेरुत्तरविध्युपपादकतयैकवाक्यता दर्शनात् । नापि होतुः कामः, अनन्यथासिद्धापवादादर्शनात् । प्रउगशस्त्रेऽपि यमु कामयेत सर्वैरेनमङ्गैः सर्वेणाऽऽत्मना समर्धयतीत्येतदेवास्य यथापूर्वमृजुक्लृप्तं शंसेदिति विधेरर्थवादत्वेनैव सप्तवाक्यानामुपपत्तेः ॥ ४४ ॥

अथ होतुर्वषट्कारादूर्ध्वमनुमन्त्रणमाह—

वषट्कृत्य वषट्कृत्य प्राण्यापान्य निमिषेत् । वा- गोजः सह ओजो वाग्वषट्कारो नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीरिति प्रयुक्तं वषट्कारमनुमन्त्रयते ॥ ४५ ॥

वषट्कृत्य वषट्कृत्य यदा यदा वषट्करोति तदा तदा निमिषेत् । वागिति मन्त्रेणानुमन्त्रयेत् । यद्वा—वषट्कृत्य वागित्यनुमन्त्रयेतेति वषट्कारानुमन्त्रणयोरेकत्वं श्रुत्यन्तरेऽप्युक्तम् । अत्राप्यात्मन्येव तद्धोता ( ऐ० ब्रा० ११—८ ) इत्यैतरेय- ब्राह्मणे होतृकर्तृकत्वं प्रतीयते । ततोऽनुमन्त्रणस्य यजमानकर्तृकत्वमन्यैरुक्तं बाधित्वा होतृकर्तृकत्वमेव द्रष्टव्यम् ॥

ननु वषट्कृत्य ( जै० सू० ११—३—८ ) क्वचिच्छाखायां वषट्कृत्यापान्यान्नि- मिषदपानेनैव प्राणं दधाति निमेषेण चक्षुरिति श्रुतम् । वषट्कृत्य प्राण्यादथापान्यादथ निमिषेदिति तु शाखान्तरे । तत्र शाखाभेदेन केषांचिद्विधिद्वयं केषांचिद्विधित्रयमेतदिति प्राप्ते—अपानानार्थवादस्यापाननविध्युत्तरमेव युक्तेऽपि पाठेऽपाननिमेषविध्योरुत्तरमर्थवा- दद्वयश्रवणेन वषट्कृत्येत्यस्य निमिषविधावप्यनुषङ्गप्रतीतेरपाननिमिषयोर्वषट्काराव्यव- हितोत्तरकाल एव प्राप्तौ शाखान्तरे वषट्कारोत्तरं प्राणनस्यैकस्यैव विधिः, इतरयोः क्रमार्थमनुवादः ॥ ४६ ॥

अथाऽऽज्यभागयाज्यापुरोनुवाक्या आह—

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनदित्याग्नेयस्याऽऽज्यभागस्य पुरो- नुवाक्या । त्वꣳ सोमासि सत्पतिरिति सोमस्य वृध- न्वती । अमावास्यायामाग्निः प्रत्नेन जन्मनेत्याग्नेयस्य । सोम गीर्भिष्ट्वा वयमिति सौम्यस्य । समानी याज्ये आ- ज्यभागौ जुषाणा याज्यावेके समामनन्ति ॥ क्रत्याज्या

**वेके । समा(ह)विषावेके । अमूहमित्युत्तरमाहेति विज्ञा-यते ॥ ४६ ॥**

मन्त्रभेदेन चाऽऽज्यभागप्रधानद्वययोरजामित्वम् । प्रधानद्वययोर्जुषाण इत्यस्यासंभवात् । यद्यप्याज्यभागप्रधानयोर्देवतैक्यं तथाऽप्याज्यभागस्यर्चमग्निर्वृत्राणि, त्वꣳ सोमासि, इत्यादिकामनुवाक्यां कृत्वा जुषाणो अग्निराज्यस्य वेतु, जुषाणः सोम इति जुषाणेन यजति सशिरस्कौ मन्त्रौ ( तै० ब्रा० ३-५-६ ) द्रष्टव्यौ । अन्ये शाखान्तरस्था इति ।

ननु जुषाणः ( १६-३-११ ) आज्यभागयोर्जुषाणो अग्न आज्यस्य वेतु । जुषाणः सोम आज्यस्य हविषो वेतु ( तै० ब्रा० ३-५-६ ) इति निगदरूपौ याज्यमन्त्रौ श्रुतौ । ऋग्रूपावेकेषां जुषाणयाज्यौ भवतः । ऋग्याज्यौ भवतः सहविषौ भवतोऽहविषौ भवत इति च विधयः । तत्र ऋग्जुषाणयोर्विलक्षणार्थप्रतिपादकत्वेन कार्यभेदात्समुच्चयः । सहविष्काहविष्कयोस्तु पदमात्रसदसद्भावकृतभेदेऽपि प्रतिपाद्याभेदादुत्तमप्रयाजयाज्यायां हविष्पदस्येव विकल्पः कार्यैक्यादिति प्राप्ते-

अर्थप्रतिपादनरूपद्वारभेदेऽपि मुख्यविशेष्यभूतप्रदानप्रकाशनरूपकार्यैकत्वादृग्जुषाणनिगदयोर्विकल्पः । याज्यावषट्कारयोस्तथात्वेऽपि वाचनिकः समुच्चय इत्युक्तम् । हविष्पदविषये त्वहविःसहविष्पदयोः समिद्वृतन्यायेनोक्तयोरेव निगदयोः प्रयोगसंभवादनुवादमात्रम् । उत्तमप्रयाजे तु शाखान्तरीयं हविष्पदरहितं निगदांशमनूद्याग्न आज्यस्य वियान्त्विति हैक आहुर्न तथा कुर्यादिति निषिद्य ( ध्य ) विनिन्द्य तस्मात्स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा अग्न आज्यस्य हविषो वियन्त्वित्येव ब्रूयादिति निगमनादुदितानुदितहोमवद्विकल्पः । प्रकृते तु हविष इत्युत्तरमाहेति वचनान्तरेण व्यवस्थापनान्न सहविषावहविषा इत्यनयोर्विधित्वम् ॥ ४६ ॥

इत्थमाज्यभागौ निरूप्य तदीये याज्यानुवाक्ये उपरितनस्याऽऽग्नेयस्य प्रधानस्य हविषो याज्यानुवाक्ये च क्रमेणाऽऽह—

**अथ प्रधानानां याज्यानुवाक्या अग्निर्मूर्धा भव इत्याग्नेयस्य प्रजापते सवेदसेत्युपाꣳशुयाजस्य ॥ ४७ ॥**

प्रथमनिर्दिष्टत्वादग्निर्मूर्धेत्येषा पुरोनुवाक्या पश्चान्निर्दिष्टत्वाद्भव इति याज्या । यद्यप्यर्थानुसारेणानुवाक्यायाज्ये भवत इति विधातव्यं तथाऽप्यल्पाच्तरम् ( पा० सू० २-२-३४ ) व्याकरणसूत्रानुसारेण याज्याशब्दस्य पूर्वनिपातो द्रष्टव्यः ।

ननु गायत्री ( ११–३–१२ ) दर्शपूर्णमासप्रकरणे गायत्री पुरोनुवाक्या भवति त्रिष्टुब्याज्या, त्रिपदा पुरोनुवाक्या भवति चतुष्पदा याज्या, पुरस्ताल्लक्ष्मा पुरोनुवाक्या भवत्युपरिष्टाल्लक्ष्मा याज्या, मूर्धन्वती पुरोनुवाक्या भवति नियुत्वती याज्या ( तै० सं० २–६–२ ) इत्येवंजातीयकानि बहूनि वाक्यानि श्रूयन्ते । अग्निर्मूर्धेत्येषर्क्त्रिपदा गायत्री, प्रथमपाद एव देवतापदवती मूर्धपदवती च । भुवो यज्ञस्येति तु चतुष्पदा त्रिष्टुप्, उत्तरार्धदेवतापदवती नियुत्पदवती च । एवमन्या अप्यृचो यथासंभवं वर्तन्ते। तेनैनयोरेव क्रमप्रकरणाभ्यां प्राप्ताङ्गताकयोर्ऋचोः स्तावकानि नित्यानुवादरूपाणि वाक्यानीमानीति प्राप्ते—क्रमादिना तत्तदृच्यक्तित्वस्याङ्गतावच्छेदकत्वेन बोधितस्य बाधेन गायत्रीत्वादिधर्माणामङ्गतावच्छेदकत्वबोधनेन सार्थक्यसंभवेन केवलं नित्यानुवादः । तेन भावनासंस्पर्शेन विवक्षिततयाऽऽर्थिकत्वाभावेन चोदकतस्तेषामप्यतिदेशे यस्यां विकृतावेतद्विरुद्धा ऋच आम्नातास्तत्रोपदेशेनैवातिदेशबाधः । यास्त्वनाम्नातयाज्यानुवाक्याका विकृतयस्तत्र सति संभव आनीयमाना ऋचश्चोदकातिदिष्टधर्मिका एवाऽऽनेया इति सिध्यति । तेन धर्माणां विकृतौ संभवत्समुच्चयो यथायथं बोध्यः ॥ ४७ ॥

**अग्नीषोमा युवमित्यग्नीषोमीयस्यैन्द्राग्नी रोचनादिव श्नथद्वृत्रमित्यैन्द्राग्नस्यैन्द्रसानासि॑ रयिं प्रससाहिष इत्यैन्द्रस्य महा॑ इन्द्रो य ओजसा महा॑ इन्द्रो नृवदिति माहेन्द्रस्य ॥ ४८ ॥**

प्रधानानां याज्यानुवाक्या इत्यनुकर्षः । यद्यैन्द्रं सांनाय्यमिति बौधायनः ॥ ४८ ॥

**पिप्रीहि देवा॑ उशतो यविष्ठ इति स्विष्टकृतः पुरोनुवाक्या ये यजामहेऽग्नि॑ स्विष्टकृतमयाडमुष्यायाडमुष्येति यथोक्तदेवत उपलक्ष्याग्ने यदद्य विशो अध्वरस्य होतारिति यजति ॥ ७॥ ४९ ॥**

अथ स्विष्टकृतः पिप्रीहीति पुरोनुवाक्यामनूच्य ये यजामहेऽग्नि॑ स्विष्टकृतं भूर्भुवः सुवरयाडग्निरग्नेरित्युक्त्वा यथादेवतं निगदमुक्त्वा जातवेदा जुषता॑ हविरग्ने यदद्य विशो अध्वरस्येत्यृचमनूच्य यजतीति वैखानसः ।

ननु गायत्र्यौ ( जै० सू० ११–३–१३ ) दर्शपूर्णमासयोरेव गायत्र्यौ संयाज्ये ब्रह्मवर्चसकामस्य त्रिष्टुभौ वीर्यकामस्येत्यादि श्रुतम् । पिप्रीहि देवानग्ने यदद्येत्यनयोस्त्रिष्टुभोर्नित्यवदाम्नातत्वेन केवलकाम्यप्रायेऽ(प्र योगे) । तयोर्वैशिष्ट्य पाठाभावेन च तादृशा-

वृधावन्ये वीर्यकामस्याऽऽगमयितव्ये इति प्राप्ते—त्रिष्टुप्शब्देनापि द्रव्यवचनेन संनिहितयोर्ऋचोः परामर्शसंभवात् संयोगपृथक्त्वेनोभयार्थता ।

ननु अनुष्टुभावयाट् (१६-३-१४) स्विष्टकृन्निगदे अयाड्देवानामाज्यपानां प्रिया धामानीत्यंशेन प्रयाजदेवता एवाभिधीयन्ते, तासामेवेष्टत्वात् । यदनिष्टाम्य इत्यस्यार्थवादत्वेनाविवक्षितार्थत्वेऽपि मन्त्रस्य तथात्वायोगात् । अयाडिति भूतार्थलकारश्रवणाद्वाक्यगम्यार्थस्य लिङ्गेन बाधादिति प्राप्ते सर्वकालेष्वपि ' छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ' इति विधानदर्शनादिष्टानामनिष्टानामपि स्मरणसंस्कार्यत्वस्याविशेषात्प्रयाजानूयाजदेवतानामुभयासामभिधानम् । अत एव यदयाड्देवानामाज्यपानामिति तत्प्रयाजानूयाजानामिति शाखान्तरीयं वचनं न्यायसिद्धानुवादकमुपपद्यते । तस्मात्प्रयाज उदयनीयेऽपि न तल्लोपः ॥ ७ ॥ ४९ ॥

अथ स्विष्टकृद्यागे गुणान्तरमाह—

**गायत्र्यौ वा संयाज्ये ब्रह्मवर्चसकामस्य कुर्यात् । त्रिष्टुभौ वीर्यकामस्य । जगत्यौ पशुकामस्यानुष्टुभौ प्रतिष्ठाकामस्य पङ्क्त्यौ यज्ञकामस्य विराजावन्नकामस्येति विज्ञायते ॥ ५० ॥**

गायत्र्यावुभे स्विष्टकृद्यागस्य संयाज्ये कुर्यात् । कीदृशोऽधिकारी । ब्रह्मवर्चसं श्रुताध्ययनसंपत्तिः । तस्याप्यधिकारी । संयाज्याशब्दार्थमाश्वलायन आह—'स्विष्टकृतः संयाज्ये इत्युक्ते सौविष्टकृती प्रतीयात् ' इति । स्विष्टकृत्संबन्धिन्यौ याज्यानुवाक्ये इत्यर्थः । फलान्तराय च्छन्दोन्तरं द्रष्टव्यम् ॥ ५० ॥

**अङ्गुलिपर्वणी अवघ्रायाप उपस्पृशति ॥ ५१ ॥**

आज्यसिक्ते अवघ्रायापामुपस्पर्शनं श्रौतम् ॥ ५१ ॥

**अथास्याध्वर्युरन्तरेणाङ्गुष्ठप्रादेशनीं च लेपादुपस्तृणाति स्वयꣳ होता मध्यतो द्विरादत्तेऽध्वर्युर्वाऽन्यतरल्लेपेन चाभिघारिते विनिगृह्णाति चाङ्गुलिभिः ॥ ५२ ॥**

पुरस्तात्प्रत्यङ्ङासीन इडाया होतुर्हस्तेऽवान्तरेडामवद्यत्यध्वर्युः प्रथममवदानमवद्याति स्वयꣳ होतोत्तरमिति वैखानसः । तदिदं होतुरवदानम् 'इडा स्वयमादत्ते, नह्यन्यः' इति (तै० सं० २-६-८) भाष्यकृत् ॥ ५२ ॥

**विज्ञायते च न प्रसृतꣳ हस्तं धारयेद्यत्प्रसृतꣳ हस्तं धारयेत्प्रभ्रꣳशुका अस्मात्पशवः स्युः ॥ ५३ ॥**

प्रसृतहस्तधारणनिषेधार्थोऽयं श्रुत्यर्थः ॥ ५३ ॥

**अभिनिगृह्यैवाऽऽसीताथेडामुपह्वयते ॥ ५४ ॥**

इडाशब्देन गोशरीरधारिणी देवतोच्यते । तस्या उपह्वानमिडोपहूतेत्यादिवाक्येन कुर्यात् ॥ ५४ ॥

**मुखेन संमितोपहूतꣳ रथंतरमित्युपाꣳशूक्त्वोपहूताꣳ हो इत्यत उच्चैरितरत् ॥ ५५ ॥**

तदिदं स्पष्टं बौधायनो दर्शयति । उक्ता इडाया जपास्तानुपाꣳशूक्त्वोच्चैरुपह्वयत उपहूतेडेति प्रतीचीमिडोपहूतेति पराचीम्, इति । अस्यार्थः–गोशरीररूपाया इडाया देव्या जपा वेदे स्पष्टं प्रोक्ता उपहूतꣳ रथंतरमित्येवमारभ्योपहूताꣳ ३ हो इत्येवमन्ताः । तान्मन्त्रानुपांशु जपेत् । तत ऊर्ध्वमिडोपहूतेत्यादिकमुच्चैः पठेत् । उपहूतशब्दस्य प्रथमप्रयोगे इडा प्रतीचीनमुखा भवति । चरमप्रयोगे पराचीनमुखेत्युच्यत इति ॥ ५५ ॥

**यं कामयेतापशुः स्यादिति पराचीं तस्येडामुपह्वयते । यं कामयेत पशुमान्स्यादिति प्रतीचीं तस्येडामुपह्वयत । इडोपहूतोपहूतेडेति तत्प्रतीच्योपहूयमानायाम् ॥ ५६ ॥**

ननु-पराचीम् ( जै० सू० १३-३-१८ ) इडामेव प्रकृत्य यं कामयेतापशुः स्यादिति पराचीं तस्येडामुपह्वयते । यं कामयेत पशुमान्स्यादिति प्रतीचीं तस्येडामुपह्वयत इति श्रुतौ प्रत्यक्छब्देन प्रत्यङ्मुखता कर्तुरुच्यते । एवं पराक्शब्दोऽपि स मुखं प्रत्युपह्वयत इति वचनान्तरादिति प्राप्ते—

अभ्यासानभ्यासवचनावेतौ शब्दौ । पराचीः सामिधेनीरन्वाह पराक्बहिष्पवमानेन स्तुवत इति प्रयोगात् । यदिडोपहूतेति तत्पराची यदुपहूतेडेति तत्प्रतीचीत्याम्नानाच्च । अभ्यासस्तु इडोपहूतोपहूतेत्येक इत्यादिनाऽनेकविधो यः प्रतीयते तस्यायं प्रतिषेधः । मुखं प्रतीति तु मुखसंमितामवस्थापयेदित्यर्थकम् । इष्टकानां तु मुखासंभवादशब्दत्वाच्च कर्तृमुखवाद एवाऽऽश्रितः ॥ ५६ ॥

इडाभागप्राशनमन्त्रावाह—

अवान्तरेडां प्राश्नाति वाचस्पतये त्वा हुतं प्राश्नामि सदसस्पतये त्वा हुतं प्राश्नामीति ।।५७।।

यद्धोता प्राश्नीयात् ( तै० सं० २-६-८ ) इति ब्राह्मणे भक्षणं प्रशंसति ॥९७॥

चतुर्धा कर्णिकानां होतृभागं प्राश्नाति पृथिव्यै भागोऽसीति ।। ५८ ।।

स्वीयभागं प्राश्नाति होता मन्त्रेण ।। ९८ ।।

अन्वाहार्यं प्रतिगृह्य प्रत्येत्यानूयाजादि प्रतिपद्यते ।। ५९ ।।

देवस्य त्वा० राजा त्वा० इत्यादिभिः प्रतिगृह्य स्वस्थानं प्रत्यागत्येत्यर्थः ।। ९९ ।।

नानूयाजेषु ये यजामहं करोति ।। ६० ।।

आगूर्याज्यादिरनुयाजवर्जम् ( आश्व० श्रौ० १-५-४ ) इत्याश्वलायनीयेऽपि निषेधात्कोऽयमागूरित्याहाऽऽश्वलायनः—ये ३ यजामह इत्यागूः ( आश्व० श्रौ० १-५-५ ) इति । अनूयाजेष्विति सर्वत्र वचनम् ।। ६० ।।

व्याहृतिभिरेव प्रतिपद्यते ।। ६१ ।।

भूर्भुवः सुवर्देवं बर्हिरित्यादि ।। ६१ ।।

देवान्यजेति संप्रेषिते ।। ८ ।। देवं बर्हिर्वसुवने वसुधे यस्य वेत्त्विति यजति । देवो नराशꣳसो वसुवने वसुधे यस्य वेत्त्विति द्वितीयम् । देवो अग्निः स्विष्टकृदित्यनवानमुत्तममनूयाजं यजत्यमत्सते वा समत इति विज्ञायते ।। ६२ ।।

देवानिति बहुवचनान्तेन देवशब्देनाध्वर्युः प्रेष्यति, न बर्हिर्यजेत्यादिना । होताऽपि सर्वत्र व्याहृतिभिरेवोक्त्वा देवमिति प्रथमो बर्हिर्यागः, द्वितीयो नराशंसयागः, तृतीयस्तु स्विष्टकृदग्नियागः, इति क्रमो ज्ञेयः, अमत्सते वेत्यत्रावसाय वाऽनवसाय वा यजेत् ।

ननु—अनवानम् ( जै० सू० ११-३-१५ ) अनुयाजान्प्रकृत्यानवानं यजतीति

श्रुतम् । शाखान्तरे चोत्तमेनावान्यादिति श्रूयते । तत्रानुयाजत्रयसामान्येन प्राप्तस्यानवानस्योत्तम उपसंहार इति प्राप्ते—

उत्तम इति वाक्यस्यानुवादकत्वेन विशेषविधित्वाभावान्नोपसंहारकत्वम् । सूत्रेऽप्यनुवादपदमनुवर्तयितव्यमिति भाष्यकारः । बर्हिर्नराशंसयाज्ययोरल्पाक्षरत्वेन तावन्मध्येऽनवानस्य कादाचित्कत्वेन प्राप्तावनवानोच्चारणं नियम्यते । स्विष्टकृदनुयाजयाज्यायास्त्वतिदीर्घत्वान्मध्येऽनवानं नित्यमेव प्रसक्तमतस्तस्य प्रतिषेधः । तेनानयोर्भिन्नविषयत्वाद्विधिप्रतिषेधरूपत्वाच्च नैकेनान्यस्योपसंहारः । एवं सत्यपि प्राणाभ्यासशालिनो दीर्घयाज्याया मपि कदाचिदनवानस्याप्राप्तिरप्यस्तीत्येतावन्मात्रेण पाक्षिकीं प्राप्तिमादाय परिधौ पशून्नियुञ्जीत, इति विधेरिव नियमविधित्वं तृतीयानूयाजांशेऽपि संभवन्न निरसितुं शक्यम् । अत एव सकृदवान्यादेवमप्यनवानमिति न्यायसिद्धस्यैव गौणानवानस्य कण्ठतोऽनुवादेनानवानं यजतीति विधिगतानवानपदं गौणमुख्यसाधारण्येन व्याचक्षाणा श्रुतिरनूयाजत्रयविषयकत्वं विधेरनुमन्यते । अतस्तेनैव सिद्धौ प्रतिषेधोऽनुवादत्वान्नोपसंहारक्षम इत्याशयः ॥ ६२ ॥

**सूक्ता ब्रूहीति संप्रेषित इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूदिति सूक्तवाकं प्रतिपद्यते । सूक्तवाके यथोक्तदेवता उपलक्षयति । उपाꣳशुयाजे जुषतावीवृधेताकृतेत्युपांशूच्चैरितरत् ॥ ६३ ॥**

यदा जानाति सूक्ता ब्रूहीति तदा सूक्तवाकमन्वाहेदं द्यावापृथिवी इत्यारभते ॥६३॥

**आशास्तेऽयं यजमानोऽसाविति यजमानस्य नामनी गृह्णाति । तृतीयꣳ सोमयाजिनः ॥६४॥**

असाविति नाम निर्दिशेत् । यद्वा—असावसावित्यत्र यजमाननामनी प्रथमया विभक्त्या निर्दिशेत् । सांव्यवहारिकं नाक्षत्रं तृतीयं च सोमयाजिनः । होतुर्गुरुश्चेद्यजमानः स्यात्तत्संनिधावुपांशु नामनी ब्रूयात्तथाचाऽऽहाऽऽश्वलायनः—उपांशु संनिधौ गुरोः ( आश्व० श्रौ० १-९-९ ) इति ।

ननु—यन्न निर्दिशेत् ( ११-३-२१ ) आशास्तेऽयं यजमानोऽसाविति यजमाननामनिर्देशस्य विधिनिषेधाभ्यां षोडा( पुरोडा )शं प्रकृत्य यन्न निर्दिशेत्प्रतिवेशं यज्ञस्याऽऽशीर्गच्छेद्यजमानोऽसाविति निर्दिश्यैवैनं सुवर्गं लोकं गमयति ( तै० सं० २-६-९ ) इति श्रुतौ नामनिर्देशस्य विधिनिषेधाभ्यां षोडशिन इव विकल्पे प्राप्ते—

---

१ 'ध्येऽवानस्य । २ तत्राऽऽह्राऽऽ' ।

यन्न निर्दिशेदित्ययं नित्यानुवादः । अनिर्देशस्यैवोत्तरत्र निन्दितत्वात् । अनिर्देशस्य प्रापकान्तराभावात् । अतो नित्यं निर्देशः ।

ननु—नामनी गृह्णीयान्नाम गृह्णीयादिति च श्रुतम् । यजमानस्यामुकत्वेन ज्ञापनार्थत्वाद्बहुनामशालिनोऽपि यत्किंचिदेकं नाम ग्राह्यमतो विधौ बहुत्वमविवक्षितमिति प्राप्ते—द्व्यक्षरचतुरक्षरनामानि कुर्यादिति विधाय सोमयाजी तृतीयं नाम कुर्वीत, इति बहुनामविधेः सोमयाजिपरत्वेनोपसंहारादितरेषां द्वे एव नामनी इति स्थितिः । एतेषां च विधीनां वैयर्थ्यापत्तेर्नामानीत्येक एव विवक्षितसंख्यो विधिः । एकवचनघटितस्त्ववयुत्यानुवादः । एतद्द्वयादेवासोमयाजिनामपि यज्ञकाम इति तृतीयं नामेति केचित् । नामानीत्यस्यैकत्वातिरिक्तसंख्यापरत्वेन सुव्याख्यत्वान्न यज्ञकामपदे प्रमाणमिति भाष्याशयः ॥ ६४ ॥

शंयोर्ब्रूहीति संप्रेषिते तच्छंयोरावृणीमह इति शंयुवाकं प्रतिपद्यते ॥ ६५ ॥

अनुवाक्यावदप्रणवम् ( आ० श्रौ० १–१०–१ ) इत्याश्वलायनः, अनुवाक्यावद्वचनमैकश्रुत्यप्रापणार्थम् । अप्रणवमिति प्रणवो निषिध्यते । चतुष्पद इत्यन्तः ॥ ६५ ॥

उक्त्वा शंयुवाक्ँ हविःशेषान्प्राश्नाति ॥ ६६ ॥

इतरैः सह ॥ ६६ ॥

पत्नीसंयाजेषु वेदमादाय प्रत्यङ्ङेत्यापरेण गार्हपत्यमुपविश्य पत्नीः संयाजयति । उपाꣳशुध्वानेन वाऽऽप्यायस्व सं त इति सोमस्येह त्वष्टारमग्रियं तन्नस्तुरीपमिति त्वष्टू राकामहं यास्ते राक इति राकायाः सिनीवालि या सुपाणिरिति सिनीवाल्याः कुहूमहं कुहूर्देवानामिति कुह्वोः । देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु न उतग्नावियन्तु देवपत्नीरिति देवानां पत्नीनामग्निर्होता गृहपतिर्वेयमु त्वा गृहपते जनानामित्यग्नेर्गृहपतेः ॥ ६७ ॥

स्वयमेव तूष्णीं वेदमादाय गार्हपत्यात्प्रङ्ङेत्याऽऽगत्योर्ध्वज्ञुरुपविशेत् । प्राङ्मुख इति वैखानसः । सह देवताः ( तानां ) क्रमेण याज्यानुवाक्या इत्यर्थः ।

१ नामानि इति पाठः ।

नन्वुपांशु (जै०सू० ११–३–११) पत्नीसंयाजेषूपांशुयाजे चोपांशु यजतीति विहितमुपांशुत्वं साक्षाद्यागेऽसंभवात्तदङ्गमन्त्रेष्वविशेषात्सर्वेषु निविशत इति प्राप्ते—प्रैषार्थादिप्रतिपत्त्यर्थत्वेनाऽऽश्रुतप्रत्याश्रुतप्रणववषट्कारादिभिन्नमन्त्रेष्वेव वस्तुसामर्थ्यादुपांशुत्वम् ॥ ६७ ॥

अक्ते अङ्गुलिपर्वणी अवघ्रायाप उपस्पृशति ॥ ६८ ॥

गतः ॥ ६८ ॥

आज्येडामुपह्वयते यथा समाम्नातः ॥ ६९ ॥

उपहूतꣳ रथंतरमित्यारभ्य विश्वस्य प्रियस्योपहूतस्योपहूता, ( तै० ब्रा० ३–५–११ ) इत्यन्तोत्तरमिडामुपह्वयते यथासमाम्नातमिति सूत्रकारवचनाच्च । पर्वाञ्जनाद्युपह्वानान्तं कार्यम् । नाम्नावान्तरेडा । पाणितलस्थमाज्यमिडेत्युच्यते । ततः सर्वा प्राश्नीयादित्युच्यते ।

नन्वाज्येडा ( जै० सू० ११–३–१७ ) औषधेडाया इव आज्येडाया अपि प्रकरणे पाठात् प्राकरणिकसर्वयागानामाज्यसापेक्षत्वेन तत्संस्कारकत्वात्तद्द्वारेयं सर्वेषामङ्गमिति प्राप्ते—येनाऽऽज्येन पत्नीसंयाजा इष्टास्तच्छेषेणैवाऽऽज्येडायाः कथनात्तस्यैवाऽऽज्यसंस्कारद्वारा पत्नीसंयाजमात्राङ्गत्वम् । एवमौषधेडाऽप्याग्नेयादीनामेव । तेन शंय्विडान्तेषु नाऽऽज्येडा ॥ ६९ ॥

ऊर्ध्वं पिष्टलेपफलीकरणहोमाभ्यां वेदोऽसि वित्तिरसीति वेदं पत्न्यै प्रयच्छति ॥ ७० ॥

गतः । सनेयमिति मन्त्रान्तः ॥ ७० ॥

वेदोऽसि वेदसे त्वा वेदो मे विन्देति वा ॥ ७१ ॥

प्रदाने मन्त्रो वैकल्पिकः ॥ ७१ ॥

घृतवन्तं कुलायिनमिति वेदꣳ होता स्तृणन्नेति गार्हपत्यात्संततमाहवनीयात् ॥ ७२ ॥

गतार्थः । वाजिनमित्यन्तः ॥ ७२ ॥

यथेतं प्रतिनिष्क्रामति ॥ ७३ ॥

गतम् । अयाडग्निरिति समिधमाधाय हुत्वोपस्थाय यथार्थं गच्छतीति वैखानसे, भोक्तम् ॥ ७३ ॥

संतिष्ठते दर्शपूर्णमासयोर्हौत्रम् ॥ ९ ॥ ७४ ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिसूत्र एकविंशतिप्रश्ने द्वितीयः पटलः।

---

नन्वाचार्यैः स्वशाखोक्त(प)लब्धं याजुषहौत्रं स्वकल्पसूत्रे तत्र तत्र सम्यग्विशदीकृत्य प्रयुज्य (पारिभाषायां) पुनः—ऋग्वेदेन होता करोतीत्यप्युक्तं तदर्थं चिन्त्यते। याजुषं हौत्रं कर्तव्यं न कर्तव्यं वेत्यत्र पूर्वपक्षयति ऋग्वेदेन होता करोतीत्याचार्यः। अकृत्स्नत्वाद्धौत्रस्येत्याश्वलायनः । प्रकृतौ प्रयोगे प्रयुक्ते विकृतौ शाखान्तरमपेक्षते, ततः प्रयोगवैलक्षण्यसंभवः। तस्माद्याजुर्वैदिकं हौत्रं न कर्तव्यम्।

अत्रोच्यते—ऋग्वेदेन होता करोतीति सत्याषाढवचनं तु तद्बह्वृचच्छन्दोगयजमानपरम् । कुतः—आध्वरसूत्रे परिगृहीते कृत्स्नस्य श्रौतसूत्रस्य प्राप्तेर्हौत्रांशस्यापि प्राप्तौ शङ्का स्यात्। बह्वृचास्तु स्वीयं सूत्रं विधायकं मत्वाऽऽध्वरसूत्रोक्तं हौत्रं नाङ्गीकरिष्यन्ति ब्रह्मवत्। छन्दोगस्तु हौत्रार्थं सूत्रान्तरं परिग्रहीष्यमाणस्य मम येन केनापि सूत्रेण हौत्रं करोत्विति वदिष्यति । तस्यानेन हौत्रेणानुष्ठातुमशक्यत्वात्। अकृत्स्नप्रयोगो मा भूदिति तन्नियमार्थमिदं सूत्रमारब्धम्—ऋग्वेदेन, इति न स्वशाखीयनिषेधार्थम्। एतदर्थमेवाऽऽश्वलायनोऽप्यकृत्स्नत्वाद्धौत्रस्येत्यवदत्। छान्दोग्ये क्वचिद्धौत्राम्नानात्। आश्वलायनवचनं तु न निन्दा निन्दितुमिति न्यायात्प्राशस्त्यपरमेवास्तु । याजुषाणां प्राकृतहौत्रमारभ्य निरूढपशुसौत्रामणीचातुर्मास्यकाम्येष्टिकाम्यपशूनामाग्निकानां च यावदिष्टिपशूनां हौत्रस्य कृत्स्नाम्नानमस्ति तद्वेषु कर्मसु हौत्रं सिद्धम्।

विकृतिषु का गतिरित्युक्ते ऋग्वेदेन होता करोतीत्यनेनैव सूत्रेण परिग्रहः प्रसज्यते। अत्र प्रयोगवैलक्षण्यरूपं दूषणं दत्तं चेत्तद्दूषणं बह्वृचानामप्यस्ति। कौकिलीनक्षत्रेष्टिस्वर्गसत्रमृगाराश्वमेधाप्रीसूक्तादिषु परिग्रहप्रसङ्गात्। कौकिली स्वतन्त्रभूता, आद्या त्वङ्गभूता कौकिल्येव संस्थान्तर्गता विकृतिष्वपि यत्र यत्रास्मच्छखासूत्रोक्तं हौत्रमस्ति तत्र तत्र कुर्महे कृत्स्नं च तन्त्रम्। उपदेशादितराणीत्यापस्तम्बवचनात्। अनुवचनाभिष्टवशस्त्रनिविदसौमिकयाज्याश्च वैशेषिकं तन्त्रं च परिग्रहीष्यामः। कुतः—आध्वरसूत्रेषु उत्तरक्रतुष्वपि तत्र तत्र हौत्रप्रयोगसूचनात्। हौत्रस्य मिश्रतन्त्रतैवास्तु। अस्माभिः प्राकृतं हौत्रमृचैव क्रियते न यजुषा। एतदर्थं तु प्रस्तुत्य कैश्चिदाचार्यैर्ऋचा हौत्रं कर्तव्यमिति सम्यगुक्तम्।

सोमे कुतो भवदीयं हौत्रमस्तीत्युक्ते तान्युदाह्रियमाण ( हरिष्यामः ) दीक्षणीयेष्टौ, अग्निरग्रे प्रथमो देवतानामिति याज्यानुवाक्यानां याः प्रायणीयस्य पुरोनुवाक्यास्ता,

उदयनीयस्य याज्याः करोतीति ब्राह्मणम् । त्रिष्टुभः सतीर्गायत्रीरिवान्वाह धर्माभिष्टवे तिस्र एव सामिधेनीरनूच्येत्युपसत्सु याः प्रातर्याज्याः स्युस्ताः सायं पुरोनुवाक्याः कुर्यादिति ब्राह्मणम् । तथा च सूत्रम्—नव सामिधेनीरन्वाह तिस्र ऋचस्त्रिरनूक्ता भवन्ति नव वा पराचीरिति विधानान्तरम् । प्रातरनुवाके सर्वाणि च्छदाꣳस्यन्वाह गायत्रिया तेजस्कामस्य परिदधा(ध्या)त्त्रिष्टुभेन्द्रियकामस्य जगत्या पशुकामस्यानुष्टुभा प्रतिष्ठाकामस्य पङ्क्त्याः यज्ञकामस्य विराजाऽन्नकामस्येति काम्यविधानम् । अध्वर्यो वेरपा३ इति होताऽध्वर्युं त्रिः पृच्छति द्विदेवत्यग्रहग्रहणे मयि वसुरिति ग्रहꣳ होत्रे प्रयच्छति तेनैव होता प्रतिगृह्य दक्षिण ऊरावासाद्य हस्ताभ्यां निगृह्याऽऽस्त इति सूत्रम् । ऐतरेयब्राह्मणेऽपि येनैव यजुषाऽध्वर्युः पृच्छति तेन होता प्रतिगृह्णाति प्रस्थितयागान्तेऽयाडग्नीदित्युक्ते सभद्रमकर्यो निःसोमं पाययिष्यतीति होता प्रत्याह । एतदाद्युदाहरणानि भूयांसि वर्तन्ते । विस्तरभयान्नेह प्रपञ्चितानीति दिक् ।

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिसूत्रव्याख्याया महादेवशास्त्रिसंकलितायां प्रयोगचन्द्रिकायामेकविंशप्रश्ने द्वितीयः पटलः ।

## अथैकविंशप्रश्ने तृतीयः पटलः ।

अथ गोत्रप्रवरनिर्णयः । तत्र बौधायनः—विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः । अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्त ऋषयः । सप्तानामृषीणामगस्त्याष्टमानां यदपत्यं तद्गोत्रमित्याचक्षत इति । अत्रापत्यपदं केवलपुत्रापत्यपरं न भवति किंतु पौत्रादिपरामिति (मपि) । अत एव पाणिनिः—अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ( पा० सू० ४–१–१६२ ) इत्याह ।

ननु केवलभृगुगणेषु यस्कादिषु केवलाङ्गिरोगणेषु हरितादिषु च सप्तर्ष्यपत्यत्वाभावाद्गोत्रत्वं न स्यादिति चेन्न । एक एव ऋषिर्यावत्प्रवरेष्वनुवर्तते । तावत्समानगोत्रत्वमन्यत्र भृग्वङ्गिरसां गणात् ॥ इति बौधायनोक्तपर्युदासानुपपत्त्या तत्सिद्धेः । प्राप्तिसंभावनायां हि पर्युदासो भवति । यथा यजतिषु ये यजामहं करोति इति सामान्यवाक्यादनूयाजेषु ये यजामहप्राप्तिसंभावनायां नानूयाजेष्वित्येननानूयाजव्यतिरिक्तेष्वित्येवं पर्युदासः क्रियते तथाऽत्रापीति । सप्तानामृषीणामगस्त्याष्टमानां यदपत्यं तद्गोत्रम्, इति सूत्रं तु ( न ) लक्षणप्रदर्शकं किं तु अयोगव्यावृत्तिमात्रप्रदर्शकमिति न पूर्वोत्तरसूत्रविरोधः । अत एव विज्ञानेश्वरमाधवमदनपारिजातादिषु गोत्रं वंशपरम्पराप्रसिद्धमित्युक्तम् ।

उक्तं च भट्टपादैरपि —समानेऽपि ब्राह्मण्ये कुण्डिनोऽत्रिरिति स्मरणलक्षणं गोत्रम् ' इति । एवं च यत्राभियुक्तानां गोत्रत्वप्रसिद्धिस्तद्गोत्रमित्येव निर्दुष्टं गोत्रलक्षणं मन्त्रत्वादिवत्सिद्धं भवति । एतेन वसिष्ठादीना गोत्रत्वानुपपत्तिः । अस्मदादीनां परम्परया तदपत्यत्वेन गोत्रत्वापत्तिश्च परिहृता भवति । यानाधिकृत्य प्रवरा आम्नातास्तादृशा गणा ऊनपञ्चाशत् । तथा च बौधायनः—'गोत्राणां तु सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च । ऊनपञ्चाशदेवैषां प्रवरा ऋषिदर्शनात् ' इति । अथ प्रवरसूत्रं प्रदर्श्यते । तत्र प्रतिज्ञासूत्रम्—

प्रवरान्व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

एतच्च प्रतिज्ञानमग्निमाणां भार्गवच्यावनाप्नवानौर्वजामदग्न्येत्यादीनां प्रवर इति संज्ञासिद्ध्यर्थम् । प्रव्रियन्तेऽग्नेर्विशेषणत्वेनोत्कीर्त्यन्त इति प्रवराः । तान्व्याख्यास्यामः, एकत्र संगृह्य कथयिष्यामः । अग्नेर्विशेषणत्वेनोत्कीर्तनं तु अग्ने महाꣳ असि ब्राह्मण भारत ' ( तै० ब्रा० ३–५–३ ) इत्यादीष्टिमन्त्रेषु प्रतिपादितम् । विवाहे उत्कीर्तनं तु स्वविशेषणत्वेनैव । अन्यस्यासंभावात् । विवाह आर्षगोत्रोच्चारणं तु वाचनिकं, तच्च सप्रवरत्वसगोत्रत्वशङ्कानिवारणार्थमदृष्टार्थं च भवति । शान्त्यादिकर्मसु तु वाचनिकं कुत्रचित् । कुत्रचिदाचारप्राप्तम् ॥ १ ॥

प्रवरणं कर्तव्यमित्यस्मिन्नर्थे श्रुतिं प्रदर्शयति—

आर्षेयं वृणीते बन्धोरेव नैत्यथो संतत्या इति विज्ञायते ॥ २ ॥

आर्षेयमृषेरपत्यमाहवनीयमग्निं यजमानेनोत्पादितत्वाद्यजमानस्यर्षिसंतानत्वात्तं वृणीते प्रार्थयते तद्गोत्रत्वायेति । एवं सति बन्धोरेव नैति पूर्वर्षिसंबन्धान्न च्यवते । अथो अपि च संतत्यै पूर्वेषां पूर्वजानामात्मनश्च संतानायेति विज्ञायते श्रुतिरिति शेषः ॥ २ ॥

देवैर्मनुष्यैश्चाऽऽर्षेयवरणं न कर्तव्यं किंतु ऋषिभिरेवेत्येतदर्थे श्रुतिं दर्शयति—

न देवैर्मनुष्यैरार्षेयं वृणीत ऋषिभिरेवाऽऽर्षेयं वृणीत इति विज्ञायते ॥ ३ ॥

न देवैः प्र(प्रा)जापत्यादिभिरार्षेयं वृणीते न वा मनुष्यैर्विद्वद्भिर्देवदत्तादिभिरार्षेयं वृणीते किंतु ऋषिभिर्वसिष्ठादिभिर्मन्त्रदृग्भिरेवाऽऽर्षेयं वृणीत इति विज्ञायते श्रुतिरिति शेषः ॥ ३ ॥

आर्षेयोच्चारणकर्तव्यताविषये श्रुतिं दर्शयति—

आर्षेयमन्वाचष्ट ऋषिणा हि देवाः पुरुषमनुबध्यन्त इति विज्ञायते ॥ ४ ॥

आर्षेयमन्वाचष्टे । कस्मात् । ऋषिणा पूर्वजेन कीर्तितेन देवप्रसिद्धेन तदपत्यं पुरुषं देवा अनुबुध्यन्ते भोज्यान्नोऽयं तदपत्यत्वादिति जानन्ति हीत्यर्थः ॥ ४ ॥

स्वस्याऽऽर्षेयवरणं परित्यज्यान्यस्याऽऽर्षेयवरणे दोष इत्येतदर्थे श्रुतिं दर्शयति—

**यो वा अन्यः सन्नन्यस्याऽऽर्षेयं वृणीते स वा अस्य तदृषिरिष्टं वीतं वृङ्क्त इति विज्ञायते ॥५॥**

यो वै यजमानोऽन्यगोत्रः सन्नन्यगोत्रस्याऽऽर्षेयेण प्रवृणीते स वै स एव ऋषिरस्य यजमानस्य तदिष्टं यागफलं वीतं ब्राह्मणतर्पणादिफलं वृङ्क्ते गृह्णातीत्यर्थः ॥ ५ ॥

आर्षेयसंख्यानियमार्थिकां चतुर्वरणपञ्चातिप्रवरणनिषेधिकां च श्रुतिं दर्शयति—

**एकं वृणीते द्वौ वृणीते त्रीन्वृणीते न चतुरो वृणीते न पञ्चातिप्रवृणीत इति विज्ञायते ॥ ६ ॥**

एकमार्षेयं वृणीते, एकमृषिं संकीर्त्य तदपत्यमग्निं वृणीते । तथा द्वौ वृणीते त्रीन्वृणीत इत्यत्रापि । चतुरो न वृणीते पञ्चातीत्य षडादीन्न वृणीत इत्यर्थः । आत्मीयानामृषीणां बहूनामनियमेन वरणप्राप्तौ सत्यामेकं वृणीत इत्यादयः संख्यानियमविधयः । न चतुरो वृणीते न पञ्चातिप्रवृणीत इत्येतद्द्व्यामुष्यायणविषयम् । द्व्यामुष्यायणस्य गोत्रद्वयस्यापि द्व्यार्षेये चतुर्णां वरणप्रसक्तिः । त्र्यार्षेये तु षण्णां पञ्चार्षेयत्वे द्व्यार्षेयादिसंनिपाते सप्तादीनामपि वरणप्रसक्तिः ।

तन्निषेधार्थमुक्तम्—' न चतुरो वृणीते, न पञ्चातिप्रवृणीते ' इति । ' त्रीन्वृणीते मन्त्रकृतो वृणीते यथर्षि मन्त्रकृतो वृणीते ' इति श्रुतिमनुसृत्य प्रवृत्ते—' अन्यार्षेयस्य हानं स्यादधिकारात् ' ( जै० सू० ६–१–११ ) इत्यस्मिन्नधिकरणे मीमांसकास्तु त्रीन्वृणीत इत्ययमेव विधिः । एकं वृणीते द्वौ वृणीत इत्युभयमवयुत्यानुवादः । अन्यथा वाक्यभेदापत्तेः । न च त्रीन्वृणीत इत्यत्रापि वाक्यभेदतादवस्थ्याद्विधित्वासंभव इति वाच्यम् । विशिष्टविधाने वाक्यभेदाभावेन विधित्वसंभवात् । स्तुत्यर्थोऽयमेकं वृणीत इत्यादिरनुवादः । एकवरणाद्द्विवरणे अप्रशस्ते अपि यदा कर्तव्ये तदा त्रिवरणस्य प्रशस्तस्य कर्तव्यत्वं किमु वक्तव्यमिति स्तुतिः । चतुर्थनिषेधपञ्चातिक्रमनिषेधाभ्यामपि त्रित्वमेव स्तूयते । न च तयोर्निषेधो विधातव्यः । प्रसक्त्यभावादेव तदप्रवृत्तेः । चतुरादयोऽत्यन्तविलम्बकारित्वादप्रशस्ताः । त्रित्वं तु न तथेति प्रशस्तम् । तस्मात्कर्मण्यधिकुर्वन्यजमानस्त्रीनेवोच्चारयेन्न न्यूनं नाप्यधिकमिति तात्पर्यार्थ इत्याहुः ।

एकार्षेयादीनामपि मनुवत्पक्षाश्रयणेनाविकार इति तन्त्ररत्ने । 'असमानार्षगोत्रजाम्' इति याज्ञवल्क्योक्तमविवाहप्रयोजकं समानप्रवरत्वापरपर्यायं समानार्षत्वं द्विविधमेकप्रवर-

साम्यं द्वित्रिप्रवरसाम्यं चेति । तत्राऽऽद्यं भृग्वङ्गिरोगणव्यतिरिक्तेषु । द्वितीयं भृग्वङ्गिरोगणेषु । तत्र पञ्चप्रवराणां त्रिप्रवरसाम्यं त्रिप्रवराणां द्विप्रवरसाम्यमविवाहप्रयोजकमिति मन्तव्यम् । 'पञ्चानां त्रिषु सामान्यादविवाहस्त्रिषु द्वयोः । भृग्वङ्गिरोगणेष्वेवं शेषेष्वेकोऽपि वारयेत्' इति वचनात् । शेषेष्वेकोऽपि प्रवरः समानश्चेत्तद्विवाहं वारयेदित्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ प्रवरगणना । तत्राऽऽदौ भृगवः—

भृगूनेवाग्रे व्याख्यास्यामः ॥ जामदग्न्या वत्सास्तेषां पञ्चार्षेयो भार्गवच्यावनाप्नवानौर्वजामदग्न्येति जमदग्निवदूर्ववदप्नवानवच्च्यवनवद्भृगुवदिति त्र्यार्षेयमु हैके भार्गवौर्वजामदग्न्येति जमदग्निवदूर्ववद्भृगुवदित्येष एवाविकृतो जामाल्यैतिशायनविरोहितमाण्डव्यावटमण्डुबैदरेतवाहप्राचीनयोग्यानामथाऽऽर्ष्टिषेणानां पञ्चार्षेयो भार्गवच्यावनाप्नवानार्ष्टिषेणानूपेत्यनूपवदार्ष्टिषेणवदप्नवानवच्च्यवनवद्भृगुवदिति । त्र्यार्षेयमु हैके भार्गवार्ष्टिषेणानूपेत्यनूपवदार्ष्टिषेणवद्भृगुवदिति ॥ अथ वीतहव्या यास्कवाधूलमौनमौकरजातवाहास्तेषां त्र्यार्षेयो भार्गववैतहव्यसावेदसेति सवेदोवद्वीतहव्यवद्भृगुवदिति ॥ अथ वैन्याः पार्थास्तेषां त्र्यार्षेयो भार्गववैन्यपार्थेति पृथुवद्वेनवद्भृगुवदिति ॥ अथ गार्त्समदाः शुनकास्तेषामेकार्षेयो गार्त्समदेति होता गृत्समदवदित्यध्वर्युः । अथ वाध्र्यश्वा मित्रयुवस्तेषामेकार्षेयो वाध्र्यश्वेति होता वध्र्यश्ववदित्यध्वर्युः ॥ १० ॥ ७ ॥

एवकार इतरेषां व्यावृत्त्यर्थः । अग्र आदौ व्याख्यास्यामो वक्ष्यामः । प्राधान्यादिति शेषः । भृगोः प्राधान्यं तु 'महर्षीणां भृगुरहम्' इति भगवद्वाक्यान्मोक्षधर्मेषु भृगोर्वासुदेवांशताश्रवणादाधानमन्त्रेषु भृगूणामेवाऽऽदौ पार्थक्येन मन्त्रकथनाच्च ।

अथवा—एवकारोऽग्रशब्देनान्वेति । अग्र आदावेव ये भृगुत्वं प्राप्ता भृगवस्तान्वक्ष्यामः । न द्व्यामुष्यायणत्वेन पश्चाद्भृगुत्वमापन्नानिति । द्व्यामुष्यायणानामुत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात् ।

जामदग्न्या वत्सा इत्यत्र वत्सानां जामदग्न्या इति विशेषणमजामदग्न्यवत्सनिराकरणार्थं पञ्चावत्तित्वप्राप्त्यर्थं जामदग्न्याप्रीप्राप्त्यर्थं च । तेषां जामदग्न्यवत्सानां पञ्चार्षेयः प्रवरः, भार्गवच्यावनाप्नवानौर्वजामदग्न्येति । अयं च होतुरमुतोऽर्वाञ्चो होतेति वचनात् । अमुतो मूलभूतादृषेराररभ्यार्वाञ्चोऽर्वाग्जातान्मन्त्रदृशः । क्रमेण तदपत्यसंबन्धेन प्रार्थयते तमग्निमित्यर्थः । जमदग्निवदुर्ववदप्नवानवच्च्यावनवद्भृगुवदित्ययं प्रवरोऽध्वर्योरत ऊर्ध्वान्मन्त्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीत इति वचनात् । अतो यजमानादूर्ध्वान्मन्त्रदृग्भिरव्यवहितानां मूलभूतान्दृष्टक्रमेण संकीर्त्य तद्वत्तद्वदिति सादृश्यसंबन्धेनाग्निं वृणीते प्रार्थयत इत्यर्थः । एष एव प्रवरक्रमविशेषो होतुरध्वर्योश्चाऽऽध्यायपरिसमाप्तेः सर्वत्रोपदेष्टव्यः । त्र्यार्षेयमु हैके ब्रुवत इति शेषः । त्र्यार्षेयं प्रवरमेक आचार्या ब्रुवत इत्यर्थः । उ हेति निपातोऽवधारणार्थो वाक्यालंकारार्थो वा । तं प्रवरं दर्शयति— ' भार्गवौर्वजामदग्न्येति जमदग्निवदुर्ववद्भृगुवदिति ' इति । एनमेव प्रवरमन्येष्वतिदिशति— एष एवाविकृतो जामा( बा )ल्यैतिशायनेत्यादिना प्राचीनयोग्यानाम् ' इत्यन्तेन सूत्रेण । एषोऽनन्तरोक्तः पञ्चार्षेयस्त्र्यार्षेयो वा जामा ( बा ) ल्यादीनां नवानां भवतीत्यर्थः ।

अथाऽऽर्ष्टिषेणानामित्यत्राथशब्दः पृथगयं गण इति ज्ञापनार्थः । एवं सर्वत्र । अन्यद्गतार्थम् । अथ वीतहव्या इत्यारभ्य पृथवद्वेनवद्भृगुवदित्यन्तं सूत्रं स्पष्टार्थम् ।

चतुर्विधा हि शुनकाः । केचिच्छुनकादेव जाताः । केचिद्गृत्समदादेव जाताः । केचिद्भृगोरपत्यं गृत्समदस्ततो जाताः । केचिद्भृगोरपत्यं शुनगोत्रस्तदपत्यं गृत्समदस्ततो जाताः । तत्र गृत्समदादेव ये जातास्तेषामेवायं प्रवरो नान्येषामित्येतदर्थं गृत्समदद्दष्टाप्रीप्रापणार्थं च गार्त्समदा इति विशेषणम् । इतरेषां तु सूत्रान्तरोक्ताः प्रवरा ज्ञेयाः । तत्राऽऽद्यानां शौनकार्षेयः प्रवरः । तृतीयानां भार्गवगार्त्समदेति त्र्यार्षेयः । चतुर्थानां भार्गवशौनहोत्रगार्त्समदेति त्र्यार्षेय इति । एकार्षेयेऽमुतोऽर्वाञ्चो होताऽत ऊर्ध्वान्मन्त्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीत इत्यनयोर्विध्योर्व्यवस्थापकत्वाभावादव्यवस्थाप्राप्तौ होत्रध्वर्युर्ग्रहणं तद्धितान्तो होतुः प्रवरो वत्प्रत्ययान्तोऽध्वर्योरित्येवं व्यवस्थेति प्रदर्शनार्थम् । मित्रयुवां वाध्र्यश्वा इति विशेषणं वाध्र्यश्वदृष्टाप्रीप्रापणार्थम् । वाध्र्यश्वेति होता वध्र्यश्ववदित्यध्वर्युरित्यत्र होत्रध्वर्युग्रहणमुक्तव्यवस्थायास्तत्रैव प्राप्तिशङ्कानिरासार्थम् ॥ १० ॥ ७ ॥

इतीमे भृगवो व्याख्याताः ॥ ८ ॥

भृग्वाद्यनुभाषणस्येदं प्रयोजनमविद्यमानभृगुशब्दानामपि शुनकमित्रयुवां भृगुत्वं यथा स्यादिति । तेन 'भृगूणां त्वा' इति यथर्ष्याधाने 'भार्गवो होता भवति' इत्यादौ चोपप्रवेशासिद्धिः । जामदग्न्यवत्सानां जामा ( वा ) त्यादीनां च परस्परमविवाहः । प्रवरैक्यात्सगोत्रत्वाच्च । एवमार्ष्टिषेणानामपि त्रिप्रवरसाम्यात् । यद्यपि त्रिप्रवरार्ष्टिषेणानां नान्यैः सह द्विप्रवरसाम्यं तथाऽपि पञ्चार्षेयसंगतमपि प्रवरसाम्यमेष्वविवाहप्रयोजकम् । वत्सा विदा आर्ष्टिषेणा इत्येतेषामविवाह इति बौधायनोक्तेः । अजामदग्न्यवत्सार्ष्टिषेणाभ्यां सप्रवरत्वादविवाहः । वीतहव्यादीनां तु स्वं स्वं गणं हित्वा परस्परं पूर्वैः सह विवाहो भवत्येव । द्विप्रवरसाम्याभावात् ।

इति भृगुगोत्रप्रवरकाण्डम् ॥ ८ ॥

अथ गौतमगोत्रप्रवरकाण्डं विधत्ते—

**अथातोऽङ्गिरसामयास्या गौतमास्तेषां त्र्यार्षेय आङ्गिरसायास्यगौतमेति गौतमवदयास्यवदङ्गिरोवदिति । अथौतथ्या गौतमास्तेषां त्र्यार्षेय आङ्गिरसौतथ्यगौतमेति गौतमवदुतथ्यवदङ्गिरोवदिति । अथौशिजा गौतमास्तेषां त्र्यार्षेय आङ्गिरसौशिजकाक्षीवतेति कक्षीवद्वदुशिजवदङ्गिरोवदिति । अथ वामदेवा गौतमास्तेषां त्र्यार्षेय आङ्गिरसवामदेवबार्हदुक्थेति बृहदुक्थवद्वामदेववदङ्गिरोवदिति ॥ ९ ॥**

अत्रातःशब्दो हेत्वर्थे । यतो 'भृगूणां त्वाऽङ्गिरसां व्रतपते व्रतेनाऽऽदधामीति भृग्वङ्गिरसामादध्यात्' इति श्रुत्यैकस्मिन्नेव वाक्ये भृगुगोत्रिणामाधानमन्त्रं पूर्वमुक्त्वाऽनन्तरं गौतमादिगोत्रिणामाधानमन्त्र उक्तः । अतो हेतोरित्यर्थः । अङ्गिरसामिति निर्धारणे षष्ठी । अङ्गिरोगणानां मध्ये येऽयास्या गौतमा अङ्गिरसस्तेषां त्र्यार्षेयः प्रवरो भवतीत्यर्थः । अयास्या इति विशेषणमयास्य उद्गाता भवतीत्यत्र येऽयास्यगणपठितास्तेषामेव ग्रहणार्थम् । उतथ्या औशिजा वामदेवा इत्यादीनि गौतमविशेषणानि सांकर्यनिवारणार्थानि । अन्यत्स्पष्टम् । एषां सर्वेषां गौतमाङ्गिरसां परस्परमविवाहः । गौतमस्य त्रियमाणतया सत्तया वाऽनुवृत्तेः । सगोत्रत्वात्प्रायेण द्वित्रिप्रवरसाम्याच्च । इति गौतमगोत्रप्रवरकाण्डम् ॥ ९ ॥

अथ भरद्वाजगोत्रप्रवरकाण्डं विधत्ते—

अथ भरद्वाजानां त्र्यार्षेय आङ्गिरसबार्हस्पत्यभारद्वाजेति भरद्वाजवद्बृहस्पतिवदङ्गिरोवदिति । एष एवाविकृतस्तुथ्याग्निवेश्यौर्जयानानां सर्वेषां च स्तम्भस्तम्बशब्दानाम् । अथर्क्षाणां पञ्चार्षेय आङ्गिरसबार्हस्पत्यभारद्वाजवान्दनमातवचसेति मतवचोवद्वन्दनवद्भरद्वाजवद्बृहस्पतिवदङ्गिरोवदिति । त्र्यार्षेयमु हैक आङ्गिरसवान्दनमातवचसेति । मतवचोवद्वन्दनवदङ्गिरोवदिति । अथ द्व्यामुष्यायणानां कुलानां यथा शौङ्गशैशिरयो भरद्वाजाः शुङ्गाः कताः शैशिरयस्तेषां पञ्चार्षेय आङ्गिरसबार्हस्पत्यभारद्वाजकात्याक्षिलेत्यक्षिलवत्कतवद्भरद्वाजवद्बृहस्पतिवदङ्गिरोवदिति । त्र्यार्षेयमु हैक आङ्गिरसकात्याक्षिलेत्यक्षिलवत्कतवदङ्गिरोवदिति ॥ ११ ॥ अथ गर्गाणां त्र्यार्षेय आङ्गिरसगार्ग्यशैन्येति शिनिवद्गर्गवदङ्गिरोवदिति । भारद्वाजमु हैकेऽङ्गिरसः स्थाने भारद्वाजगार्ग्यशैन्येति शिनिवद्गर्गवद्भरद्वाजवदिति । अथ कपीनां त्र्यार्षेय आङ्गिरसमाहय्यवौरुक्षय्येत्युरुक्षय्यवन्महय्युवदङ्गिरोवदिति तरस्वाऽस्तिलो बिदुः शालुः पतञ्जलिर्भूयसीर्दद्रकीर्जलन्धः । कपेरष्टविधाः प्रजाः ॥ १० ॥

तुथ्य आग्निवेश्य और्जयान एतेषां, स्तम्भशब्दो यन्नामसु वर्तते ते स्तम्भशब्दाः । स्तम्बशब्दो यन्नामसु वर्तते ते स्तम्बशब्दाः । एतेषां चैषोऽनन्तरोक्तस्त्र्यार्षेय एव प्रवरो भवेदित्यर्थः । द्वाभ्यां गोत्राभ्यां व्यपदेशाद्व्यामुष्यायणानि कुलानि । यथा शौङ्गशैशिरय इति पुरातनं द्व्यामुष्यायणकुलम् । इदानींतनानां द्विगोत्राणां द्वयोरपि गोत्रयोरविवाहं वक्तुं दृष्टान्तत्वेनोदाहृतम्—शुङ्गा भरद्वाजाः कताः शैशिरयो विश्वामित्राः । भारद्वाजस्य शुङ्गस्य बीजाद्वैश्वामित्रस्य शैशिरेः क्षेत्र उत्पन्नाः शौङ्गशैशिरा इत्युच्यन्ते । तत्संततिजातानां पञ्चार्षेयः प्रवरो द्रष्टव्यः । आङ्गिरसबार्हस्पत्यभारद्वाजकात्याक्षिलेति होतुः । अक्षिलवत्कतवद्भरद्वाजवद्बृहस्पतिवदङ्गिरोवदित्यध्वर्योः । त्र्यार्षेयमेक आङ्गि-

रसकात्याक्षिलेति होतुः । अक्षिलवत्कतवदङ्गिरोवदित्यध्वर्योः । अस्मिन्प्रवरे जनयितुः पूर्वः प्रवरः प्रतिग्रहीतुरपरो यथोक्तस्तथाऽन्येष्वपि पुत्रिकापुत्रदत्तकक्रीतकृत्रिमपुत्रादीनामपि द्वयोरपि गोत्रयोः प्रवरो ज्ञेयः । शौङ्गशैशिरीणां दृष्टान्तत्वेनोपादानात् । सर्वेषां द्व्यामुष्यायणानां गोत्रद्वयसंबन्धिवरणप्रसक्तौ व्यवस्थामाहाऽऽश्वलायनः–' तेषामुभयतः प्रवृणीत एकमितरतो द्वावितरतो द्वौ वेतरतस्त्रीनितरतो न हि चतुर्णां प्रवरोऽस्ति न पञ्चानामतिप्रवरणम् ' इति । एकमितरतो द्वावितरत इति त्र्यार्षेये द्वौ वेतरतस्त्रीनितरत इति पञ्चार्षेये तत्र पूर्वं कस्य प्रवर इत्याकाङ्क्षायां कात्यायनलौगाक्षी आहतुः—' पूर्वः प्रवर उत्पादयितुरुत्तरः प्रतिग्रहीतुः ' इति । एवं वक्ष्यमाणेषु संकृत्यादिष्वपि द्रष्टव्यम् । गर्गाणां भरद्वाजत्वं पाक्षिकभरद्वाजवरणादेव सिद्धम् ।

यद्यपि कपीनां पाठः केवलाङ्गिरोगणमध्ये सर्वेषु सूत्रपुस्तकेषु दृश्यते तथाऽपि स नाऽऽदर्तव्यः । गोत्रप्रवरमञ्जरीप्रयोगपारिजातस्मृत्यर्थसारादिबहुग्रन्थविरोधाद्बहुस्मृतिपुराणसूत्रविरोधात् , भारद्वाजैः सह विवाहः केवलाङ्गिरोभिः सह विवाह इत्येतादृशस्य शिष्टाभिमताचारस्यान्यथात्वापत्तेश्च । अथ वा द्वौ कपी ज्ञेयौ । एको भरद्वाजगणस्थः । अपरः केवलाङ्गिरोगणस्थः । तथा च मण्डनः–'भारद्वाजप्रवरणे केचिदाहुः कपी पृथक् ' इति । इति भरद्वाजगोत्रप्रवरकाण्डम् ॥ १० ॥

अथात्रिगोत्रप्रवरकाण्डं विधत्ते—

**अथात्रीणां त्र्यार्षेय आत्रेयार्चनानसश्यावाश्वेति श्यावाश्ववदर्चनानसवदत्रिवदिति। अथ गविष्ठिराणां त्र्यार्षेय आत्रेयार्चनानसगाविष्ठिरेति गविष्ठिरवदर्चनानसवदत्रिवदिति । एष एवाविकृतो वामरथ्यसुमङ्गलबीजवापानाम् ॥ १२ ॥११॥**

गतार्थम् । अत्रीणां सर्वेषामविवाहः । सगोत्रत्वात्सप्रवरत्वाच्च । इत्यात्रिगोत्रप्रवरकाण्डम् ॥ १२ ॥ ११ ॥

अथ विश्वामित्रगोत्रप्रवरकाण्डं विधत्ते—

**अथ विश्वामित्राणां देवराताश्चिकितकालबवमनुतन्तुबभ्रुयज्ञवल्कौलोन्त्येमरिबृहदग्निसांशित्यवारकितारकायणशालावतास्तेषां त्र्यार्षेयो वैश्वामित्रदैवरातौदलेति उदलवद्देवरातवद्विश्वामित्रवदिति।**

अथ श्रौमतकामकायनास्तेषां त्र्यार्षेयो वैश्वामित्र-
माधुच्छन्दसधानंजय्येति धनंजयवन्मधुच्छन्दोव-
द्विश्वामित्रवदिति । अथाष्टका लोहितास्तेषां द्व्या-
र्षेयो वैश्वामित्राष्टकेति । अष्टकवद्विश्वामित्रवदिति ।
अथ पूरणाः पारिधापयन्त्यस्तेषां द्व्यार्षेयो वैश्वा-
मित्रपौरणेति । पूरणवद्विश्वामित्रवदिति । अथ कता-
स्तेषां त्र्यार्षेयो वैश्वामित्रकात्याक्षिलेति । अक्षि-
लवत्कतवद्विश्वामित्रवदिति । अथाघमर्षणाः कुशि-
कास्तेषां त्र्यार्षेयो वैश्वामित्राघमर्षणकौशिकेति ।
कुशिकवदघमर्षणवद्विश्वामित्रवदिति ॥ १२ ॥

गतार्थम् । विश्वामित्रगणानां परस्परमविवाहः । सगोत्रत्वात्सप्रवरत्वाच्च । इति विश्वा-मित्रगोत्रप्रवरकाण्डम् ॥ १२ ॥

अथ कश्यपगोत्रप्रवरकाण्डमाह—

अथ कश्यपानां त्र्यार्षेयः काश्यपावत्सारनैध्रुवेति
निध्रुववदवत्सारवत्कश्यपवदित्येष एवाविकृतो
धौम्याभिषेण्यमाठराणाम् । अथ रेभाणां त्र्यार्षेयः
काश्यपावत्साररैभ्येति । रेभवदवत्सारवत्कश्यप-
वदिति ॥ १३ ॥ अथ शण्डिलानां द्व्यार्षेयो दैव-
लासितेति । असितवद्देवलवदिति । त्र्यार्षेयमु हैके
काश्यपदैवलासितेति । असितवद्देवलवत्कश्यपव-
दिति । द्व्यार्षेयास्त्वेवं न्यायेन ॥ १३ ॥

सर्वेऽपि द्व्यार्षेया एवमनेन प्रकारेण त्र्यार्षेया एव भवितुमर्हन्ति न शाण्डिला एव । तस्मादष्टकानां लोहितानां च द्व्यार्षेयाणां त्र्यार्षेयत्वमेव द्रष्टव्यम् । द्व्यार्षेया एव सर्वे शाण्डिला भवितुमर्हन्ति न त्र्यार्षेया इति केचिद्व्याचक्षते तदनुपपन्नम् । ‘ अत्र्यार्षेयस्य हानं स्यादविकारात् ’ ( जै० सू० ६-१-११ ) इति जैमिनीयन्यायविरोधात् । अन्यद्गतार्थम् । कश्यपानां परस्परमविवाहः । कश्यपस्य म्रियमाणतया सत्तया वाऽनु-वृत्तेः सगोत्रत्वात्सप्रवरत्वाच्च । इति कश्यपगोत्रप्रवरकाण्डम् ॥ १३ ॥

अथ वसिष्ठगोत्रप्रवरकाण्डं विधत्ते—

एकार्षेया वासिष्ठा अन्यत्रोपमन्युपराशरकुण्डि-

नेभ्यो वासिष्ठेति होता वसिष्ठवदित्यध्वर्युः । अथोपमन्यूनां त्र्यार्षेयो वासिष्ठैन्द्रप्रमदाभरद्वसो इति । आभरद्वसुवदिन्द्रप्रमदवद्वसिष्ठवदिति । अथ पराशराणां त्र्यार्षेयो वासिष्ठशाक्त्यपाराशर्येति। पराशरवच्छक्तिवद्वसिष्ठवादिति । अथ कुण्डिनानां त्र्यार्षेयो वासिष्ठमैत्रावरुणकौण्डिन्येति । कुण्डिन-वन्मित्रावरुणवद्वासिष्ठवादिति । अथ संकृतिपूतिमाषतण्डिनां त्र्यार्षेयः शाक्त्यसांकृत्यगौरिवीतेति । गुरिवीतवत्संकृतिवच्छक्तिवदिति ॥ १४ ॥

उत्तरत्र विधानादेवोपमन्युप्रभृतीनां त्र्यार्षेयत्वे सिद्धेऽन्यत्रोपमन्युपराशरकुण्डिनेभ्य इति-वचनं केवलं वसिष्ठभेदा न संकृत्यादयस्तेषा व्द्यामुष्यायणत्वादिति प्रदर्शनार्थम् । वासिष्ठमैत्रावरुणकौण्डिन्येत्यस्मिन्प्रवरे मित्रावरुणसंज्ञकौ कौचिदृषी मन्त्रदृशौ द्रष्टव्यौ न प्रसिद्धौ देवताविशेषौ । न देवैर्न मनुष्यैरार्षेयं वृणीत इति निषेधात् । तयोश्च मित्रावरुणयोः संहतयोरेवर्षित्वमत्र द्रष्टव्यं न प्रत्येकम् । न चतुरो वृणीत इति चतुर्णां वरणप्रतिषेधात् । मत्स्यपुराणे मित्रावरुणयोर्बदर्याश्रमे तपस्यतोरागतामुर्वशीं दृष्टवतोः शुक्रं स्कन्नं कचित्तोयपूर्णे कलशे गृहीतं ततो वसिष्ठो जातो वसिष्ठाच्च कुण्डिनो जात इति दृष्टत्वात्तयोः संहतयोरेवार्षित्वं पितृत्वं चेति द्रष्टव्यम् । एषां वासिष्ठानां परस्परम-विवाहः । सगोत्रत्वात्सप्रवरत्वाच्च । संकृत्यादीनां द्व्यामुष्यायणानां वसिष्ठत्वं तु वासिष्ठगणमध्ये पाठाद्वासिष्ठस्य शक्तेर्वरणाच्च । इति वसिष्ठगोत्रप्रवरकाण्डम् ॥ १४ ॥

अथागस्त्यगोत्रप्रवरकाण्डं विधत्ते—

अथागस्तीनामेकार्षेय आगस्त्येति होताऽगस्तिवदित्यध्वर्युः । त्र्यार्षेयमु हैके आगस्त्यदार्ढच्युतैध्मवाहेति । इध्मवाहवद्दृढच्युतवदगस्तिवदिति ॥ १५ ॥

अगस्तीनां सर्वेषां परस्परमविवाहः । सगोत्रत्वात्सप्रवरत्वाच्च । इत्यगस्तिगोत्रप्रवर-काण्डम् ॥ १५ ॥

अथ क्षत्रियप्रवरकाण्डं विधत्ते—

अथ क्षत्रियाणां त्र्यार्षेयो मानवैडपौरूरवसेति । रूरवोवदिडवन्मनुवदिति । अथ यदि ह सार्षाः

प्रवृणीरन्नेक एवैषां प्रवरो यद्यु वै पृथक्प्रवृणीरन्येषामु ह मन्त्रकृतो न स्युः सपुरोहितप्रवरास्ते । अथ येषां स्युरपुरोहितप्रवरास्ते सपुरोहितप्रवरास्त्वेवं न्यायेनैकार्षेया विशो वात्सप्रेति होता वत्सप्रवदित्यध्वर्युः ॥ १६ ॥

द्विविधाः क्षत्रियाः सार्षा अनार्षाश्च । तत्र यदि सार्षा आर्षेयवन्तो राजानः प्रवृणीरंस्तदैषां प्रवर उक्त एक एव भवति । यद्येते पृथगेव प्रवृणीरन्पुरोहितप्रवरानेव प्रवृणीरन् । येषां राज्ञां मन्त्रकृत ऋषय आर्षेया इति यावत्, न स्युर्न भवेयुस्ते सपुरोहितप्रवरा ज्ञेयाः । येषां राज्ञा यदि मन्त्रकृतः स्युरपुरोहितप्रवरास्ते ज्ञेयाः । मन्त्रकृतो राजानः सपुरोहितप्रवरास्त्वेवमेतत्प्रकारेण न्यायेन भवन्ति नान्यथा । कोऽसौ न्यायोऽभिमतः । स उच्यते—सर्वेषां पुरोहितस्य विद्यमानत्वात्तेन च विना कर्मानधिकारात् । पुर एनं हितमेतत्सर्वं नयतीति पुरोहितशब्दव्युत्पत्तेः । आत्मीयप्रवरपक्षे सर्वेषां समानप्रवरत्वादविवाहः प्रसज्यतेति न्यायः । अयमेव न्यायो वैश्यानामपि द्रष्टव्यः ।

एवं च विवाहे क्षत्रियाणां वैश्यानां च पौरोहित्यप्रवरैक्यप्रयुक्त एव निषेधो न तु स्वप्रवरैक्यप्रयुक्त इति सिद्धम् । कर्मणि वरणादौ भवतु विकल्पः । उक्तसूत्रस्य कर्माधिकारे प्रवृत्तेः । सोऽपि व्यवस्थितः । एषां कुले यादृशं वरणमागतं तथैव कर्तुमुचितमिति विप्रेष्वपि व्यवस्थादर्शनात् ।

मन्त्रकृद्वतां सर्वराज्ञामपुरोहितप्रवराणामपि विवाहमात्रे सपुरोहितप्रवरत्वमेवेति फलितोऽर्थः । राजभ्योऽर्पितानां दत्तानां ब्राह्मणानां राज्ञां ये प्रवरास्त एव तेषाम् । एवं ब्राह्मणेभ्योऽर्पितानां राज्ञां ब्राह्मणानां ये प्रवरास्ते तेषामिति । तथा च सूत्रम्—तथा ब्राह्मणानां राजार्पितानां राज्ञां वा ब्राह्मणार्पितानाम्' इति ॥ १६ ॥

अथानाज्ञातबन्धूनां गोत्रप्रवरकाण्डं विधत्ते—

अथानाज्ञातबन्धोः पुरोहितप्रवरेणाऽऽचार्यप्रवरेण वा ॥ १७ ॥

न आ सम्यग्ज्ञातो बन्धुर्येन सोऽनाज्ञातबन्धुस्तस्यानाज्ञातबन्धोः 'असंप्रज्ञातबन्धोः' इति दर्शपूर्णमासप्रकरणस्थस्य प्रवरविधायकस्य सूत्रस्य पाठः । न सम्यक्प्रज्ञातो बन्धुर्येन सोऽसंप्रज्ञातबन्धुः, इति तद्विग्रहः । अर्थस्तु स एव । तस्य पुरोहितस्य पूर्वोक्तस्य प्रवरेण धर्मोपदेष्टाऽऽचार्यस्तस्य वा प्रवरेण प्रवरणमित्यर्थः ।

ननु—' यो वा अन्यः सन्नन्यस्याऽऽर्षेयं वृणीते स वा अस्य तदिष्टापूर्तं वीतं वृङ्क्ते ' ( स० श्रौ० २१-३-९ ) इति निषेधस्य जागरूकत्वात्कथं पुरोहिताचार्य-प्रवरप्रवरणमिति चेन्न । एतस्य प्रवरज्ञानसत्त्व एव प्रवृत्तेः ॥ १७ ॥

सार्ववर्णिकमार्षेयं दर्शयति—

**अथ ह ताण्डिन एकार्षेयꣳ सार्ववर्णिकꣳ समामनन्ति मानवेति होता मनुवदित्यध्वर्युः । मानव्यो हि प्रजा इति हि ब्राह्मणमिति हि ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥ १८ ॥**

**इति सत्याषाढहिरण्यकेशिसूत्र एकविंशप्रश्ने तृतीयः पटलः ॥**
**इति हिरण्यकेशिसूत्र एकविंशः प्रश्नः ॥ २१ ॥**

---

ताण्डिन आचार्या एकार्षेयं मानवेत्येवंरूपं प्रवरं सार्ववर्णिकं सर्वेषां वर्णानां ब्राह्मणादीनां समामनन्ति । तत्र हेतुभूतां श्रुतिमुदाहरन्ति—'मानव्यो हि प्रजा इति हि ब्राह्मणम्' इति । हि यस्मादेवं तैत्तिरीयशाखायां ब्राह्मणं प्रत्यक्षमेव पठ्यतेऽग्निचयन उखाप्रकरणे—'मानव्यो हि प्रजाः' इति तस्मादित्यर्थः । द्विरुक्तिः प्रश्नसमाप्तिद्योतनार्था । एतत्सूत्रं वैशेषिकप्रवरनिषेधपरं न भवति किंतु सार्ववर्णिकप्रवरस्तुतिपरम् ।

नन्वेवं कृत्स्नमेकेषां प्रवरं प्रतिषिध्य मनुवदित्येतद्विदधाति, इत्येतत्सूत्रविरोध इति चेन्न । अत्र प्रतिषेधशब्देनाप्राशस्त्यस्यैवोक्तत्वात् । एवं च कृत्स्नवैशेषिकप्रवराणामप्राशस्त्य उक्ते सार्ववर्णिकस्य प्रशस्तत्वमर्थात्सिद्धं भवति । वैशेषिकाः प्रवरा दुर्विज्ञेया बहुप्रयासलभ्याश्च तस्मान्न कार्याः । अयं तु लघुतरप्रयत्नलभ्यत्वात्कर्तव्य इत्येवं सार्ववर्णिकस्य प्रवरस्य प्रशस्तत्वम् । कथं पुनरयमभिप्रायो गम्यत इति चेत्—अन्यथा प्रवराध्यायानारम्भप्रसङ्गात् । आरभ्यते चायम् । अयं प्रवरः श्रौतकर्मवन्नामिवादादिष्वेव न विवाहे । अन्यथा समानप्रवरत्वाद्विवाहाभावप्रसङ्गात् । पुरोहितगोत्रप्रवरयोराचार्यगोत्रप्रवरयोश्चाज्ञाने तु स्मृत्यन्तरे—

आचार्यगोत्रप्रवरानभिज्ञस्तु द्विजः स्वयम् ।
दत्त्वाऽऽत्मानं तु कस्मैचित्तद्गोत्रप्रवरो भवेत् ' इति ॥

अत्राऽऽचार्यग्रहणं पुरोहितोपलक्षणम् । आचार्यशब्देन निषेकादि० द्विज इति श्रवणाद्ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां विधिः । यत्तु—'गोत्रस्य त्वपरिज्ञाने काश्यपं गोत्र-

मुच्यते' इति तत्पुरोहिताचार्ययोर्गोत्राज्ञाने सत्येव विवाहातिरिक्तविषयम् । इति सूत्रोक्तः प्रवरनिर्णयः ॥ १४ ॥ १८ ॥ २१ ॥

प्रयोगवैजयन्त्यास्तु मालायाः सूत्रसंस्थितेः ।
न्यायसूत्रस्येह कृतो निर्णयः कौस्तुभो मणिः ॥
मध्यगो यज्ञवपुषस्तुष्टयेऽस्तु मयार्पितः ।
गृह्णाति हि किमप्येष भक्तैर्यद्यत्ततः कृतम् ॥

इति सत्याषाढहिरण्यकेशिसूत्रव्याख्यायां प्रयोगचन्द्रिकायां महादेवशास्त्रिसंकलितायामेकविंशप्रश्ने तृतीयः पटलः ।
प्रश्नश्च समाप्तः ।

